ग्रन्थ अकादमी ग्रन्थांक–२१६

समाजवादी चिंतन का इतिहास

ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम
एम० ए०; एल एल० बी०, पी एच० डी०
वरिष्ठ प्रवक्ता, राजनीतिशास्त्र विभाग
दुर्गा नारायण कालेज, फतेहगढ

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन हिन्दी भवन
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

प्रस्तावना

शिक्षा आयोग (1964-66) की संस्तुतियों के आधार पर भारत सरकार ने 8 में शिक्षा सम्बन्धी अपनी राष्ट्रीय नीति घोषित की और 18 जनवरी, 68 को संसद के दोनों सदनों द्वारा इस सम्बन्ध में एक संकल्प पारित किया । उक्त संकल्प के अनुपालन में भारत सरकार के शिक्षा एवं युवक सेवा लय ने भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षण की व्यवस्था करने के लिए वविद्यालय स्तरीय पाठ्य पुस्तकों के निर्माण का एक व्यवस्थित कार्यक्रम श्चित किया । उस कार्यक्रम के अंतर्गत भारत सरकार की शत प्रतिशत ायता से प्रत्येक राज्य में एक ग्रन्थ अकादमी की स्थापना की गयी । इस राज्य भी विश्वविद्यालय स्तर की प्रामाणिक पाठ्य पुस्तकें तैयार करने के लिए हिन्दी थ अकादमी की स्थापना 7 जनवरी, 1970 को की गयी ।

प्रामाणिक ग्रन्थ निर्माण योजना के अंतर्गत ग्रन्थ अकादमी प्रभाग उत्तर देश हिन्दी संस्थान विश्वविद्यालय स्तरीय विदेशी भाषाओं की पाठ्य पुस्तकों का हिन्दी में अनूदित करा रही है और अनेक विषयों की मौलिक पुस्तकों की भी चना करा रही है । प्रकाश्य ग्रन्थों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक ब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है ।

उपर्युक्त योजना के अंतर्गत वे पाण्डुलिपियाँ भी अकादमी द्वारा मुद्रित करायी जा रही हैं, जो भारत सरकार की मानक ग्रन्थ योजना के अंतर्गत इस राज्य में स्थापित विभिन्न अधिकरणों द्वारा तैयार की गयी थी ।

प्रस्तुत पुस्तक इसी योजना के अंतर्गत मुद्रित एवं प्रकाशित करायी गयी है । इसके लेखक डा० ब्रजेन्द्र प्रताप गौतम हैं । इसका विषय संपादन डा० एस०पी० चौधरी, लखनऊ ने किया है । इन दोनों विद्वानों के इस बहुमूल्य सहयोग के लिए उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान उनके प्रति आभारी है ।

मुझे आशा है कि यह पुस्तक विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी और इस विषय के विद्यार्थियों तथा शिक्षकों द्वारा इसका स्वागत अखिल भारतीय स्तर पर किया जायगा । उच्चस्तरीय अध्ययन के लिए हिन्दी में मानक ग्रन्थों के अभाव की बात कही जाती रही है । आशा है इस अभाव की पूर्ति होगी और शिक्षा का माध्यम हिन्दी में परिवर्तित हो सकेगा ।

हजारी प्रसाद द्विवेदी
कार्यकारी उपाध्यक्ष
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

समानता के अभाव में निरर्थक है और इसके लिए संगठित प्रय
पहिले यह कार्य व्यक्ति एवं व्यक्ति-समुदायों पर छोड़ दिया गया
तक इसका रूप अस्पष्ट बना रहा। यह एक दीर्घकाल तक धर्म
रहा, लेकिन ज्योंही यह अर्थशास्त्र से सम्बद्ध हुआ, इस चिन्तन
और यथार्थवादी धरातल प्राप्त हुआ। कार्ल मार्क्स के आर्थिक
स्थिति को एकदम बदल दिया और इससे समाज की चिन्तन
दिशा मिली, तभी से समाजवाद को राजनीतिक चिन्तन के इ
स्थान प्राप्त हुआ है। आज समाजवाद का सिद्धान्त हमारी इस
सभी लोगों के जीवन को सुखी एवं आनन्दप्रद बनाने, मनुष्य
शोषण से मुक्त करने और उसके सर्वतोन्मुखी विकास को
परिस्थितियाँ उत्पन्न करने का विज्ञान है।

समाजवाद की ओर अग्रसर होने के लिए इसके वि
विचारों का अध्ययन करना आवश्यक है और अब यह प्रयत्
विश्व के अनेक देशों में समाजवादी सिद्धान्तों पर राज्य का
और और देशों में देश इस दिशा की ओर बढ़ रहे हैं। इसी
उसके अनुभव पर इस पुस्तक की रचना का प्रयास किया गया
धारा का अध्ययन समाजवादी पथ पर अग्रसर होने वाले
उपयोगी है और इससे उनके सम्मुख प्रस्तुत कुछ जटिल सम
में सहायता भी मिल सकती है। प्रस्तुत पुस्तक इसी विचार
परिप्रेक्ष्य में समझाने का एक साधारण-सा प्रयास है। इस
अपनी सीमाएँ भी हैं। [illegible], सामान्य पाठक की
[illegible] होने के कारण यह [illegible]
[illegible] के लिए अधिक से अधिक उपयोगी नहीं हो पायी है
[illegible] में [illegible] हुए [illegible] पुनरावृत्ति का
[illegible] एक-दूसरे से मिलते जुल

[illegible]
[illegible] हुई है।

[illegible]
[illegible]

मैं उन विद्वान् लेखकों का ऋणी हूँ जिनके विद्वतापूर्ण लेख एवं ग्रन्थों की
ता से मैंने अपने समाजवादी चिन्तन के विश्लेषण को सशक्त, समीचीन एवं
पूर्ण बनाने का प्रयास किया है। आशा है, प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन से
-प्रकाशनों के जगत् का एक अभाव पूरा होगा और अन्य मानक रचनाओं के
में आने की प्रेरणा मिल सकेगी।

व्रजेन्द्र प्रताप गौतम

अध्याय 4 : जीन चार्ल्स सिसमाण्डी (1773-1842) (60-76)

अध्याय 5 : फ्रान्सीसी समाजवादी विचारक (77-93)

अध्याय

विषय प्रवेश

समाजवाद अंग्रेजी और फ्रान्सीसी शब्द "सोशलिज्म" का हिन्दी रूपान्त
है। समाजवाद आधुनिक समय की प्रमुख विचारधारा है। दर्शन, विज्ञा
साहित्य, कला तथा अन्य क्षेत्रों में समाजवादी रुचि का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष
स्वीकारात्मक अथवा नकारात्मक, प्रभाव दिखलायी देता है। प्रथम विश्वयुद्ध
पश्चात् का अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार एक ओर पूंजीवाद तथा दूसरी ओर समाज
वाद के समर्थन की चेष्टाओं का इतिहास है। यहां तक कि विभिन्न देश
की शासन व्यवस्थाओं तथा अर्थनीतियां भी समाजवाद के समर्थन अथ
उसके प्रतिकार के प्रयत्न हैं। आधुनिक समय में समाजवाद विषयक ऊहापो
खण्डन-मण्डन अथवा प्रशंसा-भर्त्सना द्वारा जितने अधिक साहित्य की सृष्टि
हुई है उतनी कदाचित् ही किसी अन्य विचारधारा की हुई हो। यदि
आज कुछ लोगों के लिए समाजवाद युगधर्म है तो कुछ ऐसे भी लोग देख
को मिलते हैं जो उसे एक अभिशाप मानते हैं। दोनों दृष्टियों से इस विचारधा
का प्रभाव तथा चमत्कार सर्वव्याप्त है। अतः इसका विस्तृत अध्ययन अभिप्रेत है
एक समाजशास्त्रीय पद्धति के रूप में समाजवादी विचारधारा के सुझावों के प्र
उदासीन रहना अब सामाजिक विज्ञानों के लिए कठिन हो गया है। यही न
एक राजनीतिक तथा सामाजिक कार्यक्रम के रूप में इसके अन्दर शोषण विरो
तथा सामाजिक न्याय की जो प्रेरणा है उसे आज कोई भी कार्यक्रम उपेक्षा
दृष्टि से नहीं देख सकता है। यह भी सत्य है कि दार्शनिक तथा बौद्धिक स्त
पर समाजवादी विचारधाराओं ने अथवा उनके त्रुटिपूर्ण मूल्यांकन ने, चिरंतन
निरपेक्षता तथा हठधर्मिता की प्रवृत्तियों को उत्पन्न कर दिया है। इनका समाध
आवश्यक है। स्वयं समाजवादी विचारधारा, तथा आन्दोलन के भीतर इत
विविधता, वादग्रस्तता, अन्तर्विरोध तथा मतान्तर हैं कि कभी-कभी इनके म
आशय का स्पष्टीकरण कठिन हो जाता है। फिर भी उनमें साधारण सूत्र
है। उसका बोध आवश्यक है। अतः इस प्रभावशाली विचारधारा को सम्य
रूपेण हृदयंगम करने के लिए इसकी पार्श्वभूमि का यथोचित ज्ञान आवश्यक है

आधुनिक समाजवाद का जन्म-काल उन्नीसवी शताब्दी तथा उसका जन्म स्थान इस शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों का जगत है। इस काल मे एक साहसी, कुशल तथा चतुर मध्यवर्ग अपने आर्थिक प्रभुत्व के के कारण राजनीति की शक्ति को हस्तगत करने में सफल हो जाता है। अपितु प्रकृति को नियन्त्रित करने के विभिन्न उपकरणों का भी आविर्भाव होता है। इसके फलस्वरूप व्यक्तिगत सम्पत्ति पर आधारित औद्योगिक वणिक अथवा पूंजीवाद व्यवस्था का जन्म होता है। पूंजीवाद का विरोधी सामन्तवाद इस संघर्ष में अपने को पराजित मान लेता है। अब यूरोपीय देशों में एक नवीन नगर सभ्यता का प्रादुर्भाव होता है। ग्रामों से जनता नगरों की ओर जाने लगती है, अथवा जाने के लिए बाध्य कर दी जाती है। कारण यह रहता है कि नगरो मे सहस्रों कारखाने होते है जहां गिने चुने मध्य वर्गीय उद्योगपतियो के संरक्षण मे अनगिनत श्रमिक कार्य करते हैं। ग्राम्य शिल्प तथा अन्य कुटीर व्यवसाय पूंजीवाद स्पर्धा का सामना नही कर सकते हैं। अब स्वामी तथा सेवक में वह प्रत्यक्ष सम्पर्क नही रहा जो सामन्तवादी प्रथा मे था। इस अभिनव व्यवस्था में पूंजीपति तथा श्रमिक के सम्बन्ध परोक्ष हो जाते हैं। एक स्वामी असंख्य सेवको की निजी समस्याओ से परिचित भी कैसे हो सकता है? इस प्रकार नवीन सभ्यता मे मानवीय सम्बन्धो का स्थान सर्वत्र आर्थिक रूप ले लेता है। मध्यवर्ती नेताओं में कौशल तथा अध्यवसाय है, अथवा भविष्य के प्रतिदुर्दमनीय आशा है। कैसे न हो? सर्वत्र स्वस्थ प्रतियोगिता है और उसके उत्पादन का द्रुतगति से बढना ही भावी सम्पत्ति का आश्वासन है। विक्टोरिया काल के ब्रिटेन के मध्य-वर्गीय भद्र पुरुष की यह निश्चित धारणा है कि अब मानव सभी बंधनो से मुक्त हो चुका है, अत वह जीवन जगत का नियन्ता है। इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति तथा पूंजीवादी नेतृत्व ने समाज के जीवन में गुणात्मक विभेद पैदा कर दिया। इस गुणात्मक विभेद का एक सकारात्मक पक्ष है तथा दूसरा नकारात्मक। इस प्रकार पूंजीवाद और व्यक्तिवाद के विरोध में और उन विचारो के समर्थन मे किया जाता था जिनका लक्ष्य समाज के आर्थिक और नैतिक आधार को परिवर्तित करना था और जो जीवन मे व्यक्तिगत नियन्त्रण के स्थान पर सामाजिक नियन्त्रण स्थापित करना चाहते थे।

समाजवाद शब्द का प्रयोग अनेक और कभी-कभी परस्पर विरोधी प्रसंगो मे किया जाता है जैसे समष्टिवाद, अराजकतावाद, आदिकालीन अवयवी समाजवाद, सैन्य साम्यवाद, ईसाई समाजवाद, सहकारितावाद आदि

यहां तक कि नामी-दल का भी पूरा नाम राष्ट्रीय समाजवादी दल था। आदिकालीन समाजवाद समाज में मनुष्य पारस्परिक सहयोग द्वारा आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति और प्रत्येक सदस्य को आवश्यकतानुसार उनका आपस में विभाजन करते थे। परन्तु यह समाजवाद प्राकृतिक था, मनुष्य के सचेत कल्पना पर आधारित नहीं था। आरम्भ में ईसाई पादरियों की रहन-सहन का ढंग बहुत कुछ समाजवादी था, वे एक साथ और समान रूप से रहते थे, परन्तु उनकी आय का स्रोत धर्मावलम्बियों का दान था और उनका आदर्श जन साधारण के लिए नहीं वरन् केवल पादरियों तक सीमित था। उनका उद्देश्य भी आध्यात्मिक था, भौतिक नहीं। यह बात मध्यकालीन ईसाई साम्यवाद के सम्बन्ध में भी सही है। पीरु देश की प्राचीन 'इंका' सभ्यता को सैन्य साम्यवाद की संज्ञा दी जाती है। परन्तु उसका आधार सैन्य संगठन था और वह व्यवस्था शासक वर्ग का हित साधन करती थी। *नगर पालिकाओं द्वारा लोकसेवाओं* के साधनों को प्राप्त करना, अथवा देश की उन्नति के लिए आर्थिक योजनाओं के प्रयोग आदि को समाजवाद नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि इनके द्वारा पूंजीवाद को ठेस पहुँचे। नामीदल ने बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया था परन्तु पूंजीवादी व्यवस्था अक्षुण्य रही।

समाजवाद की परिभाषा करना कठिन है। यह सिद्धान्त तथा आन्दोलन दोनों ही है और इसे विभिन्न ऐतिहासिक और स्थानीय परिस्थितियों में विभिन्न रूप धारण करना पड़ता है। मूलतः यह वह आन्दोलन है जो कि उत्पादन के मुख्य साधनों के समाजीकरण पर आधारित वर्गविहीन समाज स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है और जो श्रमजीवी वर्ग को मुख्य आधार बनाता है जिसका ऐतिहासिक कार्य, वर्ग व्यवस्था का अन्त करना है।

समाजवाद के अनेक प्रकार हैं, और उनकी विभिन्नता का आधार उनकी न्याय की कल्पना, राज्य के प्रति उनका दृष्टिकोण और लक्ष्य की प्राप्ति के साधन हैं अतः सुविधा के लिए समाजवाद के अध्ययन को निम्नलिखित वृहत खण्डों में विभक्त किया गया है :—

1. आदर्शवादी समाजवाद
2. काल्पनिक समाजवाद
3. वैज्ञानिक समाजवाद

होने लगा। इन परिस्थितियों में समाजवादी चिन्तन का उदय हुआ जिसका वर्गीकरण निम्नलिखित है —

समाजवाद

- स्वप्नलोकीय या कल्पनावादी समाजवाद
- वैज्ञानिक समाजवाद या साम्यवाद
- विकासवादी समाजवाद,
  - (1) समष्टिवाद
  - (2) श्रेणीसमाजवाद
  - (3) श्रमिक संघवाद
- राष्ट्रीय समाजवाद
  - अराजकतावाद

काल्पनिक समाजवाद

इस काल का प्रथम समाजवादी विचारक फ्रान्स निवासी बैब्यू था, वह भूमि के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में था तथा अपने ध्येय की प्राप्ति क्रान्ति द्वारा करना चाहता था। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अन्य प्रमुख फ्रान्सीसी समाजवादी विचारक बैले, सैण्टसाइमन और फौरियर है। सैण्टसाइमन सम्पत्ति पर सामाजिक अधिकार स्थापित करना चाहता था, परन्तु वह सबको समान वरन् श्रम के अनुसार वेतन के पक्ष में था। फौरियर के विचार सैण्टसाइमन से मिलते-जुलते हैं परन्तु वह सहकारी संगठनों की कल्पना करता है। इसी कारण वे भविष्य के सही मार्ग को नहीं समझ सके और उनका समाजवाद एक सपना, कल्पना ही बना रहा।

उपर्युक्त फ्रान्सीसी समाजवादियों के विचारों से ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका भी प्रभावित हुए। ब्रिटेन का तत्कालीन प्रमुख समाजवादी विचारक राबर्ट ओवेन था। वह स्वयं एक श्रमिक और बाद में पूंजीपति, समाज सुधारक और श्रमिकों तथा सहकारी आन्दोलनों का प्रवर्तक हुआ। उसका कहना था कि मनुष्य का स्वभाव परिस्थितियों से प्रभावित होता है। वह शिक्षा, प्रचार और समाज सुधार द्वारा पूंजीवाद की शोषण का अन्त करना चाहता था। अपने विचारों के अनुसार उसने उपनिवेश स्थापित करने का प्रयत्न किया, परन्तु असफल रहा,

4 समाजवाद

5. अराजकतावाद

आदर्शवादी समाजवाद

समाजवादी विचार लगभग प्रत्येक युग में ही प्रचलित रहे हैं। परन्तु समाजवादी आन्दोलन और समाजवादी शब्द का प्रयोग 19 वीं शताब्दी के पूर्वार्ध से आरम्भ हुआ। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य ने वर्गीय भेद भाव को समाप्त करके तथा आर्थिक एवं सामाजिक समानता स्थापित करके अपने भाग्य को उन्नत करने के निरन्तर प्रयास किये है। यहूदी पैगम्बरो ने 'अमोस' और 'होसिया' जैसे नैतिक धार्मिक आदर्शवादियों की कल्पना की थी। प्लेटो सर्वप्रथम दार्शनिक है जिसने इन विचारो को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया। वह न केवल सम्पत्ति के समान और सामूहिक पक्ष में था वरन् व्यक्तिगत पारिवारिक प्रथा का अन्त कर स्त्रियों और बच्चो का भी समाजीकरण करना चाहता था। उसके समाजवाद का आधार दासप्रथा थी और वह केवल संकुचित शासकवर्ग तक सीमित था, अत उसको आभिजात्य समाजवाद कहा जा सकता है। मध्यकालीन विचारो में भी साम्य सम्बन्धी धारणा मिलती है, परन्तु उस समय के विद्रोहो का आधार नैतिक एवं धार्मिक था। पुनर्जागरण काल में फ्लोरेण्टीन गणराज्य मे सेवानेरोला ने उदारधार्मिक राज्य की स्थापना पर जोर दिया था।

आधुनिक काल के प्रथम चरण के विचार स्वातंत्र्य के कारण धर्मनिरपेक्ष चिन्तन आरम्भ हुआ और इस काल मे टामस मूर की 'यूटोपिया' और टामस काम्पानेला के 'सूर्यनगर' तथा जान वेलण्टीन ऐंडियाई के 'क्रिस्तिमानोपोल' मे मिलते हैं। इन विचारों ने साम्य के आधार पर समाजवादी कल्पना की। इनके विचारो में वर्ग संघर्ष की चर्चा नहीं मिलती। 17 वी शताब्दी में विन्सटेनले ने क्रामवेल से एक साम्यवादी राज्य स्थापित करने के लिए कहा था। संक्षेप में प्रारम्भिक समय से लेकर 17 वी शताब्दी के अन्त तक आदर्शवादी शिक्षा से परिपूर्ण अनेक रचनाओं के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व आधुनिक समाजवादी विचारों के लिए भौतिक आधार पूजीवादी शोषण और सर्वहारा वर्ग सम्भव नहीं था। औद्योगिक क्रान्ति के साथ विज्ञान का चमत्कारी विकास हुआ और प्रचीन मान्यताओं तथा धार्मिक अन्धविश्वासो का ह्रास

होने लगा। इन परिस्थितियों में समाजवादी चिन्तन का उदय हुआ जिसका वर्गीकरण निम्नलिखित है :—

काल्पनिक समाजवाद

इस काल का प्रथम समाजवादी विचारक फ्रान्स निवासी बेबूफ था, वह भूमि के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में था तथा अपने ध्येय की प्राप्ति क्रान्ति द्वारा करना चाहता था। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अन्य प्रमुख फ्रान्सीसी समाजवादी विचारक वैले, सेण्टसाइमन और फौरियर हैं। सेण्टसाइमन सम्पत्ति पर सामाजिक अधिकार स्थापित करना चाहता था, परन्तु वह सबको समान वरन् श्रम के अनुसार वेतन के पक्ष में था। फौरियर के विचार सेण्टसाइमन से मिलते-जुलते हैं परन्तु वह सहकारी संगठनों की कल्पना करता है। इसी कारण वे भविष्य के सही मार्ग को नहीं समझ सके और उनका समाजवाद एक सपना, कल्पना ही बना रहा।

उपर्युक्त फ्रान्सीसी समाजवादियों के विचारों से ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका भी प्रभावित हुए। ब्रिटेन का तत्कालीन प्रमुख समाजवादी विचारक राबर्ट ओवेन था। वह स्वयं एक श्रमिक और बाद में पूँजीपति, समाज सुधारक और श्रमिकों तथा सहकारी आन्दोलनों का प्रवर्तक हुआ। उसका कथन था कि मनुष्य का स्वभाव परिस्थितियों से प्रभावित होता है। वह शिक्षा, प्रचार और समाज सुधार द्वारा पूँजीवादी शोषण का अन्त करना चाहता था। अपने विचारों के अनुसार उसने उपनिवेश स्थापित करने का प्रयत्न किया, परन्तु असफल रहा,

तथापि उसके विचारों का ब्रिटिश और संयुक्त राज्य अमेरिका के श्रमिक आन्दोलनों पर गहरा प्रभाव पड़ा।

ओवेन के पश्चात् ब्रिटेन के मजदूरों के अन्दर चार्टिस्ट विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। यह आन्दोलन मताधिकार प्राप्त कर संसद पर अधिकार स्थापित करना और इस प्रकार राज्य शक्ति प्राप्त करने के पश्चात् आर्थिक तथा सामाजिक सुधार करना चाहता था। आगे चल कर फेबियन तथा समष्टिवादी समाजवादियों ने इस संविधानिक मार्ग का आश्रय लिया। फ्रान्सीसी समाजवादी लुइ ब्लांके समाजीकरण ही नहीं, श्रमिकों के कार्य करने के अधिकार का भी समर्थक था। प्रत्येक अपने सामर्थ्य के अनुसार कार्य करें और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार प्राप्ति हो। उसने इस साम्यवादी विचार का प्रचार किया।

कार्लमार्क्स के साथी एंगिलस ने उपर्युक्त आधुनिक समाजवादी विचारों को काल्पनिक समाजवाद का नाम दिया। इन विचारों का आधार भौतिक और वैज्ञानिक नहीं नैतिक था, इनके विचारक ध्येय की प्राप्ति के सुधारवादी साधनों में विश्वास करते थे और भावी समाज की विस्तृत परन्तु अवास्तविक कल्पना करते थे।

इस पर काल्पनिक समाजवादी विचारकों ने तत्कालीन सामाजिक तथा आर्थिक दुर्व्यवस्था का मर्मस्पर्शी चित्रण तथा उसके दोषों की प्रभावोत्पादक आलोचना की है। यह सामाजिक प्राप्ति के प्रति उनके निष्कपट भाव को व्यक्त करता है। वास्तव में पूंजीवादी उदारवादी विचाधारायें मध्यम वर्ग के प्रभुत्व में मन्त्रमुग्ध होकर अपने युग को सर्व श्रेष्ठ समझने लगी थी। इस आशावाद के शिथिल सामाजिक तथा आर्थिक आधार का मूल्यांकन आवश्यक हो गया था। द्वितीय काल्पनिक समाजवादियों ने कहा कि राज्य को मौन तथा उदासीन नहीं रहना चाहिए, इसके विपरीत उसे श्रमिकों के हितार्थ कानून बनाने और प्रशासकीय सेवायें उपस्थित करनी चाहिए। अभी तक राज्य के कार्य क्षेत्र के विषय में नकारात्मक विचार प्रचलित था। इस प्रकार काल्पनिक समाजवादी सुधारवादी समाजवाद का बीजारोपण करते है। तृतीय ये विचारक चरित्र निर्माण में उचित तथा अनुकूल परिवेश को महत्व देते हैं। यह एक मौलिक समाजशास्त्रीय है। इस पर भी वे नियतिवादी नहीं हैं क्योंकि बुद्धि, साहचर्यवादी वेग, मानव उत्कर्ष तथा सुधार पर विश्वास करने के कारण उनके दृष्टिकोण का

आधार सक्रिय मानवता प्रतीत होता है। चतुर्थ, इन विचारकों ने चिन्तन, भाषण तथा लेखन के द्वारा समाजवाद को एक प्रचलित विचारधारा में परिणत कर दिया। अन्त में काल्पनिक समाजवाद के कुछ प्रवर्तकों को छोड़ कर, अन्य सब में, आशा तथा विश्वास की झलक मिलती है। इतना होने पर भी यह स्मरणीय है कि उनके विचार तथा प्रयत्न अन्ततोगत्वा प्रवचन स्वरूप हैं। इसके कई कारण हैं। इन काल्पनिक समाजवादियों ने तत्कालीन समाज को शिक्षित करने की चेष्टा अवश्य की परन्तु किसी व्यावहारिक आन्दोलन को जन्म नहीं दिया। इसका प्रधान कारण यह है कि उन्होंने व्यापक ऐतिहासिक दृष्टि से पूंजीवाद का विश्लेषण नहीं किया है।

वैज्ञानिक समाजवाद

मार्क्स को वैज्ञानिक समाजवाद का प्रणेता माना जाता है। उसके विचारों पर हीगेल के आदर्शवाद फायरबाख के भौतिकवाद, ब्रिटेन के शास्त्रीय अर्थशास्त्र तथा फ्रान्स की राजनीति का प्रभाव है। मार्क्स ने अपने पूर्वगामी और समकालीन समाजवादी विचारों का समन्वय किया है। उसके अभिन्न मित्र एवं सहकारी एंगेल्स ने भी समाजवादी विचार प्रतिपादित किये हैं। उनमें अधिकांशतः मार्क्स के सिद्धान्तों की व्याख्या है, अतः अनेक लेख मार्क्सवाद के ही अंग माने जाते हैं।

मार्क्स के दर्शन को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहा जाता है। मार्क्स के लिए वास्तविक विचार मात्र नहीं, भौतिक सत्य है, विचार स्वयं पदार्थ का विकसित रूप है। उसका भौतिकवाद विकासवान् है परन्तु यह विकास द्वन्द्वात्मक प्रकार से होता है। इस प्रकार मार्क्स हीगेल के विचारवाद का विरोधी है परन्तु उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति को स्वीकार करता है।

मार्क्स के विचारों की दूसरी विशेषता उसका ऐतिहासिक भौतिकवाद है। कुछ लेखक इसको इतिहास की अर्थशास्त्रीय व्याख्या भी कहते हैं। मार्क्स ने सिद्ध किया कि सामाजिक परिवर्तनों का आधार उत्पादन के साधन और उनके प्रभावित उत्पादन सम्बन्धों में परिवर्तन है। अपनी प्रतिभा के अनुसार मनुष्य सदैव ही उत्पादन के साधनों में उन्नति करता है, परन्तु एक स्थिति आती है जब इस कारण उत्पादन सम्बन्धों पर भी प्रभाव पड़ने लगता है और उत्पादन के स्वामी शोषक और इन साधनों का प्रयोग करने वाले शोषित वर्ग में संघर्ष आरम्भ

हो जाता है। स्वामी पुरानी व्यवस्था को बनाये रख कर शोषण का क्रम रखना चाहता है। परन्तु शोषित वर्ग का और समाज का हित नये उत्पादन सम्बन्ध स्थापित कर नये उत्पादन के साधनों का प्रयोग करने से होता है। अतः शोषक और शोषित के मध्य वर्ग-संघर्ष क्रान्ति का रूप धारण करता है और उसके द्वारा नवीन समाज का जन्म होता है। इसी प्रक्रिया द्वारा समाज आदि-कालीन कबायली साम्यवाद, प्राचीन दासता, मध्य-युगीन सामन्तवाद और आधुनिक पूंजीवाद इन अवस्थाओं से गुजरा है। अभी तक का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है, आज भी पूंजीपति और सर्वहारा वर्ग के मध्य यह संघर्ष है जिसका अंत सर्वहारा क्रान्ति द्वारा समाजवाद की स्थापना से होगा। भावी साम्यवादी व्यवस्था इस समाजवादी समाज का ही एक श्रेष्ठ रूप होगी।

मार्क्स ने पूंजीवादी समाज का गूढ़ और विस्तृत विश्लेषण किया है। उसकी प्रमुख पुस्तक का नाम पूंजी है। इस ग्रन्थ में उसके अर्थ और अतिरिक्त अर्थ सम्बन्धी सिद्धान्त मुख्य हैं। उसका कहना है कि पूंजीवादी समाज की व्यवस्था अधिकांशतः पण्यों की पैदावार है। पूंजीपति अधिकतर चीजें बेचने के लिए बनाता है अपने प्रयोग मात्र के लिए नहीं। पण्य वस्तुएँ अपने अर्थ के आधार पर खरीदी बेची जाती हैं, परन्तु पूंजीवादी समाज में श्रमिक की श्रमशक्ति भी पण्य बन जाती है और वह भी अपने अर्थ के आधार पर बेची जाती है। प्रत्येक चीज के अर्थ का आधार उसके अन्दर प्रयुक्त सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम है जिसका मापदण्ड समान है। श्रमिक अपनी श्रमशक्ति द्वारा पूंजीपति के लिए बहुत सामर्थ्य पैदा करता है, परन्तु उसकी श्रम शक्ति का अर्थ बहुत कम होता है। इन दोनों का अन्तर अतिरिक्त अर्थ है यह अतिरिक्त अर्थ और जिसका आधार श्रमिक का श्रम है पूंजीवाद लाभ, ब्याज, कमीशन आदि का आधार है। सारांश यह है कि पूंजी का स्रोत श्रम शोषण है। मार्क्स का यह विचार वर्ग संघर्ष को प्रोत्साहन देता है। पूंजीवाद की विशेषता है कि इसमें स्पर्धा होती है और बड़ा पूंजीपति छोटे पूंजीपति को परास्त कर उसका विनाश कर देता है तथा उसकी पूंजी का स्वंय अधिकारी हो जाता है। वह अपनी पूंजी और उसके लाभ को भी फिर से उत्पादन के क्रम में लगा देता है। इस प्रकार पूंजी और पैदावार दोनों की वृद्धि होती है, परन्तु क्योंकि उसके अनुपात मे मजदूरी नही बढती अतः श्रमिक वर्ग इस पैदावार को खरीदने मे असमर्थ होता है और इस कारण समय समय पर पूंजीवादी व्यवस्था आर्थिक संकटो की शिकार होती है जिसमें अतिरिक्त पैदावार और बेकारी तथा भूखमरी

एक साथ पायी जाती है। इस अवस्था में पूंजीवादी समाज उत्पादन शक्तियों का पूर्णरूप से प्रयोग करने में असमर्थ होता है। अतः पूंजीपति और सर्वहारा वर्ग के मध्य वर्ग-संघर्ष बढ़ता है और अन्त में समाज के पास सर्वहारा क्रान्ति तथा समाजवाद की स्थापना के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता। सामाजिक स्तर पर उत्पादन परन्तु उसके ऊपर व्यक्तिगत स्वामित्व, मार्क्स के अनुसार यह पूंजीवादी व्यवस्था की असंगति है जिसे सामाजिक स्वामित्व की स्थापना कर समाजवाद दूर करता है।

राज्य के सम्बन्ध में मार्क्स की धारणा थी कि यह शोषक वर्ग का शासन का अथवा दमन का यन्त्र है। अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए प्रत्येक शासक वर्ग इसका प्रयोग करता है। पूंजीवाद के भग्नावशेषों के अन्त तथा समाजवादी व्यवस्था की जड़ों को सुदृढ़ बनाने के लिए एक संक्रामक काल के लिए सर्वहारा वर्ग भी इस यन्त्र का प्रयोग करेगा। अतः कुछ-कुछ समय के लिए सर्वहारा अधिनायकत्व की आवश्यकता होगी, परन्तु पूंजीवादी राज्य मुट्ठी भर शासक वर्ग का बहुमत शोषित जनता के ऊपर अधिनायकत्व है जब कि सर्वहारा का शासन बहुमत जनता का केवल नगण्य अल्पमत के ऊपर अधिनायकत्व है। समाजवादियों का विश्वास है कि समाजवादी व्यवस्था उत्पादन की शक्तियों का पूरा-पूरा प्रयोग करके पैदावार को इतना बढ़ायेगी कि समस्त जनता की सारी आवश्यकताएं पूरी हो जायेंगी। कालान्तर में मनुष्य को कार्य करने की आदत पड़ जायेगी और वे पूंजीवादी समाज को भूलकर समाजवादी व्यवस्था के अभ्यस्त हो जायेंगे। इस स्थिति में वर्गभेद मिट जायेगा और शोषण की आवश्यकता न रह जायेगी। अतः शोषणमय राज्य भी अनावश्यक हो जायेगा। समाजवाद की इस उच्च अवस्था को मार्क्स साम्यवाद कहता है। इस प्रकार का राज्यविहीन समाज अराजकतावादियों का भी आदर्श है।

सर्वहारा वर्ग यदि स्वयं अपनी शक्ति को पहचान सका है और इस शक्ति के प्रति सचेत बन कर आज महती युगान्तकारी शक्ति बन सका है, तो इसका बहुत बड़ा श्रेय मार्क्स के सहकर्मी एंजेल्स को भी है। एंजेल्स ने भी सर्वहारा का विकास और विचारधारा को प्रदान करने में सक्रिय सहयोग मार्क्स को दिया। एंजेल्स ने भी पूंजीवादी व्यवस्था पर करारी चोट ही नहीं की वरन् श्रमजीवी वर्ग की दयनीय दशा का इतना प्रभावोत्पादक और हृदयस्पर्शी चित्र प्रस्तुत करने में वे सफल रहे। इन्होंने भी समाजवाद के मुख्य सिद्धान्तों की व्याख्या करने का कार्य किया। इस प्रकार सन् १८४८ में ऐतिहासिक महत्व की रचना 'कम्युनिस्ट

घोषणा पत्र' प्रकाशित हुई। एंगेल्स यह भलीभाँति मानते थे कि लोकमत के सिद्धान्त साम्यवादी प्रगति से ही साकार हो सकते हैं। इसी लिए एंगेल्स ने ठीक ही कहा है कि व्यापक मताधिकार श्रमिक वर्ग की प्रौढ़ता का मापदन्ड है। जिस दिन व्यापक मताधिकार का थर्मामीटर यह सूचना देगा कि श्रमिकों में उबाल आने वाला है, उस दिन श्रमजीवी तथा पूंजीपति दोनों जान जायेंगे कि उन्हें क्या करना है। इस प्रकार व्यापक मताधिकार श्रमिक वर्ग की बढ़ती हुई शक्ति का सूचक है। इसी आधार पर उसने विश्व की, उसके विकास की, मनुष्य जाति के विकास की, तथा मनुष्यों के मन में इस विकास के प्रतिबिम्ब की सच्ची अवधारणा केवल द्वन्दवाद की पद्धतियों के द्वारा ही की जा सकती है जो निर्माण और निर्वाण की, उन्नत और अवनत परिवर्तनों की, असंख्य क्रियाओं को ध्यान में रखती है। वस्तुतः द्वन्दवाद प्रकृति मानव समाज तथा चिन्तन की गति एवं सामान्य नियमों के विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसी आधार पर एंगेल्स ने उत्पादन पद्धति के महान प्रगति और औद्योगिक संगठन पूंजीवाद के अस्तित्व के साथ तीव्रगति से असंभव होते हैं। ऐसी स्थिति में वास्तविक चरित्र को समझ कर पूंजीवादी मनोवृत्ति समाजवादी मनोवृत्ति में परिवर्तित होगी। समाजवादी मनोवृत्ति सीधे-सीधे तार्किक और व्यावहारिक होती है। इसी आधार पर वह आर्थिक तथा ऐतिहासिक स्थितियों का अध्ययन करता है। यहां वह पाता है कि पूंजीपति द्वारा श्रमिकों से सृजित अधिशेष मूल्यों को सामतुल्य प्रतिफल दिये बिना हड़प लेना ही पूजीवादी समाज को उसका विशिष्ट रूप प्रदान करता है। अतएव पूंजीपतियों के वर्ग और श्रमिकों के वर्ग के मध्य एक मौलिक अंतर्विरोध है।

केवल श्रमिक वर्ग ही अपने को पूंजी की दासता से मुक्त करने में अत्यधिक गम्भीर रुचि रखता है। अतः वैज्ञानिक समाजवादी मुख्यतः श्रमिक का ही मादा करता है। इसके साथ ही एंगेल्स ने परिवार के विकास सम्बन्ध इतिहास के भौतिक वादी दृष्टिकोण से विश्लेषण करते हुए प्रारम्भिक यूथ विवाह से समाज के आर्थि विकास के अनुकूल विभिन्न चरणों का उल्लेख कर वर्तमान एकनिष्ठ विवाह रूप के परिवार के विकास तक रूपरेखा प्रस्तुत की। इसके साथ-साथ सामाजि संस्थान या प्रकार्य के रूप मे परिवार का महत्व अवश्य घटता है। समाज सामाजिक जीवन नये उद्योगों मे होता है। अब तक जो आदमी निर्वाह के सा प्राप्त करने मे लगा या वह जानवरों के झुंडो, जमीन जोतने के औजारों बाद में दासों का भी स्वामी हो गया। इस प्रकार इस तथ्य के कारण कि परिव अब सामाजिक प्रकार्य नही रहा, वरन एक निजी प्रकार्य बन गया, साधन

पुरुष ने प्रथम और स्त्री ने दूसरा स्थान ग्रहण करना आरम्भ कर दिया। उसी समय अपने बच्चों का उत्तराधिकार पक्का करने के लिए मनुष्य ने नयी सत्ता का प्रयोग मातृ पक्ष से पितृपक्ष की ओर करने के लिए निश्चित रूप से किया। इस प्रकार परिवार और समाज में उसने अपनी स्थिति और सुदृढ़ कर ली। किसी युग विशेष में महिलाओं की स्थिति निर्वाह के साधन प्राप्त करने की पद्धति के ऐतिहासिक विकास और निजी सम्पत्ति के कारण है। आर्थिक कारण ही महिलाओं की दुर्दशा का कारण रहा है। अतः एंगेल्स का मत है कि साम्यवाद स्थापित होने के साथ वेश्यावृत्ति निश्चित रूप से समाप्त हो जायेगी क्योंकि उसके लिए कोई आर्थिक कारण नहीं रह जायेगा। अगर स्त्री के लिए एकनिष्ठ विवाह कायम रहे तो इतिहास में प्रथम बार यह पुरुष के लिए भी समान रूप से अनिवार्य हो जायगा।

सम्पूर्ण अपव्यय और क्षुद्रता सहित वर्तमान व्यक्तिगत परिवार निश्चित रूप से लुप्त हो जायेगा और वे वैध हो या अवैध राज्य की अधिकाधिक देख-रेख में रहेंगी। व्यक्तिगत यौन प्रेम यथार्थ जीवन में और इतिहास में यह स्थिति प्राप्त करेगा। पारस्परिक प्रेम ही तब एकमात्र वास्तविक वह कारण होगा, जो पति, पत्नी को एक साथ रहने के लिए और एक दूसरे के रहने के लिए और एक दूसरे के प्रति सच्चा होने के लिए बाध्य करेगा। इस प्रकार मानव मन स्थिति तत्कालीन आर्थिक स्थितियों को बदलने में प्रभाव डालती है और इस प्रभाव को प्रतिबिम्बित करती है।

वस्तु उत्पादन और वर्ग आधिपत्य पर आधारित समाज के अन्तर्गत ऋणी और ऋणदाता और सामाजिक संगठनों की समस्त पेचिदगियों के नियमन में भी वे अब सक्षम रहे। अतः राज्य का उदय हुआ। एंगेल्स ने इतिहास की व्याख्या करते हुए राज्य के विषय में दिखाया है कि किस प्रकार पितृसत्तात्मक परिवार के हाथों में धन के विरुद्ध उठाया और वंशागत अभिजात्यवर्ग एवं राजतन्त्र का सूत्रपात किया। धन संचय की सम्भावना के साथ दासता आयी। सर्वप्रथम युद्धबंदियों को किन्तु शीघ्र ही अनेक कबीले के निर्धन सदस्यों को दास बनाया गया। इस प्रकार स्वतन्त्र सशस्त्र राष्ट्र के स्थान पर, जो स्वतः अपने प्रधान को अपना सैनिक अथवा असैनिक प्रधान मानता था और बाह्य शत्रुओं से रक्षा के लिए सशस्त्र था, राजसत्ता आयी जो समाज की उपज है, जो विकास की एक निश्चित अवस्था में पैदा होती है। राजसत्ता का निर्माण इस बात की स्वीकारोक्ति है कि यह समाज एक ऐसे अन्तर्विरोध में फंस गया है कि जिसे हल करना उसके साम-

थ्यं के बाहर है। इन विरोधों या वर्गों के झगड़ों को कुछ सीमाओं के अन्दर रखने के लिए आवश्यक था कि एक ऐसी शक्ति हो जिससे आभास हो कि वह समाज के ऊपर खड़ी है किन्तु वह वास्तव में शासक वर्ग के अभिप्राय और सत्ता को व्यक्त करे। यह शक्ति है राजसत्ता, जो समाज से पैदा होती है, परन्तु जो अपने को उससे ऊपर रखती है। राजसत्ता की प्रथम विशेषता राज्य की प्रजा का क्षेत्रीय विभाजनों के अनुसार विभाजन (जनजातीय या गण संगठन क्षेत्रीय सीमा में नहीं बंधे होते थे)। द्वितीय विशेषता एक ऐसी सार्वजनिक शक्ति का अस्तित्व जो अब सीधे सारे जनता से एकदम नहीं होती और जो सशस्त्र शक्ति के रूप में संगठित होती है और जिससे केवल हथियारबन्द लोग ही नहीं वरन जेलखाने तथा विभिन्न प्रकार के दमन के यन्त्र आदि भौतिक साधन भी होते हैं जिनका नाम निशान भी नहीं था।

एंगेल्स उन विभिन्न रूपों की जाँच करते हैं जिनसे होकर राजसत्ता गुजरी है और बताते हैं कि इतिहास में अभी तक जितने राज्य हुए हैं, उनमें से अधिकतर में नागरिकों को उनकी सम्पत्ति के अनुसार कम या अधिक अधिकार दिये गये हैं। इससे इस बात की प्रत्यक्ष पुष्टि हो जाती है कि राज्य सम्पत्तिवान् वर्गों का एक संगठन है जो सम्पत्तिहीन वर्गों से उनकी रक्षा करने के लिए बनाया गया है। और उन्होंने बताया कि किस प्रकार वर्ग नैतिकता और वर्ग आदर्श हमारे सम्पूर्ण आधुनिक राजकीय संस्थानों में व्याप्त हो जाते हैं और कैसे श्रमिक वर्ग की मुक्ति के साथ ही सम्पूर्ण आधुनिक राज्य यन्त्र को तिरोहित कर देना होगा।

इसकी प्राप्ति के लिए श्रमिक वर्ग सर्वहारा के अधिनायकत्व के द्वारा अपने आपको शासक वर्ग के रूप में संगठित करता है। वह वर्तमान राज्य यन्त्र को तोड़ कर उखाड़ फेंकता है और उसके स्थान पर इस प्रकार के राज्य को स्थापित करता है जो शब्द के वर्तमान अर्थ में राज्य नहीं है क्योंकि सत्ता प्राप्त करते ही श्रमिक वर्ग समाज के सारे वर्गों को समाप्त कर देता है। पूर्ण साम्यवाद की ओर सम्पूर्ण सक्रमण काल के दौरान इस प्रकार का राज्य कार्य करता रहता है साथ ही वह यथाशक्ति वर्ग विग्रह और अपदस्थ वर्गों के प्रतिरोध को समाप्त करने के लिए प्रयास करता है। सर्वहारा अत्यधिक पूर्णरूप मे किसी समूह या वर्ग विरोध की नहीं, वरन सम्पूर्ण समाज की अभिलाषा को कार्य रूप मे लायेगी और सम्पूर्ण समाज का प्रतिनिधित्व करेगी।

१६ वीं शताब्दी के अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तिकारी आन्दोलन का केन्द्र रूस की ओर खिसकने लगा जहा एक समाजवादी क्रान्ति परिपक्व हो रही थी।

रूस लेनिनवाद का जन्म-स्थान था और लेनिनवाद नये युग का साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्तियों के युग का पूंजीवाद से समाजवाद में सन्तरण एवं साम्यवादी समाज के निर्माण के युग का मार्क्सवाद है। अतः यह कोरे संयोग की बात नहीं है कि मार्क्सवाद का और आगे सृजनात्मक विकास इसी और अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग के नेता लेनिन के नाम के साथ अटूट रूप में जुड़ा हुआ है। दर्शन में लेनिन का योगदान इतना विशाल एवं बहुल है कि वह दार्शनिक चिन्तन के इतिहास की एक पूरी मंजिल बन गया है।

लेनिन ने नयी ऐतिहासिक अवस्थाओं में द्वन्द्वात्मक और भौतिकवाद का समर्थन ही नहीं किया वरन् उसे आगे बढ़ाया। ऐसा करके उन्होंने दर्शन में बहुत बड़ा योगदान किया। सिद्धान्त के क्षेत्र में उनके काम का सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी संघर्ष तथा सोवियत संघ में समाजवाद के निर्माण के साथ सीधा लगाव था। लेनिन ने मार्क्सवाद के दर्शन को केवल समृद्ध ही नहीं किया वरन् व्यावहारिक क्षेत्र में उसके सिद्धान्तों के प्रयोग का निर्देशन भी किया। उन्होंने साम्यवादी दल की स्थापना की जो एक नये क्रान्तिकारी प्रकार का दल है। इस दल के नेतृत्व के रूप में मजदूरों एवं किसानों ने पूंजीवाद को विनिष्ट किया और संसार का प्रथम समाजवादी राज्य स्थापित किया। लेनिन ने समाजवाद के निर्माण की योजना तैयार की और जीवन के अन्तिम क्षण तक इस योजना को कार्यान्वित करने में जनता एवं दल का नेतृत्व करते रहे।

नये ऐतिहासिक युग ने श्रमजीवी वर्ग और उसकी मार्क्सवादी पार्टी के सामने क्रान्तिकारी ढंग से समाज का पुनर्निर्माण करने, पूंजीवाद का उन्मूलन और समाजवाद की रचना करने का कार्य प्रस्तुत किया। इसी को ध्यान में रखकर लेनिन ने सामाजिक विकास को अधिशासित करने वाले नियमों का विवेचन करने और सर्वप्रथम समाजवाद के स्वरूप का अध्ययन करने पर विशेष ध्यान दिया। बदली हुई ऐतिहासिक अवस्थाओं का लेखा लेते हुए लेनिन ने समाजवादी क्रान्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त को और आगे बढ़ाया और सामाजिक विज्ञान की धारा पर अमिट प्रभाव डाला।

लेनिन ने वर्गों तथा वर्ग संघर्ष, सर्वहारा अधिनायकत्व और उसके रूप, इतिहास में जनता की भूमिका, मजदूर वर्ग की पार्टी और क्रान्तिकारी विचारों की भूमिका आदि के विषय में मार्क्सवादी शिक्षा को समृद्ध किया।

लेनिन ने द्वन्दवाद की समस्या के विशदीकरण में भारी योगदान किया। प्रत्येक प्रकार के आधिभौतिक विचारकों के विरुद्ध संघर्ष में उन्होंने भौतिकवादी द्वन्दवाद के नियमों और प्रवर्गों सम्बन्धी मार्क्सवादी मत का पुरजोरा समर्थन किया एवं उसे और भी आगे बढ़ाया। द्वन्दवाद के मूलबिन्दु विपरीतों की एकता और संघर्ष के नियम पर उन्होंने विशेष रूप से ध्यान दिया।

लेनिन ने पूंजीवादी विचारधारा, संशोधनवाद और कठमुल्लेपन का निरन्तर विरोध किया। उन्होंने संशोधनवाद और कठमुल्लेपन के मूल लक्षण बताये और उनके विकास की प्रवृत्तियों का संकेत किया। इस प्रकार लेनिन का नाम सर्वहारा क्रान्ति, सामाजिक प्रगति और समाजवाद का प्रतीक बन गया है। संसार के साम्यवादी रूपान्तरण का प्रतीक हो गया है। लेनिनवाद एक महान अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धांत है।

मार्क्सवादी लेनिनवादी दर्शन को उनके सहकर्मियों तथा शिष्यों—स्टालिन, ख्रुश्चेव एवं माओत्से तुंग ने विकसित किया और आज भी किया जा रहा है। स्टालिन ने एकदेशीय समाजवाद, विरोधियों की समाप्ति, सैनिक विस्तारवाद, सर्वाधिकारवादी राज्य, साम्यवादी राष्ट्रवाद, द्वन्दात्मक भौतिकवाद राज्य के लोप होने का सिद्धान्त आदि सिद्धान्तों को प्रचारित कर मार्क्सवाद के सिद्धान्तों मे संशोधन किया। स्टालिन को अपने कार्य मे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई थी। इन मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धान्तों का मनमाना अर्थ निकाल कर दल, शासन और जनता में वह सबसे अधिक शक्तिशाली बना। उसकी देवता के समान पूजा की जाती थी। उसकी प्रशंसा में नाटक, कविता, उपन्यास आदि लिखे जाते थे। उसी के काल मे रूस शक्तिशाली हो गया और एक सांसारिक दर्शनीय स्थल बन गया।

स्टालिन की भांति ख्रुश्चेव ने भी मार्क्सवाद लेनिनवादी सिद्धान्तों में महत्वपूर्ण परिवर्तन एवं संशोधन किये और वह भी अपने पूर्ववर्तियों की भांति मार्क्सवादी बना रहा। उसने पूंजीवादी राष्ट्रों से शत्रुता के स्थान पर मित्रता का हाथ बढ़ाया, स्टालिन के लौह आवरण को अलग कर दिया। उसके मुख्य परिवर्तनों में हिंसक क्रान्ति के स्थान पर शान्तिपूर्ण सहयोग देना, शक्ति सन्तुलन को महत्व प्रदान करना, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का समर्थन, शोषण का नया रूप और हस्तक्षेप की नीति का सिद्धान्त आदि प्रमुख रहे हैं।

माओत्से तुंग ने भी अपने को मार्क्स और लेनिन का प्रबल समर्थन करके चीन की परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन किया। माओ के अनुसार यदि हम चीन की परिस्थितियों के अनुकूल एक सिद्धान्त का निर्माण नहीं करेंगे—एक ऐसे सिद्धान्त का जो हमारी आवश्यकताओं और निश्चित प्रकृति के अनुरूप नहीं होगा तो हमें अपने आपको मार्क्सवादी विचारक कहना एक उत्तरदायित्वहीनता होगी। माओ के मुख्य विचारों में क्रान्ति का समर्थन, सर्वाधिकारी राज्य, युद्ध की अनिवार्यता, विश्व को दो वर्गों मे विभक्त के सिद्धान्त को मानना, साम्यवादी दल के गठन मे मध्यमवर्ग, मजदूर, किसान, देशभक्त, धनी वर्ग एवं बुद्धिजीवी वर्ग आदि सभी को सम्मिलित करना, नवीन लोकतन्त्र, सांस्कृतिक क्रान्ति आदि प्रमुख विचार हैं जिनको अपना कर चीन को एक सशक्त राष्ट्र के रूप मे विकसित किया है। अब चीन जर्जरित, अशान्त और पीड़ित बजर नहीं रहा।

इस प्रकार मार्क्सवादी दर्शन अथवा वैज्ञानिक समाजवाद ने वर्तमान युग को एक उपयोगी तथा व्यापक साधन प्रदान किया है। इस पद्धति एवं दर्शन ने यह दिखलाया है कि सामाजिक समस्याओं को समझने के लिए हमारा दृष्टिकोण गत्यात्मक, सापेक्ष तथा यथार्थवादी होना चाहिए। मानव विकास के इतिहास में भोजन, वस्त्र तथा निवास की समस्या सर्वोपरि है। इस समस्या को समझने के लिए जो मूर्त प्रयत्न हुए हैं उनका हमे अध्ययन करना चाहिए। व्यक्तिवादी अथवा परमाणुवादी पद्धति से केवल एकांकी तथा त्रुटिपूर्ण अध्ययन संभव है। एक स्वप्निल अथवा अमूर्त आस्था की शरण लेकर हम या तो वस्तुस्थिति का विस्मरण कर देते हैं या उसी को आदर्श स्वरूप मान कर एक स्वनिर्मित मृगमरीचिका के सामने आत्मसमर्पण कर देते है। पुनश्च, वैज्ञानिक समाजवाद ने हमारा ध्यान शोषण, निर्धनता तथा यातना जैसे वर्तमान जीवन के दोषों की ओर आकर्षित किया है। अर्ध-तृप्त, अर्धनग्न तथा अर्ध-शिक्षित जनता के श्रम पर निर्मित मान्यता का प्रासाद केवल बालुका संग्रह है जो किसी भी समय विलीन हो सकता है। हमें वैज्ञानिक समाजवाद के तत्सम्बन्धी समाधान मे विलक्षण तन्मयता, आशा तथा मानव प्रेम की झलक मिलती है। केवल इतना ही नहीं, मार्क्स तथा उनके अनुयायियों ने अपने व्यापक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के परम्परागत राजनीतिशास्त्र के मूल आधारों पर प्रहार किया है। उसमे सत्ता का यथार्थ तथा नग्न चित्रण है। राज्य शक्ति के साधन सरकार का ही नाम है। व्यक्ति तत्वज्ञान की एक अमूर्त इकाई नहीं है। वह भोजन वस्त्र की चिन्ता मे लगा हुआ एक वर्गगत प्राणी

है। सम्प्रभुता का आदर्श पूँजीवाद का सैद्धान्तिक समर्थन है। परम्परा
नीतिशास्त्र शोषण सेवी सत्ता का साधन है। इस प्रकार मार्क्स त
अनुयायियों ने परम्परागत राजनीतिशास्त्र के प्रमेयों का खण्डन त
समाज दर्शन की आवश्यकता को सिद्ध किया है।

समाजवाद

विकासशील विचारधारा में अनेक समाजवादी नामों के रूप में वि
हुए हैं जिनमें ईसाई समाजवाद, फेबियनवाद, समष्टिवाद, राज्य समाजवाद,
श्रमसंघवाद, आदि लोकतान्त्रिक समाजवाद, आदि।

ईसाई समाजवाद

ईसाई समाजवाद के मुख्य प्रचारक ब्रिटेन के जान फ्रेनकम त्युडलो, फ्रा
के निराव क्लाड पानी और जर्मनी के विक्टर आईमे ह्यूबर हैं। पूँजीवा
शोषण द्वारा श्रमिकों की दुर्दशा को देखकर इन विचारकों ने इस व्यवस्था की
आलोचना की और श्रमिकों में सहकारी आन्दोलन का प्रचार किया। उन्होंने
उत्पादक तथा भोक्ता सहकारी समितियों की स्थापना भी की। ईसाई
समाजवाद का प्रभाव ब्रिटेन, फ्रान्स और जर्मनी के अतिरिक्त आस्ट्रिया तथा
बेल्जियम में भी था।

फेबियनवाद

ब्रिटेन में फेबियन सोसाइटी की स्थापना सन् १८८३–८४ में हुई। राबर्ट
ओवेन तथा चार्टिस्ट आन्दोलन के प्रभाव से यहां स्वतन्त्र श्रमिक आन्दोलन की
नींव पड़ चुकी थी। फेबियन सोसाइटी ने इस आन्दोलन को दर्शन दिया। इस
सभा का नाम 'फेबियस कन्क्टेटर' के नाम से लिया गया है। फेबियस प्राचीन
रोम का एक सेनानी था जिसने कार्थेज के प्रसिद्ध सेनानायक हन्नीबल के विरुद्ध
सबसे धैर्य से कार्य किया और गोरिल्ला रणनीति के द्वारा उसको कई वर्षों में
पराजित किया। इसी प्रकार फेबियन समाजवादियों का विचार है कि पूंजीवाद
को केवल एक मुठभेड़ में क्रान्तिकारी मार्ग द्वारा परास्त नहीं किया जा सकता
इसके लिए निरन्तर काम का सोच-विचार और तैयारी की आवश्यकता है। इनका
[illegible], विकासवादी और सुधारवादी है। स्वतन्त्र मजदूर दल की स्थापना से पूर्व ये
पूर्व के विभिन्न राजनीतिक दलों में प्रवेश कर अपना उद्देश्य पूरा करना चाहते

थे। इनका मुख्य ध्येय चरम नैतिक सम्भावनाओं के अनुसार समाज का पुनर्निर्माण था। ये राज्य को वर्गशासन का यन्त्र न मान कर एक सामाजिक यन्त्र मानते हैं जिसके द्वारा समाज कल्याण और समाजवाद की स्थापना सम्भव है। इन विचारकों ने न केवल समय वरन नगरपालिका और ग्रामीण क्षेत्रीय परिषदों द्वारा भी समाजवादी प्रयोगों का कार्यक्रम अपनाया। अत: इनके विचारों को जनतन्त्रीय संसदीय, बैलट बाक्स, चुंगी विकास अथवा सुधारवादी समाजवाद की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार इस विचारधारा के अनेक नाम हैं—समष्टिवाद, राज्य समाजवाद, विकासवादी समाजवाद तथा संसदीय समाजवाद। इन विचारकों में प्रमुख सिडनी वेब, जार्ज बर्नार्ड शा, जी० डी० एच० कोल, श्रीमती एनी बीसेन्ट, ग्राहम वालस आदि प्रभृति विद्वानों में हमें इसी मनोवृत्ति के दर्शन होते हैं। इन विचारकों पर ब्रिटिश परम्परा, उपयोगितावाद, राबर्ट ओवेन, ईसाई समाजवाद और चार्टिस्ट आन्दोलन तथा जान स्टुअर्ट मिल के अर्थशास्त्रीय विचारों का गहरा प्रभाव है।

जर्मनी का पुनरावृत्तिवाद

कार्ल मार्क्स के उग्र विचारों का स्वागत कई प्रकार से किया गया। साधारणत: मध्यमवर्गी बुद्धिजीवियों ने उनके समाजवादी सन्देश के विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं की परन्तु इन्होंने उसके भौतिकवादी दृष्टिकोण तथा क्रान्ति को सन्देह की दृष्टि से देखा। इस प्रकार की प्रवृत्ति का प्रमुख प्रतिनिधित्व बर्नस्टाइन के चिन्तन काल की विशेषता यह है कि उस समय विचार जगत भौतिकवाद से भिन्न होकर काण्ट के नैतिक तथा धार्मिक दृष्टिकोण का पुनरुद्धार किया जा रहा था। आर्थिक क्षेत्र में साम्राज्यवादी, लूट, एवं [illegible] तथा पूंजी प्रसार के कारण पूंजीवादी व्यवस्था ने अपनी स्थिति अपेक्षाकृत सुदृढ़ बना ली थी। पश्चिमी यूरोप के देशों में तो लूट के इस माल का [illegible] के क्षेत्रों में भी पहुँचता है। पश्चिमी यूरोप के देश औद्योगीकरण तथा पूंजी प्रसार में अग्रसर थे, परन्तु इसी प्रकार दक्षिणी जर्मनी में औद्योगिक [illegible] के अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं उत्पन्न हो सकी थीं। जहाँ कहीं भी औद्योगिक विकास हुआ वहाँ पूंजीवादी समृद्धि के कारण अवसरवादी मनोवृत्ति पैदा हो गई थी। ऐसी परिस्थितियों में कई सुधारकों को यह विश्वास हो गया कि [illegible] तथा दासकल्प में भी परिवर्तन हो सकता है। अब यह [illegible] ढंग का विरोध तथा क्रान्तिकारी मार्गों की कोई आवश्यकता नहीं है। [illegible] स्टाइन इस नवीन वातावरण से प्रभावित हुआ। [illegible]

लिए उत्तम विचारधारा तथा कार्यक्रम है। अथवा पूंजीवाद के अन्तर्गत श्रमिकों का कल्याण असंभव है। इसके लिए उसने श्रेणी सहयोग, तथा शान्तात्मक और संवैधानिक मार्ग पर जोर दिया। वह नैतिक तथा मनोविक तत्वों के प्रभाव को भी स्वीकार करने लगा। जीन जोरेस ने भी बर्नस्टाइन के समान संशोधनवाद एवं सुधारवाद में विश्वास किया है जोरेस ने आर्थिक शक्तियों को सामूहिक तथा ऐतिहासिक शक्तियां कहा। ये दोनों ही विकास की प्रक्रिया के अभिन्न तत्व है। उसने माना कि समाजवादी संघर्ष अपने देश की परम्पराओं तथा परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं कर सकता। समाजवाद को प्राप्त करने के लिए देश के संवैधानिक जीवन तथा राजनीति व्यवस्था में यथोचित भाग लेना आवश्यक है।

श्रेणी समाजवाद

श्रेणी समाजवाद श्रमिक संघवाद की प्रतिलिपि मात्र नहीं, उसका ब्रिटिश परिस्थितियों में अनुकूलन है। श्रेणी समाजवाद के ऊपर स्वाधीनता की परस्पर और फेबियनवाद का भी प्रभाव है। इसका नाम यूरोप के मध्य-युगीन व्यावसायिक संघ संगठनों से लिया गया है। उस समय ये संघ आर्थिक और सामाजिक जीवन पर हावी थे और विभिन्न संघ प्रतिनिधि नगरों का शासन चलाते थे। श्रेणी समाजवादी उपर्युक्त संघ व्यवस्था से प्रेरणा ग्रहण करते थे। वे राजनीतिक क्षेत्र और उद्योग धन्धों में सिद्धान्त और स्वायत्तशासन स्थापित करना चाहते थे। ये विचारक उद्योगों के राष्ट्रीयकरण मात्र से सन्तुष्ट नहीं क्योंकि इससे नौकरशाही का भय है परन्तु वे राज्य का अन्त भी करना चाहते। राज्य को अधिक लोकतन्त्रात्मक और विकेन्द्रित करने के बाद वे उसको देश-रक्षा और हितसाधन के लिए रखना चाहते हैं। उनके अनुसार राजकीय संसद में केवल क्षेत्रीय ही नहीं व्यावसायिक प्रतिनिधित्व भी होना चाहिए। ये राज्य और उद्योगों पर श्रमिकों का नियन्त्रण चाहते हैं। ये असफलता के भय से क्रान्तिकारी मार्ग को स्वीकार नहीं करते लेकिन वैधानिक मार्ग को भी अपर्याप्त समझते हैं और मजदूरों के सक्रिय आन्दोलन, हड़ताल आदि का भी समर्थन करते हैं। इस विचारधारा के प्रमुख समर्थकों में ए० जे० पो० टी०, ए० आर० आरेंज, जी० डी० एच० कोल, हाब्सन, आर० एच० टाउनी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ब्रिटेन का मजदूर दल और मजदूर आन्दोलन इस विचारधारा से विशेष प्रभावित हुए हैं।

वर्तमान समय में समाजवाद एक स्वतन्त्र तथा महत्वपूर्ण आन्दोलन के रूप में नहीं पाया जाता है। इसका कारण यह है कि सुधारवादियों एवं

क्रान्तिवादियों के कतिपय विचार उदारवादियों एवं प्रतिक्रियावादियों ने भी ग्रहण कर लिए हैं। सुधारवाद का ऐतिहासिक अध्ययन हमें इस निष्कर्ष पर लाता है कि आधुनिक सुधारवाद के चार आधार स्तम्भ है। प्रथम, वह जनतान्त्रिक व्यवस्था की रक्षा करना चाहता है। द्वितीय, हमें उसमें राष्ट्रवाद, जातिवाद तथा उच्चसरकृतिवाद के तत्व मिल जाते है। तृतीय अधिकार सुधारवादी समाजवादी कार्यक्रमों मे कल्याणकारी राज्य तथा मिश्रित आर्थिक व्यवस्था के आदर्श का समर्थन मिलता है। अन्त में, इस विचारधारा के समर्थकों मे साम्यवाद का उग्र विरोध भी दिखलायी देता है। इसके कारण सुधारवाद मे अवसरवाद तथा परम्परा आग्रह के तत्वों का समावेश होने लगा है। सुधारवादी समाजवाद लोकतान्त्रिक समाजवाद के नाम से प्रचलित होने लगा है। यूरोप तथा एशिया के कई देशो मे लोकतान्त्रिक समाजवाद में विश्वास करने वाले दल पाये जाते हैं। कुछ लोगों का यह मत है कि शीत युद्ध के युग मे सुधारवाद सामाजिक जनतन्त्र वह तृतीय शक्ति का कार्य करेगा जो साम्राज्यवाद, पूंजीवाद तथा समाजवाद के मध्य स्थित होकर विश्व को कल्याण पथ पर ले जा सकता है। भविष्य ही इस कथन की सत्यता को प्रमाणित करेगा।

श्रमिक संघवाद

यह उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तथा बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ। उस समय तक श्रमिकों का विश्वास फेबियन और पुनरावृत्तिवाद मे कम होने लगा था। लोकतन्त्र श्रमिकों की समस्यायें सुलझाने मे असफल रहा। आर्थिक सकट विकट रूप धारण करने लगा और युद्ध की सम्भावना बढ़ने लगी। साथ ही श्रमिकों की संख्या मे वृद्धि हुई, उनका संगठन सुदृढ़ हुआ और वे अपनी मांगो को पूरी कराने के लिए बड़े स्तर पर हड़ताल करने लगे। इन परिस्थितियों में संसदात्मक और सांविधानिक साधनो के स्थान में श्रमिक वर्ग को सक्रिय विरोध के सिद्धान्तों की आवश्यकता हुई। इसी कमी को उपर्युक्त विचारधाराओं ने पूरा किया।

श्रमिक संघवाद अन्य समाजवादियों की भांति समाजवादी व्यवस्था के पक्ष में है। परन्तु वह राज्य का अन्त कर स्थानीय समुदायों के हाथ मे सामाजिक नियन्त्रण चाहता है। वह इस नियन्त्रण को केवल उत्पादक वर्ग तक ही सीमित रखना चाहता है। श्रम संघवादी भी राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय संघों के समर्थक और राज्य, राजनीतिक दल, युद्ध और सैन्यवाद के विरोधी हैं।

ध्येय की प्राप्ति का श्रम संघवादी मार्ग क्रान्ति है, परन्तु इस क्रान्ति के लिए भी वह राजनीतिक दल को अनावश्यक समझता है क्योंकि इसके द्वारा श्रमिकों की क्रान्तिकारी इच्छा के कमजोर हो जाने का भय है। इसका हड़तालों, प्रत्यक्ष विरोध, तोड़ फोड़, बहिष्कार आदि में अटूट विश्वास है। ईसाई पौराणिक पुनरुत्थान की भाँति यह भी श्रमिकों पर जादू का प्रभाव डालती है और उनके अन्दर ऐक्य और क्रान्ति की भावनाओं को प्रोत्साहन देती है। ये विचारक मशीनों के विध्वन्स और उद्योगों से उत्पन्न माल को बदनाम करने के पक्ष में हैं। इस विचारधारा के समर्थक जार्ज सोरेल, पातोद, पूगे, पिलोटेमर आदि प्रमुख हैं।

इन विचारों से अनेक लातानी देश, फ्रान्स, इटली, स्पेन, मध्य और दक्षिणी अमेरिका प्रभावित हुए हैं। इनका प्रभाव संयुक्त राज्य अमेरिका में भी था, परन्तु यहा पर विकेन्द्रीकरण पर जोर नहीं दिया गया क्योंकि देश में बड़े पैमाने के उद्योग एक वास्तविकता थे।

श्रमिक संघवाद का अध्ययन, क्रान्तिकारी समाजवाद के अन्तर्गत किया है। यह दर्शन भी संघर्ष पर विश्वास करता है। वे भी राज्य को पूंजीपतियों द्वारा शोषण करने का साधन समझते हैं। अतः अन्तत वे राज्य का विरोध करते हैं। ये नवीन व्यवस्था को लाने का साधन मानते हैं। श्रमिक संघवाद का आधार घातकवाद है और इतिहास में जीवन शक्ति को मानता है। ये विचारक आर्थिक नियतिवाद के पक्ष में नहीं हैं। श्रमिक संघवादी विचारक बुद्धिजीवी आग्रह को परिहार्य नही समझते हैं। उनके इस शिथिल तत्व की धारणा को बाद में चलकर प्रतिक्रियावाद ने अपनी विचारधारा में प्रधान स्थान दिया परन्तु कई श्रम संघवादियों ने आर्थिक तत्व की महता को स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए प्रूधो, जिसे अनेक विचारक फ्रान्सीसी संघवाद का जनक कहते हैं, उन्होंने अपने संघवाद के सिद्धान्त मे बतलाया है कि आर्थिक व्यवस्था ऐतिहासिक दृष्टि से राजनीतिक व्यवस्था से वयस्क है, आर्थिक सम्बन्ध, सूत्र हमारे राजनीतिक अथवा संवैधानिक नियमों से वयस्क है और हमारी आर्थिक व्यवस्था का मूलस्वरूप संघात्मक तथा वृत्तिगत होना चाहिए। श्रम संघवादियों की विचारधारा का अन्यत्र भी प्रभाव पड़ा है।

अराजकतावाद

अराजकता शब्द फ्रान्सीसी रूपान्तर का प्रयोग सर्वप्रथम फ्रान्सीसी क्रान्ति के समय सन् 1789 उन क्रान्तिकारियों के लिए किया गया था जो सामन्तों की

भूमि का अपहरण करके किसानों में वितरण करना और धनिकों की आय को सीमित करना चाहते थे। तत्पश्चात् सन् 1840 में फान्सीसी विचारक प्रूधों ने अपनी पुस्तक 'सम्पत्ति क्या है?' में इस शब्द का प्रयोग किया। सन् 1871 के पश्चात् जब अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ में फूट पड़ी तब मार्क्स के संघवादी विरोधियों को अराजकतावादी कहा गया। आये दिन की भाषा में आतंकवाद और अराजकतावादी केवल राजकीय दमन के विरुद्ध ही आतंक और क्रान्तिकारी उपायों के पक्ष में हैं।

विश्व का प्रमुख सर्वप्रथम अराजकतावादी विचारक चीनी दार्शनिक लाओत्से माना जाता है। प्राचीन यूनान के विचारक अरिस्टीप्पस और जीनों के दर्शन में भी इन विचारों की पुट है। ब्रिटेन के गाडविन और फ्रान्सीसी प्रूधों राज्य और उसकी शासन संस्थाओं का विरोध करते थे। प्रूधों के अनुसार सम्पत्ति चोरी का माल है। वह श्रम के आधार पर पण्य विनिमय और लेन-देन में एक प्रतिशत सूद की दर के पक्ष में था। इस सम्बन्ध में अन्य जर्मन विचारक मैक्स स्टर्नर का दृष्टिकोण अन्तर्मुखी अथवा आत्मगत है। वह मनुष्य की स्वकीयता अथवा निजत्व का पोषक है। इस अहम् अथवा निजत्व के पूर्ण विकास के लिए राज्य तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में दो प्रत्यूह हैं। वे अवांछित हैं। पर मुखापेक्षी अथवा पराश्रित न होकर स्वयं अपने अन्तर्जगत् का सुधार अथवा परिमार्जन करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में रूस के तीन अराजकतावादियों के विचार महत्वपूर्ण हैं। बाकूनिन क्रान्तिकारी अराजकतावादी था। प्रिंस क्रोपोटकिन वैज्ञानिक अराजकतावादी तथा लियो टालस्टाय ईसाई अराजकतावादी। बाकूनिन राज्य को एक आवश्यक दुर्गुण और पिछड़ेपन का चिन्ह तथा सम्पत्ति और शोषण का पोषक मानता था। राज्य व्यक्ति की स्वाधीनता, उसकी प्रतिभा और क्षमताशक्ति, उसके विवेक और नैतिकता को सीमित करता है। इस प्रकार अराजकतावाद व्यक्तिवाद की चरम सीमा है। बाकूनिन क्रान्तिकारी मार्ग द्वारा राज्य और उसकी संस्थायें, पुलिस, जेल, न्यायालय आदि का अन्त कर स्वतन्त्र स्थानीय संस्थाओं की स्थापना के पक्ष में था। ये समुदाय पारस्परिक सहयोग के लिए अपना राष्ट्रीय संघ स्थापित कर सकते थे। रूसो और काण्ट भी इसी प्रकार के स्वतन्त्र समुदायों और संघों के समर्थक थे।

प्रिंस क्रोपोटकिन ने वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा यह सिद्ध किया कि समाज का विकास स्वतन्त्र सहयोग की ओर है। भौतिक उन्नति के कारण मनुष्य बहुत

[library stamp]
या उनके सामंजस्य पर निर्भर है। अराजकतावादी विचारधारा में प्रतिबन्ध-
हीन परिवेश की अनुकूलता तथा ऐच्छिक साहचर्य की पूर्ण सम्भावना को असंदिग्ध
रूप से मान भर लिया है। क्या इन मान्यताओं अथवा इस प्रकार की नवीन
व्यवस्थाओं को तर्क, विश्लेषण तथा व्यवहार की कसौटी में परखा जा सकता है?
इस विषय में अनेक मत सम्भव हैं। अन्त में साधनों के विषय में भी अराजकता-
वादी विचारकों के विविध तथा अनिश्चित सुझाव हैं। आदर्श का प्रतिपादन
सरल है, उनका आत्मसात् करना कठिन है तथा उसे कार्य रूप में परिणत
करना तो और भी कठिन है। दार्शनिक अराजकतावाद का सर्वोत्तम आदर्श यह
है कि स्वतन्त्रता तथा शक्ति परस्पर विरोधी है। शक्ति के कई रूप हैं।
सभी रूप जघन्य हैं। अत शक्ति तथा शक्ति प्रयोग के अभाव में स्वतन्त्र एवं
उन्नत जीवन सम्भव है। सभी युगों के जीवन की दृष्टि से यह सुझाव महत्व-
पूर्ण है।

द्वितीय विश्व युद्ध के मध्य फासीवादी विचारों का ह्रास तथा समाजवादी
विचारों और आन्दोलनों की प्रगति हुई है। पूर्वी यूरोप के साम्यवादी शासनों के
अतिरिक्त पश्चिमी यूरोप में कुछ काल के लिए कई देशों में समाजवादी और
साम्यवादी दलों के सहयोग से सम्मिलित शासन बने। यूरोप के कुछ अन्य देशों
जैसे ब्रिटेन, स्वीडेन, नार्वे, फिनलैंड तथा आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड आदि देशों में
समय-समय पर समाजवादी सरकारें बनती रही हैं। इस काल में एशिया, अफ्रीका
और लातानी अमेरिका के देशों में भी समाजवादी शासन स्थापित हो चुके हैं।
इनमें चीन, बरमा, हिन्देशिया, वियतनाम, सिंगापुर, संयुक्त अरब गणराज्य,
लिबनान, घाना, क्यूबा और इजरायल प्रमुख राज्य है। इनमें अरब समाजवाद
इजरायली समाजवाद, बरमी समाजवाद आदि प्रमुख विचार धारायें एवं
आन्दोलन हैं।

भारत में आधुनिक काल के प्रथम प्रमुख समाजवादी महात्मा गान्धी हैं,
परन्तु उनका समाजवाद एक विशेष प्रकार का है। गान्धी जी के विचारों पर
हिन्दू, जैन, ईसाई आदि धर्म और रस्किन, टालस्टाय, और थोरो जैसे दार्शनिकों
का प्रभाव स्पष्ट है। वे औद्योगीकरण के विरोधी थे क्योंकि वे उनको आर्थिक
असमानता, शोषण, बेकारी, राजनीतिक अधिनायकत्व आदि का कारण समझते
थे। मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक महात्मा गाँधी इन्द्रियों और इच्छाओं पर विजय प्राप्त
कर त्याग द्वारा एक प्रकार की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्वतन्त्रता और
समानता स्थापित करना चाहते थे। प्राचीन भारत के स्वतन्त्रता और स्वपर्याप्त

ग्रामीण गणराज्य गान्धी जी के आदर्श थे। निःस्वार्थ सेवा, त्याग और आध्या-
त्मिक प्रवृत्ति इनमें शोषक और शोषित के लिए कोई स्थान नहीं। यदि किसी के
पास कोई सम्पत्ति है तो वह समाज की धरोहर मात्र है। ध्येय की प्राप्ति के लिए
गान्धी जी नैतिक साधनों, सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह पर जोर देते हैं, हिंसात्मक
क्रान्ति पर नहीं। गांधी जी प्रेम द्वारा शत्रु का हृदय परिवर्तन करना चाहते थे हिंसा
और द्वेष द्वारा उसका विनाश नहीं। गांधीवाद धार्मिक अराजकतावाद है। सर्वोदय-
वादी विचारक इस समय गान्धीवाद की व्याख्या और उसका प्रचार कर रहे हैं।
इन्होंने श्रम, भू ग्राम सम्पत्ति, आदि के दान द्वारा अहिंसात्मक ढंग से समाजवादी
व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न किया है।

भारत में दूसरी प्रमुख समाजवादी विचारधारा मार्क्सवादी है। निरंकुश
शासन बहुधा राज्य विरोधी अराजकतावादी और क्रान्तिकारी विचारों के पोषण
होते हैं। भारत में मार्क्सवाद के प्रमुख विचारक विश्व क्रान्तियों के संचालक और
ता डा० मानवेन्द्रनाथ राय थे। उन्होंने विदेश में रहते हुए ही भारत मे साम्य-
वादी आन्दोलन का निर्देशन किया। औपनिवेशिक स्वाधीनता आन्दोलन के
म्बन्ध में डा० राय के अपने विचार थे। उनका मत था कि भावी समाजवादी
न्ति में औपनिवेशिक क्रान्तियों का प्रमुख स्थान होगा। डा० राय की यह भी
रणा थी कि औपनिवेशिक पूंजीवाद ने साम्राज्यशाही से गठबंधन कर लिया
मत वह प्रतिक्रियावादी है और क्रान्तिकारी दल उसके साथ संयुक्त मोर्चा नहीं
ा सकते। यद्यपि साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय ने भी इस विचार को स्वीकार नहीं
ा तथापि भारतीय साम्यवादियों ने अधिकांशत इस नीति का अनुसरण किया
र बहुधा राष्ट्रीय कांग्रेस से अलग रहे।

समाजवादी दल कांग्रेस समाजवादी पार्टी था। इसकी स्थापना सन् 1934
ई। भारतीय साम्राज्यवादी पंडित जवाहर लाल नेहरू, नेता जी सुभाष चन्द्र
आदि प्रमुख नेता प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् से समाजवाद का प्रचार कर
े परन्तु सविनय अवज्ञा आन्दोलन की असफलता और सन 1929 के आर्थिक
के समय पूंजीवादी देशों की दुर्गति तथा इन देशों में फासीवाद की विजय
सोवियत देश की आर्थिक संकट से मुक्ति की ओर आकर्षित हुए। इनमें जय
नारायण, आचार्य नरेन्द्र देव, मीनू मसानी, डा० राममनोहर लोहिया,
ी कमला देवी चट्टोपाध्याय, यूसुफ मेहर अली, अच्युत पटवर्धन और अशोक
`उल्लेखनीय हैं। इनका उद्देश्य कांग्रेसी मंच द्वारा समाजवादी ढंग से
र प्राप्ति और उसके बाद समाजवाद की स्थापना था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात कांग्रेस राष्ट्रीय शक्तियों का संयुक्त मोर्चा न रह र एक राजनीतिक दल बन गयी, अत. अन्य स्वायत्त और संगठित दलों को कांग्रेस निकलना पड़ा। इनमे कांग्रेस समाजवादी दल भी था। उसने कांग्रेस शब्द को पने नाम से हटा दिया। बाद मे प्रमुख गान्धीवादी विचारकों ने भी कांग्रेस छोड़ी और समाजवादी दल में आ कर सम्मिलित हो गये। तभी से समाजवादी दल अपना स्पष्ट रूप से समाजवाद स्वीकार किया और समाजवाद को लोकतांत्रिक समाजवाद की संज्ञा दी। उसका नियोजित अर्थव्यवस्था, समाजसुधार, कल्याणकारी राज्य और आर्थिक विषमता के उन्मूलन में संसदीय नियमों को बनाना और लोकतन्त्र मे आस्था तथा शान्तिमय एवं संविधानिक उपायों से परिवर्तन में तत्पर हैं। लोकमत का निर्माण करने के लिए जन आन्दोलनों को संगठित करना भी एक उपाय है। वैदेशिक नीति पाश्चात्य तथा पूर्वी गुटों के शक्ति संघर्ष से दूर रहकर शान्ति की शक्तियों को सुदृढ करके तृतीय शक्ति तटस्थ राज्यों का संगठन करना है।

-o-

अध्याय 2

नैतिक धर्म-प्रधान समाजवादी अथवा स्वप्नलोकीय समाजवाद

यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी में व्यक्तिवादी विचारधारा के विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जिस रूप में समाजवादी चिन्तन प्रारम्भ हुआ है, वह आज तक विभिन्न रूप में विकसित होता आ रहा है तथापि यह मानना सही नहीं है कि इससे पूर्व समाजवादी चिन्तन नहीं हुआ था। किसी न किसी रूप में समाजवादी चिन्तन धारायें सामाजिक जीवन के प्रति प्रारम्भ काल से ही व्यक्त की जाती रही हैं। पाश्चात्य देशों में क्रमबद्ध सामाजिक तथा राजनीतिक चिन्तन का आरम्भ प्राचीन यूनान में प्लेटो की प्रसिद्ध रचना 'गणराज्य' (रिपब्लिक) से होता है। ईसा से कई सौ शताब्दी पूर्व भी दार्शनिक तथा पैगम्बर हुए जिनके विचारों में साम्यवाद के आधारभूत सिद्धान्तों का दिग्दर्शन होता है। ये लोग शोषण, असमानताओं, निर्धनता आदि अन्यायपूर्ण बातों की ओर आकृष्ट हुए तथा उन्होंने एक ऐसे संसार की कल्पना की जिसमें कोई शोषण, असमानता का अन्याय, को स्थान नहीं मिलेगा। इन विचारकों में एमोस होशियन, ईसाइया, एजकील आदि के नाम उल्लेखनीय है। लेडकर इन्हें नैतिकता धर्मप्रधान स्वप्नलोकीय कहता है।

प्राचीन रोम में भी कुछ चिन्तन हुए जिन्होंने सामूहिक स्वामित्व तथा समानता का समर्थन किया। इसमें वर्जिल, होरेस, जूवनेल, टेसिटस, विकसिफ आदि मुख्य हैं।

अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक जीन जाक रूसो ने प्राकृतिक स्थिति का जो चित्र चित्रित किया था, वह भी समाजवादी व्यवस्था का चित्र था। उसमें समस्त भौतिक सम्पत्ति पर सबका अधिकार अथवा स्वामित्व माना जाता था। इस प्रकार इनके विचारों में आधुनिक समाजवाद के बीज विद्यमान थे।

स्वप्नलोकीय समाजवादी विचारकों में टामस मोर फ्रान्सिस बेकन आदि हैं। इनके अतिरिक्त भी आधुनिक समाजवादी के पूर्वगामी कुछ विचारक उन्हें भी इसी श्रेणी में रखा जाता है। इनके विचारों के पश्चात ही समाजवादी चिन्तन तथा आन्दोलनों को प्रभावित करने में योगदान किया।

प्लेटो का राजनीतिक समाजवाद

प्लेटो के अनुसार साम्यवाद का अर्थ है परिस्थितियों से उन सारे तत्वों को दूर करना है जिनके कारण आत्मा का विकास रुकता है। आत्मा का विकास परिस्थितियों के अनुकूल होता है। अच्छे और उचित तत्वों के द्वारा आत्मा का सही विकास होता है परन्तु बुरे तत्वों के कारण उसका विकास गलत दिशा की ओर मुड़ जाता है। साम्यवाद ऐसे अवांछित तत्वों का निराकरण कर आत्मा के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण करता है। प्रो० बार्कर के शब्दों में प्लेटो के साम्यवाद का अर्थ आध्यात्मिक साधनों की क्रियाओं के मार्ग से बाधाओं को दूर करना तथा उनके कार्य क्षेत्रों का निर्माण करना है।

प्लेटो की सम्मति में मानव विकास तभी अपने आदर्श को प्राप्त कर सकता है जब वह एक आदर्श राज्य का निर्माण करने में सफल हो जाय। राज्य मानव मन की उपज है इसलिए आदर्श राज्य आदर्श मन का ही उपज हो सकता है। आदर्श मन का निर्माण सामाजिक वातावरण पर निर्भर करता है। यदि वातावरण मन को निम्न तृष्णाओं को आकर्षित करने वाला हुआ तो ऐसा मन विवेकशील नहीं हो सकता है। यदि मन के विकास के लिए तृष्णा और स्वार्थ से सम्बन्धित वस्तुओं का सम्पर्क हो मन के साथ न हो तो अवश्य ही उसका विकास विवेक और सार्वभौम सत्य की दिशा में हो सकता है। प्लेटो की सम्मति में भौतिकता जिसमें विशेषकर सम्पत्ति का संग्रह सम्मिलित है, मन या आत्मा के विकास में सबसे बड़ी बाधा है क्योंकि आर्थिक हित की लालसा ही सबसे बड़ी तृष्णा और स्वार्थ है। सारी अनैतिकता, कलह और संघर्ष के कारण आर्थिक प्रलोभन हैं अतएव मन के उचित दिशा में विकास के लिए आर्थिक प्रलोभन का दूर करना आवश्यक हो जाता है जिससे व्यक्ति का मन स्वार्थपरता से उन्मुक्त होकर भौतिक समृद्धियों की अभिलाषाओं से वैराग्य लेले और एक सन्यासी की भांति केवल उच्च ज्ञान की अभिलाषा करे जिसमें सारे समाज का कल्याण निहित है।

मन के तीन नाम हैं, विवेक प्रधान, शौर्यप्रधान, और तृष्णा प्रधान। मन के समान्तर ही समाज के भी तीन अंग हैं—प्रशासक वर्ग (विवेक प्रधान),

संरक्षक वर्ग (सोने प्रधान) और उत्पादक वर्ग (तृष्णा प्रधान)। यदि सम
उचित विकास के लिए विवेक और सोने प्रधान भाग को तृष्णा के प्रभाव से मु
करना पड़ता है जो समाज के उचित विकास के लिए प्रशासक और संरक्ष
वर्ग को तृष्णा कार्य अर्थात् भौतिकता से उन्मुक्त करना अनिवार्य है। प्लेटो का
कहना है कि बिना इस प्रकार की व्यवस्था अर्थात् बिना साम्यवाद के विवेक या
तो निष्क्रिय हो जायेगा या यदि वह क्रियाशील रहा भी तो वह तृष्णा के द्वारा
अधोमुखी हो जायेगा जिसके कारण वह स्वार्थी कार्यों की ओर उन्मुख हो
जायेगा। अत साम्यवाद विवेक के राज्य के लिए न केवल आवश्यक
शर्त है वरन् विवेक साम्यवाद में ही पनपता है। विवेक का तात्पर्य है नि
निःस्वार्थता। जिसमें विवेक होता है वह केवल अपने शरीर के लिए ही
नहीं वरन् पूर्ण समाज के कल्याण के लिए अपने उद्देश्य के रूप में कार्य करता
है। विवेक के द्वारा ही दार्शनिक प्रशासक यह देखता है कि वह राज्य का एक
अंग है।

प्लेटो के सम्पत्ति साम्यवाद का राजनीतिक व व्यावहारिक पक्ष भी है।
नुभव से प्लेटो का यह विश्वास है कि राज्य में आर्थिक और राजनीतिक
क्तियों के एक ही हाथ में संयोग से बहुत बड़ी राजनीतिक गड़बड़ियाँ हो जाती
और भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन मिलता है। भ्रष्टाचार का मूल आर्थिक
इच्छा है और प्रशासक वर्ग में जब तक यह इच्छा रहेगी, तब तक शा
चार से उन्मुक्त हो ही नहीं सकता। प्लेटो इन दोनों शक्तियों के म
ता चाहते हैं। उन्होंने एथेन्स के भ्रष्टाचार का कारण इन दोनों शक्ति
योग को ही बताया। वे कहते हैं कि जब भी इन शक्तियों का योग ही सत्त
य में होता है, तभी इसके दो परिणाम होते है। प्रथम में तो जिसके हाथ
नीतिक सत्ता होती है वह आर्थिक लाभ अर्जित करने के लिए उस शक्ति
योग करता है, आर्थिक साधनों को बटोरने और उन्हें व्यक्तिगत बनाने
न करता है। दूसरे सारा विवेक भूलकर स्वार्थी उद्देश्य में लग जाता है
तक ऐसा होता रहता है जब तक कि पूरा समाज शोषक और शोषित
में विभक्त नहीं हो जाता। यहां प्लेटो का दर्शन मार्क्स के दर्शन से
। मार्क्स अर्थ व्यवस्था को ही वर्ग संघर्ष का हेतु मानते हैं। दूसरे
यह भी कहा जा सकता है कि जिसके हाथ में सारे उत्पाद
है और जब उसी के हाथ राजनीतिक सत्ता भी आ जाती है तो
र्ग समाज का शोषण आरम्भ कर देता है।

प्लेटो समाज के तीन वर्गों में से प्रथम दो वर्गों, अर्थात् प्रशासक वर्ग और संरक्षक वर्ग, को किसी प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति को रखने की स्वीकृति अपने सिद्धान्त में नहीं देते और तीसरे वर्ग, उत्पादक वर्ग, को केवल सम्पत्ति अर्जित व संचित करने के कर्तव्य को ही देना चाहते हैं। अतः वे समाज में एक ऐसी व्यवस्था करने के पक्ष में हैं कि जिसमें आपसी प्रतिस्पर्धा भी न हो, एक दूसरे के प्रति सद्भावना हो, परन्तु हस्तक्षेप के कारण संघर्ष पैदा न हो। आजकल का साम्यवाद सर्वप्रथम आर्थिक योजना से सम्बन्धित होता है और राजनीतिक स्तर उसका प्रतिफल होता है। प्लेटो का लक्ष्य आध्यात्मिक व उसके अनुरूप राजनीतिक है और अर्थव्यवस्था उसका प्रतिफल हो जाती है।

प्लेटो का एकमात्र उद्देश्य एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था को जन्म देना है जो व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास के लिए न केवल आधार बन सके वरन् पूर्ण आदर्श भी बन सके। वे राज्य को सार्वभौम सत्य का प्रतीक बनाना चाहते हैं और यह तभी सम्भव है जब समाज में कम से कम एक भाग को अपनी विवेक-पूर्ण चेतना के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण प्राप्त हो सके।

प्लेटो के न्याय के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति के पास समाज में उसकी स्थिति के अनुसार एक ही विशिष्ट कार्य होना चाहिए, अतएव विवेकशील वर्ग के पास केवल प्रशासन या समाज के नेतृत्व का ही कार्य होना चाहिए। उसी प्रकार शौर्य प्रधान वर्ग के पास केवल राज्य के सैनिक संरक्षण का कार्य ही होना चाहिए जिससे वे उस कार्य में विशेष दक्षता प्राप्त कर सकें। उत्पादक वर्ग तृष्णा प्रधान होने से अन्न और जीवनोपयोगी वस्तुओं का उत्पादन करें और अपने इस कार्य में ही दक्षता करे। उत्पादक वर्ग अपने उत्पादन का एक भाग प्रशासक और संरक्षक वर्ग को दे और प्रशासक वर्ग पूरे समाज की व्यवस्था करे तथा संरक्षक वर्ग पूरे समाज की उसी प्रकार रक्षा करे जिस प्रकार उत्पादक वर्ग पूरे समाज का पालन पोषण करता है। यह प्लेटो का न्याय है। प्लेटो को यह सन्देह है कि यदि अभिभावक वर्ग के पास निजी सम्पत्ति और परिवार रहे तो वह उत्पादन कार्य में हस्तक्षेप करेगा और अपने निर्दिष्ट कर्तव्य से हटा ध्यान न देकर उत्पादन के कार्य में अपनी शक्ति व्यय करने लगेगा। यदि सम्पत्ति से ही वंचित कर देने पर यह सम्भावना पैदा नहीं हो सकती। अतएव प्लेटो की योजना में प्रशासक वर्ग और संरक्षक वर्ग के पास अपनी कोई भी सम्पत्ति नहीं होनी चाहिए यहां तक कि रहने के लिए अपना मकान तक भी न हो। वे सार्वजनिक बैरकों में रहें और सार्वजनिक भोजन गृहों में भोजन करें। इस प्रकार

गृहों और बैरकों का प्रबन्ध राज्य करे और इनकी व्यवस्था के लिए उत्पादक वर्ग से आवश्यक कर भाग ले। उत्पादक वर्ग अभिभावक वर्ग के लिए एक वांछित वेतन निर्धारित करे जिससे सभी के भरण पोषण का कार्य चले। अभिभावक वर्ग न सोना छू सकता है और न चांदी क्योंकि सोना और चांदी उनके व्यक्तित्व में ही एक तत्व के रूप में उपस्थित है। इन वर्गों में अपने आप विवेक के कारण आत्म सन्तोष की भावना जागृत होनी चाहिए और इस बात का अभिमान होना चाहिए कि वे राज्य का नेतृत्व करते हैं। प्लेटो के शब्दों में जब मनुष्य में इस प्रकार की समाजवादी भावनायें जागृत हो जाती हैं और वह अपने समाजगत कर्तव्यों को समझने लगता है तो भौतिक प्रलोभनों जैसी छोटी मोटी वस्तुएँ उसे आकर्षित नहीं करतीं।

प्लेटो ने कहा है कि जब उत्पादक वर्ग तथा संरक्षक वर्ग के लिए सम्पत्ति के साम्यवाद का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया तो पत्नियों का साम्यवाद अपने आप आवश्यक हो गया। प्लेटो इन दोनों वर्गों को न तो उनके कर्तव्यों से विमुख करना चाहते हैं और नहीं उन्हें पारिवारिक ममता और व्यक्तिगत प्रलोभनों में ही फंसाना चाहते हैं। उन्हें सम्पत्ति से इसलिए वंचित कर दिया जाता है कि जिससे राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों से विमुख न हो सकें और [illegible] न बने लेकिन इतने से पूरा प्रश्न हल नहीं हुआ। यदि परिवारों का उन्मूलन न होगा तो उनको चलाने के लिए सम्पत्ति का अर्जन स्वाभाविक हो जाता [illegible] व्यक्तिगत ममता और प्रलोभनों से पाते राज्य के प्रति अपने निर्दिष्ट कर्तव्यों से विमुखता। सम्पत्ति और परिवार का सम्बन्ध एक दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है इसलिए सम्पत्ति उन्मूलन के साथ परिवार का उन्मूलन स्वाभाविक [illegible] अनिवार्य होता है।

अधिकारों की प्रत्याभूति है जो राज्य की योजना में सक्रिय रूप से भाग लेने
लिए आवश्यक है।

प्लेटो के मतानुसार महिलाओं की परतन्त्रता राज्य के विरुद्ध तथा व्यक्ति
परिवार व्यक्तिगत स्वार्थ के साधन है। उनका कहना है कि मनुष्य की यह चा
दीवारी उसी के सार्वभौमिक अस्तित्व के विरुद्ध है। अपनी इस दीवारी को
दो और सारा विश्व अपना घर हो जायेगा, संसार के सारे लोग अपने परिवार के
बन जायेंगे, व्यक्तिगत सारी सीमाओं, संकुचित विचारों और स्वार्थों के अड्डे है
ऐसे केन्द्र हैं जहा मानव बुद्धि और शक्ति का सर्वनाश होता है। प्लेटो परिवार
राजद्रोह का स्थान समझते है जहा व्यक्ति का सही विकास रुक जाता है।
स्त्री और पुरुष दोनो को अपने निर्दिष्ट कर्तव्यो के पालन मे विमुख करता
और प्लेटो की शब्दावली में उन्हे न्यायपूर्ण आचरण करने से रोकता है क्योंकि
का तात्पर्य है अपने निर्दिष्ट कर्तव्यो के सही रूप में पालन करना। जब
स्वयं अन्यायी होंगे तो राज्य भी न्यायी नहीं हो सकता। अतः परिवार न्या
राज्य के विकास मे भी बाधा है। प्लेटो के शब्दो में परिवारो के उन्मूलन का
राज्य की एकता का महान दिन होगा।

पत्नियों के साम्यवाद मे दो धारणाओं का उल्लेख प्लेटो ने किया था
तो है महिलाओं का उत्थान और दूसरा है विवाहो में सुधार। पहले वे
उत्थान के दृष्टिकोण की व्याख्या करते हैं। महिलाओ को पर्दे के अन्दर रख
राज्य की आधी शक्ति का ह्रास होता है आधी जनसंख्या केवल बच्चों को उ
करे और उन्ही के पालन पोषण मे लगी रहे। यह प्लेटो के विचार से
बड़ा अन्याय है। वे कहते हैं कि कुत्ते के साथ कुतिया भी भौंक कर घर
रखवाली का काम पूरा करती हैं, अकेले कुत्ता ही घर की रखवाली नहीं कर
राज्य की रक्षा के लिए फिर केवल पुरुष ही अकेले क्यों उत्तरदायी
प्लेटो केवल लैंगिक क्रिया के अतिरिक्त महिला मे पुरुष की अपेक्षा किसी
की असमता नही देखते। योग्यता मे असमानता नही होती केवल शक्ति में
बहुत असमानता है जो सम्भवत: प्रशिक्षण से धीरे-धीरे दूर हो सकती
प्रशासन का कार्य भली-भाँति करने की क्षमता रखती है बशर्ते कि उन्हे उ
प्रशिक्षण प्राप्त हो यह तर्क ही प्लेटो का महिला उत्थान का आधार है।

विवाह सम्बन्ध में सुधार की योजना का आधार स्वस्थ सन्तान के उ
का उद्देश्य है तथा सम्पत्ति के साम्यवाद और राज्य की एकता के साथ

निजी पति की प्रथा के स्थान पर सार्वजनिक पति पत्नी की व्यवस्था ही वैवाहिक सुधार है। पत्नियों के साम्यवाद का तात्पर्य ही है कि पति पत्नियों में व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं रहेगा। राज्य के निरीक्षण में अल्पसमय के लिए केवल सन्तानोत्पत्ति के लिए बहुत से स्त्री पुरुषों का पारस्परिक रूप में एक-एक के साथ सही जोड़े में सार्वजनिक जलसे में विवाह हो और जब महिलायें ऋतुमती हों तभी पुरुषों के साथ उनका संयोग कराया जाये जिससे बलिष्ठ और प्रतिभावान सन्तानें उत्पन्न हो सकें। पशुओं में अच्छी नस्ल के लिए जो उपाय किया जाता है, वही मनुष्यों के लिए भी क्यों उचित नहीं हो सकता? प्लेटो के विचार में विवाह सन्तान उत्पत्ति के लिए ही है उसमे किसी प्रकार के पवित्रता की भावना का जोड़ना इ परम्परा को बनाये रखने और उसे सामाजिक दृष्टि से हो सही मानने के लि मनुष्य का एक उपक्रम मात्र है जो वास्तव में पवित्र नही है क्योंकि उनसे व्या एक सीमित क्षेत्र में बन्द हो जाता है।

प्लेटो की योजना के अनुसार सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् शीघ्र ही ब को उनके माँ बाप से पृथक कर उन्हें सार्वजनिक बाल पोषण गृहों में ले जाकर पालन-पोषण हो। बच्चों के माता पिता का नाम सदैव गुप्त रखा जाये। पिता अपनी सन्तानों को पहचान न सके जिससे उनकी संकीर्ण ममता उन्हें ले। विवाह के समय स्त्री पुरुषों को, इस बात की शिक्षा अनिवार्य हो कि उस क में उत्पन्न हुए सभी बच्चे सभी सम्पत्तियों के समान बच्चे होंगे और सभी बच्चों लिए यह अनिवार्य शिक्षा हो कि वे सभी पुरुषों को, जिन्हें सन्तान उत्पत्ति का सौंपा जाये, अपने माता पिता समझें तथा एक दूसरे को सगे भाई बहिन सम इससे भावी राज्य में एकता की भावना दृढ़ हो सकती है।

प्लेटो का यह भी विचार है कि स्त्री पुरुषों का संयोग भरी जवानी मे सभी उनसे बलिष्ठ और योग्य सन्तान की आशा की जा सकती है। पुरु अवस्था, जिन्हें प्रजनन के लिए चयन किया जाय, 25 से लेकर 45 के मध्य चाहिए और महिलाओं की आयु 20 वर्ष से लेकर 40 वर्ष तक होनी च इससे पूर्व या बाद की आयु में पैदा हुए बच्चों को नष्ट कर दिया जाना प्लेटो विवाहों को पूर्णतया राज्य के नियन्त्रण में रखना चाहते हैं प्रकार साहित्य और कला को राज्य के नियमन द्वारा आगे विकसित उसी प्रकार विवाहों को भी राज्य द्वारा बनाये गये नियमों द्वारा मर्या चाहते हैं। वे जनसंख्या की वृद्धि के पक्ष में भी नहीं हैं। वे गुण, विवेक औ वृद्धि चाहते हैं। वे जन संख्या पर नियन्त्रण रखना चाहते हैं और वैय

बच्चे पैदा करना चाहते हैं जितनों की राज्य को आवश्यकता है। वे विवाहों की संख्या निर्धारित करने और बच्चों की उत्पत्ति का नियमन करने के लिए राज्य द्वारा निर्मित नियमों का पूर्ण समर्थन करते हैं। वे नहीं चाहते कि राज्य में रोगी और अपाहिज सन्तानें पैदा हों और बाद में उनकी चिकित्सा की जाये। अत वे चाहते हैं कि सही रूप में राज्य के निर्देशन के अनुसार उत्पन्न हुए बच्चों का ही उचित साधन से पालन पोषण और शिक्षा दीक्षा होनी चाहिए शेष बच्चों को कालान्तर की चपेट मे समर्पित कर दिया जाना चाहिए।

इस प्रकार दार्शनिक प्लेटो सभी समाजवादी और साम्यवादी विचार-धाराओं का स्रोत रहा है। इसमें भी दो मत नहीं हो सकते कि प्लेटो का राज्य भी भौतिकता पर ही आधारित है चाहे उसका शिखर भले ही आध्यात्मिक हो।

उत्तर अरस्तु युग में स्टाइक विचारकों ने प्राकृतिक विधियों की धारणा के द्वारा व्यक्तिगत समानता की धारा व्यक्त की थी। उन्होंने मानवीय नैतिकता के आधार पर दास प्रथा का विरोध किया था क्योंकि वह मानव द्वारा मानव का शोषण करने का प्रतीक थी। इस धारणा के अन्तर्गत भी समाज के अकुर विद्यमान माने जाते हैं।

रोमन विचारकों में वर्जिल, होरेस, जूवेनल, टेसिटस, विकलिफ आदि ने मानवीय समानता पर जोर दिया है और यही समाजवादी चिन्तन का एक रूप माना जा सकता है। सन्त आगस्टाइन ने भी दैवी राज्य की धारणा की, जो मानवीय समानता की प्रतीक है, और वह भी मानवों के मध्य कृत्रिम असमानता को समाप्त करने की धारणा व्यक्त करता है।

जीन लाक रूसो

अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक रूसो ने प्राकृतिक अवस्था के चित्रण में बताया कि मानवता के मध्य धनी निर्धन, ऊंच नीच, शोषक शोषित का भेद समाज कृत है जिसमें समाज के ठीकेदारों ने अपने स्वार्थ के लिए मनुष्य मनुष्य के मध्य विषमता को जन्म दिया। रूसो की मान्यता है कि आदिम अवस्था में जब कोई समाज नहीं था और व्यक्ति अपनी प्राकृतिक अवस्था में जीवन यापन करता था तो उसमें न स्वार्थ था न बौद्धिक कौशलता थी, न मेरे तेरे का भेद था, न व्यक्तिगत सम्पत्ति थी, न छल और कपट था और न सामाजिक विषमतायें थीं। सब में अच्छी भावना थी और स्वाभाविक संवेदना थी। समाज की

स्थापना होने पर विषमता आयी और धीरे धीरे पूरा समाज भ्रष्ट होकर कृत्रिमताओं को प्राप्त हो गया।

उस समय परिवार की व्यवस्था नहीं थी। स्त्री पुरुष कभी-कभी मिलते थे और सम्भोग के पश्चात् अलग हो जाते थे। बच्चे उत्पन्न होने पर उनका भरण पोषण का भार केवल माता पर ही रहता था और उस समय तक जब तक कि वह बड़े नहीं हो जाते और अपनी रक्षा स्वयं करने में सक्षम हो जाते थे। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य के पास न कोई चिन्ता थी और न कोई परेशानी क्योंकि उसके पास अपनी सम्पत्ति की रक्षा या परिवार के भरण पोषण आदि की कोई समस्या नहीं थी। यह पूर्ण समानता की अवस्था थी जिसमें किसी के बड़े छोटे होने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता था। इस प्रकार रूसो ने प्राकृतिक अवस्था के वर्णन में सम्पत्ति पर सबसे अधिक प्रहार किया है। उसने अपनी कृति 'डिस्कोर्सेज' में कहीं-कहीं सम्पत्ति की कड़ी आलोचना की है। कोर्सिका के संविधान में रूसो ने इसी विचार का समर्थन करते हुए लिखा है कि राज्य को पूर्ण-रूपेण सम्पत्ति का एक मात्र स्वामी होना चाहिए। इस प्रकार रूसो के प्राकृतिक अवस्था के चित्रण में आधुनिक समाजवाद के अंकुर विद्यमान हैं।

सर टामस मोर :

मोर सन 1478 में इंगलैण्ड में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने यूनानी दर्शन एवं साहित्य का गहन अध्ययन किया था। उन्होंने प्लेटो के अमर ग्रन्थ 'गणराज्य' के समर्थन में एक 'वार्ता' की रचना की एवं सन्त आगस्टाइन के व्यक्तित्व तथा दर्शन पर उन्होंने अनेक भाषण भी दिये। मोर ने तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं का गहन अध्ययन किया था। उसे समय-समय पर राज्य की ओर से कतिपय कूटनीतिक तथा कानूनी पद भी दिये गये थे। राज्य सेवा में उन्होंने ख्याति भी अर्जित की थी, लेकिन कैथोलिक धर्म के संरक्षण के कारण उसे राजाज्ञा द्वारा मृत्यु दण्ड भोगना पड़ा।

मोर को अमरत्व प्रदान करने वाली उसकी पुस्तक 'यूटोपिया' है जिसकी रचना उसने 37 वर्ष की अपेक्षाकृत अल्पायु में की थी। पुस्तक सर्वप्रथम लैटिन भाषा में लिखी गयी और इसके अंग्रेजी में अनुदित होने के पूर्व जर्मन, फ्रेंच, एवं इटालियन भाषाओं में इसके अनुवाद हो गये। यह आश्चर्य व्यक्त किया जाता है कि राज्य सेवा में प्रवृत्त मोर किस प्रकार एक भिन्न मनस्थिति बनाये रख कर

प्रचलित राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाओं पर तीखा प्रहार करता हुआ एक पूर्णतः नवीन समाज की रूपरेखा प्रस्तुत करता है ।

'यूटोपिया' का शाब्दिक अर्थ आनन्द का निवास स्थान है । यूटोपस नामक दार्शनिक राजा ने एब्राक्षा नाम के वीरान क्षेत्र को अपने अधिकार में लेकर उसे एक धन-धान्यपूर्ण सम्पन्न राज्य के रूप मे परिवर्तित कर दिया । इस क्षेत्र के निवासी राजा यूटोपस के अधिग्रहण के पूर्व भयंकर पीडा, निर्धनता एवं दुख से ग्रस्त थे. लेकिन कालान्तर मे उनमे शिष्टाचार एवं मानवता का संचार हुआ तथा वे समृद्धि को प्राप्त हुए । इस क्रान्तिकारी परिवर्तन के कारण उस राजा के नाम पर इस क्षेत्र को 'यूटोपिया' कहा गया । मोर का कहना है कि यह महान परिवर्तन साम्यवाद एवं शिक्षा के कारण सम्पन्न हो पाया ।

'यूटोपिया' के दो भाग है । प्रथम भाग मे उस क्षेत्र की तत्कालीन स्थिति का वर्णन किया गया है जो यथार्थ मे ब्रिटेन के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन की एक झलक है । इसमें समाज एवं शासन पर प्रबल प्रहार किया गया है । मोर का कहना है कि परिवर्तन के पूर्व समाज मे लोग निर्धन एव गृह-विहीन थे, चोरी और बेईमानी का बोलबाला था । दूसरा कारण तत्कालीन समाज का गठन था । सामन्तवादी वर्ग मनमानी करता था जो छोटे-छोटे अपराधो के लिए जनसाधारण को मृत्यु दंड भी दिलवा सकता था । पुस्तक की शैली आंशिकरूप से वार्ता की तथा आंशिक रूप से वर्णनात्मक है । इस नाटक के एक पात्र राफेल में सामन्ती व्यवस्था का वर्णन इन शब्दो मे किया है :—शासकीय दुर्व्यवस्था उच्चाभिलाषी राजाओ के द्वारा, प्रजा की अवहेलना, आलसी धनिको मे प्रचलित दुराचार, चोरी, सभी प्रकार के अपराधो के लिए मृत्यु दण्ड इन दूषणो से साधारण रूप से समस्त संसार और विशेष रूप से ब्रिटेन ग्रस्त था । इन अपराधो की आवृत्ति भी समाज के दूषित सगठन के कारण थी । मोर ने समाज की दूषित संरचना से क्षुब्ध होकर साम्यवादी विचारो की अभिव्यक्ति की । उसने व्यवस्था पर कड़ा प्रहार करते हुए कहा कि राज्य एक वह शस्त्र है जिसके द्वारा धनिक श्रमिकों का शोषण करते हैं । राज्य कानून एव अव्यवस्था की आड मे गरीबो के विरुद्ध सुनियोजित षड्यन्त्र रचा जाता है । इस प्रकार एकत्र किया गया धन ही सब प्रकार के अवगुणों की जड़ है । मोर का कथन है कि शासक का ध्येय केवल लोमोल्लपन करना तथा धन वैभव एवं ऐश्वर्य को भोगना है । मोर का कहना कि जिसे हम राज्य कहते है वह वास्तव मे एक भयकर षड्यन्त्र है जिसे धनी व्यक्तियों ने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए बना रखा है । इसका यह भी कहना है कि यह एक ऐसी विर-

स्थापना होने पर विषमता आयी और धीरे धीरे पूरा समाज भ्रष्ट होकर कृत्रिमताओं को प्राप्त हो गया।

उस समय परिवार की व्यवस्था नहीं थी। स्त्री पुरुष कभी-कभी मिलते थे और सम्भोग के पश्चात् अलग हो जाते थे। बच्चे उत्पन्न होने पर उनका भरण पोषण का भार केवल माता पर ही रहता था और उस समय तक जब तक कि वह बड़े नहीं हो जाते और अपनी रक्षा स्वयं करने में सक्षम हो जाते थे। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य के पास न कोई चिन्ता थी और न कोई परेशानी क्योंकि उसके पास अपनी सम्पत्ति की रक्षा या परिवार के भरण पोषण आदि की कोई समस्या नहीं थी। यह पूर्ण समानता की अवस्था थी जिसमें किसी के बड़े छोटे होने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता था। इस प्रकार रूसो ने प्राकृतिक अवस्था के वर्णन में सम्पत्ति पर सबसे अधिक प्रहार किया है। उसने अपनी कृति 'डिस्कोर्सेज' में कहीं-कहीं सम्पत्ति की कड़ी आलोचना की है। कौसिका के संविधान में रूसो ने इसी विचार का समर्थन करते हुए लिखा है कि राज्य को पूर्ण-रूपेण सम्पत्ति का एक मात्र स्वामी होना चाहिए। इस प्रकार रूसो के प्राकृतिक अवस्था के चित्रण में आधुनिक समाजवाद के अंकुर विद्यमान है।

सर टामस मोर :

मोर सन 1478 में इंगलैण्ड में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने यूनानी दर्शन एवं साहित्य का गहन अध्ययन किया था। उन्होंने प्लेटो के अमर ग्रन्थ 'गणराज्य' के समर्थन में एक 'वार्ता' की रचना की एवं सन्त आगस्टाइन के व्यक्तित्व तथा दर्शन पर उन्होंने अनेक भाषण भी दिये। मोर ने तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं का गहन अध्ययन किया था। उसे समय-समय पर राज्य की ओर से कतिपय कूटनीतिक तथा कानूनी पद भी दिये गये थे। राज्य सेवा में उन्होंने ख्याति भी अर्जित की थी, लेकिन कैथोलिक धर्म के संरक्षण के कारण उसे राजाज्ञा द्वारा मृत्यु दण्ड भोगना पड़ा।

मोर को अमरत्व प्रदान करने वाली उसकी पुस्तक 'यूटोपिया' है जिसकी रचना उसने 37 वर्ष की अपेक्षाकृत अल्पायु में की थी। पुस्तक सर्वप्रथम लैटिन भाषा में लिखी गयी और इसके अंग्रेजी में अनुदित होने के पूर्व जर्मन, फ्रेंच, एवं इटालियन भाषाओं में इसके अनुवाद हो गये। यह आश्चर्य व्यक्त किया जाता है कि राज्य सेवा में प्रवृत्त मोर किस प्रकार एक भिन्न मनस्थिति बनाये रख कर

प्रचलित राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाओं पर तीखा प्रहार करता हुआ एक पूर्णतः नवीन समाज की रूपरेखा प्रस्तुत करता है।

'यूटोपिया' का शाब्दिक अर्थ आनन्द का निवास स्थान है। यूटोपस नामक दार्शनिक राजा ने एब्राक्श नाम के वीरान क्षेत्र को अपने अधिकार में लेकर उसे एक धन-धान्यपूर्ण सम्पन्न राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया। इस क्षेत्र के निवासी राजा यूटोपस के अधिग्रहण के पूर्व भयंकर पीडा, निर्धनता एवं दुख से ग्रस्त थे, लेकिन कालान्तर में उनमें शिष्टाचार एवं मानवता का संचार हुआ तथा वे समृद्धि को प्राप्त हुए। इस क्रान्तिकारी परिवर्तन के कारण उस राजा के नाम पर इस क्षेत्र को 'यूटोपिया' कहा गया। मोर का कहना है कि यह महान परिवर्तन साम्यवाद एवं शिक्षा के कारण सम्पन्न हो पाया।

'यूटोपिया' के दो भाग हैं। प्रथम भाग में उस क्षेत्र की तत्कालीन स्थिति का वर्णन किया गया है जो यथार्थ में ब्रिटेन के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन की एक झलक है। इसमें समाज एवं शासन पर प्रबल प्रहार किया गया है। मोर का कहना है कि परिवर्तन के पूर्व समाज में लोग निर्धन एवं गृह-विहीन थे, चोरी और बेईमानी का बोलबाला था। दूसरा कारण तत्कालीन समाज का गठन था। सामन्तवादी वर्ग मनमानी करता था जो छोटे-छोटे अपराधों के लिए जनसाधारण को मृत्यु दंड भी दिलवा सकता था। पुस्तक की शैली आंशिक रूप से वार्ता की तथा आंशिक रूप से वर्णनात्मक है। इस नाटक के एक पात्र राफेल ने सामन्ती व्यवस्था का वर्णन इन शब्दों में किया है:—शासकीय दुर्व्यवस्था उच्चाभिलाषी राजाओं के द्वारा, प्रजा की अवहेलना, आलसी धनिकों में प्रचलित दुराचार, चोरी, सभी प्रकार के अपराधों के लिए मृत्यु दण्ड इन दूषणों से साधारण रूप से समस्त संसार और विशेष रूप से ब्रिटेन ग्रस्त था। इन अपराधों की आवृत्ति भी समाज के दूषित संगठन के कारण थी। मोर ने समाज की दूषित संरचना से क्षुब्ध होकर साम्यवादी विचारों की अभिव्यक्ति की। उसने व्यवस्था पर कड़ा प्रहार करते हुए कहा कि राज्य एक वह अस्त्र है जिसके द्वारा धनिक श्रमिकों का शोषण करते हैं। राज्य कानून एवं अव्यवस्था की आड़ में गरीबों के विरुद्ध सुनियोजित षड्यन्त्र रचा जाता है। इस प्रकार एकत्र किया गया धन ही सब प्रकार के अवगुणों की जड़ है। मोर का कथन है कि शासक का ध्येय केवल शोषण करना तथा धन वैभव एवं ऐश्वर्य को भोगना है। मोर का कहना कि जिसे हम राज्य कहते हैं वह वास्तव में एक भयंकर षड्यन्त्र है जिसे धनी व्यक्तियों ने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए बना रखा है। इसका यह भी कहना है कि यह एक ऐसी विड-

कहता है कि राज्य स्वयं चोरों, अपराधियों को जन्म देता है और फिर उन्हें दण्डित करता है। दण्डित करने से ये अपराध समाप्त नहीं हो जायेंगे क्योंकि इनके मूल में वे सारे अवदोष हैं जिन्हें राज्य संरक्षण देता है। यदि समाज में आजीविका की व्यवस्था कर दी जाये तो न तो मनुष्य चोरी ही करे और न उसे किसी प्रकार का दण्ड ही देना पड़े। तत्कालीन समाज के पुनर्गठन की आवश्यकता पर बल देते हुए मोर ने लिखा है कि जब तक निजी सम्पत्ति रहेगी समाज का अधिकांश भाग निर्धनता, आश्रय एवं अशिक्षा के गहरे गर्त में डूबा रहेगा।

यूटोपिया के द्वितीय भाग में मोर ने एक आदर्श समाज का चित्र प्रस्तुत किया है जो साम्यवाद के नियमों पर आधारित है। इसके पूर्व भाग में वर्णित समाज की समस्यओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस आदर्श साम्यवादी समाज की एक झलक जो सर टामस मोर के विचारों पर आधारित है, यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत की जा रही है।

यूटोपिया राज्य छोटे-छोटे लगभग 54 भौगोलिक आदर्श राज्य में विभक्त किया गया है। यह भौगोलिक क्षेत्र एक राजनीतिक ईकाई भी है जो शासन, सार्वजनिक शिक्षा, शिल्प कला तथा वैदेशिक व्यवसाय का केन्द्र है। यह ईकाई जिसे मोर ने 'शायर' कहा है लगभग 32 किलोमीटर भूमि पर अवस्थित है। प्रत्येक शायर लगभग स्वशासी है एवं इसे स्वायत्तता प्राप्त है। एक शायर में लगभग 6 हजार परिवार होंगे जिनके अपने कृषि फार्म होंगे। प्रत्येक व्यक्ति 6 घण्टे प्रति दिन उसमें कार्य करेगा। जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्रों में लाभपूर्ण साम्प्रदायिकता का जीवन व्यतीत करेंगे। उपज को सामूहिक गोदामों में एकत्र कर दिया जायेगा। शायर का प्रशासन भी जनतन्त्रात्मक है। शायरों का जनतन्त्रात्मक संघ है। गणराज्य की राजधानी में राष्ट्रीय विधान सभा की बैठकें होती हैं जिनमें प्रत्येक शायर में से तीन सदस्य निर्वाचित होकर जाते हैं। केन्द्रीय शक्ति सीनेट के हाथ में होती है।

यूटोपिया राज्य के सामाजिक जीवन में समानता है। वहाँ के सभी लोग सम्मिलित रूप में एक सा भोजन करते हैं। सबके लिए समान रूप से विश्राम, अध्ययन एवं मनोरंजन की व्यवस्था भी की गयी है। विवाह को एक श्रेष्ठ सामाजिक संस्था माना गया है एवं एक पत्नी प्रथा ही मान्य है।

यूटोपिया राज्य में युद्ध को एक अपराध माना गया है लेकिन आत्म रक्षा के लिए नागरिकों को युद्ध कला में प्रशिक्षित अवश्य किया जाता है जिसका उपयोग किसी भी भ्रष्ट एवं अत्याचारी शासन से वहाँ के नागरिकों को मुक्त कराने के लिए

भी किया जा सकता है। यदि युद्ध आवश्यक ही हो जाये तो राज्य के निवासी स्वय लडने के स्थान पर भाड़े के सैनिकों को लडने के लिए भेजना अधिक ठीक समझते थे। रक्तपात के स्थान पर निपुणता से निपट लेना अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण मानते थे। खुले युद्ध के स्थान पर शत्रु सेना को अपने राजा को मार देने के लिए प्रेरित करना अधिक युक्तिपूर्ण माना गया था। यहाँ यूटोपीय राज्य की साम्राज्यवादी लीप्सा की झलक भा मिलती है जो सम्भवतः टामस मोर की कल्पना मे भी न थी।

इस आदर्श राज्य मे सभी नागरिकों के लिये शिक्षा अनिवार्य थी जिसका सीधा सम्बन्ध आध्यात्मिक ज्ञान से जोड दिया गया था। संगीत, तर्क, गणित, ज्योतिष आदि का अध्ययन आनन्द की प्राप्ति के लिए था। आनन्द की प्राप्ति ही मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट ध्येय है जो केवल भले और श्रेष्ठ कार्यों से सम्भव है। मोर आत्मा को अमर मानता है और कहता है कि उसका निर्माण आनन्द की प्राप्ति के लिए हुआ है। उसका विश्वास है कि सद्गुण ही पुरस्कृत होते हैं तथा पाप मृत्यु के उपरान्त भी दण्डित किये जाते है। भले सच्चे, नि स्वार्थ पूर्ण एव परोपकारी कार्य ही मनुष्य को सच्चा आनन्द प्रदान करते हैं। इससे मनुष्य को शान्ति एवं आत्मिक बल प्राप्त होता है। वह मनुष्य के लिए कला, सगीत एव चिन्तन को आवश्यक मानता है। मोर ने धन, ऐश्वर्य, शिकार एव जुए की भर्त्सना की है, क्योंकि ये मनुष्य को पतन के गर्त में ले जाते है तथा इनसे प्राप्त होने वाला सुख झूठा एव क्षणिक होता है। यहाँ मोर एक धार्मिक नेता के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है।

आर्थिक समस्याओं के विषय मे भी मोर ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। यूटोपिया राज्य का प्रमुख व्यवसाय कृषि है। प्रत्येक नागरिक को कृषि मे निपुणता प्राप्त करनी होगी। मोर सरल जीवन एव कृषि कार्य में सीधा सम्बन्ध स्थापित करता है। उसने शिल्प विद्या को भी आवश्यक माना है। वह यह आशा करता है कि प्रत्येक नागरिक कृषि के साथ ही शिल्प विद्या का भी जानकार होगा। इस राज्य मे विदेशों से व्यापार भी होगा। लेकिन इसके पीछे अपने को धनी बनाने का उद्देश्य नही हैं। मोर ने सोने, चाँदी जैसे मूल्यवान पदार्थों को घृणित माना है। उसका कथन है कि मनुष्य की मूर्खता ने सोने और चाँदी के मूल्य को बढ़ा दिया है और इसका कारण इनका अभाव है। यूटोपिया राज्य के निवासियों को इन पदार्थों के प्रति कोई मोह न हो, अतः राज्य मे सोने का प्रयोग अपमानजनक माना गया था। सोने की बेड़िया दासों को पहनाये जाने की व्यवस्था, राज्य में सोने की बाली दण्डित व्यक्ति को पहनायी जाती थी।

यूनानियों की भाँति मोर भी दास प्रथा को महत्व देता है। यूटोपिया राज्य का निम्न एवं घृणित कार्य या तो विदेश से आये निर्धन श्रमिक करेंगे अथवा गम्भीर अपराध में दण्डित वन्दी करेंगे। मोर ने विदेशी निर्धन श्रमिकों को आदर्श राज्य में स्वदेश लोटने की अनुमति देने की बात कही है जब कि वन्दियों को कठोर यातना देने की बात कही है जिन्हें सारे दिन कठोर कार्य करना पड़ता था एवं उन्हे जंजीरों से बाँध कर रखा जाता था। क्रुद्ध दास को एक जंगली जानवर की भाँति समझा जाता था और अन्त में मृत्यु ही उसका एक मात्र निदान था। इस प्रकार मोर न एक साम्यवादी व्यवस्था की कल्पना प्रस्तुत की है।

आलोचना एवं मूल्यांकन

मोर प्रथम व्यक्ति है जिसे समाजवादी कहा गया है चाहे वह स्वप्नलोकीय हीं क्यों न हो। उसने वर्तमान व्यवस्था पर कठोर प्रहार किया। राज्य को पूँजीपतियों की संस्था बताया और एक आदर्श राज्य का विचार प्रस्तुत किया। लेकिन इसे समाजवादी चिन्तन के इतिहास में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं दिया जा सकता जिसके कुछ निम्नलिखित कारण हैं:—

टामस मोर ने एक सामाजिक वैज्ञानिक की भाँति न तो समस्या को समझा है और न ही उसका कोई समाधान ही प्रस्तुत किया है। मानव स्वभाव क्या है, सामाजिक संगठन की प्रकृति क्या है और उसका निर्माण कैसे होता है एवं आर्थिक और राजनीतिक घटनाओं में क्या तालमेल है, आदि महत्वपूर्ण मौलिक प्रश्नों को तो वह छूता भी नहीं है। उसने वर्तमान रुग्ण समाज के लक्षणों का वर्णन अवश्य किया है लेकिन उसके द्वारा प्रतिपादित 'यूटोपिया' समस्या का कोई समाधान नहीं है। यूटोपिया को गम्भीर कृति मानना भी कठिन है। समाज परिवर्तन के जो प्रमुख साधन साम्यवाद और शिक्षा उसने बताये वे प्लेटो के अनुकरण मे भी कुछ अधिक नहीं है।

उसने जिस आदर्श राज्य की बात कही वह इस धरातल पर तो सम्भव नहीं है। साम्यवादी राज्य किस प्रकार एक आदर्श राज्य में परिवर्तित हो गया इस प्रक्रिया की मोर ने कोई भी वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत नहीं की। साम्यवादी आधार पर मोर ने एक आदर्श राज्य के निर्माण की कल्पना की, लेकिन इस कार्य हेतु और [illegible] होगा, इस परिवर्तन के पीछे कौन सी शक्तियाँ होंगी, उत्पादन के साधनों पर किसका नियन्त्रण होगा आदि अनेक प्रश्नों का उत्तर मोर ने नहीं दिया।

एक ओर मोर समानता की बात करते हैं लेकिन दूसरी ओर उसने दास प्रथा का पूर्ण समर्थन किया है। दासों का जीवन उसने पशु तुल्य बना दिया है। राज्य का घृणित एवं निम्न कार्य दासों को सौंपा गया है। भला यह कौन सा साम्यवादी नियमों पर आधारित समाज होगा जिसमें समाज नागरिकों एवं दासों में विभक्त होगा।

यूटोपिया के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि मोर ने उत्पादन वितरण एवं अन्य आर्थिक समस्याओं के विषय में कोई भी समाधान नहीं ढूंढा है। उसने जिस आनन्द की कल्पना की है वह विचारकों की अपेक्षा साधु सन्तों एवं अध्यात्मवादियों की सी लगती है। उदाहरणार्थ मोर का यह कथन कि धन ऐश्वर्य शिकार जुआ आदि मनुष्य को पतन के गर्त में ले जाते हैं तथा इनसे प्राप्त होने वाला सुख झूठा एवं क्षणिक होता है' किसी भी धार्मिक सन्त के मुख से बोला जा सकता है। इन सामाजिक अवदोषों का अस्तित्व क्यों है और किन सामाजिक प्रक्रियाओं द्वारा इनका उन्मूलन किया जा सकता है, आर्थिक एवं राजनैतिक घटनाओं में क्या सम्बन्ध होते हैं, आदि अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर मोर ने कोई अध्ययन नहीं किया है।

इन सब न्यूनताओं के होते हुए भी मोर का महत्व इसलिए है कि उसने सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही निम्नलिखित महत्वपूर्ण मुद्दों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। यह है (1) अनुत्पादक वर्गों के अवदोषों के विषय में (2) हमारी पिछलग्गी और धन का त्रुटिपूर्ण उपयोग (3) धन की बुराइयाँ और विशेष रूप से सोने का अहितकारी प्रभाव (4) धनी व्यक्तियों द्वारा निर्धनों का शोषण (5) राज्य एवं वर्गीय ढांचा एवं धनिकों द्वारा पूर्वनियोजित षड्यन्त्र। इन समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित करने के कारण सर टामस मोर को समाजवादी चिन्तन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ।

मेबल (17[illegible]—17[illegible]5)

मेबल अपने समय के बहुत ही प्रसिद्ध व्यक्तियों में से थे। उनकी प्रसिद्धि उनकी मृत्यु के उपरान्त और भी बढ़ी और उनके ग्रन्थों के अनेक संस्करण प्रकाशित किये गये और वे [illegible] हो [illegible] गये। वह अपने समय [illegible] की [illegible] से प्रभावित थे और उनके [illegible] [illegible] एक आदर्श समाज के रूप में रहा। [illegible] के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ करने के लिए [illegible] किया था। लेकिन [illegible] में उनको इसमें रुचि नहीं [illegible]। कुछ समय तक उनने राजनैतिक [illegible] [illegible] की

सोची। लेकिन फिर उसने एक लेखक बनने की ठान ली। उसने एक ही व्यापक स्तर पर लिखा जिसमे इतिहास, राजनीतिक व्यवस्थापन, नैतिकता आदि विषय लिए। उसके लिखने का उद्देश्य मनुष्य को श्रेष्ठ बनाना था।

जो कुछ उसने कहा उसे अन्य लोगों ने और भी अच्छे ढंग से कहा है। लेकिन फिर भी उसका महत्व इस बात में है कि उसका घटनाओं के विकासक्रम में स्थान है और कुछ इस बात में भी कि उसने एक विचित्र निराशा के वशीभूत हो कर बताया कि यह ससार अनेक बीमारियो से ग्रसित है जिसका कोई प्रभावशाली उपाय नही है। प्राकृतिक विधि में आस्था रखते हुए उसने मानव मात्र की समानता में विश्वास किया और अपने चहुँ ओर देखकर यह निष्कर्ष निकाला कि निजी सम्पत्ति ही मानव के समस्त दुखों का मूल कारण है। सक्षेप में मेब्ल के चिन्तन का यही सैद्धान्तिक आधार है।

सम्पत्ति का सिद्धान्त

मेब्ल के अनुसार प्रकृति ने मनुष्य को समान बनाया है। प्रकृति हमें सैकड़ों भिन्न भिन्न साधनो से कहती है कि तुम सब मेरी सन्तान हो और मैं तुम सबको समान रूप से प्यार करता हूँ। सारी वसुधा तुम्हारे पिता द्वारा दी गयी वसीयत है, तुम सब समान थे जब तुम मेरे पास से गये थे। मेब्ल का कथन था कि प्रकृति ने न राजा बनाये और न मजिस्ट्रेट ही, न धनी बनाये और न निर्धन ही। जब प्रकृति ने मनुष्य के निर्माण का अपना कार्य पूरा किया उस समय असमानता का कोई सिद्धात कही भी नही था। उसका कहना था कि मनुष्य सर्वत्र एक से हैं, प्रकृति में कितनी एकरूपता है। मनुष्य को भौगोलिक परिधि में नही बांधा जा सकता, मौसम, भूमि, पहाड़, मैदान आदि के भौगोलिक अन्तर विश्व के मनुष्यो मे किसी प्रकार का विभेद उत्पन्न नही करते। उसने इस बात का भी उत्तर दिया कि सब मनुष्यो मे गुण समान नही होते। मेब्ल ने कहा कि यह शिक्षा है जो हमे यह गलत बात सिखाती है कि ईश्वर ने मनुष्यों को असमान बनाया है। जन्म के समय सब लोग समान होते है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सभी मनुष्यों की समान पृष्ठभूमि होती है और इस लिए उनमें किसी प्रकार अन्तर करना अनुचित है।

सम्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त

मेब्ल ने सम्पत्ति के उद्गम का विचार प्रस्तुत करते हुए बताया कि प्रागैतिहासिक सभ्यता के प्रारम्भ के पूर्व समाज मे सम्पत्ति का कोई ज्ञान नहीं था और

सम्पत्ति विहीन व्यक्ति अत्यन्त ही सुखी थे। मेब्ल ने सम्पत्ति सम्बन्धी जो विचार प्रस्तुत किये वे अत्यन्त ही विचित्र प्रतीत होते हैं। उन्होने लिखा है कि सम्पत्ति का उद्गम उन शोषको के आलस्य में निहित है जो दूसरो के श्रम पर जीवित रहते हैं और उनमें श्रम के प्रति प्रेम को नही जगाया जा सकता। ऐसे लोगों के लिए तो केवल एक ही उपाय है और वह यह कि जो श्रम नही करेगा उसे खाने का भी अधिकार नहीं होगा। उसने तो यह भी बताया कि मजिस्ट्रेट लोग अपने अधिकार से अधिक भौतिक साधनो पर आधिपत्य कर लेते हैं, तथा अपने सम्बन्धियों एवं मित्रों को अनुचित ढग से लाभ पहुँचाते है। इससे दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—प्रथम यह अकर्मण्यता जिसने प्रारम्भिक साम्यवाद को समाप्त कर दिया था, वह पुनर्स्थापित किये जाने वाले साम्यवाद को भी नष्ट कर सकती है, इसके अन्तर्गत भी दूसरो के श्रम पर जीवित रहने वाले व्यक्ति भी उपस्थित रहेंगे। द्वितीय, यह बडा ही विरोधी तर्क है कि साम्यवाद ही एकमात्र अवस्था है जिसमें मनुष्य प्रसन्नता एव नैतिकता के साथ रह सकता है तथा साथ मे उसने यह कहा कि साम्यवाद को इसलिए त्यागना पड़ा कि साधारण नागरिको ने अपने साथियो के साथ सद्व्यवहार नही किया. जिसके फलस्वरूप समाज का नेतृत्व भ्रष्ट, दुराचारी और पक्षपात करने वाले व्यक्तियों के हाथो मे आ गया। उनके मतानुसार पाप का यही से प्रारम्भ हुआ है।

उनके मतानुसार सम्पत्ति ही सम्पूर्ण अवदोषो की जड है। जिस क्षण सम्पत्ति की स्थापना हो गयी, असमानता अनिवार्य बन गयी और इसके परिणामस्वरूप धनी तथा निर्धनता की समस्त बुराइयो एव सभ्यता का भ्रष्ट स्वरूप हमारे समक्ष प्रस्तुत होने लगा। सम्पत्ति का बोध एवं उसका अस्तित्व प्रकृति सम्मत नही है। इसकी स्वीकृति केवल परम्पराओं मे निहित है तथा परम्परा जो बना सकती है उसे वह नष्ट भी कर सकती है।

वह समानता के विचार की क्रियान्विति की दृष्टि से समाज के भिन्न भिन्न व्यवसायो के व्यक्तियो को सम्मानित करने के पक्ष मे था क्योंकि समाज के निर्माण में योगदान केवल शासक, मजिस्ट्रेट, विद्वान ही नहीं करते अपितु जिन्हे साधारण व्यक्ति कहा जाता है उनकी भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। मेब्ल गडरियों, शिकारियो आदि तक को सार्वजनिक रूप से सम्मानित करने के पक्ष मे था।

सोची। लेकिन फिर उसने एक लेखक बनने की ठान ली। उसने एक ही व्यापक स्तर पर लिखा जिसमें इतिहास, राजनीतिक व्यवस्थापन, नैतिकता आदि विषय लिए। उसके लिखने का उद्देश्य मनुष्य को श्रेष्ठ बनाना था।

जो कुछ उसने कहा उसे अन्य लोगों ने और भी अच्छे ढंग से कहा है। लेकिन फिर भी उसका महत्व इस बात मे है कि उसका घटनाओं के विकासक्रम में स्थान है और कुछ इस बात में भी कि उसने एक विचित्र निराशा के वशीभूत हो कर बताया कि यह ससार अनेक बीमारियो से ग्रसित है जिसका कोई प्रभावशाली उपाय नही है। प्राकृतिक विधि में आस्था रखते हुए उसने मानव मात्र की समानता मे विश्वास किया और अपने चहुँ ओर देखकर यह निष्कर्ष निकाला कि निजी सम्पत्ति ही मानव के समस्त दुखों का मूल कारण है। सक्षेप में मेब्ल के चिन्तन का यही सैद्धान्तिक आधार है।

सम्पत्ति का सिद्धान्त

मेब्ल के अनुसार प्रकृति ने मनुष्य को समान बनाया है। प्रकृति हमें सैकड़ों भिन्न भिन्न साधनों से कहती है कि तुम सब मेरी सन्तान हो और मैं तुम सबको समान रूप से प्यार करता हूँ। सारी वसुधा तुम्हारे पिता द्वारा दी गयी वसीयत है, तुम सब समान थे जब तुम मेरे पास से गये थे। मेब्ल का कथन था कि प्रकृति ने न राजा बनाये और न मजिस्ट्रेट ही, न धनी बनाये और न निर्धन ही। जब प्रकृति ने मनुष्य के निर्माण का अपना कार्य पूरा किया उस समय असमानता का कोई सिद्धात कहीं भी नही था। उसका कहना था कि मनुष्य सर्वत्र एक से हैं, प्रकृति में कितनी एकरूपता है। मनुष्य को भौगोलिक परिधि में नही बांधा जा सकता, मौसम, भूमि, पहाड़, मैदान आदि के भोगोलिक अन्तर विश्व के मनुष्यो मे किसी प्रकार का विभेद उत्पन्न नहीं करते। उसने इस बात का भी उत्तर दिया कि सब मनुष्यों मे गुण समान नहीं होते। मेब्ल ने कहा कि यह शिक्षा है जो हमे यह गलत बात सिखाती है कि ईश्वर ने मनुष्यों को असमान बनाया है। जन्म के समय सब लोग समान होते है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सभी मनुष्यो की समान पृष्ठभूमि होती है और इस लिए उनमे किसी प्रकार अन्तर करना अनुचित है।

सम्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त

मेब्ल ने सम्पत्ति के उद्गम का विचार प्रस्तुत करते हुए बताया कि आधु... के प्रारम्भ के पूर्व समाज मे सम्पत्ति का कोई ज्ञान नही था और

सम्पत्ति विहीन व्यक्ति अत्यन्त ही सुखी थे। मेब्ल ने सम्पत्ति सम
विचार प्रस्तुत किये वे अत्यन्त ही विचित्र प्रतीत होते हैं। उन्होंने लिर
सम्पत्ति का उद्गम उन शोषकों के आलस्य में निहित है जो दूसरों
पर जीवित रहते हैं और उनमें श्रम के प्रति प्रेम को नहीं जगाता
ऐसे लोगों के लिए तो केवल एक ही उपाय है और वह यह कि जो
करेगा उसे खाने का भी अधिकार नहीं होगा। उसने तो यह भी
मजिस्ट्रेट लोग अपने अधिकार से अधिक भौतिक साधनों पर अधिकार
है, तथा अपने सम्बन्धियों एवं मित्रों को अनुचित ढंग से लाभ प
इससे दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—प्रथम यह अकर्मण्यता जिसने
साम्यवाद को समाप्त कर दिया था, वह पुनर्स्थापित किये जाने वाले
को भी नष्ट कर सकती है, इसके अन्तर्गत भी दूसरों के श्रम पर जी
वाले व्यक्ति भी उपस्थित रहेंगे। द्वितीय, यह बड़ा ही विरोधी तर्क है
वाद ही एकमात्र अवस्था है जिसमें मनुष्य प्रसन्नता एवं नैतिकता
सकता है तथा साथ में उसने यह कहा कि साम्यवाद को इसलिए
कि साधारण नागरिकों ने अपने साथियों के साथ सद्व्यवहार नहीं कि
फलस्वरूप समाज का नेतृत्व भ्रष्ट, दुराचारी और पक्षपात
व्यक्तियों के हाथों में आ गया। उनके मतानुसार पाप का यही
हुआ है।

उनके मतानुसार सम्पत्ति ही सम्पूर्ण अवदोषों की जड़ है।
सम्पत्ति की स्थापना हो गयी, असमानता अनिवार्य बन गयी और
फलस्वरूप धनी तथा निर्धनता की समस्त बुराइयों एवं
हमारे समक्ष प्रस्तुत होने लगा। सम्पत्ति का दोष एवं उसका
स्पष्ट नहीं है। इसकी स्वीकृति केवल परम्पराओं में निहित है
को बना सकती है उसे वह नष्ट भी कर सकती है।

वह समानता के विचार की क्रियान्विति की दृष्टि से समा
भिन्न अवस्थाओं के व्यक्तियों को सम्मानित करने के पक्ष में था
के निर्माण में योगदान केवल शासक, मजिस्ट्रेट, विद्वान ही नहीं
जिन्हें साधारण व्यक्ति कहा जाता है उनकी भी महत्वपूर्ण भूमिका है

ता के प्रति निष्ठा नहीं होती। वह कठिनाई से ही ईश्वर का प्यारा बन सकता क्योंकि वह सभी प्रकार के धोखे कर सकता है।

आलोचना एवं मूल्यांकन

मेब्र ने सम्पत्ति रूपी संस्था पर प्रहार किया लेकिन उसने सम्पत्ति को विधि पर प्रकाश नहीं डाला। उसने सम्पत्ति से उत्पन्न होने वाली बुराइयों का वर्णन किया लेकिन एक विचारक के लिए यह पर्याप्त नहीं होता। उसे उन कारणों का अध्ययन करना होता है जिनसे ऐसा हुआ तथा उसे दूर करने के लिए एक पद्धतिपूर्ण मार्ग का सृजन करना होता है।

सत्य तो यह है कि मेब्ल चर्च के लिए सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति था। उसने अपने लेखन में स्थान स्थान पर ईश्वर का वर्णन किया है और असमानता पर प्रहार करते हुए यह बताया है कि ईश्वर ने सबको समान बनाया है। वह एक लेखक रूप में जब ईश्वर के नाम पर अपील करता है तो ऐसा लगता है कि उसके पास तर्क का अभाव है और इसलिए अपनी बात कहने के लिए वह ईश्वर की शरण लेता है। वह न समाजवादी चिन्तन को स्पष्ट और विकसित कर पाया और न ही अपनी बात को पद्धतिपूर्ण ढंग से स्पष्ट ही कर पाया। उसके द्वारा दिये गये तत्व का विवेचन करते हुए ग्रे ने लिखा है कि उसका समाजवाद कृत्रिम, केवल बौद्धिक अपने समय से असम्बद्ध लेकिन फिर भी आगे आने वाले युग से सम्बन्धित था।

मेब्ल की सबसे बड़ी विशेषता और उसका महत्वपूर्ण योगदान केवल इस बात में है कि उसने पूर्ण एकता के विचार को बड़े ही भावपूर्ण और प्रभावशाली ढंग से कहा। उसने प्रकृति और ईश्वर की बैसाखी पर चढ़कर समाजवाद के एक मुख्य तत्व समानता पर प्रकाश डाला। उसने सरलता के जीवन पर जोर दिया और बताया कि शासक को भी विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने का कोई अधिकार नहीं है। उसने समस्याओं और मानवीय कष्टों की ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया। उसका अध्ययन समस्याओं की जानकारी करने के लिए किया जाना चाहिए और न कि उनके निवारण करने हेतु क्योंकि वह इस दृष्टि से कोई योगदान नहीं दे पाया। उसका समाजवादी चिन्तन इतिहास में स्थान केवल इसलिए है कि उसने पूंजीपतियों एवं विलासितापूर्ण एवं असमानता की भर्त्सना कर अपने इस विचार को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया कि सब मनुष्य पूर्ण रूप से समान हैं।

फ्रांसिस बेकन

मोर के लगभग 100 वर्ष पश्चात् ब्रिटेन के प्रसिद्ध साहित्यिक लेखक फ्रांसिस बेकन ने अपनी रचना 'न्यू एटलांटिक' नामक ग्रंथ की रचना की। इस रचना में बेकन ने स्वप्नलोकीय व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत किया। उसने दक्षिण समुद्र पर स्थित एक द्वीप की कल्पना की है जहाँ के निवासी अत्यन्त सुखी तथा सम्पन्न हैं। इसी द्वीप में बेकन ने एक विद्यालय सम्मेलन हाउस की कल्पना की जहाँ नित्य नये वैज्ञानिक प्रयोग किये जाते हैं तथा उनके आधार पर सामाजिक जीवन सुखमय बनाया जाता है। उसकी व्यवस्था उसने साम्यवादी ढंग से की। उनका मत था कि यदि लोग ज्ञान के क्षेत्र में समाजवादी आदर्श ग्रहण कर लें तो वे सामाजिक जीवन को कल्याणकारी बनाने में सफल सिद्ध हो सकेंगे। बेकन के सम्बन्ध में लेडलर का मत था कि उसका ध्येय सम्पत्ति में साम्यवाद नहीं वरन् ज्ञान में साम्यवाद था। उसके मत से सुख तथा सम्पन्नता का आधार ज्ञान ही है तथा मानव मात्र का कल्याण इसके प्रसार से ही हो सकता है।

मोर तथा बेकन आदि की भाँति ब्रिटेन में और भी अनेक चिन्तकों ने सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी में ऐसे स्वप्नलोकीय समाजवादी विचार रखे थे। उनका उद्देश्य भी तत्कालीन सामन्तशाही तथा निरंकुश तन्त्रों के अन्तर्गत निर्धन वर्ग के सुधार की धारणायें व्यक्त करना था परन्तु ये धारणायें आध्यात्मिक अथवा स्वप्नलोकीय समाजवादी ही बनी रहीं। व्यवहार में वे प्रभावहीन थीं।

भी कृषि की तुलना में शिल्प को अपनाना नहीं चाहेगा क्योंकि शिल्प केवल धनी व्यक्तियों के उपभोग की उत्पत्ति करता है ।

धन

चार्ल्स हाल ने धन की परिभाषा देते हुए कहा कि "यह वह स्वत्व पदार्थ है जो श्रम पर प्रभुता तथा अधिकार प्रदान करता है । अतः यह एक ऐसी शक्ति है जिसमें तथा जिससे अन्ततः निर्णय हो सके ।" उन्होंने खानों खानों एवं कारखानों में कार्य करने वाले श्रमजीवियों के उदाहरण देकर यह प्रमाणित किया कि विवश होकर ही इन लोगों ने दुष्कर व्यवसाय को अपनाया । उन्होंने धनी एवं निर्धनों की बीजगणित के योग तथा घटाने के चिन्हों से तुलना की । इन भेदों ने आर्थिक असमानता को जन्म दिया जिसके फलस्वरूप वर्ग संघर्ष की नींव पड़ी । उन्होंने यह भी बताया कि सभ्य समाज में सभी प्रकार के अधिकारों—कार्यांग, विधानांग एवं न्यायांग पर स्ववश रखते थे । वास्तव में शिष्ट जन भी वही कहलाते थे । धर्म के रक्षक एवं पोषक भी इन्हीं को समझा जाता था । सर्वत्र धन भी उनके ही हाथों में शक्ति रखता है जिनके हाथों में पहले ही होती है ।"

अतिरिक्त मूल्य

उन्होंने यह भी खोज करने का प्रयास किया कि उस श्रम का, जो कि श्रमिकों ने क्रूर परिस्थितियों के अन्तर्गत किया है और जो उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, कितना भाग धनी वर्ग के पास रहता है । इस सम्बन्ध में इनके विचार कार्लमार्क्स के अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के विचारों के समीप थे । उन्होंने युक्ति द्वारा यह सिद्ध करना चाहा कि 8/10 व्यक्ति अपने श्रम का केवल 1/8 वां भाग उपभोग करते हैं । अतः आठ दिनों में एक दिन अथवा एक दिन में केवल एक घंटा ही उस श्रमिक को अपने आप, अपनी पत्नी तथा अपने बच्चों के लिए कार्य करने की अनुमति प्राप्त होती है । शेष दिन अथवा दिन के शेष घण्टे वह धनी वर्ग के लिए कार्य करता है ।

श्रमजीवी वर्ग की बढ़ती हुई पदावनति

अन्य महत्वपूर्ण विषय जिस पर उन्होंने गम्भीर विचार प्रस्तुत किये हैं वह श्रमजीवी वर्गों की बढ़ती हुई पदावनति था । इस दिशा में उनके आर्थिक विश्लेषण के अनुसार सभ्य समाज ऐसा था कि धनी अधिक धनी और निर्धन अधिक निर्धन होते जाते थे। यह बढ़ती हुई पदावनति केवल उन लोगों, जो अधीन थे और

प्रर्थीन होते जाते थे, के द्वारा ही नही थी वरन् इसलिए भी थी कि बहुत से लोग इस दशा मे पहुँच रहे थे। इस प्रकार की अवस्था ने श्रमजीवी वर्ग की जाति मे मात्रातीत वृद्धि कर दी। इस प्रकार चार्ल्स हाल कार्ल मार्क्स से भी अधिक प्रगतिशील हो गए जब उन्होने यह बताया कि श्रमिको की दुर्गति तथा दीनता की कोई सीमा नही थी जब धनी वर्ग ने श्रमजीवी वर्ग के कठिन परिश्रम के लाभ का अधिकाधिक शोषण अपने हित मे किया। उन्होने दृढतापूर्वक यह भी प्रमाणित किया कि युद्ध पूँजीवादी पद्धति मे धनी वर्ग की लालसा अथवा चण्ड प्रकृति के कारण होता है। धनी वर्ग द्वारा अपनी सन्तानों की शिक्षा भी उन्हें इसी दिशा मे ले जाती है।

व्यापार की आलोचना

हाल के अनुसार कृषि मनुष्य को परिश्रमी बनाती है और स्वतन्त्रता प्रदान करता है दूसरी ओर व्यापार मनुष्यो के लिए हानिकारक होता है क्योंकि इसमे उन वस्तुओं का निर्यात किया जाता है जो निर्धनो के उपयोग की होती है और उन वस्तुओं का आयात किया जाता है जिनका उपयोग धनी व्यक्ति करते हैं। व्यापार से केवल श्रम का ही शोषण नही होता, वरन् निर्धनों के उपयोग का स्तर भी निम्नतर हो जाता है। स्थिति को सुखमय बनाने के लिए उसने दो सिद्धान्तो की चर्चा की है: प्रथम—प्रत्येक व्यक्ति को उतना ही कार्य करना चाहिए जितना कि वह अपने परिवार के पालन पोषण के लिए आवश्यक समझता है और द्वितीय प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम का पूरा फल मिलना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने सुझाव दिया कि आरामदायक तथा विलासिता की वस्तुओं पर कर लगाया जाय, भूमि पर राज्य का स्वामित्व स्थापित किया जाय और उसको कृषकों में विभक्त कर दिया जाय। ज्येष्ठाधिकार का उन्मूलन किया जाय।

मूल्यांकन

हाल के आर्थिक विचारो मे ऐसी शक्ति तथा मौलिकता थी जो विचारकों के सुलझे हुए विचारों को परिवर्तित कर सके। उनके तर्क व्यवस्थित तथा सारगर्भित थे। परन्तु उनमें अर्थशास्त्रीय अनुशासन का अभाव था। उनकी पुस्तक "सभ्यता का प्रभाव" ने ओवनीय समाजवादियो पर गहरा प्रभाव डाला। वे चाहते थे कि जन संख्या को *विधिवत् क्रम मे रखा जाय इसलिए उन्होंने उपनिवेश का सुझाव* दिया। यदि ऐसा करने पर भी जनसंख्या अधिक होती जायेगी तो उसके बुरे परि-

णाम बहुत ही कम होंगे। हाल का प्रभाव यद्यपि सीमित तथा अप्रत्यक्ष था तो भी बहुत अधिक था। उसकी पुस्तक का और उसके विचारों का ओविन तथा ओविन के साथियों ने बड़ी सावधानी से अध्ययन किया था। समालोचनात्मक समाजवाद जो उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे चतुर्थ में प्रारम्भ होने वाले आन्दोलन की आत्मा था उसका रूप एवं विकास हाल के विचारों से निर्धारित हुआ था।

विलियम टामसन (1785–1833)

विलियम टामसन आयरलैंड निवासी था। वह उपयोगितावादी दार्शनिक जर्मी बेंथम का शिष्य रहा था तथा उनके विचारों से अत्यधिक प्रभावित हुआ था। वह एक सामन्ती परिवार का सदस्य था और दीर्घ समय तक उसकी सम्पत्ति उसकी जीविका का मुख्य साधन थी। उसको सहयोगवादियों की श्रेणी में सम्मिलित किया जा सकता है क्योंकि उसका अधिकांश समर्पित जीवन सहकारितावाद के समर्थन तथा सहकारी समितियों के गठन में व्यतीत हुआ था। सन् 1830 में उन्होंने अपनी सम्पत्ति का अधिकांश भाग इनकी वृद्धि के लिए वसीयत कर दिया। सन् 1824 में उन्होंने 600 पृष्ठों की एक प्रमुख कृति की रचना की। टामसन गाडविन के विचारों से भी प्रभावित हुआ था। बेन्थम के उपयोगितावाद के अधिकतम मानव सुख के विचार तथा गाडविन से शुद्ध स्वैच्छिक रीतियों को ग्रहण किया था। उसने अपनी रचना में चार विचारों को प्रमुख रूप से अभिव्यक्त किया—मानव का सर्वोच्च सम्भव सुख, समाज का सुख, अधिकांश व्यक्तियों का अधिकतम सुख, तथ समुदाय का सुख। साधारण व्यक्ति के लिए उन्होंने सर्वोच्च सुख की मात्रा के सिद्धान्त को प्रसारित किया। उन्होंने इस बात का भी समर्थन किया कि "सब व्यक्ति धन की समान मात्रा के उपभोग से समान अनुपात में सुख प्राप्त कर सकते हैं" किन्तु यह सुख उचित रूप से परिमित नहीं किया जा सकता। उनका विश्वास था कि सब मनुष्यों का लक्ष्य मानव सुख की योग की वृद्धि करना होना चाहिए। इनके विचारों को हम निम्न प्रकार विभक्त कर सकते हैं।

धन का वितरण

मानव सुख की वृद्धि पर बल देते हुए टामसन ने धन के वितरण की समस्या का विचार किया। उन्होंने कहा वह वितरण सर्वोत्तम है जो उन लोगों के सुख में अधिक से अधिक वृद्धि करे जिन्होंने उस धन का उत्पादन किया है। उन्होंने धन [illegible] इस प्रकार की है "भौतिक पदार्थों का वह भाग अथवा सुख प्राप्ति

टामसन ने समाज में अधिकतम सुख प्राप्त करने के लिए तीन मौलिक सिद्धान्तों की ओर संकेत किया था अर्थात् स्वतन्त्र तथा ऐच्छिक परिश्रम, सुरक्षा तथा स्वतन्त्र एवं ऐच्छिक विनिमय। इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बात यह है कि टामसन के लिए पूँजीपतियों का महत्व कम नहीं था, क्योंकि उसका विश्वास था कि पूँजी के बिना बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव न था। इसलिए उसका सुझाव था कि पूँजी को श्रम की उत्पत्ति में से कुछ भुगतान मिलना चाहिए। यह भुगतान कई प्रकार से दिया जा सकता है। फीस, क्षति पूर्ति के व्यय के रूप में या पूँजीपति को एक उत्तम जीवन व्यतीत करने के लिए मुआवजे के रूप में या संगठन करने की

योग्यता के प्रतिफल के रूप में किन्तु वह इससे भी सन्तुष्ट नहीं था। उसने यह महसूस किया था कि इन सब भुगतानों के साथ श्रमिक के पास उत्पत्ति का बहुत थोड़ा सा अंश अथवा भाग रह जायेगा, जो उसके लिए अपर्याप्त रहेगा। इसी को विश्लेषण करके टामसन ने श्रम का शोषण माना है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है "ऐसे समाज में जो भी संचित धन होगा, वह कुछ थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में ही एकत्र होगा। धन की अधिकता तथा चारों ओर की निर्धनता के कारण यह प्रत्येक की आंख में खटकता है। उत्पादक, श्रमिक, जिनसे कि पूँजी उपकरण आश्रय तथा दूसरे पदार्थ ले लिए जाते हैं, ऐसी दशा में जीवित रहने के लिए परिश्रम करते हैं, उनकी मजदूरी उनकी वर्तमान परिश्रमी प्रकृति कि तुलना में न्यूनतम होती है और दूसरी ओर भोग-विलास तथा आमोद अन्तिम सीमाओं तक पहुँच जाता है। असमानता के अवगुण भी अन्त तक पहुँच जाते हैं। संचय की इच्छा सर्वश्रेष्ठ होती है। और उत्पादन मुख्यता आवश्यकताओं द्वारा ही प्रोत्साहित होता है।"

सहकारिता :—

जब टामसन उचित वितरण की विकट समस्या का कोई निराकरण न कर सके तो उन्होने ओविन के सदृश्य सहकारिता के सुझाव जैसा ही स्वेच्छा से समान वितरण का सुझाव प्रस्तुत किया। इस सुझाव को उन्होने एक अन्य विवरणिका जिसका शीर्षक लेबर रिवार्डिड था तथा अपनी पुस्तक के अन्तिम भाग मे उल्लिखित था उन्होंने अपने समक्ष अनेक प्रश्न रखे। यदि प्रत्येक कर्मचारी उतना ही उपभोग करे जितना कि वह उत्पादन करता है तो अत्यधिक वृद्ध, अपगु तथा शिशु आदि ही भूखे ही मर जायेंगे। यही स्थिति महिलाओं की होगी जो बच्चो को पैदा करते तथा उनका लालन पालन करते हुए ही भूखी मर जायेंगी। अतः उनके विचार मे सहकारिता ही एक सम्भव युक्ति थी।

मूल्यांकन :—

टामसन की प्रसिद्धि ओविन की सहकारिता पर जोर देने पर नही वरन अर्थशास्त्र मे धन के समान वितरण सम्बन्धी विचार की महत्ता पर जोर देने पर निर्भर करती है। अपने विचारों को सुस्पष्ट रूप से प्रगट करने तथा उसके विस्तृत प्रभाव के कारण ही वे अंग्रेजी समाजवादी सम्प्रदाय के प्रमुख चिन्तक कहे जाते हैं। उनका मुख्य ध्येय व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा अनार्जित आय के अन्यायों को प्रमाणित करना

था। उन्होंने उत्पत्ति को प्रोत्साहन देने के लिए चल कर्मचारियों की सुरक्षा का सुझाव दिया। एमैजर के शब्दों में, वे वैज्ञानिक समाज शास्त्र के प्रमुख संस्थापक थे और उनके विचारों ने इंगलैंड में आने वाले समाजवादियों के विचारों को अत्यधिक प्रभावित किया था।

थामस हाजस्किन (1787–1869):—

हाजस्किन एक मौलिक विचारक थे तथा उन्होंने कुशाग्र बुद्धि के कारण ही अपनी ख्याति अर्जित की थी। वे प्रारम्भ में नौसेना मे एक लेफ्टिनेन्ट थे। उन्होंने अनेक देशों का भ्रमण किया था और जर्मनी, फ्रांस, इटली की यात्राओं ने उनके विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया और अपने अनुभव पर अनेक पुस्तकों की रचना की। एक पुस्तक उन्होंने सन् 1813 मे नौसैनिक अनुशासन पर निबन्ध An Essay on Naval Discipline) की रचना की थी। सन्-1820 में उन्होंने *"उत्तरीय जर्मनी की यात्रा" (Travels on the north Germany)* नामक पुस्तक प्रकाशित कराई। सन् 1826 में लन्दन मेकेनिक इन्स्टीट्यूशन (London Mechanics Institutions) में उन्होंने भाषण दिये जो विकसित रूप में सन् 1827 में लोकप्रिय राजनीतिक अर्थशास्त्र (Popular-Political Economy) के शीर्षक से प्रकाशित हुए। उनके दो विशिष्ट योगदान (Labour Defined Against the Claims of Capital (1825) तथा the National and Artificial Rights of Property Contract (1837).

लेवर डिफेन्डि उनकी एक लघुपुस्तिका थी जिसमे उनके आर्थिक विचारों के इतिहास मे एक स्थायी स्थान प्राप्त किया। इनके विचारों की प्रमुख विशेषता यह रही कि उन्होंने अपने सम्पूर्ण कार्यों में आदमस्मिथ, गाडविन, मूलर तथा जान लाग का ही उल्लेख किया है। यद्यपि समकालीन मुख्यलेखक जैम्समिल और बेन्थम उनसे परिचित थे। उनकी लेखन शैली की विशेषता यह थी कि पाठकगणों के ध्यान को अपनी और आकर्षित कर लेते थे। अन्य महासागर के दोनों और ब्रिटिश समाजवादी वर्ग के किसी भी सदस्य के कार्यों का उनसे अधिक अध्ययन हुआ प्रतीत नहीं होता। उनके महत्व को क्षणभर मे ही स्वीकार कर लिया गया। सैमुयल ढीप थामस कूपर तथा कार्लमार्क्स ने भी अपने ग्रन्थों मे इनको उद्धृत किया है। इनके विचारों को पकार निम्न लिखित रूप मे अध्ययन कर सकते

उत्पत्ति के साधन में पूंजी का महत्वः—

अपनी पुस्तक लेबर डिफेन्डेड में उन्होंने ब्रिटेन के श्रम-संघ आन्दोलन का पूर्णरूपेण समर्थन किया जबकि सन् 1824 में संघ कानून का निगमन कर दिया गया था। इसी के परिणामस्वरूप श्रमिक संघ आन्दोलन तीव्र गति से प्रगति करने लगा। (सन् 1825 में एक और अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार यद्यपि श्रमसंघ के कार्यों में प्रतिबन्ध लगाए, तथापि इस अधिनियम ने मजदूरी के प्रश्न को हल करने हेतु वाद विवाद तथा समानता के लिए का... सुअवसर दे दिया। उनके अनुसार यह आन्दोलन अनुदारक वर्ग अर्थात् पूंजीपति के विरुद्ध था। उनका मत था कि श्रम की शक्ति के सहयोग के बिना उत्प... सम्भव नहीं होता। यदि हम पूंजी को संचित श्रम मानते हैं तो वर्तमान श्रम ... के उपयोग के लिए इसकी विशेष आवश्यकता है। यदि इसमें केवल त्रि... मूल्य उत्पन्न करने की क्षमता है तो इस अर्थ में न तो पूंजी उत्पादक है ... ही उसको उत्पत्ति में कोई भाग मिलना चाहिए। हास्किन के अनुसार अच... भूत पूर्व श्रम है इसलिए यह उत्पादन के लिए आवश्यक है। किन्तु चल पूंजी... महत्वपूर्ण है क्योंकि यह अचल पूंजी को गति प्रदान करता है। ... से उसका आशय वर्तमान श्रम शक्ति से था। पूंजी के उपयोग से अर... लाभ का उत्पादन इसलिए सम्भव होता है कि यह अचल पूंजी के ... वर्तमान श्रम शक्ति को उपयोग कराने का अधिकार प्रदान करती है ... पूंजी—पूर्ति एक मध्यस्थ है जो सक्रिय श्रम और भूतपूर्व श्रम के बी... करता है और उत्पत्ति का अधिकांश भाग स्वयं हड़प लेता है। उन... के इस कथन को कि श्रमिकों को उतनी मजदूरी मिलनी चाहिए जि... अपना निर्वाह कर सकें तथा अपनी नस्ल हेतु प्रजनन शक्ति को ... समर्थन किया। उन्होंने यह भी कहा कि बढ़ती हुई कुशलता तथा ... गयी उत्पत्ति लालची जमींदारों, अधिक सूद लेने वाले सूदखोरों, पूं... उन भ्रष्टाचारियों के हाथो मे जाती है जो या तो भ्रष्ट सरकार ... अथवा ऐसी सरकार का समर्थन करते हैं। अतः उसका सुझा... व्यवस्था मे इस प्रकार परिवर्तन किया जाय कि श्रम उत्पत्ति के स... हो पाए, किन्तु उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने कोई निश्चित नीति...

सम्पत्ति का अधिकार :—

हास्किन के अनुसार सम्पत्ति प्राकृतिक नियमों का ... उन्होंने सम्पत्ति के नियमो की प्रशंसा की और उन्हे पवित्र ब...

प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार होना चाहिए कि वे वह अपने श्रम द्वारा जितना भी उत्पादन करें उसे अपने पास रख सकें। यह स्पष्ट है कि वे सम्पत्ति के विरोधी नहीं थे परन्तु वे यह चाहते थे कि सम्पत्ति व्यक्तिगत श्रम द्वारा ही अर्जित की जाय। उनके विचार में सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार दो प्रकार के होते हैं —

प्राकृतिक एवं वैधानिक। इन दोनों अधिकारों में भेद बताते हुए उन्होंने कहा, यदि प्राकृतिक अधिकारों का अवैधानिक उपायों द्वारा उल्लंघन होगा तो सामाजिक दुर्गति में वृद्धि हो जायेगी। अपनी सम्पत्ति के वैधानिक अधिकारों के लिए हम उसे संग्रहीत करते हुए मिथ्या धन तथा वास्तविक विप्लव के आभारी हैं। जिसने व्यावहारिक जगत को गत 50 वर्षों में इसने केन्द्र तक कम्पित कर दिया है।

नियम कौन बनाता है? इस प्रश्न का उत्तर है श्रमिक नहीं। उन्होंने यह सुझाव दिया कि सम्पत्ति के नियमों में संशोधन किया जाय जिससे कि अपराध तथा दुर्गति का विनाश हो। शान्ति तथा सद्भाव न्याय की सहायता से ही प्रचलित हो सकते हैं। उन्होंने कहा कि मुझे पूर्ण विश्वास है कि जब तक श्रम की सफलता पूर्ण न हो जाय, उत्पादक उद्योग सम्पन्न न हो जाय, केवल आलसी ही दरिद्र हों, प्रशंसनीय कहावत कि जो बोये वही काटे पूर्ण रूप से स्थापित न हो जाय, सम्पत्ति के अधिकार दासता की अपेक्षा न्याय के नियमों पर आधारित न हो जाय, मनुष्य को समान मिट्टी के उस हल जिसे वह गोड़ता है या उस यन्त्र से जिसका वह संचालन करता है, अधिक न हो तब तक संसार में मनुष्यों के बीच शान्ति और सद्भाव न हो सकते हैं और न होने चाहिए।

राज्य हस्तक्षेप —

हाजकिन राज्य हस्तक्षेप का कट्टर विरोधी था। कई स्थानों पर उसने विधान सभाओं की उपयोगिता पर सन्देह प्रकट किया है। उसका विश्वास था कि मनुष्य अपनी समृद्धि को स्वयं अधिक कर सकता है। व्यवहारतः उन थोड़े से व्यक्तियों के जो सरकार के रूप में कार्य करते हैं। उसकी अभिलाषा थी कि मनुष्य शान्ति विधान सभाओं तथा सरकारी नियन्त्रण का बहिष्कार करे। ऐसा प्रतीत होता है कि वे एक अराजकतावादी थे। किन्तु वे क्रान्तिकारी नहीं थे उनका विश्वास कि श्रमिकों की संस्थाओं की स्वतन्त्रता के द्वारा ही मानव शान्ति का

प्रभाव को जिसके अधीन वह काफी समय से कार्य कर रहे हैं, बदल दिया जाय तो उनके चरित्र तथा विचारों को अच्छा बनाया जा सकता है। "परिस्थितियां अच्छाई या बुराई के बीज के समान हैं और व्यक्ति उस भूमि के समान है जिसमें यह बीज उगते हैं।"

व्यक्ति सम्पति की आलोचनाः—

थ्रे के मतानुसार वे सम्पूर्ण गलतियां मनुष्यों ने की है या वे सम्पूर्ण दुख जो उसने सहे है व्यक्तिगत सम्पत्ति के परिणामस्वरूप है क्योंकि व्यक्तिगत सम्पत्ति के अन्तर्गत कुछ व्यक्ति विशेष अधिकारों का उपभोग करते हैं। सम्पत्ति एक ऐसा शत्रु है जिसने मानव सुख में वृद्धि करने वाली कई योजनाओं का विनाश कर दिया है। इसने व्यक्तियों को दो भागों में विभक्त कर दिया हैं—उद्योगपति एवं श्रमिक। उद्योगपति पूर्णरूपेण निष्क्रिय होते हैं। इसमें असमानता को अन्तिम सीमा तक पहुंचा दिया है। सम्पत्ति से उत्पन्न दोषों को दूर करने के लिये उन्होंने चार सुझाव दिये हैं :—(1) सब मनुष्यों की प्रवृत्तियाँ तथा आवश्यकताएं समान होती हैं, (2) प्रत्येक व्यक्ति को कार्य अवश्य करना चाहिए, (3) भूमि सब व्यक्तियों की सम्पत्ति है। अतः सब व्यक्तियों के अधिकार भी समान होने चाहिये, और (4) समान श्रम का पारिश्रमिक भी समान होना चाहिये। अन्तिम सिद्धान्त के समर्थन में उन्होंने डेविड रिकार्डो के शब्दों को दोहराया, यथार्थ मूल्य के लिए हमें किसी पदार्थ या पदार्थों के समूह को नहीं वरन् दी गयी श्रम की मात्रा को देखना चाहिए। यहां इस बात की अभिव्यक्ति होती है कि यथार्थ मूल्य श्रम पर आधारित है। इससे हम केवल यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि श्रम की समान मात्रा का समान पारिश्रमिक होना चाहिए।

थ्रे के विचार में सचय पूर्व पीढ़ियों से प्राप्त होता है तथा वर्तमान पीढ़ी का कर्तव्य उसको एक न्यास के रूप में बनाए रखना है, जिससे आने वाली पीढ़ियां लाभान्वित हो सकें। उन्होंने लोगों से राष्ट्रीय धन की वृद्धि करने को कहा जिससे कि यह धन आने वाली पीढ़ियों को प्राप्त हो सके। परन्तु राष्ट्रीय धन विनियोग तो पहले ही हो चुका है। अतएव व्यक्ति की मृत्यु पर धन सरकार के पास चला जाना चाहिए। यह धन कुल समाज की सम्पत्ति होगा।

समान विनिमय :—

थ्रे का विचार था कि विनिमय को दोनों ही पक्षों को समान लाभ प्राप्त होना चाहिए जो उनके मतानुसार वर्तमान समस्यायें असमान विनिमय क्रियाओं

का ही परिणाम है। अतः वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि श्रमिक को अपनी उत्पत्ति का केवल 50 प्रतिशत भाग ही प्राप्त हो पाता है और शेष भाग पूंजीपति हड़प कर लेते हैं। श्रमिक को उसके परिश्रम के बदले में जो कुछ पूंजीपति भुगतान करता है वह उस धन का भाग नहीं जिसका उसने पिछले सप्ताह उत्पादन किया था। इस प्रकार के विनिमय को वह वैधानिक डाके के समान समझता था। उसके शब्दों में "यह धन श्रमिक वर्ग की हड्डियों तथा शक्ति में से निकाला हुआ धन है जो कई शताब्दियों में प्राप्त किया गया है और जिसकी प्राप्ति धोखेबाजी तथा असमान विनिमय प्रणाली द्वारा हुई है।" इस उद्देश्य से कि पूंजीपतियों को कार्य करने हेतु विवश किया जा सके। वह समान विनिमय प्रणाली की स्थापना के पक्ष में था। उनके अनुसार श्रम संघ इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाये हैं। उनका सुझाव था कि समाज की व्यवस्था सम्मिलित पूंजी प्रणाली के आधार पर की जाय। समान विनिमय के आधार पर छोटी-छोटी सम्मलित पूंजी कम्पनियां स्थापित की जाय और उन सबको मिलाकर एक संघ स्थापित किया जाय। उनकी इच्छा थी कि ऐसी अवस्था में शक्ति के स्थान पर विवेक, बल प्रयोग के स्थान पर विश्वास, लूट के स्थान पर खरीदारी, अनुशासनहीन प्रणाली के स्थान पर संयुक्त शक्तियों के क्रमबद्ध उपयोग का साधन होना चाहिए"। वह परिवार के लिए आपका एक स्थायी स्रोत स्थापित करने के पक्षधर थे। इसीलिए वह स्त्रियों को अपने पतियों पर और बच्चों को अपने माता-पिता पर आश्रित रहने के पक्ष में न था परन्तु उसने यह स्पष्ट नहीं किया था कि नयी समाजव्यवस्था किस प्रकार स्थापित होगी। बच्चों की शिक्षा, पालन-पोषण का प्रबन्ध कौन करेगा? उसने यह भी अंकित नहीं किया कि समुदाय के सुख के लिए वित्त कहां से आएगा।

मूल्यांकन:—

ब्रे को कार्लमार्क्स के कई विचारों का पूर्वाभास था। कार्लमार्क्स ने भी उनके लेखों एवं विचारों को अद्भुत बतलाया। उनकी समुदाय वाली योजना ओविन तथा टामसन से अधिक व्यवहारिक थी। समान विनिमय तथा परिवार को धन समर्पण करने के उनके सुझाव अद्भुत एव काल्पनिक अवश्य थे परन्तु व्यावहारिक रूप से असम्भव थे।

जान ग्रे:—(1799–1883)

जान ग्र ने रेपटन में शिक्षा प्राप्त करने के बाद एक लिपिक के रूप में जीवन-प्रारम्भ किया किन्तु बाद में वह लन्दन की एक थोक फर्म का एजेण्ट नियुक्त

उसका अभिप्राय उस धन से था जो सम्पूर्ण समाज के अधिकार मे होता है। अनियन्त्रित प्रतियोगिता के कारण यह धन थोडे से व्यक्तियों के हाथो में ही संचित हो गया था इसलिए उसका सुझाव था कि मजदूरी के लोह नियम के साथ-साथ ब्याज तथा लाभ के लौह नियम भी होना चाहिए। उसके मतानुसार प्रतियोगिता ने उत्पादन के क्षेत्र को नियन्त्रित कर दिया था और उसके मार्ग मे अस्वाभाविक रोड़े उत्पन्न कर दिये थे। बिक्री को प्रोत्साहन करने हेतु जो विज्ञापन दिये जाते है वे असत्य कथन का प्रतिनिधित्व करते हैं। अनियन्त्रित प्रतियोगिता ही निर्धनता की जड है। उनका कथन था कि पूँजी के उपयोग तथा श्रम की उत्पत्ति के वितरण में जो मनुष्यो के हितो का विभाजन हुआ है उसी के कारण समाज में आर्थिक असमानता उत्पन्न हुई है। इसलिए वह चाहता था कि प्रतियोगिता के स्थान पर सहकारिता का प्रयोग किया जाय।

सम्पत्ति की आलोचना—

सम्पति की आलोचना करते समय ग्रे ने कार्लमार्क्स के शब्दों को दोहराया "केवल श्रम ही पूँजी की नीव है तथा पूँजी वस्तुतः संचित श्रम ही है"। उनके अनुसार पूँजीपति वर्ग अथवा स्वच्छन्द वर्ग भी दो प्रकार से आश्रित है-एक तो वह जो दूसरो के श्रम पर आश्रित है दूसरे वह उस अन्याय पर आश्रित है जो उन्होंने दूसरों के श्रम पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए किया है। यह वर्ग स्वयं कोई कार्य नहीं करता है। अतः उसे दूसरों के श्रम पर आश्रित होना पड़ता है। निसन्देह पूँजीपति पदार्थों तथा सेवाओं के बदले मुद्रा देते हैं। परन्तु ग्रे के शब्दों में, "वह मुद्रा जो वह दूसरो, को देते हैं उनकी नहीं होती। यह मुद्रा उनके, श्रम से उत्पन्न नही हुई। यह तो लगान तथा ब्याज द्वारा प्राप्त की जाती है। यह अनुचित है,,। समाज की स्थिति को सुधारने के लिए उन्होंने सुझाव दिया कि प्रत्येक श्रमजीवी को अपने श्रम से निर्मित एवं अर्जित की हुई पूँजी रखने का तथा उसे प्रयोग करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिये। इसी प्रकार मत्र व्यक्ति धनी हो सकते हैं। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि यदि सभी श्रम करें तो चाहे निर्धनता बनी रहे परन्तु समुदाय के लिये पर्याप्त पदार्थ उत्पन्न किये जा सकते हैं।

मूल्यांकनः—

ग्रे प्रतियोगता को निर्धनता का कारण मानते थे। अतः उन्होंने इसके उन्मूलन का सुझाव दिया। उन्होंने सहकारिता पर आधारित समाज के संगठन पर बल दिया और पूँजीपति तथा स्वच्छन्द वर्गों की कटु आलोचना करते हुए कहा कि

अध्याय 4

जीन चार्ल्स सिसमाण्डी

(1773-1842)

जीवन परिचय :—

सिसमाण्डी का जन्म 9 मई सन् 1773 मे जेनेवा (स्वीटजरलैंड) मे हुआ था। आपके वशज मूलतः इटली वासी थे जो सोलहवी शताब्दी मे फ्रांस में आ कर बस गए एव बाद में जेनेवा में बस गए थे। इनके पिता चार्ल्स डिडिएन धार्मिक सुधार मन्त्री थे। सिसमान्डी ने फ्रास की क्रान्ति के आरम्भ होने पर जेनेवा को छोड दिया और ब्रिटेन में जाकर बस गए। उन्होने परम्परावादी शिक्षा प्राप्त की। वे संस्थापित अर्थशास्त्रियों के समकालीन थे। उन्होने नैपोलियन के फ्रासीसी युद्ध व औद्योगिक क्रान्तियां देखी थी। फैक्टरी प्रणाली और पूँजीवाद के विकास की प्रणाली ने अनेक अवदोष उत्पन्न कर दिये थे—कार्य करने के घण्टे, असन्तोषजनक कार्य की दशाएँ, स्त्रियों व बच्चो को नौकर रखना, रहन-सहन का निम्न स्तर निर्धनता आदि। उन्होने बताया कि सन् 1815 व 1828 मे फ्रास व ब्रिटेन में हुई आर्थिक क्रान्तियां आर्थिक उत्पादन के कारण हुई थी। इससे श्रमिकों मे बेरोजगारी व आर्थिक सुरक्षा फैली। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह क्रान्तियां मुख्यरूप से पूँजीवाद के कारण हुई थी क्योंकि इससे आर्थिक असन्तुलन स्थापित हो गया था।

उस समय दो विरोधी प्रवृत्तियां कार्य कर रही थी। एक ओर परम्परावादी अर्थशास्त्रियो ने स्वतन्त्र व्यापार का समर्थन। वैयक्तिक हित व अधिकारों पर बल दिया था और कुछ अर्थशास्त्रियो ने नवीन व्यवस्था स्थापित करने की मांग की जिसके अन्तर्गत संरक्षण को सुरक्षा प्रदान की जा सके। इसके लिए राजकीय हस्तक्षेप व सामाजिक नियोजन की बहुत आवश्यकता थी। सिसमाण्डी का सम्बन्ध दूसरे वर्ग के अर्थशास्त्रियों से था। अर्थशास्त्री के रूप मे उनका स्थान निश्चित करना अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। उनको सकर्मक विचारक कह सकते हैं जो ... र और समाजवाद के मध्य खड़ा दिखाई देते हैं। 15 वर्षों तक वह ऐति... साहित्यिक व राजनीतिक विषयो पर चिन्तन व मनन करने के पश्चात् ...। इसके पश्चात् उसने पुन. अर्थशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया। उनकी...

प्रथम पुस्तक 'राजनीतिक अर्थशास्त्र का अध्ययन' (A Study of Political Economy थी। इस पुस्तक मे उन्होने एक काव्य के रूप मे अपने किरायेदारो के साधारण रिवाजो व आर्थिक दशाओ का चित्रण किया। इससे अधिक महत्वपूर्ण पुस्तक व्यावसायिक धन (Commercial Wealth) का प्रकाशन भी सन् 1803 में किया जिसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से आदमस्मिथ के आर्थिक विचारो का अनुसरण किया।ऐतिहासिक खोज एवं अनुसंधान मे संलग्न रहते हुए महाद्वीपों का 16 वर्षों तक भ्रमण करने के पश्चात् उन्होंने 1719 मे अपनी पुस्तक राजनीतिक अर्थशास्त्र के नए सिद्धान्त (New Principles of Political Economy) प्रकाशित कराई इसपुस्तक के कारण इनकी गणना अर्थशास्त्रियो मे की जाती लगी। यह पुस्तक उस लेख का विकसित रूप थी। जो उन्होने वह पहले एडिनबर्ग विश्वकोष मे प्रकाशित करवाये थे। इस पुस्तक में उन्होने परम्परावादी सिद्धान्तो की मशीन के प्रयोग रूप मजदूरी व पूंजीवाद की आलोचना की। उनकी पुस्तक राजनीतिक अर्थशास्त्र का अध्ययन (Study in Political Economy) 1838 में दो भागो मे प्रकाशित हुई। इस पुस्तको के अतिरिक्त इन्होंने 10 खण्डो मे मध्ययुगीन इटली गणराज्यों का इतिहास (Italian Republics in the Middle Ages) तथा बाद में फ्रांसीसी जनता का इतिहास (History of the French People) 29 भागो में लिखा। उनके निबन्ध 1747 मे राजनीतिक अर्थशास्त्र एवं शासन का दर्शन (Political Economy and the Philosophy of Government) शीर्षक अन्तर्गत प्रकाशित हुई।

सिसमान्डी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं उन्हें प्रभावितकरने वालेतत्व:—
(1) प्रतिष्ठित विचारधारा की कुछ मान्यताओ एवं सिद्धान्तों ने निराशावादी दृष्टिकोण का निर्माण किया। उनकी कठोर व्यक्तिवादी नीति अहस्तक्षेप एवं स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त के विरोध मे प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। सिसमान्डी उक्त सम्प्रदाय के प्रथम आलोचक थे। प्रतिष्ठित विचारधारा की विरोधी प्रतिक्रिया ने सिसमान्डी को समाजवाद के लिए प्रेरित किया। प्रतिष्ठित विचारधारा की अहस्तक्षेप एवं स्वहित की नीति की आलोचना की गयी क्योंकि इसने अनेक संघर्षों को जन्म दिया। अतः प्राचीन व्यवस्था को प्रतिस्थापित करने की माग की गयी एवं सामाजिक नियोजन एवं सरकारी हस्तक्षेप को आवश्यक माना गया। सिसमाण्डी इसी व्यवस्था के प्रतिनिधि थे।

(2) इसके अतिरिक्त कई युगान्त . . . न्डी को प्रभावित किया। उन्होंने अपने च . . . स को राज्य

क्रान्ति, नैपोलियन के युद्ध एवं औद्योगिक क्रान्ति तथा कारखाने प्रणाली की चरम सीमा को भी उन्होंने देखा और अनुभव किया। उन्होंने युद्धोपरान्त होने वाली महामारियों, बेरोजगारी एवं पीड़ा का भलीभांति अनुभव किया। ब्रिटेन की औद्योगिक क्रान्ति का अध्ययन कर श्रमिकों की दयनीय, आर्थिक स्थिति तथा अत्युत्पादन पर विस्तारपूर्वक अध्ययन किया और यह बताया किया कि धनी एवं अधिक धनी एवं निर्धन अधिक निर्धन होते जा रहे हैं। व्यक्ति एवं राज्यों के मूल्य भी औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप पहले बदले। इटली के विचारों से भी अधिक प्रभावित हुआ।

(3) ब्रिटेन एवं फ्रांस में औद्योगिक क्रान्ति एवं नवीन अनुसन्धानों के परिणामस्वरूप बृहत्तर उत्पादन प्रारम्भ हुआ जिसके दो परिणाम हुए —कुछ बड़े औद्योगिक केन्द्रों में श्रमिकों के धन का केन्द्रीयकरण हुआ, और अत्युत्पादन भी होने लगा। बृहत्तर उत्पादन के कारण बच्चों एवं स्त्रियों को कार्य पर लगाकर उनका शोषण किया गया और कार्यों के घण्टों में वृद्धि की गयी। फ्रांस में कार्यों के घण्टे 15 तक निर्धारित हुए थे। ब्रिटेन में सन् 1815 एवं सन् 1818 में अत्युत्पादन के कारण बाजार संकट एव बेरोजगारी का महान संकट उत्पन्न हुआ। साख बाजार के कारण इंगलैंड में अनेक बैंक फेल गए जिससे मौद्रिक बाजार को भारी धक्का लगा।

उपर्युक्त कार्यों से उत्पन्न हुआ आर्थिक संकट एवं गरीबी की ओर कई देशों का ध्यान आकर्षित हुआ और उनका संस्थापक अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों के प्रति विश्वास हिल गया। पतन एव विपत्ति को लाने वाले औद्योगिकवाद के प्रति विचारकों ने विरोध प्रकट किया।

(4) इन परिस्थितियों में निजी एवं सार्वजनिक हितों में सतत सहयोग की भावना को अस्वीकृत कर दिया गया। उपर्युक्त परिस्थितियों को सिसमाण्डी ने सर्वाधिक विरोध किया। सैद्धान्तिक रूप में अपने विश्लेषण में उक्त संकटों का स्पष्टीकरण किया एव व्यवहारिक रूप से श्रमिकों की दशा सुधारने पर बल दिया।

इस प्रकार सिसमाण्डी समकालीन आर्थिक परिस्थितियों से अधिक प्रभावित हुए और बाद में संस्थापक अर्थशास्त्रियों विशेषकर एडमस्मिथ के अनुयायी रहकर अनेक बातों में उनके विरोधी बनकर उनके सामने आए। उन्होंने अपनी तीव्र एव कुशाग्र बुद्धि से [illegible] दुखी एवं पीड़ित देखा तथा इसके लिए श्रम विभा-

जन एवं उद्योगपतियो के अन्वेषणों को दोषी ठहराया अर्थात् यह एक ऐसे चट्टान सिद्ध हुए जहाँ मानव जाति का जहाज टकराकर ध्वस्त हो गया। इसी कारण दु:खी होकर वे यह प्रश्न करने को बाध्य हो गए कि "हम कहाँ जा रहे है ? इस विश्व मे सुखी मनुष्य कहाँ है जहाँ प्रत्येक स्थान पर मनुष्य वस्तुओ की उन्नति देखता है और प्रत्येक स्थान पर मनुष्यों को विपत्ति देखता है"। सिसमाण्डी ने चारो ओर विद्यमान आर्थिक उदारवाद का विरोध किया। उस समय की परिस्थितियो ने उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य किया। यद् भाव्य् नीति एवं स्वतन्त्र प्रतियोगिता के सिद्धान्त ने राजकीय हस्तक्षेप को समाप्त कर दिया था, परन्तु सिसमाण्डी व्यक्तियो के हित में वृद्धि करने के लिए राज्य के हस्तक्षेप को अत्यधिक आवश्यक मानते थे। उनके सिद्धान्त एवं विचार उक्त कल्याण को बढाने में ही सम्बन्धित है।

(5) सिसमाण्डी के समकालीन आर्थिक विचारको का भी उन पर प्रभाव पड़ा। उन विचारको मे रिकार्डो, माल्थस, सीनियर रावर्ट ओविन, जे0 बी0 सेठ ओरिस, फ्रेडिक लिस्ट आदि का नाम प्रमुख है।

सिसमाण्डी के विचार :—

सिसमाण्डी के आर्थिक विचार मुख्य रूप से संस्थापित आर्थिक विचारधारा की आलोचना के रूप मे व्यक्त किये गये है। उन्होने यह बताने का प्रयास किया कि सस्थापित अर्थशास्त्रियो के विचार व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित नही है। सक्षेप कहा जा सकता है कि सिसमाण्डी ने राज- नीतिक अर्थविज्ञान की प्रकृति एव उद्देश्य तथा इसके सैद्धान्तिक क्षेत्र मे अत्युत्पाद के सकट की समस्या का विश्लेषण किया है जो क्रमबद्ध ढग से व्यक्त किया—

(1) राजनीतिक अर्थव्यवस्था का क्षेत्र एवं उद्देश्य—

राजनीतिक अर्थव्यवस्था के क्षेत्र एवं उद्देश्यो को लेकर सिसमाण्डी एवं संस्थापित परम्परावादी अर्थशास्त्रियो की विचारधारा मे विभेद था, परन्तु जहा तक अर्थशास्त्र के सैद्धान्तिक पक्ष का प्रश्न है वहा विरोध नहीं था। उसका विरोध तो सस्थापित सम्प्रदाय के अर्थशास्त्र के उद्देश्य, विधि एवं व्यावहारिक निष्कर्षो से था, जहा सस्थापित अर्थशास्त्री धन एवं उत्पादन को महत्व देते थे। वहाँ सिसमाण्डी के लिए अर्थशास्त्र कुछ और ही था। उसका मूल उद्देश्य तो मानव का भौतिक कल्याण बढ़ाना था। इसके पहले अर्थशास्त्रियो ने इस बात का ध्यान केन्द्रित किया कि राष्ट्रीय सम्पत्ति कैसे बढ़ाई जाय। लेकिन सिसमाण्डी के समक्ष प्रश्न था कि राष्ट्रीय प्रसन्नता मे कैसे वृद्धि की जाय और इसी उद्देश्य को लेकर उन्होंने राजकीय

हस्तक्षेप को आवश्यक बताया। उन्होंने संग्रह का एकमात्र उद्देश्य प्रसन्नता ही माना। इसे वे वास्तविक सम्पत्ति समझते थे। उनका कहना था कि धन पर ध्यान देना एवं मनुष्य को भूल जाना निश्चित ही एक गलत परम्परा का मार्ग है संस्थापित विचारकों ने उत्पादन पर अधिक बल दिया क्योंकि वे इसे उन्नति के लिए आवश्यक मानते थे। परन्तु सिसमाण्डी ने इसकी आलोचना की तथा उपभोग पर ध्यान केन्द्रित किया जिसका उद्देश्य प्रसन्नता प्रदान करना है। उनकी दृष्टि में धन की उपयोगिता उसी समय है जब वह आनुपातिक ढंग से वितरित किया जाय, निरपेक्ष वितरण महत्वहीन है। अपने वितरण की प्रणाली में उन्होंने निर्धन वर्ग को अधिक महत्व दिया जो अधिक संख्या में थे तथा श्रम पर ही उनका निर्वाह आधारित था। धन पर अधिक बल देने के कारण सिसमाण्डी ने संस्थापित विचारों को धन का विज्ञान (Chrematistique) कह कर आलोचना की उनके विचार में भौतिक सम्पत्ति अथवा जन संख्या पूर्णरूप से उन्नति की सूचक नहीं है। उन्नति तो इन दोनों के सम्बन्धों पर निर्भर रहती है। जनसंख्या उसी समय लाभप्रद है जब प्रत्येक व्यक्ति श्रम द्वारा निष्ठापूर्वक जीवन व्यतीत कर सके।

सिसमाण्डी ने राजनीतिक अर्थव्यवस्था का उद्देश्य बताते हुए इस बात पर बल दिया कि व्यक्तियों में धन के उचित वितरण द्वारा मानव कल्याण का मूल लक्ष्य होना चाहिए। यहां कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्र को मानव कल्याण सम्बन्धित करने वाला सिसमाण्डी प्रथम सामाजिक अर्थशास्त्री था। आगे चल कर इसी विचार धारा को अन्य अर्थशास्त्रियों ने संशोधित एवं विकसित किया। मानव कल्याण के दृष्टिकोण को ही वरीयता देकर सिसमाण्डी ने बताया कि सरकार का ध्येय धन-संग्रह नहीं है। उन्हीं के शब्दों में, "सरकार का उद्देश्य अमूर्तरूप में धन का संग्रह करना नहीं है, वरन् राज्य के समस्त नागरिकों द्वारा जीवन के उस आनन्द में भाग लेना है जिसका धन प्रतिनिधित्व करता है"।

इस प्रकार सिसमाण्डी का अर्थशास्त्र नैतिक मूल्यों से प्रभावित था। वे मूलतः एक सुधारवादी अर्थशास्त्री थे तथा अर्थशास्त्र को एक कला मानते थे। इसकी परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा है कि "राजनीतिक अर्थव्यवस्था विस्तृत अर्थ में एक दान का सिद्धान्त है जिसके अन्तिम विश्लेषण का परिणाम मानव की प्रसन्नता को बढ़ाने का नहीं होता है। विज्ञान की परिधि में बिलकुल नहीं आता है"। सिसमाण्डी का राजनीतिक अर्थ व्यवस्था से उतना घनिष्ट सम्बन्ध नहीं था जितना कि सामाजिक अर्थ व्यवस्था से था जिसके आधार पर उन्होंने अर्थशास्त्र के क्षेत्र को व्यापक बना दिया।

(2) अर्थशास्त्र की अध्ययन प्रणाली :—

सिसमाण्डी के अनुसार स्मिथ की अनुयायी ने जिस प्रणाली का उपयोग था वह स्मिथ द्वारा प्रयोग की गयी प्रणाली से भिन्न है क्योंकि सिसमाण्डी इतिहास कर भी थे। अतः उन्होंने अपने विश्लेषण मे मूर्त एवं ऐतिहासिक विधि का योग किया। उन्होने कहा कि "स्मिथ ने प्रत्येक तथ्य का अध्ययन अपने सामाजिक वातावरण के सन्दर्भ मे करने का प्रयास किया और उसकी महान रचना वास्तव में मानव जाति के इतिहास के दर्शनात्मक अध्ययन का ही परिणाम है। उसमें अर्थशास्त्र मे अमूर्त प्रणाली के प्रयोग के लिए डेविड रिकार्डो की निन्दा की और तथ्यों के जागरुक अध्ययन के लिए माल्थस की प्रशंसा की। सिसमाण्डी के अनुसार अर्थशास्त्र एक नैतिक विज्ञान है जिसमे सभी तथ्य एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और जब कभी किसी एक तथ्य का अध्ययन उसको अकेला रखकर किया जाता है, तभी त्रुटि हो सकती है। इसलिए उसका विचार था कि अर्थ विज्ञान के निष्कर्ष अनुभव इतिहास निरीक्षण एव वातावरण पर आधारित होने चाहिए। मानवीय दशाओं एवं समय का ध्यान भी रखना आवश्यक है। उसके लिए मनुष्य तथा परिस्थितियां उनके व्यवसायों और विभिन्न संस्थानों जिनमे वे रहते हैं, मे विस्तृत अध्ययन का विशेष महत्व था। उन्होने रिकार्डो, जी० बी० से व मैकूलस की निगमन प्रणाली अपनाने के कारण आलोचना की। उसके अनुसार इन लेखकों ने कुछ थोड़े से सामान्य सिद्धान्तो की व्याख्या करने मे बड़ी गलती की थी। अतः वह चाहता था कि मनुष्यो के आर्थिक कल्याण पर सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं का जो प्रभाव पड़ा है उसके सादर्भ मे तुरन्त सुधार किये जाय। जब तक अर्थशास्त्री का उद्देश्य व्यावहारिक समस्याओं के लिए उपाय ढूंढना और सुधार विशेष के तथ्यों का विश्लेषण करना है। सिसमाण्डी के तर्क के विरुद्ध कुछ भी कहना सम्भव नही है। यदि अर्थशास्त्र आर्थिक जगत का एक सामान्य चित्र प्रस्तुत करना चाहता है तो उसके लिए अपने उद्देश्यो को अमूर्त प्रणाली की सहायता के बिना पूरा करना सम्भव नही होगा।

(3) वितरण का सिद्धान्त :—

सिसमाण्डी ने वितरण पर बल दिया है। यद्यपि उन्होने धन अर्जित की क्रियाओं का खण्डन किया, किन्तु समाज मे तीन वर्गों के व्यक्तियो की मान्यता प्रदान की—भूमिपति, पूंजीपति व श्रमिक, जिन्हे अपनी सेवाओं के बदले मे लगान, लाभ व मजदूरी क्रमशः मिलती है। उन्होने वार्षिक मालगुजारी व वार्षिक उत्पादन में जो भेद बताया तथा यह कहा कि पिछले वर्ष मालगुजारी तथा जो

यह कहा कि गत वर्ष की मालगुजारी वार्षिक उत्पादन को खरीदने में व्यय की जाती है। यह भ्रमपूर्ण प्रतीत होती है। किन्तु उन्होंने वितरित प्रश्नों के विवाद से जो निष्कर्ष निकाला वह पर्याप्त रूप से स्पष्ट है। उनके शब्दों में उत्पादन व उपयोग में सन्तुलन होना चाहिए और बहुत अधिक या बहुत कम खर्च करने से राष्ट्र नष्ट हो सकते हैं।

(४) पूजी की एकाग्रता :—

सिसमाण्डी का विचार था कि एक राष्ट्र को भौतिक प्रसन्नता के लिए पूजीगत उद्योग आवश्यक हैं। किन्तु वे कुछ लोगों के हाथ में धन की एकाग्रता से सन्तुष्ट नहीं थे। यह अवश्य ही राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के भारी विकास के लिए हानिकारक है। उनकी इच्छा थी कि वह भौतिक सम्पन्नता समस्त समुदाय मे फैल जाय जिससे प्रत्येक पुरुष तथा स्त्री अपना पूर्ण समुचित विकास कर सकें। किन्तु औद्योगिक समाज केवल दो वर्गों के लोगो का पोषण करता है। पूजीपति व उनके श्रमिक। उसने अपनी पुस्तक 'राजनीति अर्थशास्त्र के नए सिद्धान्त' के द्वितीय भाग मे लिखा है, हम पूर्णतः नवीन दशाओं मे रह रहे हैं जिनका कि हमें अभी तक कोई अनुभव नही है। समस्त सम्पत्ति प्रत्येक प्रकार के परिश्रम से दूर जाती हुई दिखाई पड़ती है और यह एक खतरे का चिन्ह है"। इस प्रकार श्रमिक वर्ग की उपस्थिति संसार के लिए एक बड़ी समस्या उपस्थित करती है।

सिसमाण्डी ने पूजी की एकाग्रता के नियम को पूर्णरूप से समझाया है जिसके कारण दरिद्रता उत्पन्न हुई, तथा श्रम से सम्पत्ति अलग होने मे दुष्कर परिणामो को उत्पन्न किया। उन्होने इस बात को स्पष्ट किया कि पूजी की एकाग्रता ने किस प्रकार अन्य वर्ग को निर्धन बना दिया। यह उस मनुष्य की रुचि पर निर्भर है कि वह अपने निकटवर्ती को दरिद्र बनाने के लिए उसे लूटे तथा यह बात दूसरे की रुचि तक सीमित है कि वह उसे ऐसा करने दें, यदि वह अपने जीवन को बचा सकता है। एक श्रमिक की रुचि यह है कि उसकी एक दिन की मजदूरी इतनी हो (10 घण्टे काम करने के बाद) कि वह स्वय का तथा अपने बच्चो की पालन पोषण कर सके। इसी मे समाज का कल्याण है। किन्तु एक बेरोजगार व्यक्ति का काम यह है कि वह किसी भी मूल्य पर रोटी प्राप्त करें। वह एक दिन में 24 घण्टे कार्य कर सकता है अपने 6 वर्ष के बच्चे को फैक्टरी में काम करने भेज सकता है। अपने स्वास्थ्य को एव

जीवन संकट में डाल सकता है तथा अपनी वर्तमान आवश्यकता की पूर्ति के लिए वह अपने वर्ग के अस्तित्व को भी खतरे में डाल सकता है।

(5) प्रतियोगिता —

सम्यापित अर्थशास्त्री स्वतन्त्र प्रतियोगिता के पक्ष में थे तथा उनके मतानुसार स्वतन्त्र व्यापार बहुत लाभप्रद था। किन्तु सिसमाण्डी ने जो निर्धन मजदूरों के दुखों के विषय में भलीभाँति परिचित थे, स्वतन्त्र प्रतियोगिता का विरोध किया। उनका विश्वास था कि यदि उत्पादनकर्ता उपभोक्ताओं की बढ़ती हुई माग को सन्तुष्ट करने के लिए अधिक उत्पादन करना चाहते है तो प्रतियोगिता आवश्यक है। किन्तु ऐसा कदाचित ही हुआ। प्रतियोगिता उस समय न्यायसंगत नहीं जब मांग और उपयोग का स्तर निश्चित था क्योंकि उस अवस्था में पूंजीपति वर्तमान बाजार पर नियन्त्रण पाने के लिए प्रतियोगिता करते थे। यह बात स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रतियोगिता मे छोटे-छोटे उत्पादनकर्ताओं का कोई स्थान नहीं था। उद्योगपतियों को उत्पादन व्यय कम करना पड़ा जिसके लिए उन्होने अनेक साधन प्रयुक्त किए जैसे युक्तिकरण, व्यवसाय विश्लेषण, स्त्रियों व बच्चों को नौकर रखना, मजदूरी मे कमी तथा काम करने के घण्टों मे वृद्धि। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि मध्यमवर्ग की समस्त श्रेणियां विलीन हो गयी हैं तथा छोटे व्यापारी, खेत पर काम करने वाले किसान, शिल्पकार, छोटे निर्माणकर्ता, कुटीर उद्योगपति सब उन लोगों की प्रतियोगिता के सामने नहीं ठहर सके जिनका बड़े उद्योगों पर आधिपत्य है। ऐसी प्रतियोगिता एक सामाजिक बुराई है। सिसमाण्डी के इस कथन मे समाजवाद की झलक मिलती है। वे प्रतियोगिता को दोधार वाली तलवार मानते हैं और इस प्रकार सरकार नियन्त्रण को आवश्यक मानते है। अतः सिसमाण्डी असीमित प्रतियोगिता को नियन्त्रित करने के पक्ष में थे।

(६) उत्पादन का आधिक्य :—

संस्थापित आर्थिक सिद्धान्त ने उत्पत्ति के परिभाषा को बाजारी कीमत पर आधारित करके उत्पादन व माग के बीच स्वचालित सतुलन स्थापित किया। यह संस्थापित अर्थशास्त्रियों के लिए अधिक उत्पादन सम्पन्नता का द्योतक था परन्तु सिसमाण्डी इस विचार से सहमत नहीं थे। उनका विश्वास था कि पूंजीवादी उत्पादन की दशाओं मे कुछ मूलभूत दोष है जिससे उत्पादन मे वृद्धि होने के साथ जन साधारण एवं विशेष कर श्रमिकों के कल्याण मे कोई वृद्धि

नही होती है। इस सम्बन्ध में उनका मुख्य सिद्धान्त उन बुराइयों पर आधारित है जो अति उत्पादन के कारण पैदा होती है और जिसके परिणामस्वरूप वस्तुओं का अत्युत्पादन होता है जिनके लिए कोई मांग नहीं होती है। यह अत्युत्पादन केवल कुछ वस्तुओं का न होकर सामान्य प्रकार का होता है जिसमें सारी वस्तुएं सम्मिलित रहती है। वे इसे श्रम विभाजन एवं बड़े पैमाने के उत्पादन का परिणाम मानते है। सिसमाण्डी ने यह माना है कि यदि किसी विशेष समय में किसी वस्तु की पूर्ति मांग से कम है तो पूर्ति आसानी से बढाई जा सकती है और इससे समाज में सबको लाभ होता है, किन्तु यदि पूर्ति मांग से अधिक हो जाती है तो उसे शीघ्र घटा कर मांग के बराबर नही किया जा सकता है और इसके दीर्घकाल में फलदायक परिणाम होते हैं।

सिसमाण्डी के अनुसार जब व्यक्ति अलग रहकर स्वयं अपने लिए उत्पादन करता है तो वह भलीभांति जानता है कि कितना उत्पादन करना चाहिए। अत अत्युत्पादन की समस्या उत्पन्न नहीं होती है। लेकिन समाज मे जो दूसरो के लिए उत्पादन करता है और उसे कुल आवश्यकता का भली-भांति ज्ञान नहीं हो पात। अतः वह अत्युत्पादन की सीमा पर पहुँच जाता है। उसके अनुसार मनुष्य जो भी संग्रह करता है उसका उद्देश्य आनन्द प्राप्त करना है। अतः इस दृष्टि से उपभोग करने की शक्ति से अधिक संग्रह करना व्यर्थ है। आगे वे कहते हैं कि सामाजिक ढंग की उत्पादन प्रणाली में श्रमिकों के प्रयत्न उनके पारिश्रमिक से अलग हो जाते हैं जिसका दुष्परिणाम यह होता है कि एक व्यक्ति श्रम करता है तो दूसरा आराम करता है।

सिसमाण्डी के मतानुसार यदि वस्तु को पूर्ति यथेष्ट नही है और उससे मांग पूरी नही हो सकती तो उत्पादन की वृद्धि वांछनीय एवं सबको लाभप्रद होती है। परन्तु आवश्यकताएं कम गति से बढती हैं तो अत्यधिक बढती हैं तो अत्यधिक बढ़ती हुई उत्पादन की मात्रा पर नियन्त्रण सम्भव नहीं हो पाता है। अत्युत्पादन होने पर भी श्रम और पूजी उसी उद्योग में लगी रहती हैं और पहले की तुलना मे घटी हुई मजदूरी पर अधिक घण्टे कार्य करते हैं जिससे उत्पादन अधिक बढ़ता है। सिसमाण्डी का कहना है कि चूकि सामाजिक उपभोग की सीमा स्पष्ट नही हो पाती। लोग उत्पादन के लिए प्रोत्साहित होते हैं जिससे प्रत्येक उद्योगपति प्रेरित करता है और प्रत्येक सरकार प्रोत्साहन देती है। सही अर्थों में मांग के अनुसार ही उत्पादन होना चाहिए परन्तु वास्तविक स्थिति इससे भिन्न और विपरीत होती है। उत्पादक केवल यही सोचता है कि क्या वह अधिक

उत्पादन करने को समर्थ है। यह नहीं सोचता कि उत्पादित वस्तु की मांग है अथवा नहीं। उनके पास उपलब्ध पूंजी की मात्रा ही उत्पादन की मात्रा निर्धारित करती है। फिर वह तथ्य कि उत्पादन को समुचित करने की अपेक्षा उसे बढ़ाना सरल होता है। इस स्थिति को और भी भयावह बना देता है।

मशीनों का दोष :—

सिसमाण्डी परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के इस विचार से सहमत नहीं था कि मशीनों का उपयोग राष्ट्र के लिए लाभप्रद होता है। उन लोगों के अनुसार मशीनों के उपयोग से कम लागत पर अधिक उत्पादन प्राप्त होता है जिससे उपभोक्ताओं को लाभ होता है और उन लोगों को रोजगार प्राप्त हो जाता है जो मशीनों के उपयोग के कारण बेकार हो गये थे। सिसमाण्डी का विश्वास था कि "सैद्धान्तिक दृष्टि से दीर्घ काल में सन्तुलन स्थापित हो जायगा परन्तु उसने कहा कि मशीनों का तुरन्त परिणाम यह होता है कि वे कुछ श्रमिकों को नौकरी से बाहर कर देता है, अन्य श्रमिकों में प्रतियोगिता तीव्र हो जाती है, और इस प्रकार सभी मजदूरियां कम हो जाती हैं। परिणामस्वरूप उत्पादन का स्तर गिर जाता है और मांग कम हो जाती है। सदैव ही लाभप्रद होने के स्थान पर मशीनों का परिणाम उसी समय अच्छे होते है जब कि उनके उपयोग से मांग में वृद्धि होती है तथा बेकार व्यक्तियों को नया कार्य मिल जाता है। मनुष्य के स्थान पर मशीन के उपयोग का कोई भी विरोध नहीं करेगा, यदि उस मनुष्य को किसी दूसरे स्थान पर रोजगार प्रदान कर दिया जाये।" सिसमाण्डी इस विचार से भी सहमत नहीं थे कि उत्पादन स्वयं अपनी मांग उत्पन्न कर लेता है। वह आविष्कारों के प्रति विरुद्ध था क्योंकि उसका विश्वास था कि इनके अच्छे परिणाम नहीं होते, अर्थात् इनके द्वारा मनुष्य की बुद्धिमत्ता श्रम शक्ति तथा स्वास्थ्य एवं सुख का ह्रास होता है। मनुष्य को तो केवल एक ही लाभ होता है और वह यह कि उसकी धन उत्पन्न करने की शक्ति में वृद्धि हो जाती है। आविष्कारों से श्रम की मांग भी कम हो जाती है। यह ध्यान रहे कि सिसमाण्डी सभी प्रकार के आविष्कारों के विरुद्ध नहीं था। वह उन आविष्कारों के पक्ष में था जिनसे मांग की सन्तुष्टि होती है या बाजार का विस्तार होता है।

सिसमाण्डी के सामने एक समस्या यह थी कि श्रमिक तथा समाज को आविष्कारों तथा मशीनों के दोषों से कैसे बचाया जाये? उसका सुझाव था कि

आविष्कार करने वालों को विशेष अधिकार न दिये जाय। बड़े पैमाने के उत्पादन से श्रमिकों को होने वाली हानियों से वह भलीभांति परिचित था। अतः उसने कहा कि मशीनों के प्रयोग से केवल श्रमिकों के बेकारी ही उत्पन्न नहीं होती वरन् उनको मशीनों के लाभों का बहुत थोड़ा भाग ही प्राप्त हो पाता है। परम्परावादी सम्प्रदाय तो इसी बात से सन्तुष्ट था कि श्रमिकों और उपभोक्ताओं को सस्ती वस्तुयें प्राप्त हो जाती हैं। किन्तु सिसमाण्डी इस बात से सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने कहा कि वर्तमान परिस्थितियों में, अत्यधिक जनसंख्या के दबाव और इस प्रकार श्रमिकों में कड़ी प्रतियोगिता के कारण मशीनें उनको अवकाश प्रदान करने के स्थान पर प्रतियोगिता को सुदृढ़ करती है, मजदूरियों को कम करती हैं और काम के घण्टों को बढ़ाती है। स्त्रियों तथा बच्चों को प्रतियोगिता का सबसे अधिक भार सहन करना पड़ता है। उसके थोड़े से भुगतान के लिए दिन रात काम करना पड़ता है। इस प्रकार उपभोक्ताओं को प्राप्त होने वाले लाभ की अपेक्षा श्रमिकों को कहीं अधिक कष्ट सहन करना पड़ता है प्रतियोगिता श्रमिकों की शक्ति को चूस लेती है। और उनके जीवन को जोखिम में डाल देती है। उनके विचारों के आधार पर हम उसे समाजवादी कह सकते हैं। कहीं-कहीं उसके विचार अन्य समाजवादी विचारकों से मिलते-जुलते हैं। कई स्थानों पर उन्होंने ऐसे वाक्यों का प्रयोग किया जिससे यह प्रतीत होता है कि वह परम्परवादियों की अपेक्षा समाजवादियों के अधिक निकट थे। उन्होंने कहा हम "कह सकते हैं कि आधुनिक समाज श्रमजीवियों को क्षति पहुँचा कर जीवित रहता है और उसके प्रतिफल को कम कर देता है"। एक दूसरे स्थान पर उसने लिखा है कि अपहरण वास्तविकता में ही उपस्थित है, क्या हम यह नहीं पाते कि धनी निर्धनों को लूट रहे हैं ? वे अपनी आय से उन उपजाऊ तथा सरलता से खेती हो सकने वाली भूमि को प्राप्त करते हैं जबकि किसान जो उस आय को उत्पन्न करता है, भूख से लड़ रहा है और उसे कदापि भी उसका आनन्द उठाने की आज्ञा नहीं दी जाती"। इन वाक्यों से स्पष्ट होता है कि उसे" अतिरिक्त मूल्य के विचार का कुछ ज्ञान था, किन्तु वास्तविकता कुछ और है। वह यह तो समझता था कि जो आय भूमिपतियों तथा पूंजीपतियों को प्राप्त होती है, उनके परिश्रम का परिणाम नहीं होती। उसने श्रम की मजदूरी तथा स्वामियों की आय में ठीक ही भेद किया था किन्तु वह दोनों को ही उचित समझता था। जब सिसमाण्डी ने यह कहा कि श्रमिक को लूटा जा रहा है तो उसका अर्थ यह था कि कभी-कभी श्रमिकों को पर्याप्त भुगतान नहीं किया जाता। उन्होंने कहीं भी इसका विरोध नहीं किया कि पूंजीपति साम-

जिक उत्पत्ति के एक भाग को क्यों हड़प लेते हैं। इसी से सिद्ध हो जाता है कि वह अतिरिक्त मूल्य के विचार से परिचित नही थे।

जनसंख्या सम्बन्धी विचार :—

सिसमाण्डी ने जनसंख्या के सम्बन्ध में माल्थस से विभिन्न विचार प्रस्तुत किये हैं। उनके अनुसार जनसंख्या जीवन निर्वाह के साधनो द्वारा सीमित नही होती परन्तु कार्य एवं मजदूरी पाने की असमर्थता ही इसे सीमित करती है। दूसरे शब्दों मे, आय द्वारा सीमित होती है। सिसमाण्डी के इस कथन मे माल्थस से विरोध दिखायी नही देता परन्तु आगे चलकर उन्होने माल्थस के बिलकुल विपरीत विचार प्रकट किये हैं। सिसमाण्डी के अनुसार श्रम की माग पर ही जनसंख्या निर्भर रहती है। रोजगार एव आय की पूर्णसुरक्षा होने पर लोग विवाह करते है। एव बच्चे पैदा करते हैं। परन्तु आधुनिक समाज का दोष ही यह है कि लोगो को रोजगार की कोई सुरक्षा नही हैं और अस्थिरता के कारण वे अपनी आर्थिक स्थिति से अवगत नही हो पाते, अत जो बच्चे पैदा होते हैं उनके लिए कोई प्राविधान नहीं रहता।

सिसमाण्डी के अनुसार जब तक श्रमिक आर्थिक रूप से समर्थ नहीं होता, वह विवाह नही करता एव अपनी आय के अनुसार ही अपने परिवार का अनुपात रखता है। परन्तु औद्योगिक अस्थिरता उनकी दूरदर्शिता को असफल बना देती है एव मशीनो के उपयोग से उनमे बेरोजगारी फैलती है। भयावह स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जब देश की जन्मदर उसकी आय से अधिक बढ़ जाती है, एवं अत्युत्पादन असमान सम्पत्ति, धनी वर्ग, द्वारा शोषण के कारण आय का अतिक्रमण होता है एव मजदूरी कम हो जाती है। परिणाम यह होता है कि श्रमिको की आय की गणना स्थिर नही रह पाती और उसे उनकी जानकारी के बिना दूसरों के द्वारा परिवर्तित कर दिया जाता है। उद्यमी स्वय गलत गणना कर सकता है। इस प्रकार जीवन क्रम मे श्रमिक इसी से सन्तुष्ट हो जाते हैं कि उनके बच्चे भी वही करें और विवश होकर वे सात वर्ष मे ही मजदूरी करना प्रारम्भ कर देते हैं। निष्कर्ष यह होता है कि विवाह पर रोक समाप्त हो जाती है तथा ऐसे बच्चे उत्पन्न हो जाते हैं जिनके लिए समाज के पास कोई प्राविधान नही होता। जनसंख्या के उचित सामंजस्य के लिए श्रमिकों की मांग नियमित एव निरन्तर रूप से होना चाहिए।

अतः सिसमाण्डी के अनुसार स्पष्ट है कि अत्यधिक जनसंख्या अस्थिरता का परिणाम है एवं अस्थिरता का कारण अत्युत्पादन तथा औद्योगिक क्रांति के युग की खोजें हैं। जनसंख्या को नियन्त्रित करने के लिए सिसमाण्डी ने कठोर उपायों की ओर संकेत किया है। यहां तक कि वे निर्धनों के विवाह पर प्रतिबन्ध लगाने को तैयार थे। जहां तक कृषक जनसंख्या का सम्बन्ध है, सरकार का उद्देश्य श्रम एवं सम्पत्ति का समन्वय करना होना चाहिए एवं विवाह का आधार सम्पत्ति का रहना चाहिए। सरकार का उद्देश्य श्रमिकों को भयंकर एवं निर्धनता की स्थिति से बाहर निकालना होना चाहिए और जब तक वे एक विशेष स्थिति प्राप्त नहीं कर लेते, उनके विवाह पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए। इस प्रकार सिसमाण्डी ने जनसंख्या पर विशेष बल दिया और बताया कि जहां तक जनसंख्या पर प्राकृतिक नियन्त्रण का प्रश्न है, माल्थस ने इस सम्बन्ध में गलत विचार प्रस्तुत किये।

सरकार का हस्तक्षेप :-

हितों का समन्वय एवं सरकारी हस्तक्षेप के सम्बन्ध में सिसमाण्डी के विचारों में विरोधाभास मिलता है। इन दोनों सिद्धान्तों में पहले इनका पूर्ण विश्वास था। इन्हीं के शब्दों में जब 'व्यापार स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है तो पूंजी उसी दिशा में प्रवाहित होती है जो देश के लिए सर्वाधिक लाभप्रद रहती है'। इसी प्रकार सब मनुष्य अपने स्वयं के हितों की ओर सामाजिक हित की अभिवृद्धि करते हैं, परन्तु बाद में चलकर सिसमाण्डी सरकारी हस्तक्षेप के समर्थक बन जाते हैं एवं हितों के समन्वय में उनका विश्वास स्थायी नहीं बना रहता। सरकारी हस्तक्षेप को आवश्यक बताते हुए सिसमाण्डी कहते हैं कि "[illegible]

और कोई चारा नही रह गया है सिसमाण्डी के शब्दों ने, प्राकृतिक गति में छोड़ देने पर हितो का संघर्ष अन्याय की विजय की ओर ले जाता है क्योंकि इसका विरोध न करना निर्बल वर्ग के हित मे लेता है। इसके पश्चात् वह इस निष्कर्ष पर आते है कि सरकार का क्या कार्य होना चाहिए। अपने हित की भागदौड़ मे प्रत्येक व्यक्ति मशीनो की गति को बढ़ा देता है। अतः सरकार का कार्य उसकी गति को धीमी एवं नियमित करना होना चाहिए, चूंकि वर्तमान समाज में बुराई का कारण श्रमिको के पास सम्पत्ति का अभाव एवं आय की अनिश्चितता है, अतः सरकारी हस्तक्षेप इस दिशा मे किया जाना चाहिए।

आर्थिक संकट :—

सिसमाण्डी ने पूंजीवादी उत्पादन का बड़ा सुन्दर अवलोकन किया है। उसके अनुसार औद्योगिक समाज दो वर्गों मे विभक्त हो गया है अर्थात् वह वर्ग जो धनी होता है। मध्यम वर्ग धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है। अतः अन्त में श्रमिक और पूंजीपति ही रह जाते है। उनका कहना है कि हम एकदम नयी परिस्थितियों मे रह रहे है जिनका अभी तक हमको अनुभव नही है। सम्पत्ति, सभी प्रकार के श्रम से दूर होती जाती है और यही सबसे बड़ा चिह्न है। इन दो वर्गों की उपस्थिति तथा उनका पारस्परिक विरोध ही श्रमिको की कठिनाइयों और आर्थिक संकटो का मूल कारण है। उनके मतानुसार श्रमिकों की कठिनाइयां उनकी अत्यधिक संख्या के कारण होती है। पूंजी की बढ़ती हुई श्रेष्ठता तथा अपनी-अपनी प्रतियोगिता के कारण ही श्रमिक सम्पत्ति से दूर हो गये है। प्राचीन समय मे श्रमिक स्वतन्त्र था। उसको अपनी आय का पूरा ज्ञान रहता था और उसी के अनुसार वह अपने परिवार को सीमित रखता था क्योंकि अब वह सम्पत्ति से दूर हो गया है और पूंजीपतियो की नौकरी करता है, उसको अपनी आय की सीमा का ज्ञान नहीं रहता। दूसरी ओर स्वामी को अपनी वस्तु की मांग का ज्ञान नही रहता। उसको यह भी नहीं विदित रहता कि उसे उत्पादन के लिए कैसे श्रमिक चाहिये। वह दूरदर्शिता से भी कार्य नहीं लेता। परिणामतः वह श्रमिको का त्याग कर देता है।

सिसमाण्डी के अनुसार जनसंख्या औद्योगीकरण से नही वरन् उस उत्पादन से सीमित होती है जो व्यक्ति प्राप्त करते है। अधिक जनसंख्या ने दरिद्रता को जन्म दिया है जो स्वयं औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न होने वाले अनुपातहीन

कारों का परिणाम थी। श्रम पूँजीपतियों पर निर्भर रहता है। अतः वह
के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने में बाधक बनता है और श्रमिक
से पूँजीपतियों पर आश्रित रहते हैं। सिसमाण्डी ने विशुद्ध तथा कुल
मे भेद करते हुए कहा कि यदि भूमि पर कृषकों का सामूहिक स्वामित्व
उनको अपनी आय का ज्ञान रहता और वे कभी भी कुल उत्पादन को
सीमा से कम नही होने देते जो उनके निर्वाह के लिए आवश्यक है, परन्तु
थतियाँ परिवर्तित हो चुकी है और बड़े-बड़े भूस्वामियों को केवल शुद्ध
त्त की ही चिन्ता रहती है और वे कुल उत्पत्ति की ओर कोई ध्यान
देते।

इस प्रकार सिसमाण्डी के मतानुसार श्रमिकों और भूस्वामियों के परस्पर
रोधी हितों के कारण आर्थिक सकट उत्पन्न होते हैं। आर्थिक संकटों का एक
ारण यह भी है कि उत्पादकों का बाजार का सही ज्ञान नहीं होता और उनकी
क्रयाओं का निर्देशन बाजार में वस्तु की माग द्वारा न होकर पूँजी की उस मात्रा
से होता है जो उनके पास होती है। उसने आय के असमान वितरण को सबसे
अधिक महत्व दिया जाता है कि श्रम से सम्पत्ति के अलग हो जाने के कारण
है। परिणामत इन दोनों मे संघर्ष आरम्भ हो जाता है। धनी वर्ग की आय मे
भूस्वामियों की आय निरन्तर बढती जाती है और श्रमिकों की आय न्यूनतम रहती
है। वृद्धि होने के कारण सुन्दर वस्तुओं की माग बढती जाती है और जीवन की
साधारण वस्तुओं की माग कम होती जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि
विलासिता युक्त वस्तुओं के उत्पादन शीघ्र ही नहीं बढाया जाता तो उनका आयात
किया जाता है। इन सबके परिणामस्वरूप देश के औद्योगिक ढांचे में गड़बडी
उत्पन्न हो जाती है। पुराने उद्योग समाप्त हो जाते हैं और नये उद्योग शीघ्र
ही विकसित नही हो पाते। इसी बीच के काल में श्रमिकों को नौकरी से निकाल
दिया जाता है। वे अपने उपभोग को कम करने लिये विवश हो जाते हैं और
अन्त मे आर्थिक संकट उत्पन्न हो जाते हैं।

संकटों के विषय में सिसमाण्डी की व्याख्या अति उत्तम नहीं है। फिर भी उस
एक ऐसी विलक्षण घटना का स्पष्ट कारण करने का प्रयत्न किया है जिसके वि
में परम्परावादी अर्थशास्त्री केवल इसलिए उदासीन रहे कि वे सोचते थे कि द
काल में सन्तुलन अवश्य ही स्थापित हो जायेगा। उसने वार्षिक आय मे भेद
था और इस बात पर बल दिया था कि किसी भी वर्ष का उत्पादन गत व
जाता है। अतः स्पष्ट है कि वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं

सब जानते हैं कि किसी भी वस्तु की वास्तविक माँग होती है और दोनों एक दूसरे के समान होते हैं। विभिन्न वर्गों की उत्पत्ति का विनिमय नहीं होता वरन् एक ही वर्ग की विभिन्न वस्तुओं का विनिमय किया जाता है।

अनेक आन्दोलन के प्रणेता :—

सिसमाण्डी ने परम्परावादी शाखा के कुछ मुख्य विचारों की कटु आलोचना की थी। यही नहीं उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण नये विचार भी दिये थे। ये सब विचार बाद में आनेवालों के जितना प्रभाव विभिन्न समाजवादी चिन्तकों पर पड़ा। समाजवादी चिन्तकों के विचारों में स्पष्ट छाप सिसमाण्डी की पायी जाती है। इसी आधार पर वे सरकार को श्रम कानून निर्मित करने का परामर्श देते हैं। सहकारिता का प्रचुर प्रयोग अपनाने पर बल देते हैं। मानवीय परम्परावादी शाखा के प्रमुख विचारक मिल, रस्किन आदि पर भी सिसमाण्डी का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। उन्होंने सिसमाण्डी की भाँति अर्थशास्त्र की नयी परिभाषा दी है। ऐतिहासिक शाखा के प्रमुख विचारक रोशर, हिल्डेब्राण्ड और श्मोलर भी सिसमाण्डी से प्रभावित हुए तथा उन्होंने निगमन प्रणाली के स्थान पर अनुगमन प्रणाली का प्रयोग किया और अपने मत की पुष्टि के लिए ऐतिहासिक घटनाओं का आश्रय लिया। नव परम्परावादी शाखा के जनक मार्शल ने सिसमाण्डी से प्रेरणा पाकर अर्थशास्त्र के अध्ययन में मनुष्य के कल्याण पर जोर दिया। समाजवादी भी सिसमाण्डी के अति उत्पादन एवं सरकारी हस्तक्षेप के विचारों से अत्यधिक प्रभावित थे। तभी तो सिसमाण्डी से आगे बढ़ कर जनहित उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की माँग की। मार्क्सवादी विचारक सिसमाण्डी से अत्यधिक प्रभावित हुए और इन्होंने सिसमाण्डी के अनेक तत्वों का प्रयोग किया।

मूल्यांकन :—

सिसमाण्डी प्रथम आलोचक थे जिनका सामना प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों को अपने निजी पथ में करना पड़ा। उन्होंने परम्परावादी सिद्धान्तों की कटु आलोचना की जिससे कुछ नये सिद्धान्तों का जन्म हुआ। अर्थशास्त्र के अध्ययन की ऐतिहासिक प्रणाली पर बल दिया और निगमन प्रणाली को अपूर्ण माना। उसके आर्थिक विश्लेषण में आर्थिक समष्टिवाद की स्पष्ट छाप है जिसे अर्थशास्त्री जे० एम० केन्स ने ग्रहण किया।

इसका विशेष योगदान उन सिद्धान्तों के निरूपण में है जिन्हें प्रतिष्ठित विचारकों द्वारा भुला दिया गया था। उन्होंने वितरण के क्षेत्र में व्यक्तिगत एवं

अध्याय 5

फ्रान्सीसी समाजवादी विचारक

फ्रान्सीसी समाजवादी भी आवश्यक रूप से अपने सामाजिक एवं राजनीतिक वातावरण की ही उत्पत्ति थे। फ्रान्सीसी क्रान्ति के पश्चात् का काल फ्रान्स में समाजवादी विचारों के विकास के लिए अत्यन्त अनुकूल था। यद्यपि फ्रान्सीसी क्रान्ति ने राजनीतिक समानता स्थापित कर दी थी फिर भी आर्थिक समानता नाममात्र को भी न थी। अब भी वहां पर भूमि तथा उत्पत्ति के अन्य साधनों पर निजी स्वामित्व था। राजतन्त्र के पतन के पश्चात् फ्रान्स में औद्योगीकरण की गति तीव्र हो जाने के कारण अनेक समस्यायें उत्पन्न हुईं जो मुख्यतया बड़े कारखाने से संबन्धित थीं जैसे श्रमिकों के कार्य घण्टे अधिक थे, मजदूरी कम थी और बेकारी बढ़ गयी थी। इन समस्याओं को तुरन्त सुलझाने के लिए मनुष्य आतुर हो उठे। कुछ का विचार था कि पूंजीवादी प्रणाली का अन्त करके इन समस्याओं का समाधान किया जा सकता था और कुछ सोचते थे कि इसका एकमात्र उपाय राज्य नियमन ही था। कुछ अन्य के अनुसार श्रमिकों के ऐच्छिक संगठनों द्वारा स्थिति को सुधारा जा सकता है। ये सभी व्यक्ति बुद्धिमान और आदर्शवादी थे और समृद्ध परिवारों से सम्बन्धित थे।

बैम्यू :—

बैम्यू पूर्णसमानता स्थापित करना चाहता था किन्तु वह अपने उद्देश्य की पूर्ति शान्तिपूर्ण ढंग से नहीं धीरे-धीरे करना चाहता था। पहले वह नियमों तथा संस्थानों और उसके बाद व्यक्तियों की सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करना चाहता था। उसका विचार था कि व्यक्तियों की सम्पत्ति को उनकी मृत्यु के पश्चात् राज्य के अधिकार में लिया जावे। उसको विश्वास था कि ५० वर्षों में सभी सम्पत्ति राज्य के अधिकार में आ जायगी। राज्य निर्वाचित व्यक्तियों द्वारा उत्पादन तथा वितरण का संगठन करेगा। इन व्यक्तियों को सर्वशक्तिमान होने से रोकने के लिए उसका सुझाव था कि ये व्यक्ति अपने पदों पर बारी-बारी से काम करें और इनको भी अन्य श्रमिकों की भांति भुगतान किया जाय। बैम्यू के विचार स्वतन्त्र थे लेकिन सोवियत व्यवस्था से बहुत कुछ मिलते जुलते थे। वह विभिन्न राज्यों में जनसहयोग के प्रयास के पक्ष में था। उसका विचार था कि राजनीतिक अधिकार केवल उन्हीं व्यक्तियों को दिये जाय जो ऐसे कार्य करें जो राज्य के

लिए उपयोगी हों। वह बच्चों को माता पिता से बिलकुल अलग रखकर समानता तथा साम्यवाद के सिद्धान्तों का अध्ययन करना चाहता था। उसके अनुसार समुदाय के सभी सदस्य एक जैसा खायेंगे, एक जैसा पहनेंगे और एक जैसा रहेंगे। वह साहित्य एवं ललित कलाओं की अपेक्षा व्यावहारिक तथा उपयोगी कलाओं को अधिक प्राथमिकता देने के पक्ष में था।

कैबे:—

कैबे भी पूर्ण समानता के प्रबल समर्थक थे। वह एक फ्रान्सीसी पत्रकार थे। उसने अपने विचारों को बड़ी सुन्दरता से आइकेरिया की यात्रा मे प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में उसने एक काल्पनिक देश के भ्रमण की व्याख्या की है जहाँ पर बहुत बड़े पैमाने पर उद्योगों का संगठन राज्य द्वारा किया जाता है। यह देश अनेक प्रान्तों मे विभाजित है और प्रत्येक प्रान्त 10 में कानून हैं राजधानी वाला नगर प्रान्त के ठीक बीच में है। राजधानी नगर अनेक खण्डों में विभाजित है। प्रत्येक खण्ड में 15 मकान हैं। उद्योग की उत्पत्ति का श्रमिक में समान वितरण कर दिया जाता है। उद्योगों की व्यवस्था कुछ चुने अधिकारियों द्वारा की जाती है। सभी नागरिक एक जैसे वस्त्र पहनते हैं श्रमिकों को सात घण्टे काम करना पड़ता है और उनको 65 वर्ष की पर अवकाश दे दिया जाता है। राज्य की आज्ञा के बिना कोई भी लेख प्रका नहीं किया जाता। वह अपनी योजना से इतना उत्साहित था कि वह अमे गया और उसने टक्सास और इलिनोसिस मे ऐसे ही उपनिवेश स्थापित किन्तु उसके प्रयोग सफल नहीं हुए।

काउण्ट हेनरी डी सेन्ट साइमन (1760–1825) :—

सेन्टसाइमन का जन्म सन् 1760 में पैरिस मे एक उच्च कुल में उनका पालन-पोषण भी राजकुमारों की भाँति हुआ। प्रारम्भ से ही साइमन स्वतन्त्र विचारों एवं क्रान्तिकारी प्रकृति के थे। वे अपना स शार्लेमान से जोड़ते थे। सन् 1778 में ये फ्रान्स की सेवा मे भर्ती उसी समय अमेरिका जाकर इन्होंने स्वतन्ता की पाँच लडाइयों मे भाग यहाँ आप स्वतन्त्रता के नवीन विचारों के अनुयायी हो गये। फ्रान्स लौ इन्हे अंग्रेजों ने बन्दी बना लिया। मुक्त होने पर ये मैक्सिको गये औ वायसराय को पनामा नहर के निर्माण का सुझाव दिया। वास्तव में के निर्माण का श्रेय सेन्ट साइमन को ही मिलना चाहिए।

इसके पश्चात् जब वे फ्रान्स लौटे तो वहाँ क्रान्ति होने वाली थी। अतः उसने क्रान्ति से पूर्व ही 'काउण्ट' की उपाधि को त्याग दिया और अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति भी बैठे। इसका उन पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा और क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हो गये। उग्रवादियों को उसमें विश्वास नहीं था। इसलिए इनको जेल भेज दिया गया। जेल से निकलने के बाद उसने अपने को मसीहा समझना प्रारम्भ कर दिया। वह नवीन वातावरण से अत्यधिक प्रभावित हुए क्योंकि जीवन की नैतिक, राजनीतिक और भौतिक परिस्थितियों में तीव्र प्रगति हो चुकी थी और प्राचीन विचार लुप्त हो चुके थे। किन्तु कोई ऐसी प्रणाली नहीं मालूम की जा सकी थी जो उसके स्थान पर स्थापित की जा सकती थी। वे अपने साथी पूंजीपतियों के सहयोग एवं सहायता से एक बड़ा बैंक स्थापित करना चाहते थे, जिसके कोषों का उपयोग वह सार्वजनिक उपयोगिता वाले कार्यों के लिए करना चाहता था। शान्ति तथा सार्वजनिक विश्वास की स्थापना के लिए वह इस कार्य को अत्यधिक महत्वपूर्ण समझता था। ज्ञान की खोज में अपना धन अपूर्व ढंग से व्यय करने लगे। गृहस्थी सम्बन्धी नियमों को समझने के लिए उन्होंने एक अस्थायी विवाह किया जो असफल हो गया। लापरवाही से धन व्यय करने के लिए इसके लिए भयंकर परिणाम निकले और वे पूर्णरूप से निर्धन हो गये और बाध्य होकर पहले तो इन्हें लिपिक पद पर कार्य करना पड़ा और फिर भोजन तथा निवास के लिए अपने एक पुराने सेवक की दया पर निर्भर रहना पड़ा। जीवन से निराश होकर इन्होंने सन् 1825 में गोली मार कर हत्या करने का प्रयत्न किया लेकिन सफल नहीं हुए किन्तु ज्ञान प्राप्ति की इच्छा और इनको स्वाभिमान में कोई अन्तर नहीं आया। सन् 1825 में उनकी मृत्यु हो गयी।

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में सेन्ट में साइमन ने दर्शन शास्त्र एवं अर्थशास्त्र का गहन अध्ययन किया।

रचनायें :—सेन्ट साइमन की महत्वपूर्ण रचनायें ये है :—

1. The Reorganisation of the European Society (1814)
2. Industry (1817-1818),
3. The Politic (1819),
4. The Industrial System (1821) and
5. The Catechism of Industries (1823-24)

सेन्टसाइमन को प्रभावित करने वाले तत्व

सेन्ट साइमन अपने विचारों के विश्लेषण में निम्न कारणों द्वारा प्रभावित हुए :—

प्रथम, औद्योगिक क्रान्ति के दोषो ने सेन्ट साइमन का ध्यान आकर्षित किया। १८वीं शताब्दी के अन्त में ऐसे कई प्रकार के दोष प्रकट हुए जैसे कि पूँजीपति एवं श्रमिक वर्ग में संघर्ष, धन का असमान वितरण, श्रमिकों को शोषण एवं उद्योगो के आर्थिक संकट आदि। इससे यह सिद्ध हो गया कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो द्वारा प्रतिपादित अहस्तक्षेप की नीति दोषयुक्त थी। उसने निजी सम्पत्ति को समाप्त कर एक नवीन समाज की स्थापना पर जोर दिया।

द्वितीय, फ्रान्स की क्रान्ति एव अमेरिका के स्वातन्त्र्य संग्राम ने भी सेन्ट साइमन के विचारो को प्रभावित किया एक तो सेन्ट साइमन प्रारम्भ से ही अमेरिका के स्वातन्त्र क्रान्तिकारी विचारों के थे और फिर संग्राम में इन्होने भाग लिया जहां वे नवीन विचारो से अवगत हुए। फ्रान्स की क्रान्ति मे भी इन्होने सक्रिय भाग लिया। इसका इनके आर्थिक विचारों पर गहरा प्रभाव पड़ा।

तृतीय, अपने समकालीन विचारको का प्रभाव भी सेन्ट साइमन पर पड़ा। इन लेखको में राबर्ट ओवेन, चार्ल्स फूरिये, सर थामस मोर, मारले, एव गाडविन आदि के नाम उल्लेखनीय है। सेन्ट साइमन ने इन विचारकों का अध्ययन कर सम्बन्धित समस्याओ पर अपने स्वतन्त्र विचार प्रस्तुत किये।

आर्थिक विचार :—

सेन्ट साइमन ने मुख्य रूप से उद्योग पर आधारित नवीन समाज की स्थापना से सम्बन्धित अपने विचार व्यक्त किये है। उनके विचारों को देखकर जिनको विश्लेषण से समाजवादी समझा जा सकता है। अध्ययन की सुविधा से इनके विचारों को निम्न भागों मे विभाजित किया जा सकता है :—

१—औद्योगिक समाज,
२—उद्योगवाद
३—औद्योगिक सरकार

औद्योगिक समाज —

सेन्ट साइमन के अनुसार पूर्णविश्व उद्योग पर आधारित है। अतः वे समस्त समाज का निर्माण ही औद्योगिक आधार पर करना चाहते हैं। वे उद्योगो

को समस्त जीवन का आधार मानते हैं और साथ ही उसे वर्तमान का केन्द्र बिन्दु मानते हैं। इतना ही नहीं वे इसे भविष्य की नयी व्यवस्था का रूप भी मानते हैं। जो एक ऐसा सामाजिक संगठन होगा जिसका एकमात्र उद्देश्य उद्योगों का विकास करना होगा क्योंकि यही समस्त सम्पत्ति एवं समृद्धि का स्रोत है। इस सन्दर्भ में प्रो० जीड एवं रिस्ट का कथन है कि सैन्ट साइमन के अनुसार यह समझने के लिए बहुत थोड़े अवलोकन की आवश्यकता है कि जिस विश्व में हम रहते हैं वह उद्योग पर आधारित है और विचारशील व्यक्तियों के लिए उद्योग के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु कठिनाई से विचारणीय है।

सेन्टसाइमन के अनुसार समाज की समृद्धि उद्योगों पर ही निर्भर रहती है, अतः नवीन समाज को वे आर्थिक एवं व्यावसायिक वर्ग के नियन्त्रण में रखना चाहते हैं समाज का संगठन भी औद्योगिक आधार पर होगा जिसमें औद्योगिक नेता ही उत्पादन के ऊपर नियन्त्रण रखेंगे। उनका विचार था कि नयी व्यवस्था के अन्तर्गत पूंजीपतियों द्वारा श्रमिकों का शोषण किया जायेगा। उनकी कल्पना थी कि सामान्य व्यवस्था में सब लोग कार्य करने वाले होंगे एवं अनुत्पादक वर्ग समाप्त हो जायेगा। इसी कारण वह पेशेवर राजनीतिज्ञ तथा धर्माधिकारियों के विषय में अच्छी धारणा नहीं रखता था, क्योंकि वे लोग समाज में उत्पादन के कार्य में नहीं लगे रहते। शासन का का कार्य मितव्ययी, न्यूनातिन्यू न करने की प्रवृत्ति वाला सुयोग्यों द्वारा संचालित तथा जनसाधारण के हित में होना चाहिए।

उनके अनुसार नये समाज में वर्ग भेद समाप्त हो जायेगा तथा सामन्तों एवं पादरियों को कोई स्थान नहीं मिलेगा। केवल दो ही वर्ग रहेंगे, काम करने वाला श्रमिक वर्ग एवं दूसरा कार्य न करने वाला वर्ग। नये समाज में दूसरा वर्ग समाप्त हो जायेगा। प्रथम वर्ग में श्रमिकों के अतिरिक्त कृषक, कारीगर, बैंकर्स उद्योगपति, शिल्पकार एवं बौद्धिक कार्य करने वाले सम्मिलित होंगे। इनमें केवल कुशलता के आधार पर भिन्नता होगी और प्रत्येक को राज्य में उसके योगदान के आधार पर प्रतिफल दिया जायेगा। साइमन शासन संचालन के कार्य में औद्योगिक वर्ग की क्षमता के विषय में आश्वस्त थी। उसके विचार में यही वर्ग निरंकुशता की प्रवृत्ति को रोक सकता है। उसने यह भी बताया कि समाज में रहने वाले केवल वही व्यक्ति अधिकारी हैं जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से औद्योगिक विकास में सहायक हैं। समाज में मिलने वाले प्रतिफल को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा "औद्योगिक समानता इसमें निहित है कि प्रत्येक व्यक्ति राज्य

क अपने हिस्से के अनुपात में समाज में लाभ प्राप्त करें अर्थात् अपनी
व्य क्षमता एवं अपनी पूंजी सहित विद्यमान साधनों के अनुपात में।"
न का मुख्य उद्देश्य अधिकाधिक जनता को लाभ पहुँचाना होना चाहिए।

सेन्ट साइमन ने नयी व्यवस्था मे पूंजी पति को उचित स्थान प्रदान किया
क्योंकि वे इस दृष्टि से पूंजीपति की आय को उचित मानते थे क्योंकि पूंजी के
ध्यम से उत्पादन मे सहायता करते हैं। लेकिन आय ही सेन्टसाइमन को
भूस्वामिनियों से घृणा थी। उनके अनुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार
समाप्त नही होना चाहिए वरन् इसे पुनर्गठित किया जाना चाहिए। उनके ही
शब्दो में, ऐसे आधार पर पूंजी का पुनर्गठन एक स्थापन होना चाहिए जो
उत्पादन के लिए अधिक अनुकूल सिद्ध हो।" उद्योग के साथ इन्होंने स्वतन्त्रता
का महत्व भी प्रतिपादित किया। सेन्ट साइमन के अनुसार' उद्योग स्वतन्त्रता का
आधार है। केवल स्वतन्त्रता के प्रकाश के साथ ही उद्योग का विस्तार एव विकास
हो सकता है। औद्योगिक साहस को ही वे राष्ट्रीय समुदाय मानते हैं। उद्योगो
का महत्व देते हुए आगे वे कहते हैं कि फ्रान्स एक कारखाने में परिवर्तित होना
चाहिए। एक राष्ट्र का सगठन एक बृहत् वर्कशाप के नमूने पर होना चाहिए।

उद्योगवाद :—

सेन्ट साइमन का विश्वास था कि उद्योग का पूर्ण विकास ही सम्पत्ति ए
समृद्धि का स्रोत है और वह कला, विज्ञात तथा शिल्प के क्षेत्र मे विद्वान व्यक्ति
पर ही निर्भर है। उन्होंने इसे एक रोचक उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया जो
प्रकार है :—कल्पना करो कि दुर्भाग्यवश फ्रान्स अपने पचास प्रमुख भौ
विज्ञानवेत्ताओ, पचास प्रमुख रसायनिकों, दो सौ सर्वोत्तम व्यापारी, छ सौ
सर्वोत्तम कृषक, पचास बैंकर्स और पाच सौ योग्य लोहे के कारीगर और प
प्रमुख डाक्टरों आदि से वंचित हो जाता है। तब ऐसी स्थिति मे प्रश्न
होता है कि इस अवस्था का क्या परिणाम होगा? स्वाभाविक रूप से
बडी क्षति होगी, जिसका अनुमान नही लगाया जा सकता। देश की
आत्मा ही विनष्ट हो जायेगी। जैसे ही राष्ट्र इनको गिराता है, उस
राष्ट्र आत्मारहित शरीर मे पतित हो जाता है एवं प्रतियोगी राष्ट्रो की
गिर जाता है। दूसरे शब्दो मे यह क्षति असह्य होगी।

आगे सेन्ट साइमन कहते हैं कि कल्पना करो उक्त व्यक्तियों के
किसी विप्लव से फ्रान्स के उच्चवर्ग का विनाश हो जाता है, मानलो

भाई मर जाता है, राज परिवार के अन्य सदस्य भी समाप्त हो जाते हैं, सम्राट के पदधिकारी नही रहते, राज्य के मन्त्री समाप्त हो जाते हैं। न्यायधीश नही रहते बड़े धनवान भूस्वामी एवं पादरी समाप्त हो जाते हैं, दूसरे शब्दो मे समस्त कर्मचारी एवं अभिजात्यवर्ग समाप्त हो जाता है। इस क्षति का क्या परिणाम होगा ? सेन्ट साइमन कहते हैं कि इसका परिणम होगा कि यह दुख कोरी भावुकता पर आधारित होगा। राष्ट्र को इनके न रहने से कोई धक्का न लगेगा। इन लोगो का कार्तव्य पालन तो कोई भी कर सकता है। अतः इस क्षति से समाज को किंचित भी असुविधा नही होगी।

उपर्युक्त उदाहारण मे सेन्ट साइमन ने यह सिद्ध किया है कि सरकारी कर्मचारियों का महत्व गौण है, उनके बिना समाज दुखी हुए बिना नही रह सकता है। लेकिन उद्यमी, बैंकर्स, और व्यापारियों के बिना देश पगु हो जायेगा और धन का स्रोत लुप्त जायेगा क्योंकि उनके कार्य आवश्यक हैं। वे ही वास्तविक शासक हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वास्तव मे श्रमिक ही सामाजिक व्यवस्था के उच्चतम फल के सबसे बड़े अधिकारी है। परन्तु वास्तविक स्थिति ठीक इसके विपरीत है। अतः सेन्ट साइमन ने इसे ठीक करने का प्रस्ताव किया है। उनका उद्देश्य देश को औद्योगिक पूर्णता प्रदान करने के लिए उद्यमो के हितों का, श्रमिकों एवं उपभोक्ताओं के हितों के साथ समन्वय करना था।

औद्योगिक सरकार :

अपने औद्योगिक समाज मे सेन्ट साइमन सामान्य प्रकार की सरकार को अनावश्यक मानते थे, वरन उनके स्थान पर सामान्य से भिन्न सरकार की स्थापना करना चाहते थे। औद्योगिक समाज मे, सरकार का कार्य, अनुत्पादक आलसी मनुष्यों से श्रमिकों की रक्षा एवं उत्पादक की सुरक्षा एवं स्वतन्त्रता बनाये रखना होना चाहिए।

आगे सेन्ट साइमन कहते हैं कि "नये समाज मे न केवल श्रम और योग्यता पर आधारित भेद के अतिरिक्त प्रत्येक सामाजिक वर्ग-भेद समाप्त होना चाहिए परन्तु साधारण अर्थ मे सरकार भी अनावश्यक हो जायेगी।" फ्रान्स के के लिए भी उन्होंने नयी औद्योगिक व्यवस्था का समर्थन किया। सरकारी हस्तक्षेप को सीमित करने से सेंट साइमन का उद्देश्य राजनीति को समाप्त करना नहीं था वरन उसे उत्पादक सगठन के रूप मे वास्तविक विज्ञान मे परिवर्तन करना था। राजनीति में वे शक्ति के स्थान पर क्षमता एवं आज्ञा के स्थान पर निर्देश के पक्ष

उनके अनुसार कार्यपालिका शक्ति विधायकों में निहित होनी चाहिए
अन्तर्गत दो सदन होंगे और जिनके सदस्यों का निर्वाचन उद्योग, व्यापार
तथा शिल्प के प्रतिनिधियों में से होगा। भूस्वामियों को सरकार में कोई
नही दिया जायेगा। उक्त सदनों का कार्य प्रस्तावों पर विचार-विमर्श
और ऐसे कानून बनाना होगा, जो औद्योगिक विकास में सहायक होकर
की भौतिक सम्पत्ति में वृद्धि करें। प्रो० हेनी के अनुसार, इस प्रकार सरकार
औद्योगिक उद्देश्यों के लिए राष्ट्रीय संघो के संचालन तक ही सीमित रहेगी, लोग
पस मे एक दूसरे का शोषण करेंगे। उनका मत था कि सरकार अर्थशास्त्र के
आधार पर चलनी चाहिए, राजनीति के आधार पर नही। इस प्रकार उन्होंने एक
र्य धर्म की नींव डाली। इसे प्रो० न्यूमेन ने इस प्रकार स्पष्ट किया है, सरकार
अपने आपको व्यक्तियो पर शासन करने की अपेक्षा वस्तुओ पर शासन करने के
प्रति समर्पित करेगी अर्थात् राजनीति के स्थान पर अर्थशास्त्र पर।"

सेन्ट साइमन के अनुसार सरकार की पुरानी प्रणाली का उद्देश्य शक्तियों को
बढ़ाना था, परन्तु नयी प्रणाली मे सरकार का उद्देश्य यह होना चाहिए कि समाज
की शक्तियों का इस प्रकार से मिश्रण किया जाय कि उसके सदस्यों के प्रश्न को
भौतिक या नैतिक रूप से सुधारने के कार्य का सफलता पूर्वक संचालन किया जा
सके। सेन्ट साइमन का औद्योगिक वाद स्मिथ के उदारतावाद में इस बात में
भिन्न था कि जहाँ स्मिथ राजकीय हस्तक्षेप को बिल्कुल अनावश्यक मानते थे वहाँ
सेन्ट साइमन उसे आर्थिक उद्देश्यों के लिए स्वीकार करते थे। यही कारण है कि
सेन्ट साइमन को समाजवादियों की श्रेणी में रखने का तर्क प्रस्तुत किया जाता है।

समाजवाद :—

यद्यपि सेन्ट साइमन के विचार समाजवाद से मिलते जुलते हैं, लेकिन वे पू[illegible]
अर्थों मे समाजवादी नहीं थे। मुख्यरूप से उनके विचार औद्योगिक वाद से स[illegible]
[illegible] है जिसमें थोड़ा समाजवाद का मिश्रण है। अतः उनका सम्बन्ध अधि[illegible]
उदारवाद से है। इस सम्बन्ध में प्रो० न्यूमेन का कथन है कि, जब कि स[illegible]
[illegible]कार किया जाता है कि सेन्ट साइमन के विचार काल्पनिक थे। उन्हें समाज[illegible]
वर्ग में रखना उचित कठिन है, क्योंकि किसी भी ग्रन्थ में उन्होंने किसी सामाजि[illegible]
समर्पण करने का समर्थन नहीं किया है। यद्यपि उन्होंने यह कहा है कि समा[illegible]
[illegible] इस प्रकार होना चाहिए कि अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सु[illegible]
[illegible] [illegible] के [illegible] समूह द्वारा [illegible]
[illegible] सके। [illegible] की दृष्टि से [illegible]

समुदाय का शोषण करने वाले पूंजीवादी समाज की आलोचना की गयी थी। उनका मत था कि ऐतिहासिक दृष्टि से पूंजीवादी समाज एक अस्थिर समाज है और मानव जाति का इतिहास इसी के साथ समाप्त नहीं हो जायेगा। मानव जाति अभी समाज के दो बहुत ही असमान भागों में विभाजन का अन्त करेगी जिसमें छोटा भाग बड़े भाग का उत्पीड़न शोषण करता है। इसके बाद लोग प्रकृति की शक्तियों को काम में लाने के उद्देश्य से अपने को समानाधिकार प्राप्त नागरिकों के समाज में संगठित करेंगे।

यद्यपि सेन्ट साइमन ने उस सामाजिक व्यवस्था का स्पष्ट चित्र नहीं प्रस्तुत किया जिसकी वे स्थापना करना चाहते थे, तथापि उसमें एक ऐसे समाज की स्थापना का विचार निहित था, जिसमें प्रत्येक अपनी योग्यतानुसार काम करता और उसे अपने श्रमानुसार पगार मिलती। यह सिद्धान्त समाजवाद का आधार सिद्धान्त बन गया। सेन्ट साइमन का यह विचार बहुत ही महत्वपूर्ण था कि जिस समाज में शोषण नहीं होगा वह विज्ञान और तकनीकी के विकास को अवरुद्ध करने वाली सभी बाधाओं को दूर करके निर्माण की असीम शक्तियों को विकसित कर देगा और प्रकृति की प्रबल शक्तियों को मनुष्य की सेवा में लगा देगा। राजकीय मशीनरी और जनता पर नियन्त्रण की मशीनरी से समाज को समस्त गतिविधियों को निर्देशित करने वाली मशीनरी में बदल देने के उनके विचार के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है।

सेन्ट साइमन ने लिखा कि यद्यपि मानवजाति परस्पर विनाशकारी संघर्ष में अपनी काफी शक्ति नष्ट कर रही है परन्तु अत्यन्त सभ्य देश अभी भी समृद्धि के काफी ऊँचे स्तर को बनाये हुए हैं इसलिए, यदि मानव जाति अपने साधनों का दुरुपयोग बन्द कर दे और अगर प्रत्येक देश के लोग प्रकृति की शक्ति को नियन्त्रित करने के काम में एक जुट हो जायें, तो वह और भी अधिक उपलब्धियां प्राप्त कर सकती है। उनका विचार था कि आर्थिक विकास के फलस्वरूप विभिन्न देशों के लोगों के बीच आर्थिक सम्बन्धों का विस्तार होगा, एक ऐसी विश्व अर्थव्यवस्था और श्रमजीवी लोगों के विश्व संगठन की स्थापना होगी, जिससे सभी सामाजिक तथा राष्ट्रीय विरोधों का अन्त हो जायेगा और सम्पूर्ण मानवजाति की प्रगति सुनिश्चित हो जायेगी।

ईसाई धर्म के विषय में भी साइमन की धारणा यह थी कि नई ईसाइयत को भ्रातृत्व की धारणा को लेकर आगे बढ़ना चाहिए। उसे समाज के दरिद्रतम वर्ग को विशेषरूप से और जनसाधारण को सामान्य रूप से हित तथा सुख दे।

यद्यपि सेन्ट साइमन के विचारों को पूर्णतया समाजवादी नहीं कहा जा
सकता क्योंकि यह औद्योगिक वर्ग के हाथ में शासन सत्ता देना चाहता है, परन्तु
व्यक्तिगत सम्पत्ति का उपयोग सामाजिक हित में करने, धन को निर्धन
के हित में कार्य करने तथा भ्रातृत्व की भावना से धर्म तथा सामाजिक
का सचालन होने, समाज में प्रत्येक व्यक्ति को काम करने, शासन का
ध्येय सामाजिक हित पर केन्द्रित करने, आदि की धारणायें समाजवादी है।
साइमन को राज्य समाजवाद का पूर्वगामी कहा जाना अनुचित नहीं होगा।

आलोचनात्मक मूल्यांकन :—

सेन्ट साइमन एक क्रान्तिकारी एवं समाज सुधारक थे। वे वर्तमान दोषपूर्ण
व्यवस्था के स्थान पर एक नयी औद्योगिक समाज की स्थापना करना चाहते
थे। सेन्ट साइमन के प्रारम्भ के विचारों की तुलना में उनके बाद के विचार
भिन्न हैं। इनके आरम्भिक विचार एक वैज्ञानिक सश्लेषण से सम्बन्धित है जो
वास्तविक नैतिकता से जुड़े हुए हैं, परन्तु सन 1814 के पश्चात् उन्होंने दर्शनशास्त्र
को छोडकर सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों की अभिव्यक्ति की।

देश की समृद्धि के लिए उन्होंने उद्योगों के विस्तार को काफी महत्व दिया।
उनका औद्योगिकवाद अदभुत लक्षणों से युक्त एक सामूहिक संगठन है जो केन्द्रीय
ढंग से नियोजित एवं नियन्त्रित है, परन्तु वह सामाजिक नहीं है क्योंकि उसमे
निजी सम्पत्ति को समाप्त नहीं किया गया है।

यह निर्विवाद है कि बाद मे आने वाले अर्थशास्त्रियो पर जिन्हें समाज-
वादियो के समूह में सम्मिलित किया जाता है, सेन्ट साइमन का काफी प्रभाव
पडा। मार्क्सवादियो ने सेन्टसाइमन के केन्द्रीय विचार का स्वागत किया। एंगेल्स
ने इस सिद्धान्त को लेखक द्वारा प्रतिपादित बहुत महत्वपूर्ण सिद्धान्त बतला
है। प्रौधा ने भी इसे स्वीकार किया। सेन्ट साइमन के सिद्धान्त ने ब्लाक त
दूसरे फ्रान्स के अन्य समाजवादियों मुख्यतः एन्टन मेजर तथा सौरेल को अत्य
प्रभावित किया। वे वितरण प्रणाली मे इस प्रकार समन्वय लाना चाहते थे
उत्पादन का कार्य योग्यतम उद्यमियो द्वारा किया जाय और श्रमिकों को अधि
अवसरो का लाभ मिल सके तथा अपने श्रम का फल उन्हें मिले। उनके
वाद मे न केवल श्रमिको को वरन उद्यमियों की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी
सेन्ट साइमन की इस प्रणाली को समाजवाद का वह नाम नहीं दिया जा
वरन इसकी समानता फ्रान्स के प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के उस उत्पादन

कैथोलिक 'वाद के पोप नियुक्त हुए तथा बैजर्ड के बाद एन्फेण्टीन को है जिन्होंने सिसमाण्डी से भी प्रेरणा प्राप्त की । इसमें अधिक विचारों का श्रेय एफेण्टीन को है जिन्होंने सिसमाण्डी से भी प्रेरणा ग्रहण की । सेन्ट साइमन के विचारों का प्रसार केवल फ्रान्स तक ही सीमित नहीं था वरन् इटली, एव इंग्लैंड में भी इनका प्रचार हुआ ।

सेन्ट साइमन का सम्प्रदाय अधिक समय तक नही चल पाया और इसका पतन होने लगा क्योंकि सेन्ट साइमन वादी अपने गुरु के विचारो को प्रचलित करने के लिए उसे एक धर्म के रूप मे परिवर्तित करना चाहते थे किन्तु इस प्रकार के धर्म का प्रचार करने की योग्यता उनमे नही थी । फिर भी इस तथ्य से मना नहीं किया जा सकता है कि उन्नीसवी शताब्दी के आर्थिक चिंतन में सेन्ट साइमनवादियो के विचारो का बहुत महत्व है । उनके विचारो को मुख्य रूप से दो भागो में विभक्त किया जा सकता हैं :—

1. निजी सम्पत्ति की आलोचना
2. निजी सम्पत्ति के अधिकार को समाप्त कर उसका स्वामित्व द्वारा प्रतिस्थापन ।

निजी सम्पत्ति की आलोचना.

सेन्ट साइमन वादियो का विचार था कि उद्योग और समाज में प्रचलित बुराइयों का एकमात्र कारण निजी सम्पत्ति के अधिकार मे निहित है । अत. वे आधुनिक समाज की औद्योगिक व्यवस्था को पूर्ण करने के लिए निजी सम्पत्ति के अधिकार को समाप्त करना चाहते थे । इसके लिए वे उत्तराधिकार की व्यवस्था की समाप्ति को भी एक वैज्ञानिक पद समझते हैं । इस अर्थ में वे वास्तव में समाजवादी कहे जाने योग्य है कि वे निजी सम्पत्ति के अधिकार को समाप्त कर समस्त सम्पत्ति एवं पूंजी को समाज के हाथो मे सौप देना चाहते हैं । उनकी निजी सम्पत्ति की विस्तृत आलोचना का अध्ययन तीन दृष्टिकोणों से किया जा सकता है :—

1. वितरण के दृष्टिकोण मे ।
2. उत्पादन और उपयोगिता के दृष्टिकोण मे ।
3. ऐतिहासिक दृष्टिकोण मे ।

वित[illegible] [illegible] मे —सेन्टसाइमन ने पहले ही स्पष्ट कर दिया था [illegible] लिए समाज में कोई स्थान नहीं है तथा शोषणम एवं श्रम

के आधार पर ही व्यक्तियों को पुरस्कार दिया जा सकता है। किन्तु उन्होंने पूजी को भी उस श्रेणी में सम्मिलित किया अर्थात् यह स्वीकार कर लिया कि पूजीपति भी अपनी पूजी के लिए प्रतिफल पाने के अधिकारी हैं। सेन्ट साइमन वादियों ने पूजी पुरस्कार देने का विरोध किया। उन्होंने बताया कि पूजी के स्वामित्व से जो आय प्राप्त होती है व अर्जित आय न होकर शोषण का परिणाम है। यह स्थिति समाज के लिए हितकर नहीं है। उत्पत्ति के साधनों पर पूजीवादियों का स्वामित्व होने के कारण वे श्रमिकों को सदैव दबा कर रखते है और अपना लाभ अधिकतम करना चाहते है। सेन्ट साइमन वादियों का विश्वास था कि जब तक यह निजी सम्पत्ति का अधिकार समाप्त नहीं होता, श्रमिकों के शोषण को नहीं रोका जा सकता।

सामान्य रूप में सम्पत्ति के अन्तर्गत भूमि तथा पूजी को सम्मिलित किया जाता है जो उत्पत्ति के प्रमुख साधन हैं और पूजीपति को अधिक आय प्राप्त करने का अधिकार देते हैं। पूजीपतियों का इन साधनों पर अधिकार रहता है और वितरण के माध्यम से इन साधनों को ब्याज एवं लगान प्राप्त होता है। असमानता के कारण पूजी केवल कुछ हाथों में ही केंद्रित हो जाती है और श्रमिकों को विवश होकर अपनी आय का भाग इन्हे दे देना पड़ता है। यह एक प्रकार का शोषण ही है। उत्तराधिकार के नियम के कारण स्थिति और भया-वह बन जाती है क्योंकि शोषण करने का अधिकार एक ही वर्ग के लिए सुरक्षित कर दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि शोषक तथा शोषित अपने स्थान पर ही बने रहते है। पूजीपतियों को जो आय प्राप्त होती है वह दूसरों के श्रम पर ही आधारित होती है, अतः शोषण ही कहा जायेगा।

यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि पूजीपतियों को भी श्रम करना पड़ता है। अत. उन्हे पुरस्कार मिलना चाहिए। इसके उत्तर मे सेन्ट साइमनवादी कहते हैं कि वे कुछ अंश पाने के अधिकारी हो सकते है लेकिन पूजीपति के रूप में उन्हे जो कुछ मिलता है वह निश्चित ही दूसरे श्रम का अतिक्रमण एवं शोषण है। साइमनवादियों ने शोषण शब्द प्रभाव का सामाजिक व्यवस्था के अंग के रूप में माना जो निजी सम्पत्ति में निहित था। यह शोषण एक आकस्मिक दोष न होकर समस्त प्रणाली का स्वाभाविक लक्षण था क्योंकि सम्पत्ति का मूलभूत गुण यह है कि वह धन पैदा करने का कष्ट उठाये बिना श्रम के प्रतिफल का भोग का अधिकार देती है। प्रो० जीड एवं रिस्ट के शब्दों मे इस प्रकार का शोषण केवल शारीरिक श्रम वालों तक ही सीमित नहीं रहता

वरन् वह प्रत्येक व्यक्ति पर लागू होता है जो स्वामी को कुछ न कुछ भुगता
करते हैं। उद्यमी भी इसका शिकार हो जाता है क्योंकि वह भी पूंजीप
को उस कोष के लिए ब्याज देता है जो उसे प्रदान किया जाता है।"

सेन्ट साइमनवादी भविष्य में एक ऐसी सामाजिक स्थिति की कल्पना
करते हैं जहाँ अपवाद स्वरूप या असाधारण क्षमता को असाधारण पुरस्कार
मिलेगा। इस दृष्टिकोण से वे उद्यमी के लाभ को शोषण नहीं मानते क्योंकि
यह उसके निदेशन का परिणाम है। मार्क्स धन के विनिमय को शोषण को जड़
मानते है। वे पूंजीपति या भूमिपति की आय को उद्यमी की आय को भी
अनुचित मानते हैं परन्तु सेन्ट साइमनवादी की निजी सम्पत्ति की आलोचना
आय के उस भेद पर आधारित है जो क्रमशः श्रम तथा पूंजी से प्राप्त की जाती
है अतः उन्होंने शोषण को दूर करने के लिए निजी सम्पत्ति की संस्था को
समाप्त करने का विचार प्रस्तुत किया।

उत्पादन और उपयोगिता की दृष्टि से

सेन्ट साइमनवादियों का विश्वास था कि निजी सम्पत्ति की संस्था का
के उत्पादन पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और उत्पत्ति के साधनों के वितर-
की वर्तमान प्रणाली निजी सम्पत्ति के अन्तर्गत उत्पादन के हित में नहीं है।
प्रतिष्ठित एवं प्रकृतिवादी अर्थशास्त्रियों ने निजी सम्पत्ति का समर्थन इस आधार
पर किया था कि उससे उत्पादन तथा धन के संग्रह को प्रोत्साहन मिलता है।
अतः निजी सम्पत्ति के स्वामियों को राष्ट्रीय आय से कुछ भाग अवश्य मिलना
चाहिए, अन्यथा वे उत्पादन कार्य में सहयोग नहीं देंगे परन्तु सेन्ट साइमन वादियों
ने न्याय एवं सामाजिक उपयोगिता के हित में निजी सम्पत्ति पर आक्रमण किया।

उन्होंने यह स्पष्ट किया कि निजी सम्पत्ति की संस्था उत्पादकों के हित में
नहीं है। उनके मत में उत्तराधिकार के नियमों के अनुसार पूंजी प्राप्त की जाती
है एवं उत्तराधिकारियों से यह आशा की जाती है कि पूंजी सर्वोत्तम हित में प्रयो
करेंगे, लेकिन उनसे यह आशा करना व्यर्थ है क्योंकि उनके द्वारा निजी लाभ
लिए ही पूंजी का प्रयोग किया जाता है। अतः सामाजिक हित की दृष्टि
उत्पत्ति के साधनों का प्रयोग अधिक योग्य एवं कार्यकुशल लोगों द्वारा कि
जाना चाहिए एवं उत्पत्ति के साधनों का प्रयोग बिना दूसरे क्षेत्रों में बाहि
हुए सर्वाधिक वांछनीय उद्योगों में किया जाना चाहिए। सेन्ट साइमनवादि
उत्तराधिकार के नियम का जोरदार विरोध किया और बताया कि दूसरे निय

कारण उत्पादन में अव्यवस्था होती है क्योंकि यह गारन्टी के साथ नहीं कहा जा सकता कि उत्तराधिकार मे सम्पत्ति योग्य हाथों मे ही आयेगी। इसी बात को स्पष्ट करते हुए प्रो० हेने कहते है कि उत्पादन के दृष्टिकोण से भी यह स्पष्ट किया गया कि उत्तराधिकार की प्रणाली भी निश्चित नहीं करती कि सम्पत्ति सबसे कुशल हाथों को ही प्राप्त होगी अर्थात् उत्तराधिकार मे सम्पत्ति अकुशल एवं अयोग्य व्यक्तियों को भी प्राप्त हो सकती है जो उत्पादन को बढाने के बदले उसे घटा देते हैं। सामान्य रूप से व्यक्ति अपने हित को बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं और सामाजिक लाभ के दृष्टिकोण से उत्पादन पर विचार नहीं करते।

इस प्रकार उनकी योजना एव विश्लेषण निजी सम्पत्ति की कटु आलोचना पर आधारित है। अवसरों की समानता मे उनका विश्वास था। नयी समाज व्यवस्था का उनका नियम था कि प्रत्येक को उसकी क्षमता के अनुसार और प्रत्येक क्षमता को किये गये कार्य के अनुसार। बाद मे इस नियम मे इस प्रकार परिवर्तन किया गया कि प्रत्येक को उसके गुण के अनुसार दिया जाना चाहिए और उसके कार्य के अनुसार पुरस्कार किया जाना चाहिए। सेन्ट साइमनवादियों के अनुसार उत्तराधिकार सहित जन्म से प्राप्त समस्त लाभों को समाप्त किया जाना चाहिए क्योंकि इससे केवल कुछ इने गिने लोगों को ही लाभ प्राप्त होता है जो अपने से अधिक कुशल एव श्रेष्ट लोगो की अवहेलना करते हैं। उनके अनुसार उत्तराधिकार को समाप्त किया जाना चाहिए। संक्षेप में सेन्ट साइमनवादी इसलिए निजी सम्पत्ति का विरोध करते थे क्योंकि इससे अकर्मण्यता की प्रवृत्ति बढ़ती है जिसका उत्पादन पर भी प्रतिकूल प्रभाव पडता है और दूसरो के श्रम पर जीने की प्रवृत्ति विकसित होती है। सेन्ट साइमनवादी सरकार को ही समस्त सम्पत्ति का उत्तराधिकार बनाना चाहते हैं जो उत्पत्ति के साधनों का वितरण सामाजिक दृष्टिकोण से करेगी।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से आलोचना :—

सेन्ट साइमन वादियो ने निजी सम्पत्ति की आलोचना ऐतिहासिक तर्क के आधार पर की है। इसके अनुसार निजी सम्पत्ति की संस्था का विकास समाज के आर्थिक विकास की एक प्रणाली के रूप में हुआ है। वे यह मानते है कि सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन होता गया। बैंजर्ड के शब्दों में, सम्पत्ति एक सामाजिक तथ्य है जो अन्य सामाजिक तथ्यो के साथ प्रगति के नियमों के आधीन रहता है। अतः इसे समय के विभिन्न क्रम में कई प्रकार से बढाया, घटाया एवं नियमित किया जा

सकता है। इतिहास के विभिन्न क्रम में निजी सम्पत्ति के रूप में परिवर्तन हुआ है और इसी क्रम में औद्योगिकवाद के युग में भी निजी सम्पत्ति के स्वरूप में परिवर्तन होना वांछनीय है, जिसके अनुसार सम्पत्ति का उत्तराधिकार परिवार में स्थानान्तरित न होकर राज्य के पास जाना चाहिए जो अपने नागरिकों को समान अवसर प्रदान करेगा।

इस प्रकार सेन्टसाइमनवादियों ने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि निजी सम्पत्ति समाज की एक मौलिक संस्था नहीं है और इसे अस्थायी तौर के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह तो एक अस्थायी संस्था है जिसमें प्रगति के क्रम में परिवर्तन होना चाहिए। उनके अनुसार निजी सम्पत्ति की संस्था विकास की अवस्था में है जिसमें सामाजिक प्रगति के साथ ही साथ परिवर्तन हो रहे हैं। सेन्ट साइमन ने एक विश्व समूह की कल्पना की थी जिसके अन्तर्गत समस्त मानव अपने अन्य सम्बन्धों से होते हुए भी संगठित रहेंगे। अतः साइमनवादियों ने भी निजी उत्तराधिकार को समाप्त कर व्यक्तिगत सम्पत्ति का धीरे-धीरे व्यक्तियों में प्रसार कर उसे अन्त में पूर्ण रूप से समाप्त करने का समर्थन किया है। इस सिद्धान्त में उन्हें विश्वास के साथ ही साथ पूर्ण निश्चितता थी और वे उसे वैज्ञानिक अन्वेषण मानते थे। बैजर्ड के शब्दों में, हमारी घोषणाओं का वही उद्गम है और वे उसी नींव पर आधारित हैं जो वैज्ञानिक अन्वेषणों के लिए सामान्य रूप से होती है।

इस प्रकार साइमन ने वितरण उत्पादन एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण से निजी सम्पत्ति की आलोचना की और बताया कि निजी सम्पत्ति ही समस्त सामाजिक बुराइयों की जड़ है।

सामूहिकवाद सम्बन्धी विचार

साइमनवादियों द्वारा सामूहिकवाद सम्बन्धी विचार काफी रोचक हैं और सेन्ट साइमन के विचारों से मिलता-जुलता है। यह एक ऐसा सामाजिक संगठन होगा जिसके अन्तर्गत आर्थिक क्रियाओं पर राज्य का नियन्त्रण होगा तथा उन्हें राज्य के संतुलन में सम्पन्न किया जायगा। व्यक्तिगत वस्तु के स्थान पर उत्पादन की एक ऐसी प्रणाली स्थापित की जायेगी जिसमें प्रत्येक उस व्यक्ति को, जो इस उद्देश्य से कार्य करेगा कि उत्पादकों को सम्पन्न करना है। समान अवसर दिये जायेंगे। वे निजी सम्पत्ति का विरोध इसलिए करते थे कि उसके स्वामियों में मुफ्त की सम्पत्ति उत्पन्न हो जाती है तथा वे दूसरों के श्रम पर जीवित रहने के आदी हो

जाते हैं। यहाँ पर यह कहने में कोई हानि नहीं होगी कि उनके सामूहिक वाद का रूप लगभग वैसा ही था जैसा उस शताब्दी में निर्मित की गयी अन्य सामूहिक प्रणालियों का था, किन्तु इसके अपने ही दोष थे। हमें यह ज्ञात नहीं कि औद्योगिक सेनापति निर्वाचित होते थे, चोटे जाते थे। दूसरे, वे, यह भी नहीं बता सके कि सम्पत्ति पर राज्य का स्वामित्व किस प्रकार स्थापित होगा अर्थात् यह स्वामित्व कानून द्वारा स्थापित होना था या ऐच्छिक काम द्वारा या शक्ति के प्रयोग द्वारा सम्पत्ति को राज्य के स्वामित्व में लाना था या सम्पत्ति को जब्त करना था। इन दोषों के रहते हुए भी लोग एक ठोस विचार प्रस्तुत करने में सफल हुए। उन्होंने एक नया मार्ग प्रदर्शित किया। उनके विचारों को अन्य समाजवादियों ने स्वीकार किया था।

अध्याय 6

काल्पनिक समाजवादी

कुछ समाजवादियों का विश्वास था कि श्रमिकों के ऐच्छिक सहयोग द्वारा उनकी दशा को सुधारा जा सकता था। इन लोगों को काल्पनिक समाजवादी कहते हैं। ये लोग ऐच्छिक सहयोग के आधार पर व्यक्तियों को छोटे-छोटे समूह में संगठित करना चाहते थे और इस प्रकार एक ऐसा समाज स्थापित करना चाहते थे जिसमें राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था सभी दृष्टि से पूरी हो ताकि मनुष्य सुखी रहें। इन समाजवादियों ने अपनी-अपनी योजनायें बनायी जो उनकी कल्पनाओं की उड़ान थी। इन लेखकों के अनुसार प्रतियोगिता के कारण ही समाज में अवदोष उत्पन्न हुए थे क्योंकि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पूर्ण रूप से नष्ट हो गयी थी। उनके लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एक मूल्यवान धरोहर के समान थी प्रतियोगिता ने एक ओर पूंजीपतियों एवं उद्योगपतियों को अधिकाधिक लाभ प्र करने के लिए पागल सा कर दिया था और दूसरी ओर श्रमिकों को मजदूरी करने हेतु आन्दोलन चलाने के लिए विवश किया था। परिणामतः एकाधिकारी संगठन स्थापित हो गये थे और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नष्ट हो गयी थी। अतः वे प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग के आधार पर आर्थिक क्रियाओं का संगठन करना चाहते थे। उनको पूरा विश्वास था कि सहयोग द्वारा न केवल समाज में शान्ति स्थापित होगी, वरन उत्पादन तथा वितरण के क्षेत्र मे अधिक अच्छे परिणाम भी प्राप्त होंगे।

इन समाजवादियों के अनुसार न कोई भी व्यक्ति जन्म से बुरा या अच्छा नहीं होता' वह जो कुछ भी है अपने वातावरण द्वारा निर्मित होता है। इस प्रकार के वातारण को परिवर्तित करके मनुष्य को बदलना चाहते थे। उनका विश्वास था कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और व्यक्तित्व उस समय तक फलीभूत नहीं हो सकते जब तक वातावरण को नहीं बदला जाता। इनमें से सभी लेखकों ने श्रमिकों के ऐच्छिक संगठनों की स्थापना के लिए अपनी-अपनी योजनायें प्रस्तुत की जो एक दूसरे से उपस्थित परिस्थितयों से पूर्णतः अलग होगा, मनुष्यकृत होगा और जिसकी निश्चित सीमायें होंगी। अतः इनको काल्पनिक समाजवादी कहा जाता है, क्योंकि

ये लोग सहयोग को महत्व देते थे इसलिए इनको सहयोग वादी भी कहा जाता है। ये लोग सेन्ट साइमन के अनुयायियों से भिन्न थे क्योंकि ये सामाजिक और आर्थिक बुराईयों को समाजीकरण के स्थान पर सहयोग द्वारा दूर करना चाहते थे। दूसरी ओर सहयोगवाद अपने स्वभाव में व्यक्तिवादी था और उसे यह भय था कि मनुष्य अपनी वैयक्तिकता भीड़-भाड़ में न खो बैठे। अतः वह मनुष्यों को छोटे छोटे समूहों में संगठित करना चाहता था जिसमें संगठन पूर्णतः ऐच्छिक होगा और उनमें एकता भी यह बाहर से थोपे जाने के स्थान पर अन्दर से उत्पन्न होगी। इन लेखकों में इंग्लैंड के राबर्ट ओवेन, फ्रान्स के चार्ल्स फूरिये, स्पेन के लुई ब्लां आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

(राबर्ट ओवेन) जीवन परिचय :—

राबर्ट ओवेन का जन्म इंग्लैण्ड में न्यूटन में हुआ था। निर्धन परिवार में जन्म लेने के कारण उन्हें 9 वर्ष की अवस्था में ही स्कूल छोड़ना पड़ा एवं एक व्यापारी के काम सीखने लगे। बाद में 18 वर्ष की आयु में इन्होंने अपने भाई से 100 पौण्ड ऋण लेकर मेन्चेस्टर में एक कपड़ा बनाने की मशीनों का कारखाना प्रारम्भ किया। इस व्यापार में अपने ज्ञान के कारण इन्होंने काफी ख्याति अर्जित की। इसके पश्चात् सूत के एक महान् उद्योगपति ड्रिंकवाटर ने ओवेन को अपने संस्थान के लिए प्रबन्धक नियुक्त कर लिया तथा ६ माह के भीतर ही ओवेन को अपने व्यापार का चौथाई भाग का भागीदार बना लिया। ओवेन के जीवन का चरमोत्कर्ष तो उस समय हुआ जब इन्होंने 30 वर्ष की अवस्था में ही न्यूलेनार्क के वस्त्र उद्योगों को खरीदा और उसके सहस्वामी तथा निदेशक बन गये। उन्होंने इन उद्योगों में अन्तिम सुधार कर एवं श्रमिकों के रहने एवं उनके कल्याण की उचित व्यवस्थाकर न्यूलेनार्क की कायापलट ही कर दी। यहाँ तक की यह स्थान दर्शनिक बन गया और दूर-दूर से लोग इस ओर आकर्षित होने लगे। यह संस्थान ओवेन के लिए उन सिद्धान्तों को कसौटी पर कसने का अवसार था जिन्हें इन्होंने मानवता के कल्याण के लिए प्रतिपादित किया।

ओवेन सहकारी ग्रामों की स्थापना से सारे आर्थिक अवरोधों को दूर करना चाहते थे, अतः वे परोकारी बन गये तथा सन् 1824 में उन्होंने अपने अर्जित धन से एवं न्यूलेनार्क की सम्पदा बेंचकर अमेरिका के इण्डियाना में तीन हजार एकड़ भूमि खरीद कर नयी बस्ती का निर्माण किया जिसका नाम "न्यूहारमनी" रखा गया, परन्तु यह योजना सफल नहीं हुई और ओवेन अपनी अस्सी प्रतिशत

सम्पत्ति खो बैठे और साथ ही उल्टे उनके विचारों का उपहास उड़ाया गया, पर श्रमजीवी वर्ग पर उनके विचारों का स्पष्ट प्रभाव पड़ा। सन् 1833 में उन्हे "ग्रान्ड नेशनल" नाम के श्रमिक वर्ग के आन्दोलन के लिए एक संघ की स्थापना की। इसके बाद ओवेन ने स्टाफर्लैण्ड में ग्राविस्टन नामक स्थान में एक नयी बस्ती की स्थापना की जो कुछ वर्षों तक ही बनी रही। सन् 1832 में इन्होंने "राष्ट्रीय समान श्रम विनिमय" की स्थापना की जिसे भी उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। ओवेन को निराशा हाथ लगाने पर भी अपने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहकर उनका प्रचार किया। इस प्रकार ओवेन जीवन पर्यन्त सक्रिय रहे तथा सन् 1858 में 87 वर्ष की अवस्था में उनका देहन्त हो गया।

इस प्रकार ओवेन ने इगलैण्ड में सामाजीक विज्ञान के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। वे उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटीश श्रमजीवी वर्ग के सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रबोधक थे। इसी कारण उनको ब्रिटिश समाजवाद का जनक कहा जाता है। उनका जीवन बड़ा भव्य और सदारंगी रहा। वह एक दुकान पर नौकर, एक उद्योगपति, कल कारखानों का सुधारक, शिक्षा शास्त्री, समाजवादी, सहयोग आन्दोलन का प्रवर्तक, ट्रेडयूनियन नेता, धर्मनिरपेक्षता वादी, आदर्श समुदायों का मूल प्रवर्तक तथा व्यावहरिक व्यापार का व्यक्ति कुछ रहे हैं। केरम के शब्दों में "कोई भी व्यक्ति एक ही साथ इतना व्यावहारिक और इतना स्वप्न द्रष्टा, इतना प्रेमपात्र और अपने साथ काम करने मे इतना असम्भव इतना उपहास केन्द्र। तथपि इतना प्रभावशाली नहीं था जितना की ओवेन।"

ओवेन की रचनायें :—

ओवेन ने तीन पुस्तकें लिखीं जो उनके विचारों की जानकारी की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण हैं।

1. A New View of Society (1812)
   अर्थात् समज का नया दृष्टिकोण सन् 1820 में लिखी।
2. The Book of the New Moral World (1820)
   नूतन नैतिक जगत, सन् 1820 में लिखी।
3. What is Socialism (1841)
   समाजवाद क्या है?
   सन् 1841 में लिखी।

ओवेन को प्रभावित करने वाले कारण

ओवेन ने जो भी विचार व्यक्त किये, उन पर निम्नलिखित कारणों का प्रभाव पड़ा :—

1. ओवेन को इगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति ने सबसे अधिक प्रभावित किया। यह औद्योगिक क्रान्ति इगलैंड में ही सर्वप्रथम प्रारम्भ हुई जिसने अनेक अवदोषों को जन्म दिया। इस क्रान्ति ने पूँजीपति एवं श्रमिक इन दो वर्गों को जन्म दिया। अधिकतम लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से पूँजीपतियों ने श्रमिकों का शोषण करना प्रारम्भ कर दिया और इस कारण उनसे 18–20 घण्टे प्रतिदिन काम लिया जाता था। स्त्रियों एवं बच्चों को भी काम पर लगा कर उनसे अधिक कार्य लिया जाता था इसके साथ ही इन श्रमिकों को प्रतिकूल दशाओं एवं अस्वास्थ्यकर वातावरण में कार्य करना पड़ता था। साहूकारों एवं महाजनों ने स्थिति को और अधिक भयावह बना दिया था। एक तो श्रमिकों का पहले ही शोषण किया जा रहा था और फिर ये साहूकार भी उन्हें ऊँची ब्याज की दर पर ऋण देकर उनका शोषण कर रहे थे। श्रमिक संघ भी इस शोषण को नहीं रोक सके। श्रमिकों की यह दशा देखकर ओवेन काफी दुखी हुए और उन्होंने ऐसे सुधारों एवं परिस्थितियों पर विचार किया जिनसे श्रमिकों के जीवन को सुखी बनाया जा सके।

2. ओवेन को उनके समकालीन समाजवादी विचारकों ने भी प्रभावित किया। इनमें सिसमाण्डी, सेन्टसाइमन लिस्ट आदि के नाम उल्लेखनीय है यद्यपि इनके विचारों में ओवेन के विचारों की तुलना में भिन्नता थी परन्तु फिर भी इन सबने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विचारों का विरोध किया। ओवेन औद्योगिक अवदोषों को दूर कर एक नयी समाज की संरचना करना चाहते थे और इस सन्दर्भ में उन्होंने प्रतिष्ठित विचारधारा की अहस्तक्षेप की नीति का समर्थन किया।

3. ओवेन को दो महत्वपूर्ण घटनाओं ने भी प्रभावित किया—अमेरिका का स्वतन्त्रता संग्राम तथा फ्रान्स की राज्य क्रान्ति। इन घटनाओं के आर्थिक एवं सामाजिक परिणामों ने ओवेन के आर्थिक विचारों को एक दिशा प्रदान की।

ओवेन के विचार

समस्त समाजवादियों में ओवेन का व्यक्तित्व पूर्णरूप से मौलिक है। श्रमिकों की कल्याण की भावना को लेकर अपने समकालीन औद्योगिक क्षेत्र में

जो नेतृत्व ओवेन ने प्रदान किया वह अद्भुत था। कम से कम अपनी पुस्तक के नाम से समाजवाद का प्रयोग करने वाले आप प्रथम विचारक थे। आपका समाजवाद क्रान्तिकारी न होते हुए भी ओवेन एक व्यावहारिक समाजवादी थे। आपके विचार निम्न प्रकार हैं :—

श्रम कल्याण सम्बन्धी विचार

ओवेन की श्रमिको के कल्याण में गहरी अभिरुचि थी। अपने न्यूलेनार्क के कारखाने मे इन्होंने इस दिशा मे कई कदम उठाये जो उस समय की विषय परिस्थिति में सचमुच ही सराहनीय थे। यहाँ तक कि इसके लिए उन्होंने सामाजिक ढांचे में परिवर्तन करने का भी सुझाव दिया। अपने उद्देश्य को कार्यान्वित करने के लिए ओवेन ने कई सुधार प्रारम्भ किये तथा व्यावहारिक उपयोग की संस्थाओं की नींव डाली। इनके श्रमिको के कल्याण सम्बन्धी विचार से कई उत्पादकों ने प्रेरणा ग्रहण की। ओवेन ने अपनी सुधार योजनाओं का प्रारम्भ अपना न्यूलेनार्क मिलों से किया। कारखानो के श्रमिकों के लिए अपने रहने के लिए आवास, भोजनगृह एव उनके सामाजिक एव नैतिक कल्याण का ध्यान रखने के लिए अधिकारियों की नियुक्ति सम्बन्धी विचारों का समर्थन किया। इसके लिए उन्होंने निम्न बातों पर बल दिया।

1—उन्होंने श्रम करने के घण्टों के 17 से घटाकर 10 घण्टे प्रतिदिन कर दिया।

2—दस वर्ष से कम आयु के बच्चों को रोजगार नहीं दिया जाता था तथा उन्हे इस उद्देश्य के लिए बनाये गये स्कूलों मे निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी।

3—कारखाने मे लगाये जाने वाले समस्त जुर्माने समाप्त कर दिये गये।

4—श्रमिको की निःशुल्क चिकित्सा के लिए चिकित्सालय स्थापित किये गये।

5—श्रमिकों के लिए अच्छी एव उपयोग की वस्तुओ का प्रबन्ध किया गया और उनके लिए रहने के लिए मकान का निर्माण किया गया।

6—श्रमिकों के लिए मनोरंजन की व्यवस्था भी की गयी।

7—श्रमिको के लिए बीमा कोष की स्थापना भी की गयी। ओवेन ने अपनी न्यूलेनार्क मिल के बन्द रहने पर भी श्रमिकों को वेतन दिया।

उपर्युक्त सुधारो से ओवेन ने न्यूलेनार्क मिल को आदर्श कारखाना बनाने का प्रयत्न किया यद्यपि उन्हें अधिक सफलता नहीं मिली परन्तु यह स्वीकार

किये जाने योग्य है कि तत्कालीन परिस्थितियों में ओवेन ने उक्त सुधारों को अपना कर अत्यन्त साहस का कार्य किया। इन सुधारों का परिणाम यह हुआ कि न्यूलेनार्क के मिल के श्रमिकों ने काफी परिश्रम एवं सत्यनिष्ठा से कार्य किया जिससे उत्पादन क्षमता में काफी वृद्धि हुई और कारखाने ने काफी प्रगति की। इसकी चर्चा काफी दूर-दूर तक फैल गयी और विभिन्न क्षेत्रों के उद्योगपति, राजनीतिज्ञ एवं समाज सुधारक न्यूलेनार्क मिल देखने के लिए आये।

ओवेन को विश्वास था कि उसके द्वारा किये गये सुधारों से प्रभावित होकर दूसरे उद्योगपति भी उन्हें अपनायेंगे किन्तु अपनाना तो दूर रहा इन सुधारों को आरम्भ करने के लिए ओवेन का उपहास किया गया इसलिए उन्हें काफी निराशा हुई। फिर भी इन सुधारों ने भविष्य में बनने वाले फैक्टरी कानूनों के आधार पर कार्य किया। जब ओवेन को यह अनुभव हुआ कि उनके सुधार अन्य उद्योगपतियों को प्रोत्साहित नहीं कर सके तो उपर्युक्त सुधारों को कार्यरूप देने के लिए कानून का आश्रय लिया तथा इंगलैंड के साथ ही अन्य देशों की सरकारों से श्रमिकों को सुविधायें प्रदान करने के लिए सम्बन्धित अधिनियम बनाकर समर्थन देने की अपील की। यह उन्हीं के प्रयासों का परिणाम था कि सन् 1819 में इंगलैंड में प्रथम फैक्टरी विधेयक पारित हुआ जिसमें 9 वर्ष से न्यूनतम आयु वाले बालकों को रोजगार देने की अनुमति दी गयी।

परन्तु ओवेन को उपर्युक्त उपायों से कार्य सफलता नहीं मिली, अतः उन्होंने सहयोग के आधार पर व्यक्तियों की संस्थायें बनाकर वातावरण को बदलने का प्रयत्न किया क्योंकि उनका विश्वास था कि नवीन वातावरण समस्त सामाजिक प्रश्नों को हल कर देगा।

पर्यावरण का निर्माण

श्रम सम्बन्धी सुधारों से निराश होकर ओवेन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि श्रमिकों की कष्टपूर्ण स्थिति का कारण दोषपूर्ण वातावरण है और वातावरण को बदल कर ही व्यक्ति को परिवर्तित किया जा सकता है। उनका विश्वास था कि यद्यपि भौगोलिक एवं भौतिक तत्व मनुष्य को प्रभावित करते हैं लेकिन उस पर सामाजिक वातावरण का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। दूसरे शब्दों में, वह सामाजिक वातावरण की उपज है। स्वभाव से मनुष्य न तो अच्छा है और न बुरा। वह ठीक वैसा ही है जैसा पर्यावरण ने उसे निर्मित किया है और यदि वर्तमान में मनुष्य बुरा है तो इसका कारण यह है कि उसे

आसपास का वातावरण अच्छा नहीं है। इस प्रकार उनका कहना था कि मनुष्य
मानसिक एवं नैतिक रूप से सामाजिक वातावरण द्वारा नियन्त्रित होता है। उनका
दृढ़ विश्वास था कि वातावरण को बदलने से मनुष्य को परिवर्तित किया जा
सकता है। इस सम्बन्ध में प्रो० हेने का मत है कि उनका विश्वास था कि
प्राकृतिक रूप से मनुष्य अच्छे होते हैं। वस्तुओं की प्रकृति मे बुराई निहित नहीं है
परन्तु पूंजीवादी प्रणाली मे निहित है जो प्राकृतिक व्यवस्था को दूषित कर
देती है।

ओवेन ने इस बात पर अधिक जोर दिया कि व्यक्ति के चरित्र पर
वातावरण का विशेष प्रभाव पड़ता है। फ्रैंक नैफ के शब्दों में, उन्होंने घोषणा
की कि सब प्रकार के सत्यो मे यह महत्वपूर्ण है कि मनुष्य का चरित्र उसके
लिए बनाया जाता है न कि उसके द्वारा। इसके द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करना
चाहा कि मनुष्य अपने आसपास की परिस्थितियो का परिणाम है अतः वह अपनी
वर्तमान स्थिति के लिए उत्तरदायी नही है। ओवेन ने श्रमिकों की दशा सुधारने
के लिए न्यूलेनार्क मिल के वातावरण को बदलने के प्रयत्न किये। वे कहते हैं
कि मनुष्य की प्रगति मे तीन बाधायें हैं। निजी सम्पत्ति, धर्म एव विवाह की
संस्था। यदि इन्हें दूर कर दिया जाये तो मनुष्य के अन्दर रहने वाली अच्छी
प्रवृत्तियों को विकसित होने का अवसर मिलेगा।

ओवेन के विचारो की यह कह कर आलोचना की जाती है कि यदि मनुष्य
का निर्माण अपने वातावरण द्वारा होता है तो वह वातावरण को कैसे बदल
सकता है? परन्तु इसके होते हुए भी यह स्मरणीय है कि ओवेन के विचारों ने
ही 'उद्यान नगर' की धारणा को बना दिया। यदि नैतिक दृष्टि से देखा जाये
तो ओवेन के वातावरण के सिद्धान्त ने मानव को व्यक्तिगत उत्तरदायित्व से मुक्त कर
दिया क्योंकि उसका कोई भी कार्य अच्छा हो या बुरा, प्रशंसनीय हो या दोषयुक्त
उसके वातावरण के कारण ही है और उसका उत्तरदायित्व व्यक्ति को नहीं दिय
जा सकता। आर्थिक रूप से ओवेन के सिद्धान्त का यह प्रभाव हुआ कि भुगता
क्षमता के आधार पर न होकर कार्य के अनुसार होना चाहिए जिससे पूर्ण समान
स्थापित की जा सके। इसके पीछे मूल कारण यह है कि अधिक बुद्धिमान
अधिक क्षमता वाले व्यक्ति को अधिक परिश्रम क्यों मिलना चाहिए, जब
केवल वातावरण के कारण ही है।

-ओवेन को अपने उक्त प्रयोग में निराशा ही हाथ लगी और अन्त में
ने स्वयं स्वीकार किया कि उनके वातावरण को बदल कर समाज को पुन-

गठित करने का सिद्धान्त असफल सिद्ध हो गया। अतः उन्होंने नयी सामाजिक व्यवस्था निर्मित करने की महत्त्वाकांक्षा का परित्याग कर दिया, परन्तु उक्त सीमाओं के होते हुए भी प्रो० जोड एवं रोस्ट कहते हैं कि उनका रोग निदान शास्त्र का जनक माने जाने का दावा है। समाजशास्त्री अपने विषय के उस भाग को 'पर्यावरण निर्माण' कहते हैं जिसमें मनुष्य का वातावरण के पढ़ने वाला वातावरण का अध्ययन किया जाता है।

समाजवादी उपनिवेशों की स्थापना

ओवेन एक नवीन वातावरण का निर्माण करना चाहते थे एवं उत्पादन एवं उपभोग में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने सहकारी समुदायों की स्थापना पर बल दिया। उनका विश्वास था कि इन सहकारी ग्रामों या उपनिवेशों की स्थापना से उत्पादकों और उपभोक्ताओं में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो जायेगा। वे चाहते थे कि इन सहकारी उपनिवेशों में लोग ऐच्छिक रूप से सम्मिलित हों जिनकी आदर्श संख्या 800 से लेकर 1200 व्यक्तियों की होगी। इनमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता एवं प्रशिक्षण के अनुसार कार्य करेगा और उत्पादन की वस्तुओं को सब लोगों में वितरित कर दी जायेगी, परन्तु कुछ लोगों द्वारा ओवेन के इन विचारों की कटु आलोचना की गयी। अतः वे अमेरिका चले गये जहां उन्होंने 'न्यू हारमनी' नामक उपनिवेश की स्थापना की।

न्यू हारमनी की स्थापना सन् 1825 में इण्डियाना के नवीन राज्य में डेढ़ लाख डालर मूल्य देकर तीस हजार एकड़ का एक भूखण्ड खरीद कर की। प्रारम्भ में इसकी जनसंख्या 700 थी। कृषि ही यहां के लोगों का व्यवसाय था किन्तु कुछ कारखानों की स्थापना भी इसमें की गयी। जब ओवेन ने इस बस्ती की स्थापना की तो उसे अमेरिका के विभिन्न नगरों में भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया गया। वाशिंगटन में उनके स्वागत समारोह में राष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश तथा कांग्रेस के सदस्य सम्मिलित हुए। ओवेन की नवीन बस्ती में बसने वाले 100 व्यक्तियों को शिक्षा और योग्यता के आधार पर वहाँ कार्यकर्ताओं से चयन किया और उन्हें उनके योग्य विभागों की अध्यक्षता एवं निरीक्षण में रखा गया। भूमि पर सब को सामूहिक अधिकार प्रदान किया गया एवं सबको धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। ओवेन का उद्देश्य था कि व्यक्तियों के मध्य से धन एवं मजदूरी आदि का भेद भाव मिटा दिया जाय, परन्तु ओवेन का यह

प्रयोग सफल नहीं हो पाया क्योंकि बस्ती में काम करने वालों की अपेक्षा आपस में झगड़ने वाले विद्वानों की संख्या बढ़ गयी। ओवेन की उपस्थिति में तो बस्ती का कार्य फिर भी ठीक-ठीक चलता रहा किन्तु उसके इंगलैंड लौटते ही बस्ती में बौद्धिक और धार्मिक मतभेद इतने बढ़ गये कि केवल तीन वर्ष पश्चात सन 1827 में ही इस बस्ती को साम्यवादी आदर्श पर चलाने का परीक्षण विफल हो गया। इस बीच अमेरिका के कई स्थानों पर हारमनी के आदर्श के अनुरूप अनेक बस्तियां बनायी गयीं, लेकिन वे सफल नहीं हो सकीं। इन सबकी असफलता ने ओवेन के कार्यक्रम को अव्यावहारिक ही सिद्ध किया।

न्यूहारमनी से निराशा हाथ लगने के कारण भी ओवेन ने अपना प्रयोग बन्द नहीं किया वरन् सन् 1825 में स्काटलैंड में आर्बिस्टन नामक स्थान में अपने दो शिष्यों की सहायता से एक नया उपनिवेश बनाया। साम्यवादी रूप से स्थापित इस उपनिवेश में व्यक्तियों को समान रूप से वेतन देने एवं समान काम वितरित करने की योजना बनायी गयी। कुछ उद्योग भी स्थापित किये गये जिनमें सफलता भी मिली। इस सफलता से प्रभावित होकर कई व्यक्तियों ने इस उपनिवेश में अपने धन का विनियोग किया। लेकिन एक वर्ष के पश्चात् ही उपनिवेश की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो गयी क्योंकि ओवेन के एक शिष्य की मृत्यु हो गयी। अन्त में उपनिवेश पर ऋण का भार इतना अधिक बढ़ गया कि उसे नीलाम कर देना पड़ा और इस प्रकार ओवेन का दूसरा प्रयोग भी विफल हो गया।

उक्त असफलता के पश्चात भी ओवेन के समर्थकों ने हेम्पशायर में क्वीन्स वुड में सन् 1839 में एक उपनिवेश की स्थापना की। ओवेन को उसका अध्यक्ष बनाया गया किन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण उन्होंने त्यागपत्र दे दिया और सन् 1845 में यह उपनिवेश भी समाप्त हो गया।

इस प्रकार ओवेन के सहकारी बस्तियों या उपनिवेशों को स्थापित करने के सारे प्रयत्न असफल हो गये। और अन्त में उन्होंने स्वयं स्वीकार किया कि वातावरण को बदल कर समाज के पुनर्निर्माण करने के उनके सारे प्रयत्न असफल रहे।

लाभ की समाप्ति

उपनिवेशों की स्थापना में असफल होने पर ओवेन इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि आर्थिक वातावरण को परिवर्तित करने के लिए लाभ की समाप्ति आवश्यक

उनका विश्वास था कि चूंकि लाभ उत्पादन लागत के अतिरिक्त लिया वाला धन है अतः यह अनुचित एवं पाप है। लाभ की उपस्थिति ही श्रमिकों शोषण का कारण है अतः वे चाहते थे कि वस्तुओं की विक्रय लागत पर ही चाहिए और इससे अधिक में विक्रय करना अन्यायपूर्ण है। लाभ की इच्छा रण ही अत्युत्पादन एवं न्यूनोत्पादन की समस्याओं का सामना करना पड़ता जिसका परिणाम न्यून उपभोग होता है और ये सब मिलकर आर्थिक संकट जन्म देते हैं। लाभ के कारण ही श्रमिक को उसके श्रम के समान पुरस्कार मिल पाता। अतः उसका उपभोग कम हो जाता है। अतः ओवेन इस र्ष पर पहुचते हैं कि उक्त श्रमिकों के शोषण को लाभ की समाप्ति द्वारा न्द किया जा सकता है, अतः उन्होंने ऐसी व्यवस्था की खोज की जो लाभ को ली के बिना ही कार्यान्वित हो सके।

ओवेन का कहना था कि लाभ का मूल कारण विनिमय है जो मुद्रा पर गरित है। अतः वे चाहते थे कि मुद्रा का प्रयोग बन्द कर दिया जाय क्योंकि त्विक मुद्रा ही अपराध है, अन्याय तथा आवश्यकता का कारण है जो चरित्र नष्ट कर जीवन को अव्यवस्थित कर देती है। प्रश्न उठता है कि क्या स्वतन्त्र योगिता से लाभ का अन्त किया जा सकता है। कुछ विचारकों के अनुसार न ऐसा नहीं मानते थे। उनके अनुसार प्रतियोगिता और लाभ, इन दोनो पृथक नहीं किया जा सकता। यदि इनमें से एक युद्ध है तो दूसरा संघर्ष विनाश। आगे वे कहते हैं कि विशेषकर जब लाभ लागत में सम्मिलित कर या जाता है तो पूर्ण प्रतियोगिता में भी लाभ को समाप्त नहीं किया जा ता। अतः ओवेन एक ऐसी प्रणाली की खोज करना चाहते थे जिसमें लाभ कोई स्थान न हो। ओवेन के अनुसार मुद्रा या स्वर्ण के माध्यम से ही लाभ ाया जा सकता है। अतः वे मुद्रा के बदले में श्रम पत्रों का उपयोग करने के में थे जो मुद्रा से श्रेष्ठ मूल्य-मापक का कार्य करेंगे। उनका यह मत इस वास पर आधारित था कि श्रम ही समस्त मूल्य का स्रोत है। अतः वस्तुओं का य श्रम में ही व्यक्त किया जाना चाहिए।

ष्ट्रीय समान श्रम विनिमय

लाभ समाप्त करने के लिए ओवेन ने मुद्रा के स्थान पर श्रम पत्रों की जना बनायी और इसे कार्यरूप देने के लिए सन् 1833 में लन्दन में राष्ट्रीय मान श्रम विनिमय की स्थापना की गयी। यह श्रम विनिमय संस्था एक

सहकारी समिति के रूप में थी जिसमें 840 सदस्य थे जो सब औद्योगिक श्रमिक थे। इसके अन्तर्गत समाज का प्रत्येक सदस्य अपने श्रम के उत्पादन को एक केन्द्रीय भण्डार मे जमा करके उसके बदले में अपने श्रम के घण्टों के अनुपात में श्रम पत्र प्राप्त कर सकता था। इस श्रमपत्रों के बदले में श्रम मूल्य वाली कोई भी वस्तु प्राप्त कर सकता था। इस प्रकार उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं में प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो जाता था और लाभ अपने आप समाप्त हो जाता था परन्तु यह प्रयोग अधिक समय तक नही चल सका एवं असफल हो गया, परन्तु यह प्रयत्न तो गौण महत्व का था। इसके पीछे लाभ समाप्ति का जो मूल उद्देश्य था, वह सहकारिता के रूप मे प्रस्फुटित हुआ। इसका वास्तविक आरम्भ ओवेन के के सहकारी भण्डार से होता है।

श्रम विनिमय के सचालन मे काफी कठिनाइयों के कारण ही उसमें सफलता नही मिल सकी। श्रमिको को अपने श्रम घन्टे स्वयं लिखने का अधिकार दे दिया गया जिसका उन्होने दुरुपयोग किया और श्रम घन्टों को बढा कर लिखने लगे। फिर वस्तुओं का श्रममूल्य निर्धारित करने मे भी कठिनाई हुई। केन्द्रीय भण्डार में ऐसी बहुत सी वस्तुये जमा कर दी गयीं जिनका कोई खरीददार नहीं था। चूंकि श्रम पत्र हस्तान्तरणशील थे कई व्यापारी श्रमिकों के श्रम पत्र लेकर बाजार से अच्छो और सस्ती वस्तुयें खरीद लाते थे जिसका परिणाम यह हुआ कि "श्रम विनिमय" मे केवल महगी एवं खराब वस्तुयें ही रह गयी। ऐसी दशा मे व्यापारियो ने श्रमिकों से श्रमपत्र लेना बन्द कर दिया जिससे श्रमिकों को कठिनाई हुई। वहां पर श्रम विनिमय में सीमित वस्तुयें ही उपलब्ध होती थी, श्रमिक मुद्रा का प्रयोग कर अपनी आवश्यकताओं की वस्तुयें खरीदते थे। एक कठिनाई यह भी हुई कि योजना के अनुसार श्रम के द्वारा ही विक्रय व मूल्य निर्धारित होना था परन्तु विक्रय के मूल्य के आधार पर श्रम मूल्य निर्धारित होने लगा।

उक्त कठिनाइयो के कारण श्रम विनिमय संस्था का अन्त हो गया और ओवेन को काफी निराशा हुई। इस सस्था से सहकारी भण्डारों की स्थापना को प्रोत्साहन मिला। यद्यपि ओवेन को इन सहकारी समितियो का जन्मदाता नही कहा जा सकता लेकिन इनकी स्थापना के पीछे ओवेन की गहरी प्रेरणा छिपी हुई थी। उनकी लाभ की समाप्ति की योजना इन सहकारी समितियों में परिलक्षित होती है जिसमे मध्यस्थतों से मुक्ति पाने के लिए उत्पादको एवं उपभोक्ताओं के मध्य मे सीधा सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। ओवेन ने जिस

सहकारिता को बल दिया, उसी की प्रेरणा से इंगलैंड में सहकारी समितियों का विकास हुआ एवं उत्पादकों ने अपने सहकारी संघ बनाए तथा उपभोक्ताओं ने भी अपनी सहकारी संस्थाओं की स्थापना की। यद्यपि इन्हें अधिक सफलता नहीं मिली किन्तु सहकारी आन्दोलन के एक पक्ष की जड़ जम गयी।

श्रमपत्र प्रणाली को ओवेन अपनी एक अद्वितीय खोज मानते थे। उन्हीं के शब्दों में यह खोज मैं प्रिन्टो एवं पीस की खानों से अधिक महत्वपूर्ण थी। परन्तु उनकी यह योजना उनके उस साम्यवादी आदर्श के विपरीत थी जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुरूप भुगतान करने का प्रावधान था। श्रमपत्र प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक श्रमिक को उसकी क्षमता के अनुसार भुगतान दिया जाता था तो फिर इस प्रणाली में यह दोष भी था कि यह वितरण के अनुकूल नहीं थी। जहाँ तक ओवेन का यह विचार था कि लाभ को समाप्त करने के लिए मुद्रा का प्रयोग समाप्त कर देना चाहिए, यह भ्रामक एवं दोषपूर्ण है क्योंकि वस्तु विनिमय प्रणाली में भी लाभ प्राप्त किया जा सकता है।

ओवेन का प्रभाव एवं मूल्यांकन

यद्यपि ओवेन के समाजवादी विचार एक क्रमबद्ध दर्शन का निर्माण करने में असमर्थ रहे हैं तथापि तत्कालीन परिस्थितियों में समाज के अन्दर जो बुराइयां आ गयी थी उनके कारणों का विवेचन करने तथा उनके निवारण के निमित्त उसके द्वारा दिये गये सुझाव पर्याप्त महत्व के हैं। उसके विचारों का महत्व बिना लाभ की प्रणाली की सहकारी संस्थायें सदैव ओवेन का सबसे महत्वपूर्ण कार्य रहेगा और इस आन्दोलन के विकास के साथ ओवेन की प्रसिद्धि जुड़ी रहेगी। वास्तव में वे सहकारी आन्दोलन के जनक थे और यदि उनके प्रयोग असफल हुए तो इसलिए कि उसके उद्देश्य ऊँचे थे और वे मनुष्य को पूर्ण विवेकयुक्त प्राणी समझते थे। यह ओवेन के प्रयासों का ही फल था कि अट्ठाइस साधकों ने, जो अपने को राचडले पायनियर्स कहते थे जिनमें से छ तो ओवेन के ही शिष्य थे, उपरोक्त सहकारी आन्दोलन आरम्भ किया। यद्यपि ओवेन के लिए यह आन्दोलन क्षणिक महत्व रखता था, किन्तु समय व्यतीत हो जाने पर इंगलैंड के श्रमिक दल की वास्तविक शक्ति का एक महान् साधन बन गया। सहकारी आन्दोलन एवं ओवेन के समन्वय को स्पष्ट करते हुए प्रो० जीड एवं रोस्ट महोदय कहते हैं कि इस समय ओवेन की आयु तेहत्तर वर्ष की थी। उन्होंने कठिनाई से

इस बात का अनुभव किया कि उन्होंने एक युग (सहकारी आन्दोलन के रूप में) को जन्म दिया है।

उद्योग सम्बन्धी कानूनों को बनाने में भी ओवेन ने सराहनीय योगदान दिया। यह संयोग की ही बात है कि ओवेन ने औद्योगिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में मूल्यवान योगदान दिया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि यह आवश्यक नहीं है कि देश का औद्योगिकीकरण सस्ते और शोषित श्रम के आधार पर ही किया जाय। उन्होंने कारखाने सम्बन्धी कानूनों के निर्माण के लिए मार्ग प्रदर्शित किया और इस क्षेत्र में सरकार की भूमिका पर प्रकाश डाला। दूसरे काल्पनिक समाजवादियों की भाँति ओवेन भी सामाजिक व्यवस्था को बदलना चाहते थे, अन्तर केवल इतना ही है कि दूसरों ने तो इस बात पर केवल बहुत कुछ लिखा हो, किन्तु उन्होंने सक्रिय रूप से इसे बदलने का प्रयत्न किया।

ओवेन ने इस कथन के द्वारा कि 'मनुष्य परिस्थितियों की ही रचना है' एक अधिक शक्तिशाली आशा दर्शन लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया। इन्होंने समाज सुधारक के रूप में अपने आदर्शों को पाने के लिए अपना समस्त धन समर्पित कर दिया। एक आदर्श स्कूल खोला तथा शिशु सदन और किंडरगार्टन स्थापित किये और चिकित्सोत्सव निधि स्थापित की। समय-समय पर कानून बनाने के निमित्त व्यापक सार्वजनिक आन्दोलन भी प्रारम्भ किया। इनके पीछे जो भावना थी वह उनके राजनीतिक विचारों की महत्ता प्रकट करती है। वह निजी स्वामित्व का उन्मूलन करके और उत्पादन के सभी साधनों को सार्वजनिक सम्पत्ति में बदल कर अर्थात् साररूप में समाजवादी समाज का निर्माण करके मानवजाति सदैव के लिए दासता के मुख्य कारण और सामाजिक जीवन को आक्रान्त करने वाले छल और धोखाधड़ी के अनन्त स्रोत का अन्त कर देगी और स्वतन्त्रता से सांस ले सकेगी। ओवेन की समाजवादी धारणायें विकासवादी थी न कि हिंसावादी। अतः ओवेन को ब्रिटिश समाजवादी चिन्तक का जनक मानना सर्वथा उचित है। उसने जो भी सुधार की योजनायें प्रस्तुत की जो ब्रिटिश शासन व्यवस्था के अन्तर्गत शनैः-शनैः क्रियान्वित की जा सकती थीं और उनके द्वारा बिना क्रांतिकारी आन्दोलनों के सामाजिक व्यवस्था में सुधार लाया जा सकता था। इस प्रकार ओवेन के विचारो का प्रभाव आने वाले समाजवादियों मे परिलक्षित होता है और उसके अनुयायियों ने उसके विचारों को प्रसारित किया। इनमें विलियम थाम्पसन का नाम प्रमुख है। उन्ही के माध्यम से ही मार्क्स पर ओवेन का प्रभाव पड़ा।

फ्रान्सिस मेरी चार्ल्स फूरिये —जीवन परिचय

फूरिये का जन्म सन् 1772 में बेसनकन (सन् 1772–1837) नामक स्थान पर हुआ था। उसके पिता कपड़े के व्यापारी थे। उसके पिता की मृत्यु काफी जल्दी हो गयी थी। व्यापार में सफलता न प्राप्त होने के कारण उसने लेखन कार्य में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया। इसी समय कुछ फर्मों के प्रतिनिधि के रूप में फूरिये ने फ्रान्स, जर्मनी एवं हालैण्ड की यात्रा की। उन्होंने अपना जीवन एक असफल वाणिज्यिक घुमक्कड़ की भाँति ही व्यतीत कर दिया। सन् 1793 में वे अपने पिता से प्राप्त सम्पत्ति को आतंक के शासन काल में खो बैठे। इसके बाद दो वर्ष तक इन्होंने सेना में कार्य किया। जब फूरिये की आयु 40 वर्ष की थी तो उनकी माता का भी निधन हो गया और उन्हें उत्तराधिकार में काफी धन मिला और इन्हें उत्तराधिकार में काफी धन प्राप्त हुआ। उसे सामाजिक सुधार सम्बन्धी योजनाओं के लिए ख्याति प्राप्त हुई। ऐसा विश्वास किया जाता है कि उसके जीवन में दो ऐसी घटनायें घटित हुईं जिन्होंने उसे सामाजिक समस्याओं के अध्ययन के लिए तथा उनके उपचार ढूंढ निकालने के लिए प्रेरित किया था। प्रथम, उसे सच बोलने पर उसके स्वामियों ने दण्ड दिया था और दूसरे मर्सेल के बन्दरगाह में चावलों को नष्ट करने में जो उसने भाग लिया था उसका उस पर गहरा प्रभाव पड़ा था। बात कुछ ऐसी थी कि पूंजीपतियों ने अत्यधिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से चावल को बड़ी मात्रा में एकत्र कर लिया था, किन्तु वह भण्डार गृहों में नष्ट हो गया और फिर उसको समुद्र में फेंका गया। वह इस बात से इतना प्रभावित हुआ कि उसके मस्तिष्क में यह जम कर बैठ गया कि समाज व्यवस्था में कोई दोष अवश्य है जो मनुष्य को झूठ बोलने के लिये विवश करता है और मनुष्य को समाज नष्ट करने की आज्ञा देती है। वे जीवन पर्यन्त अविवाहित रहे तथा 65 वर्ष की आयु में इनका निधन हो गया।

फूरिये की रचनायें :

फूरिये के प्रमुख ग्रन्थ निम्न हैं :—

1. The Theory of Four Movements and the General Destinies (सन् 1808) में लिखी।
2. The Theory of Universal Unity सन् 1822 में लिखी।
3. The New Industrial and Social World सन् 1829 में लिखी।

प्रभावित करने वाले कारण

सामान्य रूप से फूरिये को निम्न कारणों ने प्रभावित किया जो निम्न प्रकार हैं :—

1. औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप समाज दो वर्गों में विभक्त हो गया था—उद्योगपति एवं श्रमजीवी वर्ग। पूंजीपति श्रमिकों का शोषण कर रहे थे जिससे फूरिये प्रभावित हुए।

2. औद्योगिक क्रान्ति एवं प्रतियोगिता ने आर्थिक संकट को जन्म दिया। इसके कई कष्टदायक परिणाम सामने आये। अत्युत्पादन, बेरोजगारी एवं मूल्यों में अस्थिरिता। इससे समाज को काफी कठिनाइयां हुई और फूरिये भी इनसे पीड़ित होकर एक नवीन समाज की सरचना के लिए प्रेरित हुए।

3. समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार और छल कपट ने भी फूरिये को प्रभावित किया। यही कारण थे कि पर्याप्त पूंजी होने पर भी उन्होंने व्यापार का परित्याग कर दिया।

4. राबर्ट ओवेन के समाजवादी विचारो ने भी फूरिये को प्रभावित किया, यद्यपि कुछ रूपों में इन दोनो के विचारो मे भिन्नता थी।

फूरिये का समाज दर्शन

उसके समाज दर्शन का सार आकर्षण नियम मे निहित है। उसका विश्वास था कि यह नियम सर्वव्यापी है। विश्व में कोई ऐसी आस्था अवश्य है जो मनुष्य को आपस में मिलाती है तथा सामूहिक ढंग से कार्य करने के लिए प्रेरित करती है। इस नियम के संचालन में जो मनुष्य कृत बाधायें उत्पन्न हुई हैं उन्ही के कारण सामाजिक दोष उत्पन्न हुये हैं। इसी कारण मनुष्य समाज विरोधी बन गया है। उसका उद्देश्य इन बाधाओं को दूर करना और शांति तथा एकता स्थापित करना था।

फैलंक्स (Phalanxes or Phelaustere)

उसके अनुसार मुख्य रूप से मनुष्य की 12 अभिरुचियां होती हैं। जैसे सुनना, देखना, सूंघना, महसूस करना, स्वाद, द्वेष, भावना, स्नेह, भ्रातृत्व, षड्यन्त्र, परिवर्तन के लिए चाह व और एकता की इच्छा, किन्तु इन अभिरुचियों को कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं है। जब ये अभिरुचियां एक साथ मिल जाती हैं तो भाइयों जैसा प्यार स्थापित हो जाता है। उसके अनुसार विभिन्न व्यक्तियों में

ये अभिरुचियां 820 प्रकार से एक साथ मिल सकती हैं। एक आदर्श समाज में अभिरुचियों के ये सभी संयोग सम्भव होना चाहिए। उसका अनुमान था कि एक संयोग में कम से कम 1500 तथा अधिक से अधिक 2000 व्यक्ति या लगभग 400 परिवार होने चाहिए। इस लिए इसका सुझाव था कि व्यक्तियों को अपना संगठन ऐच्छिक संस्थाओं के रूप में करना चाहिए जिसे उसने फेलंक्स अथवा फेलंसटेरी कहा था। प्रत्येक फेलंसटेरी का संगठन एक आधुनिक होटल के समान होगा। इसका एक बड़ा तथा वैभवशाली भवन होगा जिसमें सभी प्रकार के रहने के स्थान होंगे। भोजन करने के सामान्य कमरे होंगे तथा थियेटर, पुस्तकालय, स्कूल, और आरामदेह जीवन व्यतीत करने की अन्य आवश्यक वस्तुयें होंगी। प्रत्येक फेलंक्स छोटी छोटी इकाइयों में उपविभाजित होगा। बड़ी बड़ी इकाइयां समूह और छोटी छोटी इकाइयां शृंखलायें कहलायेंगी। प्रत्येक व्यक्ति को शृंखलाओं अथवा समूहों की सदस्यता प्राप्त करने की स्वतन्त्रता होगी। अनाज तथा कच्ची सामग्री के उत्पादन के लिए प्रत्येक फेलन्सटेरी के पास 400 एकड़ भूमि होगी। भवन में पांच वर्गों के रहने के लिए कक्ष होंगे। इसमें व्यक्ति को अपनी आय के अनुसार से प्रथम, द्वितीय, अथवा तृतीय श्रेणी की सुविधायें प्राप्त होंगी। भवन के चारों ओर खेत एवं औद्योगिक संस्थान होंगे। भूमि पर मेवा, फल तथा सब्जी आदि की खेती एवं मवेशी पालन, मुर्गी पालन केन्द्र आदि व्यवसाय होंगे।

इस व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन कुछ घण्टों के लिए अपनी रुचि का कार्य करेगा। बच्चों के लिए भी हलके कार्यों की व्यवस्था होगी। इस प्रकार प्रायः सब क्षेत्रों में सह अस्तित्व की भावना में मूल फूरियें का यह उद्देश्य था कि केवल वातावरण में परिवर्तन करने से ही किसी समस्या का हल निकाला जा सकता है। इस प्रश्न पर वे ओवेन के विचारों से सहमत थे। आर्थिक रूप से बहुत सी वस्तुयें सामूहिक होने से अधिक अच्छी होने के साथ सस्ती एवं सुलभ भी होंगी। अतः उपभोक्ता न्यूनतम लागत पर अधिकतम सुविधायें प्राप्त कर सकेगा। सामाजिक दृष्टि से, साथ रहने से लोगों में आपस में सहयोग एवं सहानुभूति की वृद्धि होगी।

फलेंक्स के लाभों के सम्बन्ध में फूरियें अधिक आशावान थे। उनका विश्वास था कि धनी व्यक्तियों के सम्पर्क में आने से निर्धन व्यक्तियों के व्यवहार में भी परिवर्तन होगा। संयुक्त राज्य अमेरिका में फूरियें की गहरी छाप पड़ी

जहाँ लोगो ने फैलंक्स के ढंग से रहना प्रारम्भ किया, क्योंकि जीवन व्यय वहाँ अत्यधिक महगा हो गया था।

वास्तव में फैलक्स की व्यवस्था एक सहकारिता के सिद्धान्त पर थी। इसमें उपभोक्ता और उत्पादक दोनों का ही एक समूह था। फैलक्स की आत्मनिर्भरता की व्यवस्था की गयी थी। फिर भी उत्पादन अतिरिक्त होने पर या कमी पड़ने पर अन्य फैलक्स से विनिमय किया जाता था। प्रत्येक फैलंक्स की स्थापना एक सयुक्त पूजी कंपनी के समान थी जिसमें निजी पूजी को पूर्ण रूप से समाप्त करने का उद्देश्य नही था वरन् उसे एक सामूहिक पूजी के रूप में रूपान्तरिक करना था। पूजी के इस प्रकार रूपान्तरित करने के लाभों की चर्चा करते हुए फूरिये कहते हैं कि किसी भी मात्रा में भूमि या मुद्रा की अपेक्षा इसमे फैलंक्स एक भाग वास्तव मे अधिक मूल्यवान है।

फूरिये के अनुसार इस प्रकार फैलंक्स से जो लाभ होगा वह सामूहिक लाभ होगा और अतिरिक्त धन का 5/12 भाग तो श्रमिक वर्ग को मिलेगा, 4/12 भाग पूजीपति वर्ग को और 3/12 भाग योग्य एवं कुशल लोगों को मिलेगा। प्रत्येक व्यक्ति पूजी, श्रम तथा कुशलता तीनो रूपो मे अपना योगदान देता है अत वह इन तीनो रूपो मे अपना भाग पाने का अधिकारी है। फूरिये केवल इस बात से सहमत नही थे कि उत्पादन सहकारिता के आधार पर हो। समस्या की गहराई में जाते हुए वे कहते हैं कि अर्थशास्त्री के लिए हल करने के लिए पहली समस्या ऐसे प्रयत्नों की खोज करना है जिससे एक श्रमिक को एक सहकारी स्वामी के रूप में रूपान्तरित किया जा सके।

श्रमिक को स्वामित्व देने की आवश्यकता इस लिए है ताकि उसे उत्पादक बनाया जा सके क्योंकि आज के सभ्य समाज मे सम्पत्ति की भावना सबसे अधिक शक्तिशाली है। फैलक्स मे होने वाले लाभों में से श्रमिक न केवल मजदूरी के लिए भाग प्राप्त करेगा वरन् एक हिस्सेदार के रूप में लाभ प्राप्त करेगा। प्रशासन मे उसका उत्तरदायित्व रहेगा।

यद्यपि फूरिये की योजना पेचीदगी पूर्ण है फिर भी उन्होंने पूंजीपति, श्रमिको एव उपभोक्ताओं के परस्पर विरोधी हितो को समन्वित करने का प्रयत्न किया। इस उद्देश्य के लिए उन्होंने प्रत्येक व्यक्त को इन तीनों में भाग दिया। फूरिये को विश्वास था कि ये तीनो हित प्रत्येक व्यक्ति में समाहित होने से संघर्ष समाप्त नहीं तो कम से कम विवेकपूर्ण होने से सीमित हो जायेगा। इस प्रकार

दोनों गान्तों को सहकारी ढंग से मिलाने का फूरिये का प्रयास असाधारण ही कहा जायेगा।

भूमि की वापसी

फूरिये इस बात के समर्थक थे कि बड़े-बड़े नगरों का विकेन्द्रीकरण या बिखराव होना चाहिए तथा वहाँ की जनसंख्या को फैलक्स में स्थानान्तरित किया जाना चाहिए। ये केन्द्र मध्यम वर्ग के कस्बे होंगे जिनमें 400 परिवार रह सकेंगे। ये कस्बे भूमि से घिरे हुए किसी नदी के किनारे होंगे जिनके चारों ओर पर्वत श्रेणियाँ होंगी। इसके पीछे फूरिये की प्रकृति की गोद में वापस जाने की भावना थी। इस प्रकार फूरिये उद्यान नगरों को प्रेरणा देने वालों में से थे।

दूसरी दृष्टि से, फूरिये बड़ी मशीनों एवं कारखानों के पक्ष में नहीं थे तथा उन्हें न्यूनतम स्तर पर लाना चाहते थे। इस प्रकार वह औद्योगिकवाद को तिरस्कार की भावना से देखते थे, परन्तु वह पूंजीवाद के प्रति घृणा नहीं करते थे, क्योंकि उन्होंने फैलैक्सों में पूंजीपतियों को भी सम्मिलित किया था जिन्हें भूमि तथा उपकरण खरीदने के लिए अपनी पूंजी लेकर आना था। उन्हें उनकी पूंजी का ऊंचा ब्याज दिया जाता था और उन्हें विशेषाधिकार प्राप्त होते।

श्रम का महत्व

फूरिये के पहले श्रम को जो स्थान प्राप्त था उन्होंने उससे भिन्न महत्व श्रम को दिया। उन्होंने बताया कि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली के अन्तर्गत श्रम स्वतन्त्र नहीं होता और श्रमिकों को इसके अन्तिम परिणामों में कोई अभिरुचि नहीं होती। श्रम को आनन्द और सुख का स्रोत होना चाहिए किन्तु इसके स्थान पर यह अभिशाप और कष्ट का कारण।

फूरिये ने यह भी बताया कि पूंजीवाद के अन्तर्गत श्रम के औजारों तथा पूंजी का अधिकाधिक संकेन्द्रण होता जाता है और इससे सम्पूर्ण समाज पर मुट्ठी भर पूंजीपतियों का नियन्त्रण हो जाता है। पूंजीवादी स्पर्धा के फलस्वरूप इजारेदारी अस्तित्व में आ जाता है, निहित स्वार्थी समाज को अधिकाधिक अपने शिकंजे में कस लेते हैं और सामन्तवाद के पुन: स्थापना का भय उत्पन्न हो जाता है। इसके साथ ही कृषि के क्षेत्र में तकनीकी की उपलब्धियाँ तथा श्रम में सहयोग का लाभ छोटे किसानों की पहुँच के बाहर हो जाता है। ऐसी दशा में सामाजिक प्रगति एक प्रपंच बन जाती है। धनी अधिक धनवान होता है जबकि निर्धन

जहां के तहां बने रहते हैं। धन मे वृद्धि होती है परन्तु निर्धनता में कमी नहीं होती। मुनाफाखोर और जालसाज सर्वाधिपति बन जाते हैं और सारे साम्राज्यों की नकेल उनके हाथ में आ जाती है।

धनी और निर्धन के मध्य की विषमता बढ़ती जाती है। वे युद्ध की स्थिति मे पहुंच जाते हैं। सार्वजनिक हितों तथा निजी हितो में टक्कर होती है। सामाजिक प्रणालो का अर्थ एक के विरुद्ध सबका और सबके विरुद्ध एक का युद्ध है। व्यक्ति सतत् समष्टि का विरोधी बना रहता है, दूसरों के दुर्भाग्य और यहा तक कि विनाश पर एक का सुख आधारित होता है। फूरिये ने इन बातों का स्पष्ट खण्डन किया।

श्रम को, शोषक समाज में जिसका अर्थ बेगार है, आनन्द में, भावी समाज के स्वतन्त्र नागरिक की एक अनिवार्य आवश्यकता में, परिवर्तित करने की अपरिहार्य आवश्यकता पर जोर देने का फूरिये को अधिकतम श्रेय दिया जाना चाहिए। उन्होंने श्रम के पूंजीवादी विभाजन को, जो व्यक्ति को शक्तिहीन और साधनहीन बनाता है, अतः फूरिये ने इन प्रश्नों का उत्तर दिया। वे चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति श्रम करने के लिए आकर्षित हो तथा काम करने मे जी न चुराये। उसका विश्वास था कि ऐसा कोई कारण नही है कि श्रम को अपमान की दृष्टि से देखा जाय। फैलेक्सों की स्थापनायें मनुष्य को श्रम विवश होकर नही करना पड़ेगा। वरन् योग्यतानुसार कार्य को चयन करने का अवसर होगा और व्यक्तियों को एक ही प्रकार का कार्य करने के लिए विवश नहीं किया जायगा, वरन् श्रम के प्रति उनके मन में प्रेम जागृत होगा। अतः श्रम सृजनात्मक प्रक्रिया बन जाता है जिसमें मनुष्य का उत्साह अपने को प्रकट करता है और सार्वजनिक हितों के साथ निजी हित एकाकार हो जाते हैं।

फूरिये के विचार तो काफी सराहनीय थे। उसने शिक्षा-पद्धति पर भी विचार व्यक्त किये हैं। उसने लिखा कि बच्चो को आयु के अनुसार तीन श्रेणियों मे विभक्त किया जाय अर्थात् 19 महीनो तक (Nourrissons) 19 से 33 महीनों तक (Ponpons) और 33 से 54 महीनो तक (Bombins) कहेंगे। उनके अनुसार जब तक बच्चों की आयु 6 या 7 वर्ष की नही हो जाती, उन्हें कोई भी शिक्षा प्रदान नहीं की जायेगी। स्वभाव से ही बच्चे धूल मिट्टी में खेलने के शौकीन होते हैं इसलिए उनका काम पशुओं को देखभाल करना, सर्प तथा रेंगने वाले जानवरों को मारना, सड़कों की मरम्मत करना और कठघरों में काम करना

होगा। छोटे लड़कों में से 1/3 और छोटी लड़कियों में 2/3 को व्यक्तिगत सफाई सम्बन्धी कार्यों में लगाया जायेगा। इनको लिटिल बैण्ड कहेंगे। वह स्त्रियों को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करना चाहता था और उसका प्रस्ताव था कि स्त्रियों पर व्यक्तियों का समान अधिकार होना चाहिए। वह विवाह के विरुद्ध था क्योंकि वह समझता था कि विवाहित व्यक्ति अपनी पत्नी तथा बच्चों की अधिक देखभाल करते हैं और अन्य व्यक्तियों से उनको कोई सहानुभूति नहीं रहती।

मूल्यांकन

फूरिये का सामाजिक संगठन सम्बन्धी फैलेक्स का सिद्धान्त पूर्णतया काल्पनिक है जिसका व्यवहार में प्रयुक्त किया जा सकना असम्भव नहीं तो संदिग्ध अवश्य है। जी० डी० एच० कोल के अनुसार उसकी सभी रचनाओं में कोरा प्रमाद देखने को मिलता है। अलेक्जेंडर ग्रे के अनुसार 'वह मूर्खता से दूर कभी न था।' अतः कुछ विचारकों ने उसे सनकी विचारक कहा है। चाहे फूरिये के विचार कितने ही प्रमादपूर्ण व मूर्खतापूर्ण क्यों न हों इससे मना नहीं किया जा सकता कि उसने समाजवाद को समाजवाद के सहयोगी विचारों की कुछ स्थायी देन दी है। यद्यपि फूरिये आजन्म अविवाहित रहे तथा उन्होंने बच्चों के विषय में अधिक ध्यान नहीं दिया, फिर भी शिक्षा के सम्बन्ध में उनके विचार प्रशंसनीय हैं। किण्डरगार्टन शिक्षा प्रणाली को प्रारम्भ करने वाले फ्रोबेल फूरिये के अनुयायी थे। फूरिये ने फैलेंक्स की जो कल्पना की थी उसे बाद में सफलता मिली। अमेरिका में सन् 1841 में ब्रुक फार्म की स्थापना की गयी थी जो इस दिशा में सराहनीय कार्य रहा। [illegible] व्यक्ति इससे सम्बन्धित थे। ऐसी अन्य बस्तियों की स्थापना भी अमेरिका में की गयी। फ्रान्स में तो इनका प्रभाव अभी भी है। समय से काफी पूर्व समाज की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा नैतिक सभी प्रकार की व्यवस्थाओं की आलोचना कर सामूहिक जीवन की कल्पना करके फूरिये ने यह प्रमाणित कर दिया कि वे समय से काफी आगे थे। उसने इस बात पर भी बल दिया कि अनियमित व्यक्तिवाद अवांछित है तथा [illegible] के सहयोग द्वारा ही दूर किया जा सकता है। [illegible] की व्यवस्था को बदलना है तो कार्यों की परिस्थितियों में सुधार करना [illegible] उसकी मृत्यु के पश्चात् ही उसके [illegible] हुए और [illegible] देशों में उसके विचारों के आधार पर [illegible]। फूरिये ने काल्पनिक समाजवाद का जो चित्रण किया है, [illegible]

इ० वि०—9

का एक ऐसा सिद्धान्त विकसित किया जिससे सामाजिक विज्ञान के इतिहास में एक नये दौर का सूत्रपात हुआ।

जोन जोसफ चार्ल्स लुई ब्लाक :—(सन् 1813–1883)

जीवन परिचय। फ्रान्स के राजनीतिज्ञ एवं इतिहासकार लुई ब्लाक का जन्म 28 अक्टूबर सन् 1813 को स्पेन के मैड्रिड नामक नगर में हुआ था। उसके पिता फ्रान्सीसी तथा उसकी माता स्पेन की महिला थीं। उसके पिता उस समय सरकारी कर्मचारी थे। उसकी शिक्षा कोरसीका तथा पेरिस में हुई थी। फ्रान्सीसी क्रान्ति में उसके पिता की सभी सम्पत्ति नष्ट हो गयी थी। व्यक्तिगत कठिनाइयों से चिन्तित होकर ब्लाक ने सम्पादक के रूप में एक समाचार पत्र के रूप में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। 26 वर्ष की आयु में उसने एक नयी पत्रिका Revew de Uprogres का प्रकाशन आरम्भ किया जिसमें 1830 में उसकी प्रसिद्ध पुस्तक प्रकाशित हुई। सभी व्यक्तियों ने, विशेष रूप से श्रमिक वर्ग ने, इस पुस्तक का स्वागत किया। इस पुस्तक में कोई नयी बात नहीं थी परन्तु इसकी शैली इतनी अच्छी थी कि इसे सभी ने रुचि से पढ़ा और प्रशंसा की। इसमें ब्लाक ने समाज सुधार की योजना प्रस्तुत की है। सन् 1838 की क्रान्ति में उसे अपने विचारों को व्यावहारिक रूप देने का अवसर प्राप्त हुआ। सामयिक सरकार के सदस्य के रूप में उसने "परिश्रम करने का अधिकार" नामक सिद्धान्त का प्रचार किया जिसके अनुसार सरकार को प्रत्येक व्यक्ति को कार्य प्रदान करने का आश्वासन देने की आवश्यकता थी। उसके सामने कई संस्थाएँ स्थापित हुई किन्तु वे इसलिए असफल रहीं कि न तो वे उसके विचारों के अनुकूल थीं और न ही उनका संचालन ऐसे व्यक्तियों के हाथ में था जिनके हृदय में श्रमिकों के लिए सहानुभूति थी। बाद में उसे फ्रान्स छोड़ना पड़ा और उसके स्वप्न अधूरे ही रह गये। वह काफी समय पश्चात् फ्रान्स लौटा और सरकार के सदस्य के रूप में व्यापार में भाग लेना आरम्भ किया।

ब्लाक के विचार बहुत कुछ क्रमबद्ध हैं। उसने अपने युग की फ्रान्स तथा ब्रिटेन की परिस्थितियों का अध्ययन अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर किया था। वह एक इतिहासकार, वकील तथा समाजवादी विचारक था। इस दृष्टि से उसके विचार बहुत अधिक काल्पनिक नहीं हैं। अपने युग की औद्योगिक व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तिवादी तथा पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्थाओं के दोषों का उसने अध्ययन किया और यह विश्वास किया कि श्रमिक वर्ग को पूँजीवादी शोषण से

मुक्ति प्रदान करने का ढंग क्रान्ति नहीं है, वरन् लोकतान्त्रिक राज्य व्यवस्था के द्वारा ही इसमें क्रमिक सुधार लाया जा सकता है। कोल के शब्दों में, "लुई ब्लाक के अनेक विचारों के आधार पर उसे आधुनिक लोकतान्त्रिक समाजवाद का पूर्वगामी कहना उपर्युक्त होगा।" यद्यपि ब्लाक के काल में मार्क्स के विचार प्रकाशित हो चुके थे और मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग की कल्पना करके उसकी क्रान्ति के द्वारा पूंजीवाद के विनाश तथा समाजवाद की स्थापना के निमित्त एक क्रमबद्ध समाजवादी दर्शन प्रस्तुत किया था, तथापि लुई ब्लाक के विचार काल्पनिक समाजवाद से मार्क्स के क्रांतिकारी समाजवाद के संक्रमण का मार्ग प्रस्तुत करते हैं।

आर्थिक बुराइयों की जड़ प्रतियोगिता

ब्लाक के मतानुसार प्रत्येक आर्थिक बुराई प्रतियोगिता का परिणाम है। यदि कोई प्रश्न पूछे कि समाज में निर्धनता एवं नैतिक पतन क्यों है? अपराध एवं वेश्यावृत्ति क्यों बढ़ रहे हैं, आर्थिक संकट क्यों हैं? ब्लाक ने इन प्रश्नों का एक ही उत्तर दिया है कि इन सब का कारण प्रतियोगिता है। प्रतियोगिता श्रमिक वर्ग का विनाश करती है तथा बुर्ज आदर्श के लिए पतन का कारण बनती है। इन सबसे वे एक ही निष्कर्ष निकालते हैं, यदि आप प्रतियोगिता के भयंकर परिणामों से मुक्ति पाना चाहते हैं तो उसे प्रतियोगिता जड़ से समाप्त कर देना चाहिए तथा सामाजिक जीवन के आधार के रूप में समूह का नया निर्माण करना चाहिए।"

सामाजिक वर्कशाप

ब्लाक ऐसे समाजवादी थे जो यह समझते थे कि ऐच्छिक समूह के द्वारा समाज की सारी आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है परन्तु यह ध्यान रखने योग्य है इस सन्दर्भ में वे ओवन तथा फूरिये से भिन्न थे। ओवेन की न्यू हारमनी तथा फूरिये की फैलेंक्स की कल्पना उनकी दृष्टि में नहीं थी वरन् उन्होंने सामाजिक वर्कशाप की स्थापना का विचार प्रस्तुत किया जिसके अन्तर्गत एक ही व्यवसाय के सदस्यों को मिलाने का उद्देश्य था। इसका संगठन जनतान्त्रिक समानता पर आधारित था। इसके अन्तर्गत आर्थिक जीवन के सम्पूर्ण पक्षों का समावेश होकर केवल कुछ आर्थिक वस्तुओं का उत्पादन होता था। दूसरे शब्दों में ब्लाक की यह योजना एक साधारण प्रकार की सहकारी समिति के समान

थी जो बिल्कुल मौलिक नहीं थी क्योंकि सन् 1831 में सेन्ट साइमन वादी बुशेज़ ने ऐसा ही प्रस्ताव रखा था।

सामाजिक वर्कशाप में एक ही व्यवसाय के श्रमिकों का एक संघ बनाया गया जो अपने उपकरण एकत्र करते थे और लाभ अपने मध्य ही वितरित कर लेते थे जो पहले उद्यमी के पास चला जाता था। वास्तविक आय तीन भागों, में (क) श्रमिकों की मजदूरी, (ख) एक ऐसे कोष की स्थापना के लिए जिसमें से सर कार द्वारा दिये गये ऋणों का भुगतान किया जायेगा और भावी उपक्रमों के लि पूंजी प्रदान की जायेगी, और (ग) मजदूरी के अतिरिक्त श्रमिकों को लाभ में भी कुछ भाग का वितरण विभाजित की जाती थी। उद्योग में जिस पूंजी विनियोग किया जाता था उस पर ब्लाक ब्याज देने के पक्ष में थे, परन्तु इ यह आशय नहीं निकाला जाना चाहिए कि वे ब्याज का समर्थन करते थे। उ विश्वास था कि एक समय ऐसा आयेगा जब ब्याज समाप्त हो जायेगा, परन्त कैसे होगा, इस पर उन्होंने कोई निश्चित विचार व्यक्त नहीं किये। ब्याज में भुगतान की जाने वाली राशि का उत्पादन लागत का एक अंश होती थ

ब्लाक की सामाजिक वर्कशाप एक सहकारी समिति से इस बात थी कि ब्लाक बड़े उद्योगों के पक्ष में थे। उनकी दृष्टि में सामाजिक वर्क एक कोशिका के समान थी जिसमें से पूर्णरूपेण सामूहिक समाज जन्म लेग अन्तिम रूप क्या होगा, इस सम्बन्ध में ब्लाक मौन ही रहे। उनका मात्र एक प्रारम्भ करना था एवं भविष्य की एक रूपरेखा तैयार कर क्रिया में वे भूतकाल से ही सम्बद्ध रहे। सामान्य रूप में सामाजिक भविष्य का रूप एक काल्पनिक उड़ान ही थी। ब्लाक ने जो भी योज वह स्पष्ट एवं साधारण थी और इसके लिए वे प्रशंसा के पात्र हैं कि में लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सके जब कि इसी प्रकार के अ प्रयत्न असफल हो गये थे।

सामाजिक वर्कशाप के प्रबन्ध के सम्बन्ध में ब्लाक का कथन है कि इसके लिए आवश्यक पूंजी सरकार से ऋण पर ली जायेगी। प्रत्येक सदस्य की मजदूरी बराबर होगी। वर्तमान सन्दर्भ में यह अविश्वसनीय लगता है परन्तु ब्लाक के स्वप्न के समाज का नियम होगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करे और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार लाभ प्राप्त हो। परन्तु ब्लाक को विश्वास था कि शिक्षा में नैतिकता के स्तर के बढ़ाने के साथ यह सम्भव हो

सकेगा। स्थापना के प्रथम वर्ष संगठन सरकार के हाथ में रहेगा तत्पश्चात् निर्वाचन द्वारा सदस्य स्वयं व्यवस्था करेंगे। ब्लाक प्रतियोगिता के विरोधी थे लेकिन उनका मत था कि नये समाज का निर्माण प्रतियोगिता के माध्यम से ही होगा। उन्हीं के शब्दों में, प्रतियोगिता को समाप्त करने के लिए प्रतियोगिता को ही शक्तिशाली बनाना होगा। इसे समझाते हुए वे कहते हैं कि निजी फैक्टरी की तुलना में सामाजिक वर्कशाप में अधिक मितव्ययिता होगी और उसका संगठन भी अच्छा होगा। प्रत्येक सदस्य निष्ठा के साथ शीघ्र कार्य करेगा। परिणाम यह होगा कि श्रमिक वर्कशाप की ओर आकर्षित होंगे तथा निजी फैक्टरी समाप्त होने लगेंगी और अन्त में एक उद्योग की सारी इकाइयां एक स्थान पर एकत्र हो जायेंगी। इसी प्रकार विभिन्न उद्योगों का एक समूह बन जायेगा जो आपस में प्रतियोगिता न करके एक दूसरे को संकट के समय सहायता करेंगे।

ब्लाक के अनुसार जैसे ही सामाजिक वर्कशाप अपने आदर्शों को प्राप्त करने में सफल होती है, प्रतियोगिता की बुराइयां समाप्त होने लगती हैं और एक सामाजिक तथा नैतिक जीवन का आरम्भ होता है। यह सब सरकार के थोड़े सहयोग से ही सम्भव हो जाता है।

ब्लाक के विचारों का अन्तिम उद्देश्य समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना था। वह यह मानता है कि व्यक्तियों की कार्य क्षमता समान नहीं होगी। राज्य के सम्बन्ध में भी ब्लाक की धारणा मार्क्स की भांति है। ब्लाक की धारणा का राज्य सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के द्वारा पूंजीवादी राज्य का विनाश करके सर्वहारा वर्ग का अधिनायकवादी राज्य नहीं है। अपितु वह वर्तमान राज्य का ही लोकतन्त्री रूप प्रदान किया गया राज्य होगा। ब्लाक भी इसे अस्थायी व्यवस्था मानता है। जब यह राज्य समाज का संगठन इस प्रकार कर देने से समर्थ हो जाय जिसमें शोषित श्रमिक वर्ग न रह जाय और सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्थायें विविध संघों द्वारा स्वचालित होने लगे तो एक केन्द्रीकृत राज्य या शासन अनावश्यक हो जायेगा।

मूल्यांकन

इस प्रकार लुई ब्लाक को राज्य समाजवाद का प्रवर्तक कहा जा सकता है। उनके विचार ओवेन और फूरिये के विचारों से भिन्न थे क्योंकि इन लोगों को व्यक्तिगत पहलू में पूर्ण विश्वास था। यही सर्वप्रथम समाजवादी चिन्तक थे जिसने यह प्रतिपादित किया कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को काम का अधिकार

मिले, इसके लिए उसने राज्य को एक ऐसे उपकरण के रूप में औचित्यपूर्ण बताया जो प्रत्येक व्यक्ति के इस अधिकार को सुनिश्चित करे। उसकी दृष्टि का राज्य निर्धन वर्ग के लिए एक बैंकर के तुल्य था। उसने जनता द्वारा संचालित स्वायत्तशासी औद्योगिक कारखानों की धारणा सबसे पहले व्यक्त की जो बाद में श्रेणी समाजवादियों की प्रेरणा स्रोत बनी। राज्य को समाजवाद की स्थापना हो जाने तक ही एक अस्थायी व्यवस्था के रूप में मानना और बाद में उसके अनावश्यक हो जाने और तिरोहित हो जाने की मार्क्सवादी धारणा भी ब्लाक के विचारों में है। समाजवाद की स्थापना लोकतन्त्रात्मक राज्य के माध्यम से किये जाने की धारणा ने ब्लाक को लोकतान्त्रिक समाजवाद या राज्य समाजवाद का अग्रगामी सिद्ध किया है। फ्रान्सीसी संघवाद को उसके विचारों से बहुत प्रेरणा मिली। सर्वहारा वर्ग की कल्पना करने वाला, वह सर्वप्रथम विचारक था जिसका व्यापक विवेचन बाद में कार्लमार्क्स ने किया है। उसके विचारों का प्रभाव प्रूधों पर पड़ा जिसने सहयोगी साम्यवादी की व्यवस्था सुझायी। प्रूधों, एच० जी० वेल्स, विलियम मारिस, फर्डिनेन्ड लासेल आदि अन्य लेखकों ने भी उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ वर्षों में जो विचार रखे थे, वे बहुत कुछ अंश में ब्लाक काल्पनिक समाजवाद से प्रभावित थे।

इतिहास में काल्पनिक समाजवाद का इतिहास

काल्पनिक समाजवादियों को मुख्यतः इसका श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होंने पूँजीवाद की गहरी आलोचना की, उसकी बुराइयों का पर्दाफाश किया तथा यह दिखाया कि यह अपने को लगातार नष्ट करता जाता है और यह सिद्ध किया कि उसका विनाश और एक नये समाजवादी समाज द्वारा उसका स्थान लिया जाना अनिवार्य है। सामान्यतया, उन्होंने निजी स्वामित्व, जिसे उन्होंने शोषण तथा मेहनतकशों पर थोपे जाने वाले अन्य कष्टों का मुख्य कारण माना, के उन्मूलन और जनता को सच्ची स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व प्रदान करने वाली सामूहिक सार्वजनिक स्वामित्व की प्रणाली की स्थापना के साथ नये समाज के निर्माण को आबद्ध किया।

काल्पनिक समाजवादियों ने पूँजीवाद के विरोध में एक नये समाज, समाजवाद को प्रस्तुत किया और भविष्य के इस समाज के कुछ लक्षणों का पूर्वानुमान लगाने में सफलता प्राप्त की। काल्पनिक समाजवादियों की कृतियों में इस प्रकार की गहरी मानवीय भावनाएँ निहित हैं कि यह नया समाज मनुष्य के लिए, उसके

के प्रयत्न किये । सर्वहारा वर्ग की मुक्ति के लिए भौतिक साधनों को ढूढ निकालने के स्थान पर वे ऐसे सामाजिक विज्ञान को निरूपित करना चाहते थे जो जनता द्वारा अपना लिए जाने पर अपने आप मानव जाति के चिर पोषित लक्ष्य को पूरा कर देता । सर्वहारावर्ग की उपेक्षा करते हुए उन्होंने समाज के सभी वर्गों, मुख्यतः शासक वर्गों से उनके सद्विवेक के नाम पर अपील की और वर्गीय हितों के सामंजस्य का आह्वान किया ।

काल्पनिक समाजवादी इस कारण सफल नहीं हुए कि वे जनता से, मजदूर वर्ग से, कटे हुए थे, सामाजिक विकास के नियमों को नहीं जानते थे, समाज की भौतिक परिस्थितियों से अनभिज्ञ थे तथा केवल विचारों, शिक्षा और मानसिक विकास पर निर्भर करने के प्रयत्न करते थे । उनकी विफलता कोई आकस्मिक बात नहीं थी । इसका मूल कारण उनके युग की सामाजिक, ऐतिहासिक परिस्थितियों में पूंजीवादी उत्पादन की अपरिपक्व परिस्थितियों तथा अपरिपक्व वर्ग सम्बन्धों के समानुरूप सिद्धान्त भी अपरिपक्व थे ।

19 वीं शताब्दी के मध्य तक वैज्ञानिक समाजवाद काल्पनिक समाजवाद का स्थान ग्रहण कर चुका था । काल्पनिक समाजवादियों के अनुयायी, जो क्रान्तिकारी संघर्ष करने वाले जन समुदाय से कटे हुए थे, सामाजिक प्रगति को बढ़ावा देने के स्थान पर वास्तव में उसे अवरुद्ध कर रहे थे । श्रमिक आन्दोलन निरन्तर फैलता जा रहा था और पूंजीवादी शोषण के विरुद्ध श्रमजीवी वर्ग का आक्रोश बढ़ता जा रहा था, परन्तु सेन्ट साइमन, फूरिये और ओवेन आदि के अनुयायी सर्वहाराओं से अलग-थलग पड़ते रहे । वे इस भ्रान्ति को फैलाते रहे कि समाजवाद को दृढ वर्ग-संघर्ष द्वारा नहीं, वरन् वर्गगत मेल से ही प्राप्त किया जा सकता है और यह कि लोगों को धनिकों की दयालुता पर आश्रित रहना चाहिए जो अंशतः एक नयी उत्तम, सामाजिक प्रणाली स्थापित करने के लिए अपने धन का परित्याग कर देंगे। इस प्रकार काल्पनिक समाजवाद के प्रतिपादक श्रमिक वर्ग की स्वतन्त्र राजनीतिक दलों की स्थापना में बाधा डालने लगे । 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सर्वहारा वर्ग समाज के पुनर्गठन में वस्तुतः महानतम शक्ति बिना किसी शक्तिशाली संगठन और स्पष्ट कार्यक्रम के और अपनी क्षमता तथा अन्तिम लक्ष्य को जाने बिना अपना संघर्ष चला रहा था । जन-समुदाय और शोषकों के विरुद्ध उसके अन्तर्गत संघर्ष से समाजवादी विचारकों के अलगाव पर पार पाना आवश्यक था । समाजवाद का सिद्धान्त श्रमजीवीवर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलन में एक हो जाने के पश्चात् महान् ऐतिहासिक शक्ति बन सका ।

अध्याय 7

आर्थिक समाजवादी विचारक

सन् 1848 से समाजवादी विचारधारा के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ होता है। सन् 1630 से सन् 1840 तक विभिन्न समाजवादियों ने समाज सुधार हेतु जो क्रान्तिकारी योजनायें प्रस्तुत कीं उन सभी को सन् 1818 की क्रान्ति में व्यवहारिकता की कसौटी पर कसा गया और यह सिद्ध हो गया था कि वे सभी योजनायें अव्यावहारिक तथा अवास्तविक थीं। इस काल में समाजवाद के एक चरण का अन्त होकर दूसरे चरण का प्रारम्भ होता है। लोग समाजवाद के नाम से घृणा करने लगे थे और प्रारम्भिक समाजवादियों की निन्दा की जाने लगी थी। ये सब परिवर्तन कुछ तो राजनीतिक परिस्थितियों के कारण और कुछ अन्य बातों के कारण हुए थे। प्रारम्भिक समाजवादियों की योजनाओं की असफलता का मुख्य कारण यह था कि जिस समाजवाद का पक्ष उन्होंने लिया था उसमें मध्यम वर्ग के व्यक्तियों के हितों की ओर अधिक ध्यान दिया गया था और श्रमिक वर्ग को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न नहीं किया गया था। यह सत्य है कि कुछ काल्पनिक समाजवादियों ने सरकार से सहायता प्राप्त करना चाही थी किन्तु उनके विचार उन समकालीन व्यक्तियों के विचारों से भिन्न थे जो संसार के अन्य भागों में कार्य कर रहे थे। सन् 1848 की क्रान्ति के पश्चात् एक नवीन प्रकार के समाजवादियों का जन्म हुआ जिनको हम राज्यसमाजवादियों के नाम से पुकारते हैं। इन समाजवादियों ने यह स्वीकार किया था कि उनकी योजनाओं को कार्यरोपित करने का मुख्य उत्तरदायित्व सरकार का ही था और इस दृष्टि से यह वैज्ञानिक समाजवाद के सच्चे प्रवर्तक थे। इन समाजवादियों ने अपनी फ्रांसीसी तथा अंग्रेज पूर्वजों के विचार ग्रहण किये किन्तु यह ध्यान रहे कि इन्होंने केवल उनके विचारों की वैज्ञानिक सच्चाई को ही स्वीकार किया था।

राज्य समाजवाद का उदय एवं उसके लक्षण

19वीं शताब्दी के मध्य काल के पश्चात् जर्मनी में विशुद्ध श्रमिक समाजवाद का उदय हुआ। यद्यपि इस समाजवाद के विचारकों ने फ्रान्स और इंगलैंड के उक्त विचारकों से प्रेरणा ग्रहण की फिर भी उन्होंने उनके काल्पनिक समाजवाद की विचारधारा की आलोचना की। राज्य समाजवाद का शाब्दिक अर्थ क्या है?

राज्य समाजवाद के [illegible] हस्तक्षेपवादी [illegible] हैं जो [illegible] कर्तव्यों को
[illegible] के [illegible] को [illegible] के [illegible] स्वीकार करते हैं और
इस आधार पर राज्य के आर्थिक कार्यों के विस्तार का समर्थन करते हैं। [illegible] ऐसे
के [illegible] हैं, सामाजिक [illegible] ही एक [illegible] है जो सामाजिक सुधार
की [illegible] योजना का [illegible] करती है [illegible] करे। इस
[illegible] हैं और [illegible] के सार्वभौमिक
[illegible] विकेन्द्रीकरण [illegible] के विरोधी हैं और दूसरी ओर [illegible]
[illegible] में वास्तविक समाजवाद के विरोधी भी हैं। राज्य समाज-
वाद के [illegible] हुए और [illegible] सिद्ध करते हैं कि
19वीं शताब्दी का [illegible] राज्य हस्तक्षेप की आवश्यकता और आर्थिक
[illegible] के विकास और [illegible] के साथ हुआ और उसका कारण आर्थिक एवं
सामाजिक [illegible] के [illegible] के लिए राज्य हस्तक्षेप की अनिवार्यता में
विश्वास के साथ हुआ। प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् ऐसे अर्थशास्त्रियों
एवं राजनीतिज्ञों की संख्या में वृद्धि हुई है जो राज्य के आर्थिक कार्यों में विश्वास
रखते हैं और इस विचार को इस परिवर्तन का एक नवीन सिद्धान्त के रूप में देखते
हैं। इस कर्तव्यों में राज्य समाजवाद या [illegible] या समाजवाद तथा फ्रान्स में हस्त-
क्षेपवाद के नाम से पुकारा गया।

जहां तक समाजवाद का प्रश्न है, यह केवल आर्थिक प्रश्न नहीं है, परन्तु इसका सम्बन्ध व्यावहारिक राजनीति से है। उत्पादन और वितरण के क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप की क्या सीमा होनी चाहिए, यह राजनीतिक अर्थविज्ञान में बहुत महत्वपूर्ण विषय है परन्तु यह मूलभूत वैज्ञानिक प्रश्न नहीं है क्योंकि इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों के विभिन्न मत हैं। वितरण एवं उत्पादन की समस्या का हल केवल आर्थिक कारणों पर निर्भर न रहकर सामाजिक एवं राजनीतिक कारणों पर निर्भर रहता है। एडम स्मिथ ने अहस्तक्षेप की नीति का समर्थन किया और सरकारी कार्यक्षेत्र की एक सीमा निर्धारित की। यदि सब अर्थशास्त्री स्मिथ से सहमत हो जाते तो वाद-विवाद की कोई सम्भावना नहीं थी। स्मिथ की नीति केवल आर्थिक तर्कों पर आधारित थी। इसका प्रभाव यह हुआ कि अर्थशास्त्र का उद्देश्य केवल व्यक्तियों की स्वतन्त्रता और अधिकारों की रक्षा करना रह गया। परन्तु इस विचार की प्रतिक्रिया हुई और कई अर्थशास्त्री ऐसे हुए जो राज्य के कार्यों के विस्तार के पक्ष में थे। इनमें फ्रान्सीसी विचारक डुपोन्ट-व्हाइट का नाम लिया जा सकता है जिसने सन् 1956 में राज्य के कार्यों को सीमित करने के विचार का

विरोध किया। उसके विचार जर्मन राज्यसमाजवादियों से इतने मिलते है कि दोनों मे भ्रम पैदा हो जाता है, परन्तु वह जनमत को अपने पक्ष में नहीं कर सका। इसके लिए अधिक अनुकूल परिस्थितियो की आवश्यकता थी और ऐसी परिस्थितियाँ सन् 1875 के पश्चात् उपस्थित हुई विशेष रूप से जर्मनी मे जहाँ स्मिथ की नीतियों के विरोध मे पहले प्रतिक्रिया हुई।

इस प्रतिक्रिया ने एक नये सिद्धान्त को उतना अधिक विकसित नहीं किया जितना कि दो प्राचीन विचारधाराओ के मिश्रण ने किया। 19 वीं शताब्दी [illegible] ऐसे अनेक अर्थशास्त्री हुए जो यद्यपि स्मिथ के मूलभूत विचारों को तो स्वीकार करते थे लेकिन उनकी हस्तक्षेप की नीति को धीरे-धीरे सीमित करना चाहते थे। उनका यह विश्वास था कि अधिकाश विषयो मे किसी न किसी रूप मे राजकीय हस्तक्षेप अनिवार्य था, दूसरी ओर कुछ ऐसे समाजवादी अर्थशास्त्री थे जो [illegible] निजी सम्पत्ति एव उत्पादन की स्वतन्त्रता का विरोध तो करते थे परन्तु श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए भी सरकारी हस्तक्षेप की मांग करते थे। राज्य समाजवाद इन दोनों विचारधाराओ का मिश्रण है। प्रथम विचारधारा से वह इसलिए आगे है कि वह राज्य की कुशलता मे अधिक विश्वास रखता है और दूसरी विचारधारा से इसलिए भिन्न है कि वह निजी सम्पत्ति के अधिकार को अधिक महत्व दे[illegible] है। स्मिथ के अहस्तक्षेप की नीति की आलोचना ने समाजवादियो का राज्य कुशलता में विश्वास अधिक गहरा किया। स्मिथ की नीति इस बात पर आधा[illegible] थी कि निजी एव सामाजिक हितों मे समानता रहती है। सिसमान्डी ने भी स्मिथ के प्रतियोगिता एव दैविक आशावाद सम्बन्धी विचारो की आलोचना की। अर्थ[illegible] विचारक हरमन ने भी यह सिद्ध किया कि व्यक्तिगत और सामाजिक हितों मे संघर्ष होता है। राष्ट्रवादी अर्थशास्त्री लिस्ट ने भी राष्ट्र के स्थायी हितों को महत्व दिया जिसकी पूर्ति के लिए राज्य को आवश्यक माना। स्टुअर्ट मिल ने भी हितों की समानता का विरोध किया और कुछ विषयों में सरकारी हस्तक्षेप का पक्ष लिया। शिलेसिंगर ने भी इस बात का विरोध किया कि निजी हितों पर आधारित प्रतियोगिता से आर्थिक व्यवस्था सुचारु रूप से चलाई जा सकती है। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि सम्पूर्ण राष्ट्रीय सगठन की [illegible] है और उसका [illegible] [illegible] है कि यहाँ भी [illegible] हस्तक्षेप न करें [illegible] 1919 में [illegible] ने भी यह मत स्पष्ट किया कि निजी एव सार्वजनिक हितों में [illegible] है और [illegible] इनमें संघर्ष हो [illegible] सरकारी हस्तक्षेप [illegible] उसे [illegible] हो सकता है।

विरोध किया। उसके विचार जर्मन राज्यसमाजवादियों से इतने मिलते थे कि दोनों में भ्रम पैदा हो जाता है, परन्तु वह जनमत को अपने पक्ष में नहीं कर सका। इसके लिए अधिक अनुकूल परिस्थितियों की आवश्यकता थी और ऐसी परिस्थितियाँ सन् 1875 के पश्चात् उपस्थित हुईं विशेष रूप से जर्मनी में जहाँ स्मिथ की नीतियों के विरोध में पहले प्रतिक्रिया हुई।

इस प्रतिक्रिया ने एक नये सिद्धान्त को उतना अधिक विकसित नहीं किया जितना कि दो प्राचीन विचारधाराओं के मिश्रण ने किया। 19 वीं शताब्दी में ऐसे अनेक अर्थशास्त्री हुए जो यद्यपि स्मिथ के मूलभूत विचारों को तो स्वीकार करते थे लेकिन उनकी हस्तक्षेप की नीति को धीरे-धीरे सीमित करना चाहते थे। उनका यह विश्वास था कि अधिकांश विषयों में किसी न किसी रूप में राजकीय हस्तक्षेप अनिवार्य था, दूसरी ओर कुछ ऐसे समाजवादी अर्थशास्त्री थे जो यद्यपि निजी सम्पत्ति एवं उत्पादन की स्वतन्त्रता का विरोध तो करते थे परन्तु श्रमिकों की दशा सुधारने के लिए भी सरकारी हस्तक्षेप की मांग करते थे। राज्य समाजवाद इन दोनों विचारधाराओं का मिश्रण है। प्रथम विचारधारा से वह इसलिए आगे है कि वह राज्य की कुशलता में अधिक विश्वास रखता है और दूसरी विचारधारा से इसलिए भिन्न है कि वह निजी सम्पत्ति के अधिकार को अधिक महत्व देता है। स्मिथ के अहस्तक्षेप की नीति की आलोचना ने समाजवादियों का राज्य की कुशलता में विश्वास अधिक गहरा किया। स्मिथ की नीति इस बात पर आधारित थी कि निजी एवं सामाजिक हितों में समानता रहती है। सिसमाण्डी ने भी स्मिथ के प्रतियोगिता एवं दैविक आशावाद सम्बन्धी विचारों की आलोचना की। जर्मन विचारक हरेमन ने भी यह सिद्ध किया कि व्यक्तिगत और सामाजिक हितों में संघर्ष होता है। राष्ट्रवादी अर्थशास्त्री लिस्ट ने भी राष्ट्र के स्थायी हितों को महत्व दिया जिसकी पूर्ति के लिए राज्य को आवश्यक माना। स्टुअर्ट मिल ने भी हितों की समानता का विरोध किया और कुछ विषयों में सरकारी हस्तक्षेप का पक्ष लिया। शिवेलियार ने भी इस बात का विरोध किया कि निजी हितों पर आधारित प्रतियोगिता से आर्थिक व्यवस्था सुचारु रूप से चलायी जा सकती है। उन्होंने यह मत प्रकट किया कि सरकार राष्ट्रीय संगठन की प्रबन्धक है और उसका यह कर्तव्य है कि जहाँ भी सामान्य हित खतरे में पड़ते हैं, वहाँ हस्तक्षेप न करे। सन् 1815 में डूनों ने भी यह मत प्रकट किया कि निजी एवं सार्वजनिक हितों में सामंजस्य रहता है और जहाँ कहीं इनमें संघर्ष हो वहाँ सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक एवं उपयोगी हो सकता है।

राडबर्टस के विचार

सामाजिक संगठन

राडबर्टस के अनुसार समाज एक सजीव संस्था है और प्रत्येक व्यक्ति धन के उत्पादन, विनिमय तथा वितरण में संलग्न मशीन का एक पुर्जा है। इस मशीन का कार्यक्षेत्र दिन प्रतिदिन विस्तृत होता जा रहा है। अतः उसने कहा कि समाज श्रम विभाजन पर आधारित है, प्रत्येक व्यक्ति उस कार्य में हाथ बँटाता है जो सभी के सहयोग से पूरा होता है और इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण अन्य व्यक्तियों तथा उसके अपने प्रयत्न और प्रकृति के सहयोग पर निर्भर करता है। उसके अनुसार तीन कार्यों का करना अत्यधिक आवश्यक होता है अर्थात् उत्पादन को आवश्यकताओं के अनुसार सम्पन्न करना, उत्पादन की मात्रा को उपलब्ध साधनों की सीमा तक निश्चित रखना और संयुक्त उत्पत्ति को उसके उत्पादकों में समान रूप से वितरित करना। राडबर्टस के अनुसार ये कार्य उचित रूप से सम्पन्न नहीं हो रहे थे। उत्पादन आवश्यकताओं से निर्धारित न होकर माँग से निर्धारित हो रहा था, इसलिए इसका नियमन एवं माप आय द्वारा होता है तो आवश्यकताओं की तुलना में बहुत निम्न है। इसी प्रकार उत्पादन का स्तर पूँजीपतियों के द्वारा निर्धारित होता है जो अपनी इच्छाओं के अनुसार लाभ को अधिकतम करने की भावना से प्रेरित होकर उसके आकार को नियन्त्रित करते हैं। उत्तराधिकार नियमों के अधीन आर्थिक शक्तियों पर ऐसे व्यक्तियों का नियन्त्रण था जो उसके योग्य नहीं थे। परिणामतः धन का वितरण न्यायपूर्ण नहीं था और कुछ थोड़े से व्यक्ति जनसमूह का शोषण कर रहे थे।

श्रम का शोषण

राडबर्टस का विश्वास था कि सभी आर्थिक वस्तुयें केवल श्रम द्वारा उत्पन्न की जाती हैं, किन्तु इस कथन से उसका अभिप्राय यह था कि श्रम स्वयं वस्तुओं का जन्म नहीं देता वरन् प्राकृतिक वस्तुओं को आर्थिक वस्तुओं में बदल देता है। वह यह भी नहीं मानता था कि श्रम ही विनिमय मूल्य का एक मात्र स्रोत है। वह इस विचार से सहमत नहीं था कि वस्तुओं का विनिमय उनके उत्पादन में लगे हुए श्रम के अनुपात में किया जाता है। उसके अनुसार यह विचार अपूर्ण था क्योंकि वास्तविक जीवन में ऐसा नहीं होता। वास्तव में उसकी अभिलाषा थी कि वस्तुओं का विनिमय इसी आधार पर हो सकता है। उसने बताया कि तत्कालीन समाज में भूमिपतियों तथा पूँजीपतियों की विशिष्ट स्थिति के कारण ही ऐसा

राडबर्टस के विचार

सामाजिक संगठन

राडबर्टस के अनुसार समाज एक सजीव संस्था है और प्रत्येक व्यक्ति के उत्पादन, विनिमय तथा वितरण में संलग्न मशीन का एक पुर्जा है। इस मशीन का कार्यक्षेत्र दिन प्रतिदिन विस्तृत होता जा रहा है। अतः उसने कहा कि समाज श्रम विभाजन पर आधारित है, प्रत्येक व्यक्ति उस कार्य में हाथ बँटाता है जो सबके सहयोग से पूरा होता है और इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण अन्य व्यक्तियों तथा उसके अपने प्रयत्न और प्रकृति के सहयोग पर निर्भर करता है। उनके अनुसार तीन कार्यों का करना अत्यधिक आवश्यक होता है अर्थात् उत्पादन को आवश्यकताओं के अनुसार सम्पन्न करना, उत्पादन की मात्रा को उपलब्ध साधनों की सीमा तक निश्चित रखना और संयुक्त उत्पत्ति को उसके उत्पादकों में समान रूप से वितरित करना। राडबर्टस के अनुसार ये कार्य उचित रूप से सम्पन्न नहीं हो रहे थे। उत्पादन आवश्यकताओं से निर्धारित न होकर माँग से निर्धारित हो रहा था, इसलिए इसका नियमन एवं माप माँग द्वारा होता है जो आवश्यकताओं की तुलना में बहुत निम्न है। इसी प्रकार उत्पादन का स्तर पूँजीपतियों के द्वारा निर्धारित होता है जो अपनी इच्छाओं के अनुसार लाभ को अधिकतम करने की भावना से प्रेरित होकर उसके आकार को नियन्त्रित करते हैं। उत्पादन के साधनों के अधीन आर्थिक शक्तियों पर ऐसे व्यक्तियों का नियन्त्रण था जो उनके योग्य नहीं थे। परिणामतः धन का वितरण न्यायपूर्ण नहीं था और कुछ थोड़े से व्यक्ति जनसमूह का शोषण कर रहे थे।

श्रम का शोषण

राडबर्टस का विश्वास था कि सभी आर्थिक वस्तुएँ केवल श्रम द्वारा उत्पन्न की जाती हैं, किन्तु इस कथन से उनका अभिप्राय यह था कि श्रम स्वयं वस्तुओं को जन्म नहीं देता वरन् प्राकृतिक वस्तुओं को आर्थिक वस्तुओं में बदल देता है। वह यह भी नहीं मानता था कि श्रम ही विनिमय मूल्य का एक मात्र स्रोत है। वह इस विचार से सहमत नहीं था कि वस्तुओं का विनिमय उनके उत्पादन में लगे हुए श्रम के अनुपात में किया जाता है। उनके अनुसार यह विचार
क्योंकि वास्तविक जीवन में ऐसा नहीं होता। [illegible] में उनकी
[illegible] वस्तुओं का विनिमय इसी आधार पर हो सकता है। उनके
[illegible] समाज में भूमिपतियों तथा पूँजीपतियों को [illegible]।

नही हो पा रहा था, क्योंकि इन वर्गों को उत्तराधिकार मे एक ऐसी स्थिति प्राप्त हुई है जिसके कारण वे उस आय को प्राप्त करने योग्य बन गये हैं जिसके लिए उन्होने कोई भी योगदान नही दिया है और इसका परिणाम यह है कि वे अन्य व्यक्तियो का शोषण कर रहे है। अत उसने तात्कालिक समाज व्यवस्था की आलोचना की थी।

वितरण के दो पक्ष

राडबर्टस के अनुसार वितरण के दो पक्ष होते हैं । प्रथम, धन के उत्पादन में लगे हुए व्यक्तियो, भूमिपतियों तथा पूँजीपतियो मे होने वाला वितरण और दूसरे इन व्यक्तियो तथा समाज के अन्य सदस्यो के मध्य होने वाला वितरण। उसने द्वितीय पक्ष को द्वितीय श्रेणी का वितरण माना है। तदनुसार वह लगान, ब्याज और लाभ को अनुपार्जित आय अथवा शोषित आय मानता है और उसके अनुसार समाज के विकास के वर्तमान चरण की यही विशेषता है। उसका विश्वास था कि उपस्थित प्रणाली गत काल की अपेक्षा न्याय के अधिक निकट थी। किन्तु उसका कहना था कि इस व्यवस्था का अन्त शीघ्र हो जायेगा और इसके स्थान पर एक ऐसी व्यवस्था स्थापित होगी जो न्याय के आदर्शों के और भी निकट होगी और जिसमे मानव कल्याण का स्तर और भी ऊँचा होगा। आने वाली व्यवस्था मे श्रमिक वर्ग अधिक समृद्धशाली होगा। उसका विश्वास था कि समाज का विकास केवल यहीं पर समाप्त नही हो जायगा जबकि श्रमिक राजनीतिक सत्ता को अपने हाथो मे ले लेंगे वरन् यह एक ऐसे युग का प्रारम्भ होगा जिसमे श्रमिक वर्ग राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के पश्चात् अपने आपको बढ़ायेगा और एक ऐसा स्थान प्राप्त करेगा जिसमे वह बढ़ती हुई सभ्यता, संस्कृति और प्रगति के अच्छे परिणामो का आनन्द उठा सकेगा। उसने दृढ़तापूर्वक कहा कि कोई भी शक्ति व्यक्तियो को इस उद्देश्य की प्राप्ति से नही रोक सकती क्योंकि श्रमिक वर्ग मानव जाति का अधिकांश भाग है। वह उन लोगो से भी सहमत नही था जो यह कहते थे कि इस उद्देश्य की पूर्ति के पश्चात् समाज की प्रगति रुक जायगी। उसका कहना था कि वास्तव मे इसके बाद समाज का विकास और तेज गति से होगा।

मजदूरी के घटते हुए भाग का नियम

राडबर्टस के अनुसार आधुनिक आर्थिक व्यवस्था के दो मुख्य दोष है — निर्धनता तथा व्यापारिक संकट। उसका कहना था कि "किसी मजदूर की नि-सदा इस बात पर इतनी निर्भर नहीं करती कि उसके पास कितना धन है जितनी

इस बात पर निर्भर करती है कि अन्य व्यक्तियों की तुलना में उसके अधिकार
क्या है और इस बात पर भी निर्भर करती है कि अन्य व्यक्ति उसे किस सीमा
तक युग की प्रगति में हिस्सा बटाने की आज्ञा देते हैं । इसका कारण यह है कि
वर्तमान परिस्थिति में श्रमिकों को केवल उतना ही भुगतान किया जाता है जो उनके
जीवन स्तर को बनाये रखने के लिए काफी होता है और जिसमें उनकी उत्पादक
की वृद्धि के साथ-साथ वृद्धि नहीं होती । परिणामतः श्रमिक अपने समय से दीन
रह जाते हैं। इसी सम्बन्ध में उसने मजदूरी के घटते हुए भाग का नियम प्रति-
पादित किया था । इस नियम के अनुसार राष्ट्रीय आय में श्रमिकों को प्राप्त होने
वाला भाग निरन्तर कम होता जाता है । श्रमिकों को दी जाने वाली मजदूरी की
कुल राशि बढ़ाई जा सकती है किन्तु ऐसा न होकर राष्ट्रीय आय में लगान तथा
ब्याज का प्रतिशत तीव्र गति से बढ़ता जाता है । राडबर्टस के अनुसार राष्ट्रीय
आय के दो भाग होते हैं—मजदूरी तथा लगान । लगान भी दो भागों में विभाजित
होता है भूमि लगान तथा पूँजी लगान । लगान दो कारणों से उत्पन्न होता है
प्रथम, श्रमिक अपनी जीविका से कहीं अधिक उत्पन्न करते हैं और दूसरे, भूमि
तथा पूँजी में निजी सम्पत्ति के अधिकार के कारण उसके स्वामी, श्रमिकों का
शोषण करते हैं और आधिक्य को हड़प कर जाते हैं । इस प्रकार वह इस निष्कर्ष
पर पहुँचा कि मानव जाति का अधिकांश भाग उस आय से वंचित रह जाता है
कि जिसे वह उत्पन्न करता है । उसके विचार बहुत कुछ सिसमाण्डी सेंट साइमन
के अनुयायियों से मिलते जुलते हैं ।

व्यापारिक संकट

व्यापारिक संकट सम्बन्धी उसके विचार मजदूरी के घटते हुए भाग के
नियम पर आधारित है । उसका कथन था कि जैसे-जैसे कुल आय में मजदूरी का
भाग कम होता जाता है श्रमिकों की क्रय शक्ति कम होती जाती है और कुल
भोग, कुल उत्पादन के साथ-साथ नहीं बढ़ता जिसके परिणामस्वरूप बेकारी
उत्पन्न हो जाती है । इसके प्रभाव से क्रय शक्ति और भी कम हो जाती है
क्षेत्र में संकट उत्पन्न हो जाता है । ये परिस्थितियाँ केवल इसी कारण उत्पन्न
होती हैं क्योंकि भूमिपति और पूँजीपति उपभोग करने के स्थान पर
उसके अधिकांश भाग को उत्पादन कार्यों में लगा देते हैं । अतः उन वस्तुओं
का उत्पादन अधिक हो जाता है जिनको श्रमिक नहीं खरीद सकता । परिणामस्वरूप
मूल्य गिर जाते हैं, उत्पादन का परिमाण कम हो जाता है कारखाने बन्द हो जाते

में इस प्रकार हैं :—वस्तुओं का मूल्य उनके उत्पादन में लगे हुए श्रम के अनुसार निश्चित किया जाय, काम के घण्टे नियत कर दिये जाँय, श्रमिकों को व्यापारिक संकटों के दुष्परिणामों से सुरक्षित रखा जाय और करों में कमी की जाय। राडबर्टस का पूर्ण विश्वास था कि राज्य हस्तक्षेप से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को क्षति नहीं पहुँचेगी। उसको राज्य की सत्ता, उसकी कार्यकुशलता और व्यक्तियों को अपनी इच्छा के अनुसार बदलने की शक्ति में पूरा विश्वास था।

ऐसे थे राडबर्टस के विचार। किन्तु ये कहीं-कहीं पर परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। समाज की आर्थिक सीमा में उसकी राजनीतिक सीमाओं से नहीं मिलते। राज्य के कार्यों सम्बन्धी व्याख्या और अन्त में राष्ट्रीय राजसत्ता की स्थापना का सुझाव विरोधात्मक प्रतीत होते हैं विशेष कर उस समय जब वह राष्ट्रीय समाजवाद की चर्चा करता है। राडबर्टस के अनुसार केवल एक ही उपाय था कि व्यक्तिवाद को चरम सीमा पर पहुँचा दिया जाय या पूर्ण नियन्त्रण रखा जाय। वह यह भी जानता था कि आर्थिक व्यक्तिवाद को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से अलग नहीं किया जा सकता और स्वतन्त्रता हानि पहुँचाये बिना व्यक्तिवाद का विनाश करना असम्भव था। इन विरोधाभासों के कारण राडबर्टस को समाजवादी कहना कठिन है।

समाजवाद का रिकार्डो

वैगनर ने राडबर्टस को समाजवाद का रिकार्डो कहा है। [illegible] न रिकार्डो की भाँति अपने पूर्वजों के विचारों का बड़ी सावधानी से विचार [illegible] था। समाजवाद के लिए उसकी स्थिति वही है जो अर्थशास्त्र के लिए [illegible] की स्थिति थी। रिकार्डो की भाँति राडबर्टस के लेखों में भी अनेक [illegible] [illegible] हैं। वह वास्तव में समाजवादी विचारक थे। [illegible]

[illegible]

में इस प्रकार हैं :—वस्तुओं का मूल्य उनके उत्पादन में लगे हुए श्रम के अनुसार निश्चित किया जाय, काम के घण्टे नियत कर दिये जाँय, श्रमिकों को व्यावहारिक सकटों के दुष्परिणामों से सुरक्षित रखा जाय और करों में कमी की जाय। राडबर्टस का पूर्ण विश्वास था कि राज्य हस्तक्षेप से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को क्षति नहीं पहुँचेगी। उसको राज्य की सत्ता, उसकी कार्यकुशलता और व्यक्तियों को अपनी इच्छा के अनुसार बदलने की शक्ति में पूरा विश्वास था।

ऐसे थे राडबर्टस के विचार। किन्तु ये कहीं-कहीं पर परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। समाज की आर्थिक सीमा में उसकी राजनीतिक सीमाओं से नहीं मिलती। राज्य के कार्यों सम्बन्धी व्याख्या और अन्त में राष्ट्रीय राजसत्ता की स्थापना का सुझाव विरोधात्मक प्रतीत होते हैं विशेष कर उस समय जब वह राष्ट्रीय समाजवाद की चर्चा करता है। राडबर्टस के अनुसार केवल एक हो उपाय था या तो व्यक्तिवाद को चरम सीमा पर पहुँचा दिया जाय या पूर्ण नियन्त्रण रखा जाय। वह यह भी जानता था कि आर्थिक व्यक्तिवाद को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से पृथक नहीं किया जा सकता और स्वतन्त्रता हानि पहुँचाये बिना व्यक्तिवाद को नियन्त्रित करना असम्भव था। इन विरोधाभासों के कारण राडबर्टस को राज्य समाजवादी कहना कठिन है।

समाजवाद का रिकार्डो

वैगनर ने राडबर्टस को समाजवाद का रिकार्डो कहा है। राडबर्टस ने रिकार्डो की भांति अपने पूर्वजों के विचारों का बड़ी सफलता से विचार किया था। समाजवाद के लिए उनकी स्थिति वही है जो परम्परावाद के लिए रिकार्डो की स्थिति थी। रिकार्डो की भांति राडबर्टस के लेखों में भी अनेक विरोधाभास विद्यमान हैं। वह वास्तव में समाजवादी विचारक थे। अपने [illegible] कारण वह सामान्य आन्दोलन में भाग नहीं लेना चाहता था। वही भूमिपति होने के कारण वह किसी भी जनतान्त्रिक तथा [illegible] आन्दोलन में भाग लेना नहीं चाहता था। भूमिपति होने [illegible] था किन्तु वह वैज्ञानिक सरकार तथा राष्ट्रीय एकता का [illegible] कहता था कि समाजवादियों को किसी भी राजनीतिक [illegible] चाहिए। इसी कारण था कि [illegible] मताधिकार का [illegible] उसने समाज का साथ नहीं दिया। [illegible] दार्शनिक प्रमाणित हुआ है। यह सत्य है कि

में इस प्रकार हैं :—वस्तुओं का मूल्य उनके उत्पादन में लगे हुए श्रम के अनुसार निश्चित किया जाय, काम के घण्टे नियत कर दिये जाँय, श्रमिकों को व्यावहारिक सकटों के दुष्परिणामों से सुरक्षित रखा जाय और करों में कमी की जाय। राडबर्टस का पूर्ण विश्वास था कि राज्य हस्तक्षेप से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को क्षति नहीं पहुँचेगी। उसको राज्य की सत्ता, उसकी कार्यकुशलता और व्यक्तियों को अपनी इच्छा के अनुसार बदलने की शक्ति में पूरा विश्वास था।

ऐसे थे राडबर्टस के विचार। किन्तु ये कहीं-कहीं पर परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। समाज की आर्थिक सीमा में उसकी राजनीतिक सीमाओं से नहीं मिलती। राज्य के कार्यों सम्बन्धी व्याख्या और अन्त में राष्ट्रीय राजसत्ता की स्थापना का सुझाव विरोधात्मक प्रतीत होते हैं विशेष कर उस समय जब वह राष्ट्रीय समाजवाद की चर्चा करता है। राडबर्टस के अनुसार केवल एक ही उपाय था या तो व्यक्तिवाद को चरम सीमा पर पहुँचा दिया जाय या पूर्ण नियन्त्रण रखा जाय। वह यह भी जानता था कि आर्थिक व्यक्तिवाद को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से पृथक नहीं किया जा सकता और स्वतन्त्रता हानि पहुँचाये बिना व्यक्तिवाद को नियन्त्रित करना असम्भव था। इन विरोधाभासों के कारण राडबर्टस को राज्य समाजवादी कहना कठिन है।

समाजवाद का रिकार्डो

वेगनर ने राडबर्टस को समाजवाद का रिकार्डो कहा है। राडबर्टस ने रिकार्डो की भाँति अपने पूर्वजों के विचारों का बड़ी सफलता से विचार किया था। समाजवाद के लिए उनकी स्थिति वही है जो परम्परावाद के लिए रिकार्डो की स्थिति थी। रिकार्डो की भाँति राडबर्टस के लेखों में भी अनेक विरोधाभास विद्यमान हैं। वह वास्तव में समाजवादी विचारक थे। अपने पालनपोषण के कारण वह सामान्य आन्दोलन में भाग नहीं लेना चाहता था। यही नहीं, वह भूमिपति होने के कारण वह किसी भी जनतान्त्रिक तथा क्रान्तिकारी समाजवादी आन्दोलन में भाग लेना नहीं चाहता था। भूमिपति होते हुए भी वह काफी उदार था किन्तु वह वैज्ञानिक सरकार तथा राष्ट्रीय एकता का पक्षपाती था। उसका कहना था कि समाजवादियों को किसी भी राजनीतिक कार्यवाई में भाग नहीं लेना चाहिए। यही कारण था कि व्यापक मताधिकार का प्रबल समर्थक होते हुए भी उसने समाज का साथ नहीं दिया। 19 वीं शताब्दी के विचारक इनके विचारों से सर्वाधिक प्रभावित हुए थे। यह सत्य है कि उसने प्रारम्भिक फ्रांसीसी समाज-

वादियों के विचारों को अपनाया किन्तु उनकी स्पष्ट तर्कशक्ति एवं क्रमबद्ध प्रणाली तथा उसका अर्थशास्त्र सम्बन्धी ज्ञान जो उसके पूर्वजों से श्रेष्ठ था, इन दोनों सयोग ने उनके विचारों को स्थायित्व प्रदान किया था। वह राज्य समाजवादियों का सबसे प्रभावशाली प्रवर्तक था और इसी कारण उसका महत्व है।

राडबर्टस तथा कार्लमार्क्स के विचारों की तुलना

कुछ आलोचकों का मत है कि कार्लमार्क्स ने राडबर्टस के विचारों को अपनाया है किन्तु यह एक विवादग्रस्त विषय है लेकिन यह निर्विवाद है कि दोनों विचारकों के नाम समाजवाद के क्षेत्र में लिए जाते हैं। इन दोनों में यह समानता है कि दोनों ने श्रमिकों की गिरी हुई स्थिति को सुधारने के लिए समाजवाद को आवश्यक माना है। दोनों ने समाजवादी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पूँजीवाद को समाप्त करने का समर्थन किया। लेकिन कुछ समानता होते हुए भी उनमें निम्नलिखित असमानता है।

राडबर्टस का विश्वास था कि समाजवाद की स्थापना आर्थिक एवं सामाजिक सुधारों के द्वारा की जा सकती है, किन्तु इसके लिए उन्होंने क्रान्ति का समर्थन नहीं किया वरन वे क्रमश विस्तार मे विश्वास रखने वाले थे। इस प्रकार उनका दृष्टिकोण विकासवादी था। इसके विपरीत मार्क्स का विचार था कि आर्थिक एव सामाजिक सुधारों से श्रमिकों की दशा मे स्थायी रूप से सुधार नहीं हो सकता। अतः वे क्रान्तिकारी उपायों द्वारा पूँजीवाद को समाप्त करना चाहते थे। इस प्रकार मार्क्स का दृष्टिकोण क्रान्तिकारी था और वे समाजवाद तथा क्रान्ति को अलग-अलग नहीं समझते थे।

राडबर्टस तथा मार्क्स दोनों में दूसरा विभेद है कि जहाँ राडबर्टस ने राज्य समाजवाद के माध्यम से अपने आप को एक राष्ट्र तक ही सीमित रखा वहाँ मार्क्स का समाजवाद अन्तर्राष्ट्रीय था। मार्क्स का समाजवाद क्रान्तिकारी अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद था।

इन दोनों में तीसरा अन्तर यह है कि राडबर्टस के समाजवाद का आधार नैतिक एव आदर्शवादी था किन्तु मार्क्स ने समाजवाद की व्याख्या भौतिकवादी वैज्ञानिक ढंग से की। प्रो० हेने के शब्दों मे, मार्क्स का मत था कि भौतिक और आर्थिक शक्तियों के आधार पर ही सामाजिक विकास हुआ है, उनके लिए आदर्श कुछ नहीं वरन् भौतिक विश्व है जो मानव मस्तिष्क द्वारा प्रतिबिम्बित होता है। यही कारण है कि उन्होंने इतिहास की व्याख्या भौतिक आधार पर की।

फर्डिनेन्ड लसाल (सन् 1825-1864)

जीवन परिचय

फर्डिनेन्ड लसाल का जन्म सन् 1825 में जर्मन यहूदी परिवार में हुआ था। उसके पिता एक कुशल व्यापारी थे। उसके पिता की हार्दिक इच्छा थी कि वह व्यापार में भाग ले। इसी कारण उसे व्यापारिक स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा था। ब्रेसलो मे शिक्षा समाप्त करने के पश्चात वह बर्लिन विश्वविद्यालय मे फिलालाजी और दर्शन के अध्ययन के लिए गया। बाद में उसने कानून का अध्ययन किया। मार्क्स के प्रभाव के कारण वह 23 वर्ष की अवस्था में एक मार्क्सवादी क्रान्तिकारी बन गया और इसके बाद अपना समय उन्होंने दार्शनिक कानून एवं साहित्य के अध्ययन मे लगाया। 30 वर्ष की आयु मे उसने अपनी पुस्तक प्रकाशित की जो निजी सम्पत्ति के दोषों के अवलोकन को सर्वोत्तम पुस्तक मानी गयी है। सन् 1862 मे लसाल ने राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया एवं सरकार तथा बुर्जुआ विरोधियो की तीखी आलोचना की। इन्होंने श्रमिकों के आर्थिक कल्याण के लिए उनसे एक नया दल बनाने की अपील की और इन्हीं के प्रयास से सन 1863 मे जर्मनी में जर्मन श्रमिक के सामान्य संघ की स्थापना हुई जो बाद मे जर्मन सामाजिक लोकतान्त्रिक दल में परिणत हो गया। उसकी मृत्यु 31 अगस्त सन् 1864 मे हुई। उपन्यासकार जार्ज मैरेडिथ ने अपने उपन्यास में लसाल को एक पात्र बनाया है और उनके दुखपूर्ण साहस एवं मनोविज्ञान का सुन्दर चित्रण किया है। लसाल के तूफानी जीवन का अन्त तूफानी मृत्यु मे हुआ।

रचनायें

लसाल ने एक ही महत्वपूर्ण पुस्तक सन् 1861 में लिखी थी और उसके अतिरिक्त उन्होने अन्य छोटी पुस्तकें भी लिखीं।

1—The System of Acquired Rights सन् 1862 मे प्रकाशित हुई। यह रचना निजी सम्पत्ति के दोषों के अवलोकन के लिए सर्वोत्तम मानी गयी।

विचार

लसाल ऐसे विचारक थे जो कार्य करने में विश्वास रखते थे और उसका व्यावहारिक परिणाम देखना चाहते थे। उन दिनों जर्मनी में श्रमिक वर्ग का केवल राजनीतिक अस्तित्व ही था किन्तु उसका पथ अनिश्चित था। इस स्थिति ने। को श्रमिकों के विषय में रुचि लेने एवं अपना एक दल बनाने का अवसर

फर्डिनेन्ड लसाल (सन् 1825-1864)

जीवन परिचय

फर्डिनेन्ड लसाल का जन्म सन् 1825 में जर्मन यहूदी परिवार में हुआ था। उसके पिता एक कुशल व्यापारी थे। उसके पिता की हार्दिक इच्छा थी कि वह व्यापार में भाग ले। इसी कारण उसे व्यापारिक स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा था। ब्रेसलो में शिक्षा समाप्त करने के पश्चात वह बर्लिन विश्वविद्यालय मे फिलालाजी और दर्शन के अध्ययन के लिए गया। बाद में उसने कानून का अध्ययन किया। मार्क्स के प्रभाव के कारण वह 23 वर्ष की अवस्था में एक मार्क्सवादी क्रान्तिकारी बन गया और इसके बाद अपना समय उन्होंने दार्शनिक कानून एव साहित्य के अध्ययन में लगाया। 30 वर्ष की आयु मे. उसने अपनी पुस्तक प्रकाशित की जो निजी सम्पत्ति के दोषों के अवलोकन को सर्वोत्तम पुस्तक मानी गयी है। सन् 1862 मे लसाल ने राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया एवं सरकार तथा बुर्जुआ विरोधियो की तीखी आलोचना की। इन्होंने श्रमिकों के आर्थिक कल्याण के लिए उनसे एक नया दल बनाने की अपील की और इन्हीं के प्रयास से सन 1863 मे जर्मनी में जर्मन श्रमिक के सामान्य संघ की स्थापना हुई जो बाद मे जर्मन सामाजिक लोकतान्त्रिक दल में परिणत हो गया। उसकी मृत्यु 31 अगस्त सन् 1864 मे हुई। उपन्यासकार जार्ज मैरेडिथ ने अपने उपन्यास में लसाल को एक पात्र बनाया है और उनके दुखपूर्ण साहस एवं मनोविज्ञान का सुन्दर चित्रण किया है। लसाल के तूफानी जीवन का अन्त तूफानी मृत्यु में हुआ।

रचनायें

लसाल ने एक ही महत्वपूर्ण पुस्तक सन् 1861 में लिखी थी और उसके अतिरिक्त उन्होने अन्य छोटी पुस्तके भी लिखीं।

1—The System of Acquired Rights सन् 1862 मे प्रकाशित हुई। यह रचना निजी सम्पत्ति के दोषों के अवलोकन के लिए सर्वोत्तम मानी गयी।

विचार

लसाल ऐसे विचारक थे जो कार्य करने मे विश्वास रखते थे और व्यावहारिक परिणाम देखना चाहते थे। उन दिनो जर्मनी में श्रमिक राजनीतिक अस्तित्व ही था किन्तु उसका पथ अनिश्चित था। को श्रमिकों के विषय में रुचि लेने एवं अपना एक

आइजनैक कांग्रेस सन् 1873

यह कांग्रेस श्मोलर, वैगनर, बुशर तथा रौफिल द्वारा सन 1872 मे आयोजित की गयी थी। इस अधिवेशन मे कुछ ऐसे महत्वपूर्ण निर्णय लिए गये जिनसे राज्य समाजवाद के विकास को आगे बढ़ने मे सहायता प्राप्त हुई। इस अधिवेशन का मुख्य उद्देश्य जर्मनी की समस्याओं का वस्तुगत मूल्यांकन करना और उनके उपचार के लिए सिद्धान्तो को निर्मित करना था। सन 1864 में लसाल की मृत्यु के उपरान्त जर्मनी मे अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। देश में बढ़ते हुए औद्योगिकीकरण के कारण अनेक श्रम समस्यायें उत्पन्न हो गयी। जर्मन अर्थशास्त्री विभिन्न आर्थिक सिद्धान्तो के तुलनात्मक महत्व पर जा रहे थे। मार्क्सवादी विचारों के प्रभाव मे श्रम नेता श्रमिकों को जनतान्त्रिक अधिकारो को प्रदान करने के लिए आन्दोलन कर रहे थे। बिस्मार्क ने स्थिति को सुधारने के लिए जो उपाय किये उनके परिणाम भी स्पष्ट हो गये थे। बिस्मार्क ने राजनीतिक शक्ति का एकीकरण अवश्य ही कर दिया था किन्तु राजनीतिक क्षेत्र मे अनेक समस्यायें उत्पन्न हो गयी थीं। इस अधिवेशन मे जिन लोगो ने भाग लिया उनको विश्वास था कि इन समस्याओं को राज्य हस्तक्षेप द्वारा सुलझाया जा सकता था। वैगनर ने राज्य के कार्यों के विस्तार के लिए बलपूर्वक तर्क दिये। ये लोग राज्य हस्तक्षेप को इसलिए आवश्यक समझते थे क्योंकि यह नैतिक एकता का एक उपकरण था और व्यक्तियों को हिंसा से बचा सकता था। यह एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा मनुष्यों का सामाजिक दुर्घटनाओं तथा आर्थिक सकटो से सुरक्षित रखा जा सकता है। यह प्रतियोगिता के दोषो को दूर कर सकता है और श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति को बढ़ा सकता है। राज्य समाजवादियो ने एक ऐसा कार्यक्रम निश्चित किया जिसके अनुसार निजी सम्पत्ति लाभ तथा ब्याज की निन्दा करना आवश्यक नहीं था। उत्पादन के क्षेत्र मे राज्य का नियन्त्रण ऐसे उद्योगो पर लागू करना था जो सर्वव्यापक थे या जिनमें एकाधिकार स्थापित होने की प्रवृत्ति थी या जिनका स्वभाव सर्वोपयोगी सेवाओ जैसा था। वितरण के क्षेत्र मे इनका उद्देश्य प्रगतिशील कराधान को प्रधानता प्रदान करना था। इस प्रकार सन 1872 के बाद राज्य समाजवाद ने एक नैतिक कार्यक्रम का रूप धारण कर लिया जिसका उद्देश्य श्रमिक वर्ग की आर्थिक कमजोरियों को कम करना और राज्य हस्तक्षेप द्वारा राष्ट्र की आर्थिक समानता को बढ़ाना था।

जर्मनी मे भी समाजवादी विचारक थे। इन समाजवादियो मे मुख्य बोदर, हैस और कार्लबन थे। ये विचारक हीगेल के अनुयायी थे और मुख्य रूप से द[illegible]

आइजनेक कांग्रेस सन् 1873

यह कांग्रेस श्मोलर, वैगनर, बुशर तथा शैफिल द्वारा सन 1872 में आयोजित की गयी थी। इस अधिवेशन में कुछ ऐसे महत्वपूर्ण निर्णय लिए गये जिनसे राज्य समाजवाद के विकास को आगे बढ़ने में सहायता प्राप्त हुई। इस अधिवेशन का मुख्य उद्देश्य जर्मनी की समस्याओं का वस्तुगत मूल्यांकन करना और उनके उपचार के लिए सिद्धान्तों को निर्मित करना था। सन 1864 में लसाल की मृत्यु के उपरान्त जर्मनी में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। देश में बढ़ते हुए औद्योगिकीकरण के कारण अनेक श्रम समस्यायें उत्पन्न हो गयीं। जर्मन अर्थशास्त्री विभिन्न आर्थिक सिद्धान्तों के तुलनात्मक महत्व पर जा रहे थे। मार्क्सवादी विचारों के प्रभाव में श्रम नेता श्रमिकों को जनतान्त्रिक अधिकारों को प्रदान करने के लिए आन्दोलन कर रहे थे। बिस्मार्क ने स्थिति को सुधारने के लिए जो उपाय किये उनके परिणाम भी स्पष्ट हो गये थे। बिस्मार्क ने राजनीतिक शक्ति का एकीकरण अवश्य ही कर दिया था किन्तु राजनीतिक क्षेत्र में अनेक समस्यायें उत्पन्न हो गयी थीं। इस अधिवेशन में जिन लोगों ने भाग लिया उनको विश्वास था कि इन समस्याओं को राज्य हस्तक्षेप द्वारा सुलझाया जा सकता था। वैगनर ने राज्य के कार्यों के विस्तार के लिए बलपूर्वक तर्क दिये। ये लोग राज्य हस्तक्षेप को इसलिए आवश्यक समझते थे क्योंकि यह नैतिक एकता का एक उपकरण था और व्यक्तियों को हिंसा से बचा सकता था। यह एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा मनुष्यों को सामाजिक दुर्घटनाओं तथा आर्थिक संकटों से सुरक्षित रखा जा सकता है। यह प्रति-योगिता के दोषों को दूर कर सकता है और श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति को बढ़ा सकता है। राज्य समाजवादियों ने एक ऐसा कार्यक्रम निश्चित किया जिसके अनुसार निजी सम्पत्ति लाभ तथा ब्याज की निन्दा करना आवश्यक नहीं था। उत्पादन के क्षेत्र में राज्य का नियन्त्रण ऐसे उद्योगों पर लागू करना था जो स्व-भावतः थे या जिनमें एकाधिकार स्थापित होने की प्रवृत्ति थी या जिनका स्वभाव सर्वोपयोगी सेवाओं जैसा था। वितरण के क्षेत्र में इनका उद्देश्य प्रगतिशील करा-रोपण को प्रधानता प्रदान करना था। इस प्रकार सन 1872 के बाद राज्य समाजवाद ने एक नैतिक कार्यक्रम का रूप धारण कर लिया जिसका उद्देश्य श्रमिक वर्ग की आर्थिक कमजोरियों को कम करना और राज्य हस्तक्षेप द्वारा राष्ट्र की आर्थिक समानता को बढ़ाना था।

जर्मनी में भी समाजवादी विचारक थे। इन समाजवादियों में मुख्य रॉडबर्टस, हेग और कार्लबन थे। ये विचारक हीगेल के अनुयायी थे और मुख्य रूप से द-

आइजनैक कांग्रेस सन् 1873

यह कांग्रेस श्मोलर, वेगनर, बुशर तथा शैफिल द्वारा सन 1872 में आयोजित की गयी थी। इस अधिवेशन मे कुछ ऐसे महत्वपूर्ण निर्णय लिए गये जिनसे राज्य समाजवाद के विकास को आगे बढ़ने में सहायता प्राप्त हुई। इस अधिवेशन का मुख्य उद्देश्य जर्मनो की समस्याओं का वस्तुगत मूल्यांकन करना और उनके उपचार के लिए सिद्धान्तों को निर्मित करना था। सन 1864 मे लसाल की मृत्यु के उपरान्त जर्मनी में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। देश में बढ़ते हुए औद्योगिकीकरण के कारण अनेक श्रम समस्यायें उत्पन्न हो गयी। जर्मन अर्थशास्त्री विभिन्न आर्थिक सिद्धान्तो के तुलनात्मक महत्व पर जा रहे थे। मार्क्सवादी विचारो के प्रभाव मे श्रम नेता श्रमिकों को जनतान्त्रिक अधिकारो को प्रदान करने के लिए आन्दोलन कर रहे थे। बिस्मार्क ने स्थिति को सुधारने के लिए जो उपाय किये उनके परिणाम भी स्पष्ट हो गये थे। बिस्मार्क ने राजनीतिक शक्ति का एकीकरण अवश्य ही कर दिया था किन्तु राजनीतिक क्षेत्र मे अनेक समस्यायें उत्पन्न हो गयी थीं। इस अधिवेशन मे जिन लोगों ने भाग लिया उनको विश्वास था कि इन समस्याओ को राज्य हस्तक्षेप द्वारा सुलझाया जा सकता था। वेगनर ने राज्य के कार्यों के विस्तार के लिए बलपूर्वक तर्क दिये। ये लोग राज्य हस्तक्षेप को इसलिए आवश्यक समझते थे क्योंकि यह नैतिक एकता का एक उपकरण था और व्यक्तियो को हिंसा से बचा सकता था। यह एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा मनुष्यो को सामाजिक दुर्घटनाओ तथा आर्थिक सकटो से सुरक्षित रखा जा सकता है। यह प्रतियोगिता के दोषो को दूर कर सकता है और श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति को बढ़ा सकता है। राज्य समाजवादियो ने एक ऐसा कार्यक्रम निश्चित किया जिसके अनुसार निजी सम्पत्ति लाभ तथा ब्याज की निन्दा करना आवश्यक नहीं था। उत्पादन के क्षेत्र मे राज्य का नियन्त्रण ऐसे उद्योगो पर लागू करना था जो सर्वव्यापक थे या जिनमें एकाधिकार स्थापित होने की प्रवृत्ति थी या जिनका स्वभाव सर्वोपयोगी सेवाओ जैसा था। वितरण के क्षेत्र मे इनका उद्देश्य प्रगतिशील करारोपण को प्रधानता प्रदान करना था। इस प्रकार सन 1872 के बाद राज्य समाजवाद ने एक नैतिक कार्यक्रम का रूप धारण कर लिया जिसका उद्देश्य श्रमिक वर्ग की आर्थिक कमजोरियो को कम करना और राज्य हस्तक्षेप द्वारा राष्ट्र की आर्थिक समानता को बढ़ाना था।

जर्मनी मे भी समाजवादी विचारक थे। इन समाजवादियों मे मुख्य बीमर, हैस और कार्लग्रन थे। ये विचारक हीगेल के अनुयायी थे और मुख्य रूप से दार्श-

के रूप को पूर्ण रूप से बदलना चाहता था। किन्तु काफी समय पश्चात् मार्क्स के प्रभाव के कारण उसे यह ज्ञात हुआ कि श्रमिकों का आन्दोलन भ्रातृत्व की भावना पर आधारित था और तभी से उसने इस आन्दोलन का समर्थन करना प्रारम्भ कर दिया, किन्तु हैस बल प्रयोग के पक्ष में नहीं था क्योंकि उसका विश्वास था कि बल प्रयोग से जो नयी व्यवस्था स्थापित होगी वह भी उतनी ही हिंसक होगी जितनी वर्तमान समाज व्यवस्था है। उसे राष्ट्रवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता से भी घृणा थी। उसने एक ऐसे समाजवादी समाज की कल्पना की जो विभिन्न राष्ट्रीय समूहों का एक संघ होगा और प्रत्येक राष्ट्रीय समूह अपने-अपने राष्ट्रीय जीवन के ढंग के अनुसार अपने समाजवाद का रूप निर्धारित करेगा। उसने अपनी पुस्तक में यह प्रस्तावित किया कि जर्मनी, फ्रान्स तथा ग्रेट ब्रिटेन एक संघ स्थापित करें, जो अन्त में एक आदर्श यूरोपीय समाज के निर्माण में सहायक हो। उसने एक ही पुस्तक समाजवाद का अध्ययन (Studies on Socialism) लिखी।

कार्ल टी० एफ० ग्रैन : (सन् 1817–1887 तक)

पेरिस में जर्मन समूह के नेतृत्व के लिये ग्रैन कार्ल मार्क्स का मुख्य प्रतिद्वन्दी था। समाजवाद सम्बन्धी उसके विचार फायरबाख की रचनाओं पर आधारित हैं। फायरबाख ने दृढ़तापूर्वक कहा कि सभी अलौकिक बातें मनुष्य की कल्पना का परिणाम होती हैं जो एक ऐसी क्रिया द्वारा उत्पन्न होती है जिसमें मनुष्य अपने से परे हटकर अपने विषय में सोचता है। ग्रैन का विचार था कि सम्पत्ति भी इसी कारण उत्पन्न हुई थी क्योंकि यह समाज के बाहर थी। इसके कारण भ्रातृत्व की भावना नष्ट हो गयी थी। उसका प्रस्ताव था कि सम्पत्ति का समाजीकरण कर दिया जाय। ग्रैन के अनुसार मानव इतिहास की उचित जानकारी के लिए वर्ग संघर्ष आवश्यक था। उसका विश्वास था कि मानव इतिहास केवल वर्ग संघर्षों की एक श्रृंखला मात्र है जो निजी सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए ही समय-समय पर उत्पन्न हुए थे। जैसे ही सम्पत्ति पर समाज का स्वामित्व स्थापित होगा उसी समय सम्पत्ति का उन्मूलन हो जायगा। ग्रैन के अनुसार समाजवाद की तीव्र प्रगति उसी समय होगी जब कि व्यक्ति के विचारों को दर्शन की सहायता से उसके अनुकूल बदल दिया जायगा ताकि वे इस संघर्ष को अपना सकें। मार्क्स तथा एंगेल्स इस बात पर उससे सहमत नहीं थे। वह बुर्जुआ उदारवादियों का सहयोग प्राप्त करने के पक्ष में नहीं था क्योंकि उसका विचार था कि वे निजी सम्पत्ति की गैर सामाजिक प्रणाली को शक्तिशाली बनाने की चेष्टा कर रहे हैं।

उन्होंने मार्क्स को बान विश्वविद्यालय से हटाकर बर्लिन के विश्वविद्यालय में कानून, दर्शन और इतिहास आदि की शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा।

बर्लिन विश्वविद्यालय से मार्क्स की जीवन कथा का एक नया अध्याय आरम्भ होता है। बॉन विश्वविद्यालय में उसका मन पढ़ने लिखने में अधिक नहीं लगता था। परन्तु बर्लिन आते ही वह अध्ययन में एकाग्रचित्त होकर जुट गया। कानून में उसकी रुचि अधिक नहीं थी। दर्शन और इतिहास उसके प्रिय विषय थे। इन्हीं के अध्ययन में वह अपना अधिकांश समय व्यतीत करता था। वह स्वभाव से ही एक स्वतन्त्र चिन्तक था अतः विश्वविद्यालय के सजे हुए और एक साँचे में ढले हुए व्याख्यानों से उसे सन्तोष नहीं होता था। अपनी ज्ञान पिपासा को शान्त करने के लिए वह मित्रों तक से मिलना जुलना बन्द करके रात दिन पढ़ने में ही लगा रहता था। बर्लिन के विद्यार्थी जीवन में कितनी ही रातें उसने दार्शनिक तथ्यों के मनन और चिन्तन में जागकर व्यतीत की थी।

उन दिनों बर्लिन, हैगलवादी दर्शन का केन्द्र था। मार्क्स का परिचय हेगल की कृतियों से विद्यार्थी जीवन में ही हो गया था। विश्वविद्यालय के शिक्षकों तथा विद्यार्थियों से मिलकर हेगेल के दर्शन का अध्ययन व मनन करने के लिए एक क्लब बना रखा था। मार्क्स भी इस क्लब का सदस्य बन गया और उसके कार्यक्रम में सक्रिय भाग लेने लगा। इस प्रकार बर्लिन विश्वविद्यालय का अध्ययन समाप्त करने से पूर्व ही हेगेल के दार्शनिक सिद्धान्तों का गहन अध्ययन करके उनका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर व्यावहारिक निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया।

अध्ययन और दार्शनिक चिन्तन में लीन रहते हुए भी मार्क्स अपनी प्रेयसी जेनी को नहीं भूल सका। उसने जेनी की स्मृति में तीन जिल्द प्रणय सम्बन्धी कवितायें लिखी। भाषा पर मार्क्स का पूरा अधिकार था और वह अपने विचारों को बड़ी ही सुन्दर और अलङ्कृत ढंग से व्यक्त कर सकने की क्षमता रखता था। परन्तु काव्य प्रतिभा का उसमें अभाव था। फलतः मार्क्स की यह कवितायें युवावस्था की प्रेम भावनाओं का उद्गार मात्र ही थी। उनका साहित्यक महत्व अधिक नहीं था। हेगेल के दर्शन का अनुयायी होने पर उसने अपनी समस्त कविताओं को नष्ट कर दिया।

मार्क्स के पिता वृद्ध हो चले थे। उनकी इच्छा थी कि उनका पुत्र भी उन्हीं के भांति एक ख्यातिप्राप्त वकील बनता, परन्तु मार्क्स स्वतन्त्र प्रकृति का व्यक्ति

अध्याय 8

वैज्ञानिक समाजवादी विचारक

कार्ल मार्क्स (1818–1883)

सर्वहारा वर्ग के मेधावी सिद्धान्तकार तथा वैज्ञानिक समाजवाद के जनक एवं नेता कार्ल मार्क्स को उन महापुरुषों में प्रमुख स्थान प्राप्त है जिनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व युग-युग अमर रहेगा। कार्ल मार्क्स का पूरा नाम कार्ल हाइनरिख मार्क्स था। उनका जन्म 5 मई, सन् 1818 को जर्मनी के प्रशा प्रदेश के अन्तर्गत त्रियेर नगर के रहने वाले एक यहूदी वकील परिवार में हुआ था। मार्क्स के पिता हीर स्केल स्वभाव से बड़े ही सांसारिक और नम्र प्रकृति के व्यक्ति थे जो सांसारिक ऐश्वर्य व मान मर्यादा को आदर्शों और सिद्धान्तों की सीमा से ऊपर समझते थे। अपनी वकालत और सामाजिक प्रतिष्ठा के विचार से, सन् 1824 में उन्होंने यहूदी धर्म का परित्याग कर इसाई धर्म अपना लिया और अपना नाम बदल कर हीरस्केल के स्थान पर हाइनरिख मार्क्स कर लिया। इस समय कार्ल मार्क्स की अवस्था 6 वर्ष की थी।

मार्क्स की प्रारम्भिक शिक्षा त्रियेर नगर के स्कूल में हुई जहां से 17 वर्ष की अवस्था में उसने मैट्रिक पास किया। मार्क्स के पिता की प्रबल इच्छा थी कि उनका पुत्र भी उन्ही की भांति एक वकील बने। फलतः उन्होंने सन् 1835 में मार्क्स को विधि की शिक्षा प्राप्त करने हेतु बोन विश्वविद्यालय में भेजा। परन्तु मार्क्स का मन विधि शिक्षा में अधिक नही लगा। इस किशोर ने उसी समय मानव जाति की निस्वार्थ सेवा में जीवन का प्रयोजन देख लिया था। इस समय जर्मनी तथा योरप के अन्य भागों में जनसाधारण में बढती हुई असन्तोष भावना, सामाजिक जीवन में सक्रियता और पूंजीपति वर्ग एवं बुद्धिजीवियों के अन्दर विभिन्न विरोधमूलक प्रवृत्तियों तथा दल बन्दियों के जन्म के लिए उल्लेखनीय था। इसी बीच उसका आकर्षण जेनी वान वेस्ट फालेन नामक एक सम्पन्न परिवार की लड़की के प्रति हो गया जिसके साथ वह बचपन में खेल भी चुका था। यह आकर्षण धीरे धीरे प्रेम में बदल गया। इन सब कारणों से मार्क्स के पिता उसके बोन विश्वविद्यालय के छात्र जीवन से अत्यन्त दुखी थे। विवश होकर

उन्होंने मार्क्स को बॉन विश्वविद्यालय से हटाकर बर्लिन के विश्वविद्यालय में कानून, दर्शन और इतिहास आदि की शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा।

बर्लिन विश्वविद्यालय से मार्क्स की जीवन कथा का एक नया अध्याय आरम्भ होता है। बॉन विश्वविद्यालय में उसका मन पढ़ने लिखने में अधिक नहीं लगता था। परन्तु बर्लिन आते ही वह अध्ययन में एकाग्रचित्त होकर जुट गया। कानून में उसकी रुचि अधिक नहीं थी। दर्शन और इतिहास उसके प्रिय विषय थे। इन्हीं के अध्ययन में वह अपना अधिकांश समय व्यतीत करता था। वह स्वभाव से ही एक स्वतन्त्र चिन्तक था अतः विश्वविद्यालय के सजे हुए और एक साँचे में ढले हुए व्याख्यानों से उसे सन्तोष नहीं होता था। अपनी ज्ञान पिपासा को शान्त करने के लिए वह मित्रों तक से मिलना जुलना बन्द करके रात दिन पढ़ने में ही लगा रहता था। बर्लिन के विद्यार्थी जीवन में कितनी ही रातें उसने दार्शनिक तथ्यों के मनन और चिन्तन में जागकर व्यतीत की थीं।

उन दिनों बर्लिन, हेगलवादी दर्शन का केन्द्र था। मार्क्स का परिचय हेगल की कृतियों से विद्यार्थी जीवन में ही हो गया था। विश्वविद्यालय के शिक्षकों तथा विद्यार्थियों ने मिलकर हेगल के दर्शन का अध्ययन व मनन करने के लिए एक क्लब बना रखा था। मार्क्स भी इस क्लब का सदस्य बन गया और उसके कार्यक्रम में सक्रिय भाग लेने लगा। इस प्रकार बर्लिन विश्वविद्यालय का अध्ययन समाप्त करने से पूर्व ही हेगल के दार्शनिक सिद्धान्तों का गहन अध्ययन करके उनका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर व्यावहारिक निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया।

अध्ययन और दार्शनिक चिन्तन में लीन रहते हुए भी मार्क्स अपनी प्रेयसी जेनी को नहीं भूल गया। उसने जेनी की स्मृति में तीन जिल्द प्रणय सम्बन्धी कवितायें लिखी। भाषा पर मार्क्स का पूरा अधिकार था और वह अपने विचारों को बड़े ही सुन्दर और अलंकृत ढंग से व्यक्त कर सकने की क्षमता रखता था। परन्तु काव्य प्रतिभा का उसमें अभाव था। फलतः मार्क्स की यह कवितायें युवावस्था की प्रेम भावनाओं का उद्‌गार मात्र ही थीं। उनका साहित्यक महत्व अधिक नहीं था। हेगल के दर्शन का अनुयायी होने पर उसने अपनी समस्त कविताओं को नष्ट कर दिया।

मार्क्स के पिता वृद्ध हो चले थे। उनकी इच्छा थी कि उनका पुत्र भी उन्हीं के भाँति एक ख्यातिप्राप्त वकील बनता, परन्तु मार्क्स स्वतन्त्र प्रकृति का व्यक्ति

था। उसके हृदय में पिता के प्रति आदर भावना अवश्य थी परन्तु उसका स्वभाव उनसे भिन्न था। पिता में जहाँ सांसारिक एवं लौकिक प्रतिष्ठा एवं ऐश्वर्य की कामना थी वहाँ मार्क्स में कभी न झुकने वाली एक सैद्धान्तिक दृढ़ता थी। वह परिवार सम्बन्धी अपने उत्तरदायित्व से उदासीन होता जा रहा था और सामाजिक तथा दार्शनिक चिन्तन में ही लीन रहता था। इससे उसके पिता को बड़ी निराशा हुई और वे अनुभव करने लगे कि उनका पुत्र उनके नियंत्रण से बाहर होता जा रहा है। उनकी रुग्णता बढ़ती गयी और 10 फरवरी सन् 1838 को उनकी मृत्यु हो गयी। इस समय मार्क्स की अवस्था केवल 20 वर्ष की थी।

पिता की मृत्यु के पश्चात् मार्क्स दर्शन शास्त्र में डाक्टरेट पाने के लिए अपने शोध निबन्ध को पूरा करने में लग गया। उसने यूनान के प्राचीन वस्तुवादी दार्शनिक डेमोक्राइटस और एपीक्यूरस के प्रकृति दर्शन के भेद को स्पष्ट करते हुए एक गवेषणात्मक निबन्ध लिखा जिसके फलस्वरूप जेना विश्वविद्यालय से सन् 18.1 में दर्शन के डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। उसे ऐसा विश्वास था कि डाक्टर की उपाधि प्राप्त होने पर उसे बोन विश्वविद्यालय में प्राध्यापक का कार्य मिल जायगा परन्तु क्रान्तिकारी विचारों का पोषक होने के कारण उसकी पूरी न हो यह आशा सकी।

क्रान्तिकारी एवं प्रगतिशील विचारों का दमन करने के लिए प्रशा की सरकार ने अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने आरम्भ किये। यहाँ तक कि दार्शनिक पत्र भी इसके प्रभाव से अछूते न रह सके। इधर मार्क्स ने अपनी लेखनी द्वारा सरकार की नीति की आलोचना करना तथा पुरानी रूढ़ियों और मिथ्या विश्वासों पर प्रहार करना प्रारम्भ कर दिया। इस विषय पर उनका प्रथम लेख "राइनी समाचार पत्र" नामक स्वतन्त्र विचारों की एक पत्रिका में प्रकाशित हुआ। यह पत्रिका कोलोन से प्रकाशित होती थी। और जनतन्त्रात्मक शासन पद्धति का समर्थन करती थी। मार्क्स के लेखों ने लोगों का ध्यान उसकी प्रतिभा की ओर आकर्षित किया। 15 अक्टूबर सन् 1842 को मार्क्स को इस समाचार पत्र के सम्पादकीय विभाग का कार्य भार सौंप दिया गया। उसके सम्पादकत्व में "राइनी समाचार पत्र" की क्रान्तिकारी जनवादी प्रवृत्ति अधिकाधिक स्पष्ट होती गयी। उन्होंने उस सामाजिक, राजनीतिक तथा भावनात्मक उत्पीड़न के शासन के विरुद्ध साहसिक प्रचार किया और जन साधारण के आर्थिक हितों का पक्षधर बना। समाचार पत्र की प्रवृत्ति और उसके प्रभाव की तीव्र वृद्धि से घबड़ा कर प्रशा की सरकार ने सेन्सर को कठोर किया और अन्त में 19 जनवरी, 1843

...तान की रचना की एवं ...
...ा न मानवांग मित्रों को ग्रत्यन्त हृदयस्पर्शी पुरान ...

...ने के पश्चात् प्रशा की सरकार के कोप के कारण मार्क्स
...सम्भव नहीं था। फलतः उसने पेरिस को ही अपना कार्य
...बैठना उसके स्वभाव के विपरीत था। कोलोन में रहते
...काल म मार्क्स ने अनुभव किया था कि अर्थशास्त्र के ज्ञान
...विकास को भली प्रकार समझ सकना सम्भव नहीं है और
...र के अध्ययन में लगा हुआ था। पेरिस में मार्क्स का यह
...बढ़ा। इसके अतिरिक्त वह फ्रान्स की सामाजिक स्थिति और
...ी समाजवादियों के अध्ययन में भी प्रवृत्त हुआ। उस समय
...ाजिक क्रान्ति सबसे अधिक उग्ररूप में फ्रान्स में हुई थी। अतः
...रों को आत्मसात करने के लिए उसने सबसे पहले अपनी दृष्टि
...जक क्रान्तियों तथा उनके मूल में स्थित उन विचार-धाराओं पर
...कर वे क्रान्तियां उठकर आगे बढ़ी थीं। उसे यह बात स्पष्ट रूप
...ने लगी कि फ्रांस की क्रान्ति के जितने भी चिन्तक थे, वे मूलतः
...। फलत. पेरिस मे रहकर उसने हलवेशियस और होलबाख के
...ौतिकवाद का अध्ययन किया क्योंकि इन्हीं दो भौतिकवादियो के
...ान्स की 18वीं शताब्दी की क्रान्ति आधारित थी। पेरिस उन दिनो
...विद्रोह के अपराध मे निकाले गये क्रान्तिकारियों का अड्डा था। मार्क्स
...कारियो से तथा फ्रान्स के मजदूरो की अनेक गुप्त सस्थाओ से भी
...र्क स्थापित किया और यदा कदा उनकी बैठको मे भी भाग लेने
... आदि फ्रान्स के बड़े-बड़े समाजवादियो से भी मार्क्स का अच्छा परिचय

...त सन् 1844 के अन्त मे एगेल्स पेरिस आये जहाँ मार्क्स के साथ उनकी
...पूर्ण भेंट हुई जिसमे उनके विचारो की पूर्ण समानता प्रदर्शित हुई। यह
...और एंगेल्स सृजनात्मक सहयोग का समारम्भ था जहाँ दस दिनो के
... कृति "पवित्र परिवार, अथवा आलोचनात्मक आलोचना की आलोचना"
...ना प्रारम्भ की जिसमे सामाजिक क्रान्तियो के प्रकाश मे दार्शनिक तथ्यो
...चार किया गया था। इन्ही दिनो पेरिस में "वोरवार्टस" (आगे बढ़ो) के

नाम से एक पत्रिका प्रकाशित होती थी। मार्क्स ने इस पत्रिका में लिखना आरम्भ किया और उसके सम्पादन मे भी भाग लेने लगे। मार्क्स के प्रभाव से समाचार पत्र ने साम्यवाद और तीव्र प्रशा विरोधी नीति अपनाना प्रारम्भ कर दिया। प्रशा की सरकार के दबाव पर फ्रान्स की सरकार ने मार्क्स को फ्रान्स से निर्वासित कर दिया। फरवरी सन् 1845 मे उन्होने ब्रूसेल्स में डेरा जमाया। यह विदित होने पर प्रशा की सरकार उनके प्रत्यार्पण की माँग करने का विचार कर रही है मार्क्स ने दिसम्बर 1845 मे प्रशा की नागरिकता को त्याग दिया।

फ्रान्स से निर्वासित होकर मार्क्स अपने परिवार के साथ ब्रूसेल्स मे आ गया। कुछ दिनो के पश्चात् एंगेल्स भी ब्रूसेल्स मे आकर मार्क्स से मिल गया। 12 जुलाई 1845 के लगभग दोनो ने मिल कर इंगलैंड की यात्रा की। वहाँ पर जाकर उन्होंने अर्थशास्त्र सम्बन्धी अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन किया तथा वहाँ के मजदूर आन्दोलन की गतिविधि एवं इंगलैंड के आर्थिक एव सामाजिक जीवन का परिचय प्राप्त किया। कुछ समय के बाद दोनो फिर ब्रूसेल्स वापस आ गये।

मार्क्स ने अपने जीवन के तीन वर्ष ब्रूसेल्स मे व्यतीत किये। इन तीन वर्षों मे उसने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। सन 1846 में उसने एंगेल्स की सहायता से "साम्यवाद सवाद समिति" के नाम स एक सस्था की स्थापना की। इसमे मार्क्स और एंगेल्स के अतिरिक्त उनके मित्र तथा सहचिन्तक भी सम्मिलित थे जिसकी शाखायें अनेक देशो मे स्थापित की गयी। इस संस्था का मूल उद्देश्य था विभिन्न देशो के समाजवादी आन्दोलनों एवं सर्वहारा वर्ग के प्रगतिशील प्रतिनिधियो मे सम्पर्क एव सगठनात्मक एकता स्थापित करना। सन 1847 मे उसने प्रूदों की कृति "दरिद्रता का दर्शन' का क्रमानुसार आलोचना अपनी रचना 'दर्शन की दरिद्रता' मे की। दर्शन की दरिद्रता वैज्ञानिक साम्यवाद की दार्शनिक बुनियादो—द्वन्द्वात्मक तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद के विकास मे स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत की गयी। वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए इसी वर्ष अगस्त के महीने मे 'जनवादी सभा' नामक संस्था की स्थापना की और इसी संस्था के तत्वाधान में ब्रूसेल्स मे उसने "मजदूरी और पूंजी" की विस्तृत व्याख्या करते हुए एक व्याख्यान माला प्रारम्भ की। सितम्बर 1847 मे एंगेल्स के सहयोग से ब्रूसेल्स मे भी 'जनवादी सभा' के नाम से संस्था स्थापित की जिसका लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय जनवाद को एकताबद्ध करना था। इसका लक्ष्य यह भी था कि प्रत्येक प्रगतिशील जनवादी आन्दोलन की सहायता करना सर्वहारा वर्ग का कर्तव्य है। इस संस्था के माध्यम से ही विश्व के अन्य देशो के

जनवादी आन्दोलनों से सम्पर्क स्थापित करना भी था। मार्क्स ने इस संस्था के कार्यक्रम में बहुत ही सक्रिय सहयोग प्रदान किया।

उन दिनों लन्दन में लीग आफ दी जस्ट नाम की एक संस्था थी। इस संस्था ने सन 1847 के प्रारम्भ में अपना एक प्रतिनिधि भेजकर मार्क्स और एंगेल्स को लीग में सम्मिलित होने और उसका पुनर्संगठन करके उसके लिए नवीन कार्यक्रम निर्धारित करने के लिए आमन्त्रित किया। मार्क्स और एंगेल्स ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और लीग के सदस्य बन गये। इसके सदस्य बन जाने के बाद उनके प्रयत्नों से इसका नाम बदल कर "कम्युनिस्ट लीग" रखा गया। लीग के नियमों की अन्तिम रूप से पुष्टि की गयी और कार्यक्रम पर विचार किया गया। उस विचार विमर्श की परिणति मार्क्स और एंगेल्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की सर्वसम्मत स्वीकृति में हुई और उन्हें घोषणा-पत्र तैयार करने का भार दिया गया।

मार्क्स और एंगेल्स ने इस उत्तरदायित्व का बड़ी योग्यता के साथ निर्वाह किया। उनका लिखा हुआ "साम्यवादी दल का घोषणा पत्र" फरवरी सन् 1848 में प्रकाशित हुआ। उनका लिखा हुआ घोषणा पत्र वर्तमान युग की एक अद्वितीय कृति मानी जाती है जो आज 100 वर्षों के पश्चात् भी संसार के समाजवादियों का पथ-प्रदर्शन कर रही है। सम्पूर्ण रचना 40 पृष्ठों से अधिक नहीं होगी फिर भी इन 40 पृष्ठों में आधुनिक युग की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रवृत्तियों का सूत्ररूप में बडा ही वैज्ञानिक एवं सर्वांग पूर्ण विश्लेषण किया गया है।

सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी सिद्धान्त के विकास की दिशा में यह एक नया विराट पग था। इसके अतिरिक्त घोषणा पत्र की ओजस्विनी शैली और इसकी भाषा का साहित्यिक सौष्ठव भी दर्शनीय है। उसके अन्तिम शब्द है, "सर्वहाराओं के पास अपनी बेड़ियों के अतिरिक्त खोने के लिए कुछ नहीं है। जीतने के लिए उसके सामने सारी दुनिया है। ऐ दुनिया के मजदूर, एक हो।" इस घोषणा पत्र का अनुवाद आज संसार की प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं में हो चुका है और बाइबिल को छोड कर सम्भवतः ही कोई अन्य पुस्तक हो जिसकी इतनी अधिक प्रतियाँ प्रकाशित की गयी हों।

इस घोषणा के प्रकाशित होने के कुछ समय के पश्चात् ही सन् 1848 के आरम्भ में फ्रान्स, जर्मनी, आदि अनेक देशों में क्रान्ति की भीषण ज्वालायें धधक उठी और समस्त यूरोप का राजनीतिक वातावरण

जनवादी आन्दोलनों से सम्पर्क स्थापित करना भी था। मार्क्स ने इस संग के कार्यक्रम में बहुत ही सक्रिय सहयोग प्रदान किया।

उन दिनों लन्दन में लीग आफ दी जस्ट नामक एक संस्था थी। इस संस्था ने सन 1847 के आरम्भ में अपना एक प्रतिनिधि भेजकर मार्क्स और एंगेल्स को लीग में सम्मिलित होने और उसका पुनर्संगठन करके उसके लिए नवीन कार्यक्रम निर्धारित करने के लिए आमन्त्रित किया। मार्क्स और एंगेल्स ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और लीग के सदस्य बन गये। इसके सदस्य बन जाने के बाद उनके प्रयत्नो से इसका नाम बदल कर "कम्युनिस्ट लीग" रखा गया। लीग के नियमों की अन्तिम रूप से पुष्टि की गयी और कार्यक्रम पर विचार किया गया। उस विचार विमर्श की परिणति मार्क्स और एंगेल्स द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की सर्वसम्मत स्वीकृति में हुई और उन्हें घोषणा-पत्र तैयार करने का भार दिया गया।

मार्क्स और एंगेल्स ने इस उत्तरदायित्व का बड़ी योग्यता के साथ निर्वाह किया। उनका लिखा हुआ "साम्यवादी दल का घोषणा पत्र" फरवरी सन् 1848 में प्रकाशित हुआ। उनका लिखा हुआ घोषणा पत्र वर्तमान युग की एक अद्वितीय कृति मानी जाती है जो आज 100 वर्षों के पश्चात् भी संसार के समाजवादियों का पथ-प्रदर्शन कर रही है। सम्पूर्ण रचना 40 पृष्ठों से अधिक नहीं होगी फिर भी इन 40 पृष्ठों में आधुनिक युग की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रवृत्तियों का सूत्ररूप में बड़ा ही वैज्ञानिक एवं सर्वांग पूर्ण विश्लेषण किया गया है।

सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी सिद्धान्त के विकास की दिशा में यह एक नया

[मो]

के निरन्तर परिश्रम के पश्चात् तीन वृहत खण्डो मे 'कैपिटल' अर्थात् 'पूंजी' नाम महाग्रन्थ का प्रणयन किया। यह मार्क्स की सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है। ल भग 800 पृष्ठो मे इसके प्रथम खण्ड का जर्मन सस्करण मार्क्स ने सन् 1867 प्रकाशित कराया परन्तु उसके द्वितीय और तृतीय खण्ड उसके जीवन काल प्रकाशित नहीं हो सके। उनकी पाण्डुलिपियो मे अनेक सम्पादकीय टिप्पणियाँ जो की आवश्यकता थी। यह कार्य एंगेल्स के कन्धो पर आ पडा। पूंजी के द्विती और तृतीय खण्ड को छापने के लिए तैयार करने मे ही एंगेल्स ने अपना अधि ध्यान लगाया। इस प्रकार पूंजी का द्वितीय खण्ड सन् 1885 मे और तृतीय ख सन् 1894 मे प्रकाशित हुआ। पूंजी के दूसरे और तीसरे खण्डो के विषय मे लेनि ने कहा कि वे मार्क्स और एंगेल्स दोनो व्यक्तियो की कृतियाँ हैं। मार्क्स यह यशस्वी अर्थशास्त्रीय कृति चतुर्थ खण्ड के साथ समाप्त होने वाली थी, जिस राजनीतिक अर्थशास्त्र के केन्द्रीय सूत्र, अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त, का आलोचन त्मक विश्लेषण किया जाना था। अपने मित्र की मृत्यु के बाद एंगेल्स ने उस पाण्डुलिपि को सम्पादित करके अलग से पूंजी के चतुर्थ खण्ड के रूप मे प्रकाशि कराने की योजना बनायी। लेकिन उसकी योजना पूरी न हो सकी। उसकी मृ के बाद उस कृति को काउत्सकी ने "अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त" नाम से स 1905 मे कराया। पूंजी के प्रथम खण्ड मे मार्क्स ने यह स्पष्ट किया है कि पूं कैसे उत्पन्न होती है और पूंजी लगाकर किस प्रकार अर्जित किया जाता है। द्विती पूंजी खण्ड मे उसने फैक्टरी उत्पादन से लेकर उपयोग तक पूंजी की विभि अवस्थाओं का विश्लेषण किया है तथा तृतीय खण्ड मे उसने यह दिखलाया है पृ कि पूंजी द्वारा कमाया गया लाभ पूंजीपति वर्ग में किस प्रकार विभक्त कि जाता है।

मार्क्स ने केवल विचारवाद और सिद्धान्त निरूपण में ही अपने सम्पूर्ण स को नहीं लगाया। वह ज्ञान और कर्म की एकता के महत्व को भलीभांति जान था। एक ओर तो उसने पूंजी जैसे महान ग्रन्थ की रचना की और दूसरी ओ सन् 1864 मे उसने मजदूरो के "अंतर्राष्ट्रीय सगठन की नींव डाली "प्रथम इण्टरनेशनल" के नाम से अभिहित है। 8 सितम्बर सन् 18 में इस अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का दूसरा अधिवेशन हुआ जिसमे यह निश् किया गया कि श्रमिक वर्ग की सामाजिक स्वतन्त्रता का प्रश्न राजनीति क्रियाशीलता के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है अतः राजनीतिक स्वतन्त्र के लिए सघर्ष करना सबसे अधिक आवश्यक और प्रथम कर्तव्य है। सभी से पूर

जब दवा इलाज के अभाव में उसकी नन्हीं सी पुत्री की मृत्यु हो गयी तो उसकी पत्नी पडोसियों से 2 पौण्ड उधार लेकर बड़ी कठिनता से उसके अन्तिम संस्कार का प्रबन्ध कर सकी। धीरे-धीरे उसको इंग्लैंड के प्रारम्भिक समय में दो बच्चों से और हाथ धोना पड़ा। उसके पुत्र एडगर की मृत्यु उसके लिए विशेष रूप से गहरी चोट थी। अभाव का जीवन व्यतीत करते हुए कम से कम खर्च में उसकी पत्नी अपना निर्वाह करने का प्रयत्न करती थी। फिर भी नित्य प्रति ऋण का बोझ बढ़ता जा रहा था। कभी-कभी तो ऐसे अवसर भी आ जाते थे जब अपनी पाण्डुलिपियों को डाकखाने में भेजने के लिए उसके पास टिकट के दाम भी नहीं होते थे। मार्क्स बार-बार अपने एक मात्र सूट को बन्धक रखकर कागज खरीद कर पुस्तक लिखते थे और वस्त्रों के बन्धक हो जाने पर घर के बाहर नहीं निकल पाते थे। परिवार को हफ्तों केवल रोटी और आलू खाकर गुजारा करना पड़ता था। सन् 1851 से सन् 1860 तक "न्यूयार्क ट्रिब्यून" में लिखे गये लेखों से उसे जो कुछ पारिश्रमिक मिल जाता था उसी से किसी न किसी प्रकार अपना जीवन निर्वाह करता था। सन् 1860 के पश्चात् अपने मित्र विल्हेल्म वोल्फ की 800 पौण्ड की वसीयत पा जाने से तथा एंगेल्स के द्वारा उसके लिए 350 पौण्ड वार्षिक की व्यवस्था कर दिये जाने से उसकी दशा कुछ सुधर गयी थी।

लेकिन मार्क्स के जीवन में "मात्र दुख और अवसाद ही नहीं था। मार्क्स का असाधारण रूप से सुखी परिवार था। पति और पत्नी एक दूसरे को निष्ठापूर्वक प्यार करते थे और उनकी जेनी अपने पति के भाग्य, श्रम तथा संघर्ष में भाग ही नहीं बंटाती थी, वरन् उसमें पूर्णतम चेतना और अधिकतम गरमजोशी के साथ भाग लेती थी। प्रेम और मैत्री ने परिवार के सभी सदस्यों को एक सुखी इकाई में आबद्ध कर दिया था। जब उनकी पुत्रियाँ जेनी, लौरा, और एल्योनोरा बड़ी हुई तो मार्क्स ने उन्हें मानव संस्कृति की सम्पदा से परिचित कराया। वह अपने बच्चों को उच्चतर साहित्य को पढ़कर सुनाया करते थे।

दूसरी ओर मार्क्स का महान् मस्तिष्क भौतिक चिन्ताओं की इस क्षुद्र परिधि से ऊपर उठकर गम्भीर अध्ययन और चिन्तन में व्यस्त था। वह ब्रिटिश म्यूजियम के पुस्तकालय में नित्य 9 बजे प्रातः से 7 बजे सन्ध्या तक कार्य करते थे, अपने अनुसन्धानों के लिए ढेरों सामग्री पायी। कभी-कभी तो घर पर आकर भी पूरी रात काम करते हुए व्यतीत कर देता था। भूख और कमजोरी में इतना अधिक परिश्रम करने का परिणाम यह होता था कि ब्रिटिश म्यूजियम में पढ़ते-पढ़ते कदा कदा वह मूर्छित होकर अपनी कुर्सी से लुढ़क कर गिर जाता था। इस प्रकार वर्षों

के निरन्तर परिश्रम के पश्चात् तीन वृहत खण्डो में 'कैपिटल' अर्थात् 'पूंजी' नामक महाग्रन्थ का प्रणयन किया। यह मार्क्स की सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है। लगभग 800 पृष्ठों मे इसके प्रथम खण्ड का जर्मन संस्करण मार्क्स ने सन् 1867 में प्रकाशित कराया परन्तु उसके द्वितीय और तृतीय खण्ड उसके जीवन काल मे प्रकाशित नही हो सके। उनकी पाण्डुलिपियो में अनेक सम्पादकीय टिप्पणियाँ जोडने की आवश्यकता थी। यह कार्य एंगेल्स के कन्धो पर आ पडा। पूंजी के द्वितीय और तृतीय खण्ड को छापने के लिए तैयार करने मे ही एंगेल्स ने अपना अधिक ध्यान लगाया। इस प्रकार पूंजी का द्वितीय खण्ड सन् 1885 मे और तृतीय खण्ड सन् 1894 में प्रकाशित हुआ। पूंजी के दूसरे और तीसरे खण्डो के विषय मे लेनिन ने कहा कि वे मार्क्स और एंगेल्स दोनो व्यक्तियो की कृतियाँ हैं। मार्क्स की यह यशस्वी अर्थशास्त्रीय कृति चतुर्थ खण्ड के साथ समाप्त होने वाली थी, जिसमे राजनीतिक अर्थशास्त्र के केन्द्रीय सूत्र, अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त, का आलोचनात्मक विश्लेषण किया जाना था। अपने मित्र की मृत्यु के बाद एंगेल्स ने उसकी पाण्डुलिपि को सम्पादित करके अलग से पूंजी के चतुर्थ खण्ड के रूप में प्रकाशित कराने की योजना बनायी। लेकिन उसकी योजना पूरी न हो सकी। उसकी मृत्यु के बाद उस कृति को काउत्सकी ने "अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त" नाम से सन् 1905 मे कराया। पूंजी के प्रथम खण्ड मे मार्क्स ने यह स्पष्ट किया है कि पूंजी कैसे उत्पन्न होती है और पूंजी लगाकर किस प्रकार अर्जित किया जाता है। द्वितीय पूंजी खण्ड मे उसने फैक्टरी उत्पादन से लेकर उपयोग तक पूंजी की विभिन्न अवस्थाओ का विश्लेषण किया है तथा तृतीय खण्ड मे उसने यह दिखलाया है पूंजी कि पूंजी द्वारा कमाया गया लाभ पूंजीपति वर्ग में किस प्रकार विभक्त किया जाता है।

मार्क्स ने केवल विचारवाद और सिद्धान्त निरूपण में ही अपने सम्पूर्ण समय को नही लगाया। वह ज्ञान और कर्म की एकता के महत्व को भलीभांति जानता था। एक ओर तो उसने पूंजी जैसे महान ग्रन्थ की रचना की और दूसरी ओर सन् 1864 मे उसने मजदूरो के "अंतर्राष्ट्रीय सगठन की नींव डाली जो "प्रथम इण्टरनेशनल" के नाम से अभिहित है। 8 सितम्बर सन् 1867 मे इस अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का दूसरा अधिवेशन हुआ जिसमे यह निर्णय किया गया कि श्रमिक वर्ग की सामाजिक स्वतन्त्रता का प्रश्न राजनीतिक क्रियाशीलता के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है अत राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना सबसे अधिक आवश्यक और प्रथम कर्तव्य है। तभी से यूरोप

के पूंजीवादी देश इस संगठन को सशंक नेत्रों से देखने लगे। यह संस्था दस वर्षों तक जीवित रह कर सन् 1874 में समाप्त हो गयी।

इंगलैण्ड में मार्क्स ने अपने जीवन के 34 वर्ष व्यतीत किये। मानवोपरि मस्तिष्क श्रम और स्थायी संभव ने मार्क्स के स्वास्थ्य को खोखला कर दिया। सम्बन्धियो तथा मित्रो के आग्रह पर वह सन् 1874, 1875 और 1876 में चिकित्सा हेतु कार्लसंवाद गये। लेकिन प्रशियाई और आस्ट्रियाई सरकारो द्वारा उत्पीड़न के भय के कारण उन स्वास्थ्य यात्राओं को बन्द कर देने के लिए उन्हें विवश होना पड़ा। 2 दिसम्बर 1881 को उनकी पत्नी के निधन से उन्हें गहरा आघात पहुँचा। उनके स्वास्थ्य में संगीन बदतरी पैदा हुई। प्लूरिसी और ब्रान्काइटस के इलाज के लिए अल्जीरिया और दक्षिणी फ्रान्स की यात्रायें कोई सुधार न पैदा कर सकीं। उसके बाद ही आया दूसरा आघात उनकी सबसे बड़ी पुत्री का देहावसान। उनकी इस पुत्री का विवाह फ्रान्सीसी समाजवादी शार्क लाण्डो के साथ हुआ था और मार्क्स उनके पाँचों बच्चो के प्रति अनुरक्त थे। जनवरी सन् 1883 में ब्रान्काइटस के दौरे ने उन्हें फिर दबोच लिया। उनकी शक्ति तेजी से छीजती जा रही थी और वह 14 मार्च सन् 1883 को शयन-कक्ष से निकल कर अध्ययन कक्ष में प्रविष्ट हुए और अपनी आराम में कुर्सी में बैठ कर सदैव के लिए सो गये। लन्दन के हाइगेट कब्रिस्तान में इस महामनीषी की समाधि आज भी विद्यमान है।

मार्क्स की अन्य प्रमुख रचनायें

पूँजी (Das Capital, 1867); राजनीतिक अर्थशास्त्र की समीक्षा (The Critique of Politcal Ecommy, 1859); फ्रान्स मे गृह युद्ध (The Civil War in France, 1871); मूल्य, कीमत और लाभ (Value, Price and Profit 1865); दर्शन की दरिद्रता (Poverty of Philosophy, 1847); गोथा कार्यक्रम (The Gotha Programme); समाजवादी घोषणा पत्र (The Communist Manifesto) आदि।

विचार स्रोत

कार्ल मार्क्स ने अपनी विचारधारा के निर्माण में जिन भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है उनके निर्माण करने वाले तत्व अनेक स्रोत हैं। जैसा कि एलैक्जेंडर ग्रेन ने कहा है "यह बात निसन्देह सत्य है कि मार्क्स के विचारों का निर्माण करने वाले तत्व अनेक स्रोतों से लिए गए हैं। उसने अपनी ईटों से कई

स्रोतों से एकत्र किया, परन्तु उसने उनका उपयोग एक ऐसे भवन का निर्माण करने के लिए किया जो स्वयं उसके नमूने का है। उसका वैज्ञानिक समाजवाद उन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित है जिनका विचार कल्पनावादी समाजवादियों के मस्तिष्क में था। परन्तु मार्क्स ने समाजवाद को एक क्रमबद्ध दर्शन का रूप प्रदान करने के इतिहास के विकास तथा पूंजीवादी व्यवस्था के विश्लेषण करके समाजवाद की उपलब्धि के निमित्त एक कार्यक्रम प्रस्तुत किया है। इस प्रकार उसका समाजवाद एक कोरी विचारधारा न रह कर एक आन्दोलन, कार्यक्रम तथा सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था बन गया है। इस विचारधारा के निर्माण में मार्क्स के विचारों का मुख्य स्रोत निम्नांकित हैं :—

(1) तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियाँ

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप यूरोप के देशों में उत्पादन का प्रचुर विस्तार होता जा रहा था। उत्पादन के साधनों का स्वामित्व थोड़े से उद्योग-पतियों, पूंजीपतियों तथा प्राचीन सामन्तशाही के अवशेष बड़े-बड़े जमींदारों के हाथ में रह गया था। माल का उत्पादन करने वाले श्रमजीवियों के पास केवल अपनी श्रम शक्ति थी जिसे वे उत्पादन के साधनों के स्वामियों के हाथ वेतन के रूप में बेच सकते थे, परन्तु उन्हें भरपेट पारिश्रमिक नहीं मिल पाता था। इस वर्ग की आर्थिक स्थिति बिगड़ती जा रही थी। व्यक्तिवाद के समर्थकों ने आर्थिक क्षेत्र में उन्मुक्त प्रतियोगिता का समर्थन करके इस स्थिति को श्रमिक वर्ग के अहित में बढ़ावा दिया था। इस नीति के फलस्वरूप राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित करने का प्रभाव यह भी हुआ था कि बड़े-बड़े पूंजीपतियों का राज्य की सत्ता पर प्रभाव बढ़ता गया। इस कुप्रभाव को रोकने के लिए जो समाजवादी विचार व्यक्त किये जा रहे थे, वे अप्रभावी थे। समाजवादी लोग या अन्य संगठन इतने सुदृढ़ नहीं थे कि वे किसी ठोस कार्यक्रम के अनुसार इस पूंजीवाद प्रवृत्ति को रोक सकें। मार्क्स के विचार वैज्ञानिक एवं उग्र थे, साथ ही सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों ने उन्हें और भी उग्र बनाने में योगदान किया। एंगेल्स सदृश प्रचारवादी तथा संगठनकर्त्ता के सहयोग से उसे वैज्ञानिक समाजवाद को सर्वहारा वर्ग का आन्दोलनकारी बनाने में और अधिक प्रोत्साहन मिला। साथ ही लासेल, जो स्वयं एक श्रमिक संगठनकर्त्ता था, के "वेतन के लौह कानून" सिद्धान्तों ने भी मार्क्स के विचारों को क्रान्तिकारी बनाने में योगदान किया। यदि मार्क्स अपनी इच्छानुसार विश्वविद्यालय का प्राध्यापक बन गया होता तो

सम्भवतः जैसा मैक्सी का मत है वह विश्वविद्यालय के शैक्षिक वातावरण के अन्तर्गत रहते हुए "साम्यवादी घोषणापत्र" पूंजी सदृश क्रान्तिकारी रचनाओं का सृजन नही कर पाता, भले ही वह एक उच्चकोटि का प्राध्यापक सिद्ध होता। पत्रकारिता के व्यवसाय ने उसे उग्र प्रकृति के लेख लिखने का अवसर प्रदान किया। इसी प्रकार उसका फ्रान्स तथा जर्मनी से निष्कासित किया जाना भी उसे क्रान्तिकारी समाजवाद की धारणा का सृजन करने का स्रोत सिद्ध हुआ।

जर्मन आदर्श हेगेल के विचार

अपने विश्वविद्यालय के जीवन में मार्क्स ने हेगेल के दर्शन का गहन अध्ययन किया और उससे अत्यधिक प्रभावित होकर तरुण हेगेल-पथियों के साथ सम्मिलित हो गये थे। उन्होने हेगेल के दर्शन से व्यावहारिक निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया। हेगेल के द्वन्दवाद के सिद्धान्त को अपनाया और उसका निर्वाचन तथा प्रतिपादन आर्थिक दृष्टि से किया न कि आध्यात्मिक दृष्टि से। हेगेल की भांति मार्क्स ने भी यह स्वीकार किया है कि ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया द्वन्दात्मक है अर्थात् एक व्यवस्था मे परिवर्तित होने की प्रक्रिया का कारण प्रथम व्यवस्था में अन्तर्विरोध का होना तथा उसके प्रतिषेध के रूप मे एक विरोध प्रवृत्ति का उत्पन्न होना है। उन्हे हेगेल की भांति मार्क्स भी वाद तथा प्रतिवाद के रूप मे लेता है। इसके बाद वह प्रतिषेध के रूप मे सवाद की धारणा को व्यक्त करता है, परन्तु हेगेल के विपरीत मार्क्स द्वन्दवाद की प्रक्रिया मे भौतिक तत्व के अस्तित्व को परिवर्तन का कारण मानता है न कि दैवी विवेक को। इस प्रकार जहां द्वन्दात्मक सिद्धान्त का हेगेल आध्यात्मीकरण करता है, वहां मार्क्स इसके लिए आत्मा के स्थान पर पदार्थ तत्व को महत्व देकर इसका भौतिकीकरण करता है। समाज के विकास में मानव सम्बन्धो का निरूपण करने मे मार्क्स हेगेल के विचारो से प्रभावित होकर इतिहास की व्याख्या द्वन्दात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त के द्वारा करता है। इस दृष्टि से मार्क्सवाद के दो प्रमुख सिद्धान्त द्वन्दात्मक भौतिकवाद तथा इतिहास की आर्थिक व्याख्या हेगेल के विचारो से प्रभावित है। इन्ही के आधार पर मार्क्स वर्ग संघर्ष की धारणा को भी विकसित करता है।

ब्रिटिश राजनीतिक अर्थशास्त्री

मार्क्स के पूंजीवादी व्यवस्था का विश्लेषण करने तथा उसके फलस्वरूप सर्वहारा वर्ग की उत्पत्ति को व्यक्त करने मे अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का

प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त की आधारशिला मूल्य का श्रम सिद्धान्त है। ब्रिटिश पूंजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के वरिष्ठ प्रतिनिधि ऐडम स्मिथ, डेविड रिकार्डो, थाम्सन आदि ने मूल्य तथा अतिरिक्त अर्घ सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में पूंजीपतियों के कल्याण का उद्देश्य रखा था। मार्क्स ने पूंजीवादी *अर्थशास्त्रियों की आलोचना कर पूंजीवादी शोषण की कई विशिष्ट चारित्रिकताओं* को उद्घाटित कर श्रमिकों के हितों एवं नियमों का निर्वचन किया।

फ्रान्सीसी क्रान्तिकारी परम्परा

मार्क्स के सिद्धान्तों का व्यावहारिक पक्ष वर्ग संघर्ष तथा सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति है। इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में मार्क्स फ्रान्सीसी क्रान्तिकारी समाजवादियों—एतेन काबे पियेरलेरु, लुई ब्लंड, पियेर जोजेफ प्रूदो आदि—के परम्परा से प्रेरित हुए थे। पूंजीवाद का विनाश वैधानिक साधनों से सम्भव होगा, ऐसा मार्क्स का विश्वास नहीं है। उसकी इतिहास की आर्थिक व्याख्या वर्ग संघर्ष की द्योतक है। पूंजीपति तथा सर्वहारा वर्ग के मध्य का द्वन्द सर्वहारा वर्ग के संगठित होने तथा पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग द्वारा क्रान्ति मे परिणत होगा। मार्क्स की भविष्यवाणी थी कि इस संघर्ष मे सर्वहारा वर्ग विजयी होगा और पूंजीवादी व्यवस्था के पूर्णतया समाप्त हो जाने तक की अवधि में विजयी सर्वहारा वर्ग का सम्पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था तथा आर्थिक व्यवस्था के ऊपर अधिनायकत्व रहेगा। क्रान्ति तथा संघर्ष की ऐसी धारणा को मार्क्स फ्रान्सीसी क्रान्तिकारिता की परम्परा से अपनाता है।

इस प्रकार मार्क्स का सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन विश्लेषण दोनों पद्धतियों पर निर्मित हुआ है जिनके स्रोत विविध है।

मार्क्सवाद के विभिन्न सिद्धांत

मार्क्सवाद या वैज्ञानिक समाजवाद का सम्बन्ध हमारी यथार्थ, ठोस दुनिया, वास्तविकताओं, सामाजिक विकास को नियन्त्रित करने वाले वस्तुगत नियमों से है। यह ऐतिहासिक भौतिकवाद का दर्शन है। यह वह दर्शन है जिसमे एक सम्यक् विश्व दृष्टिकोण—प्रकृति एवं समाज, उनके विकास को नियन्त्रित करने वाली नियमितता, उनके ज्ञान तथा क्रान्तिकारी ढंग से पुनर्गठन के साधन एवं उपाय की सुनिश्चित वैज्ञानिक पद्धति है। सम्पूर्ण मार्क्सवाद के निर्माणकारी सिद्धान्तों को निम्नांकित शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है :—

(क) द्वन्दात्मक भौतिकवाद,
(ख) इतिहास की आर्थिक व्याख्या,
(ग) अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त,
(घ) वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त
(ङ) सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व
(च) राज्य तथा समाज का भावी स्वरूप ।

ये विभिन्न सिद्धान्त एक दूसरे से पृथक नहीं हैं, अपितु एक क्रमिक ढंग से एक दूसरे के साथ सम्बद्ध हैं और उनके योग से एक सांगोपांग समाजवादी राजनीतिक दर्शन का निर्माण होता है। मार्क्स ने समाजवाद को एक क्रमबद्ध दर्शन, विचारधारा तथा आन्दोलन का रूप प्रदान किया है।

द्वन्दात्मक भौतिकवाद

द्वन्दवाद का मूल : मनुष्य से लेकर प्रकृति के सम्पूर्ण क्रिया कलाप को परखने का दृष्टिकोण "द्वन्दात्मक भौतिकवाद" कहा जाता है। यह दृष्टिकोण द्वन्दात्मक और भौतिकवाद इन दो विचार पद्धतियों के सयोग से विकसित हुआ है, इसलिए इसे द्वन्दात्मक भौतिकवाद की सज्ञा प्रदान की गयी है। स्टालिन के शब्दों में यह द्वन्दात्मक भौतिकवाद इसलिए कहा जाता है कि प्राकृतिक घटनाओं को देखने, परखने और पहचानने का इसका ढग द्वन्दात्मक है और इन प्राकृतिक घटनाओं की इसकी व्याख्या, धारणा एवं सिद्धान्त विवेचना भौतिकवादी है।

द्वन्दात्मक को आधुनिक युग में विकसित एव पल्लवित करने का श्रेय प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हेगेल को दिया जाता है और इसी प्रकार भौतिकवाद को यूरोप मे पुन. प्रतिष्ठित करने का श्रेय फायरबाख को है। मार्क्स इन दोनों की मान्यताओं से अत्यधिक प्रभावित हुए परन्तु उसने न तो हेगेल द्वारा प्रतिपादित द्वन्दवाद को बिना किसी परिवर्तन के जैसे का वैसा स्वीकार किया और न फायरबाख के भौतिकवाद को ही। मार्क्स ने हेगेल के द्वन्दवाद से आदर्शवादी आवरण को हटाकर उसे बुद्धिसंगत सारतत्व को ग्रहण कर लिया और उसका इस प्रकार विकास किया कि उसे एक आधुनिक वैज्ञानिक रूप प्राप्त हो जाय। इसी प्रकार उन्होंने फायरबाख के भौतिकवाद से आदर्शवादी, धार्मिक और नैतिक आवरण को दूर करके उसके सारतत्व को ग्रहण करके उसे एक वैज्ञानिक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप मे विकसित किया। इस प्रकार मार्क्स द्वारा प्रति-

मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हेगेल और फायरबाख के द्वन्द्ववाद और भौतिकवाद से बहुत कुछ भिन्न है।

दर्शन का इतिहास बताता है कि द्वन्द्ववाद और भौतिकवाद दोनों ही मार्क्स से बहुत पहले उत्पन्न हुए थे। परन्तु प्राचीन दर्शन का दोष यह था कि भौतिकवाद और द्वन्द्ववाद एक दूसरे से पृथक कर दिये गये थे। हेगेल द्वन्द्ववाद के पंडित थे परन्तु भौतिकवादी नहीं थे। फायरबाख भौतिकवादी थे परन्तु द्वन्द्ववाद के ज्ञाता नहीं थे। मार्क्स ने इन दोनों की खाई पाटी और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विश्व दृष्टिकोण।

मार्क्स से पूर्व के दार्शनिकों की सामाजिक विकास की समझदारी भावनावादी थी। वे समझते थे कि इस विकास की प्रेरक शक्ति जनता की भावनाओं में, उनकी चेतना में निहित है। इसके विपरीत मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी धारणा प्रस्तुत की। उन्होंने सर्वप्रथम दर्शन को प्रयुक्त करके उठाया और उसका सही-सही समाधान प्रस्तुत किया। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि मानव की सामाजिक चेतना उसके अस्तित्व को नहीं निर्धारित करती, वरन् बात इसके विपरीत है। सामाजिक अस्तित्व और सर्वोपरि भौतिक मूल्यों का उत्पादन ही सामाजिक चेतना को निर्धारित करता है। उन्होंने सिद्ध किया कि समाज का विकास भौतिक कारणों पर निर्भर करता है न कि लोगों की भावनाओं, इच्छाओं अथवा विचारों पर। इसके फलस्वरूप समाज के इतिहास की यह समझदारी उत्पन्न हुई कि वह व्यापारों का विशृंखलित स्वरूप नहीं है, वरन् उत्पादन की कुछ निम्नतर प्रणालियों के अन्य उच्चतर प्रणालियों द्वारा विस्थापन की नियमशासित आवश्यक प्रक्रिया है। इसके अतिरिक्त यह सिद्ध हुआ कि यह विस्थापन आकस्मिक रूप से नहीं, अपितु वस्तुगत नियमों के अनुसार मानव की इच्छा और चेतना से स्वतन्त्र रूप से हुआ करता है। इन भौतिक परिस्थितियों से मार्क्स का अभिप्राय आर्थिक सम्बन्धों से है। मार्क्स के अनुसार जिस पानी को गरम करने पर उसका तापमान शनैः शनैः बढ़ता जाता है और एक स्थिति वह आती है जब तापमान 100° सेन्टीग्रेड पर पहुंच जाता है तो पानी भाप बनने लगता है और उसमें गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है। ऐसा परिवर्तन एकाएक होता है। यही बात सामाजिक व्यवस्था के विषय में भी सत्य है। किसी युग की सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन का कारण उस युग में प्रचलित आर्थिक सम्बन्ध है। आर्थिक उत्पादन मानव जीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। उत्पादन प्रक्रिया में लगे मानवों के मध्य जो आर्थिक सम्बन्ध होते हैं, उनका

—[illegible] है।

4—[illegible] है।

[illegible] —

1 —आदर्शवाद के अनुसार यह विश्व किसी 'परम आध्यात्म तत्व', किसी ईश्वर आत्मा [illegible] का मूर्त स्वरूप है। इसके विपरीत मार्क्स के दार्शनिक भौतिकवाद का कहना है कि संसार स्वभाव से ही भौतिक है। उसके अनेक रूप [illegible] हुए गतिशील पदार्थ के ही विभिन्न रूप हैं, वे रूप परस्पर निर्भर और सम्बद्ध हैं और जैसा कि द्वन्द्वात्मक प्रणाली ने सिद्ध किया है, यह परस्पर निर्भरता और सम्बद्धता ही गतिशील पदार्थ के विकास का नियम है। संसार को किसी व्यापक आत्मा की आवश्यकता नहीं है उसका विकास पदार्थ की गतिशीलता के नियमों के अनुकूल होता है।

2—आदर्शवाद केवल चित्त की वास्तविक सत्ता स्वीकार करता है। उसके लिए प्रकृति या भौतिक जगत की सत्ता केवल हमारे चित्त में, इन्द्रिय बोध में, कल्पनाओं और संवेदनाओं में है। इसके प्रतिकूल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन का कहना है कि प्रकृति या भौतिक संसार की एक सत्ता एवं वैज्ञानिक वास्तविकता है जो हमारे चित्त से बाहर और उससे स्वतन्त्र है। पदार्थ मूल है क्योंकि वही संवेदनाओं, कल्पनाओं और चित्त का उद्गम है, चित्त गौण और उससे उत्पन्न है क्योंकि वह पदार्थ की सत्ता का प्रतिबिम्ब है। पदार्थ विकसित हो कर उच्च अवस्था में मस्तिष्क का रूप धारण करता है, विचारों को क्रिया मस्तिष्क द्वारा सम्पन्न होती है, अतः विचार पदार्थ-जन्य है। विचारों को प्रकृति और पदार्थ से विच्छिन्न करना भारी भूल होगी।

3—आदर्शवादी जगत और उसके नियमों को जानने की सम्भावना का अस्वीकार करता है। वह हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता को भी स्वीकार नहीं करता। उसके लिए वस्तुगत सत्य नाम का कोई सत्य नहीं है। उसका विश्वास है कि संसार में ऐसी वस्तु सत्य है जिनकी विज्ञान को कभी जानकारी नहीं हो सकती। मार्क्स का कहना है कि संसार, उसके नियम पूर्णरूप से बोधगम्य है, अभ्यास और कसौटी पर परखा हुआ हमारी प्रकृति के नियमों का ज्ञान प्रामाणिक है और वैज्ञानिक सत्य के समान निर्भ्रान्त संसार में अज्ञेय कहकर कोई वस्तु

नहीं है। अज्ञात वस्तुएँ अवश्य हैं, जो विज्ञान और अभ्यास द्वारा प्रकट होंगी और तब वे ज्ञेय हो जाएँगी।

इतिहास की आर्थिक व्याख्या

मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त के आधार पर इतिहास की आर्थिक व्याख्या की है। अतः इतिहास की भौतिक व्याख्या मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का ही निष्कर्ष है। इसके द्वारा वह अपने दर्शन के अन्य सिद्धान्तों का विकास तथा प्रसार करता है। हेगेल ने ऐतिहासिक विकास क्रम में दैवात्मा तत्व को प्रधान मानकर द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया में उसके एक निश्चित नियम की कल्पना की थी और भौतिक तत्वों को इस प्रक्रिया में गौण माना था। मार्क्स ने भौतिक तत्वों को ही ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक विकास का कारण माना है। उनका कहना है कि लोग भोजन, वस्त्र, आवास और अन्य भौतिक वस्तुओं के बिना जीवित नहीं रह सकते। परन्तु प्रकृति इन वस्तुओं को तैयार स्थिति में प्रदान नहीं कर सकती। इन्हें प्राप्त करने के लिए लोगों को श्रम करना आवश्यक है। श्रम सामाजिक जीवन का आधार है, यह मनुष्य की स्वाभाविक आवश्यकता भी है। श्रम के बिना, उत्पादक क्रियाशीलता के बिना, स्वयं मानवीय जीवन असम्भव होता है। अतः भौतिक सम्पदा का उत्पादन ही सामाजिक विकास का मुख्य निर्णायक कारक है।

सभी प्रकार के उत्पादन के लिए मनुष्य का श्रम, श्रम के साधन तथा श्रम के लक्ष्य अपेक्षित हैं। श्रम की प्रक्रिया में अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के निमित्त लोग प्राकृतिक पदार्थों को अनुकूलित तथा परिवर्तित करते हैं। भौतिक उत्पादन के विकास में श्रम के उपकरण, अर्थात् वे साधन जिनके द्वारा मनुष्य प्रकृति के उत्पादों पर क्रिया करता है, विशेषरूप से महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

परन्तु, प्राकृतिक सम्पदा चाहे जितनी ही बड़ी हो और श्रम के उपकरण चाहे जितने भी उत्कृष्ट हों, मनुष्य के हाथ के स्पर्श हुए बिना वे जड़ बने रहे हैं। सभी प्रकार के उत्पादन का अनिवार्य तत्व है श्रमशील अर्थात् काम करने की मनुष्य की क्षमता तथा श्रम के उपकरणों तथा श्रम के लक्ष्यों अर्थात् उत्पादन के साधनों का संयोजन। श्रम शक्ति और उत्पादन के साधन समग्र रूप में समाज की उत्पादक शक्तियाँ हैं। उत्पादक शक्तियों के विकास का स्तर इस बात का सूचक है

कि मनुष्य ने किस हद तक प्रकृति पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया है।

परन्तु, उत्पादन शक्तियाँ भौतिक उत्पादन की एकमात्र कारक नहीं हैं। लोग एक दूसरे से मिलकर समुदाय बनाकर ही उत्पादन कर सकते हैं। इसी कारण श्रम का स्वरूप सदैव से सामाजिक रहा है और सदैव ऐसा ही रहेगा। श्रम के दौरान लोग अनिवार्यतः एक दूसरे के साथ निश्चित सम्बन्धों में बंध जाते हैं। उत्पादन की प्रक्रिया में उनके सम्बन्ध उत्पादन सम्बन्ध कहलाते हैं और ये भौतिक उत्पादन के अनिवार्य पक्ष हैं।

उत्पादन सम्बन्ध स्वामित्व के स्वरूप पर आधारित हैं, इस बात पर आधारित हैं कि उत्पादन के साधनों—जमीन, खनिज साधन, जंगल, पानी, कच्चा माल, फैक्टरी की इमारत, श्रम के उपकरण आदि—पर किसका स्वामित्व है। स्वामित्व के स्वरूप पर भौतिक सम्पदा के वितरण का स्वरूप भी अवलम्बित होता है। उदाहरणार्थ निजी स्वामित्व की दशा में अर्थात् जब उत्पादन के साधन समाज के छोटे वर्ग या समूह के स्वामित्व में होते हैं तो वितरण भी अन्यायपूर्ण होता है। उत्पादन के साधनों का स्वामित्व उत्पादित सम्पदा का बहुत बड़ा भाग स्वयं हड़प जाता है। चूंकि भौतिक उत्पादन सामाजिक विकास का आधार है, अतः समाज का इतिहास प्रथम उत्पादन की एक पद्धति का अधिक विकसित तथा उच्चतर दूसरी पद्धति द्वारा नियम नियमित स्थानग्रहण करने का इतिहास है।

इतिहास में उत्पादन की पाँच पद्धतियाँ मार्क्स ने उल्लिखित की हैं — आदिम साम्यवादी, दासवादी, सामन्तवादी, पूंजीवादी और समाजवादी। ऐतिहासिक विकास क्रम में प्रथम युग आदिम साम्यवादी युग था। उस युग में मानव का जीवन सरल था। मानव के पास किसी प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं थी। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु पर सबका समान अधिकार था। प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति की प्रत्येक वस्तु से अपनी आवश्यकता के अनुसार लाभ प्राप्त करता था और प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करता था। यदि एक व्यक्ति ने भोजन के लिए एक जानवर को मारा तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यतानुसार उसमें से लाभ प्राप्त कर लेता था। ऐसी वस्तुओं के संचय का प्रश्न नहीं था। इसी प्रकार जंगलों से फल फूल आदि को भी लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त कर लेते थे। अतः वह समाज एक आदर्श साम्यवादी व्यवस्था का था। उसमें उत्पादन सम्बन्धों के आधार पर किसी प्रकार के संघर्षरत वर्गों का अस्तित्व नहीं था।

जब कृषि आजीविका का साधन बनने लगी तो उत्पादन प्रणाली का रूप बदल गया। अब पशु हत्या के स्थान पर पशु पालन तथा कृषि आजीविका के साधन बन गये। कृषि द्वारा उपज का संचय किया जाने लगा। मानव अब आजीविका के लिए भ्रमण की अपेक्षा एक स्थान पर स्थायी रूप से बसने लगे और कृषि भूमि के स्वामित्व की प्रथा का सृजन हुआ। अब जो समाज दूसरों से युद्ध करके विजयी होते थे, वे पराजित समाज के लोगों को मारने की अपेक्षा पकड़ कर दास बना लेते थे और दासों को कृषि कार्य में लगाते थे। इस व्यवस्था में स्वामी तथा दास दो वर्ग बनने लगे। स्वामी वर्ग दासो के श्रम का उपभोक्ता बन गया। ऐसे समाज का नियमन स्वामी वर्ग के वे लोग करने लगे जो सर्वाधिक शक्ति अथवा सर्वाधिक भू सम्पत्ति के स्वामि थे। यह समाज दासमूलक समाज था। इसके अन्तर्गत दास वर्ग शोषित था और अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्नशील था।

जब कृषि अर्थ व्यवस्था पर्याप्त विकसित और उत्पादन का प्रधान साधन हो गयी तो समाज के नेता सम्पूर्ण का स्वामी बन गये। वे कृषि भूमि का संविदा के आधार पर सामन्तों को दे देने लगे। ये सामन्त उपसामन्तों को और उपसामन्त छोटे-छोटे कृषकों को इसी प्रकार भूमि देने लगे। दास मूलक समाज का दास वर्ग अब अर्द्ध दास रह गया। कृषि में उत्पादन का कार्य यही वर्ग करता था। उच्चस्तर के भूस्वामी इसी वर्ग के श्रम के उपभोक्ता होते थे। इस सामन्तशाही समाज के अन्तर्गत अर्द्ध दासो का शोषण होता था, उनसे बेगार ली जाती थी। जो उत्पादन उनके द्वारा किया जाता था, उसका अधिकांश भाग सामन्तो को प्राप्त होता था, जो स्वयं श्रम नहीं करते थे, प्रत्युत उत्पादन के साधनो के स्वामी होते थे। अर्द्ध दासों ने अब दस्तकारी द्वारा कृषि के औजार तथा अन्य दैनिक उपयोग की वस्तुओं को बनाना प्रारम्भ किया। इन वस्तुओं का उत्पादन इतनी अधिक मात्रा में होने लगा कि अब वे केवल घरेलू उपयोग से कहीं अधिक मात्रा में बनने लगीं। अतः उनके व्यापार तथा विनिमय की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि समाज का स्वरूप कृषि अर्थ-व्यवस्था तक सीमित न रह कर उद्योग तथा व्यापार मूलक समाज में परिवर्तित होने लगा। इस समाज के अन्तर्गत भी व्यापारिक माल के उत्पादन का कार्य श्रमिक वर्ग ही करता था, परन्तु उत्पादन के साधनों का स्वामित्व उसके पास नहीं था। प्रत्युत जो वर्ग ... का स्वामी था वही उद्योगपति तथा व्यापारी बन गया। व्यापार के ... बढाना आवश्यक समझा जाने लगा, अतः व्यापारी तथा औद्योगिक

वर्ग ने श्रमिकों को वेतन प्रथा के आधार पर उद्योगों के कार्य में लगाना आरम्भ किया। चूंकि श्रमिक वर्ग पास उत्पादन के साधन नहीं थे, अतः उन्हें वेतन के रूप में स्वामियों के हाथ अपने श्रम का विक्रय करने पर विवश होना पड़ा। यह वर्ग दासमूलक समाज का वह दास वर्ग था जो सामन्तशाही समाज के अन्तर्गत कुछ अंश में स्वतन्त्र हो गया अर्द्ध दास था। अब उद्योगपतियों के द्वारा इस वर्ग के श्रम का शोषण होने लगा। उत्पादन की वृद्धि तथा व्यापार व्यवसाय के कारण अब सम्पत्ति का संचय करने तथा विनिमय के हेतु मुद्रा का आविष्कार हुआ। इस प्रकार व्यापारी तथा उद्योगपति वर्ग के पास पर्याप्त पूंजी का संचय होने लगा। पूंजी के बल पर इसी वर्ग ने राजसत्ता के ऊपर भी अपना प्रभाव बढ़ा लिया। अतः सामन्तशाही व्यवस्था होने लगी और पूंजीवादी व्यवस्था का सूत्रपात हुआ।

वैज्ञानिक विकास के कारण उत्पादक शक्तियों का स्वरूप भी बदल गया। अब शारीरिक श्रम का महत्व घटने लगा और उसका स्थान मशीनों ने ले लिया। मशीनों के कारण उत्पादन में बहुत वृद्धि हुई। ऐसे मशीनों, कारखानों की स्थापना बड़े-बड़े पूंजीपति ही कर सकते थे। मशीनों के कारण न केवल उत्पादन की मात्रा ही बढ़ी अपितु उत्पादित माल का गुणात्मक स्वरूप भी बदने लगा। इसके कारण हस्तशिल्पियों को धक्का पहुँचा। अब उन्हें कारखानों के स्वामियों की शरण में रोजगारी के लिए जाना पड़ा। मशीनों के कारण श्रमिकों की मांग कम हो गयी। अतः श्रमिकों को थोड़ी सी मजदूरी पर अपना आजीविका ढूढनी पड़ी। स्वामी उनसे अधिक समय तक श्रम लेने लगे और मजदूरी कम देने लगे। इसके कारण पूंजी-पतियों को अतिरिक्त अर्थ प्राप्त होने लगा जिसे वह अन्य मशीनों को क्रय करने में लगाते थे। परिणामस्वरूप श्रमिकों की मांग और कम होने लगी। उन्हें अपने श्रम से भरपेट मजदूरी मिलना तो कठिन था ही, साथ ही मांग की कमी के कारण उन्हें भारी बेरोजगारी का भी सामना करना पड़ा। उत्पादन के कोई साधन उनके पास न होने के कारण उस वर्ग की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी। इस प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत शोषक तथा शोषित दो वर्गों का अभ्युदय उत्पादन प्रणाली का ही परिणाम था।

मार्क्स ने ऐतिहासिक विकास क्रम में उक्त विभिन्न युगों की व्याख्या करके प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि विभिन्न व्यवस्थाओं में परिवर्तन का कारण उत्पादक शक्तियों में परिवर्तन का होना है। इसी के कारण सामाजिक

सम्बन्धों का निरूपण होता है। विभिन्न युगों में प्रचलित उत्पादन प्रणालियों के अन्तर्गत इन सम्बन्धों के आधार पर दो वर्ग बनते आये हैं जिनके मध्य संघर्ष होता रहा है और संघर्ष का उद्देश्य वर्गविहीन व्यवस्था का सृजन रहा है। उत्पादक शक्तियों में परिवर्तन होने से द्वन्द्ववाद के आधार पर नयी व्यवस्था बनती आयी है। मार्क्स पूंजीवादी युग का विचारक था। अतः उस युग में उसने सर्वहारा वर्ग की कल्पना की थी जो कि पूंजीवादी व्यवस्था का शोषित वर्ग था। सर्वहारा वर्ग ही पूंजीवादी समाज की प्रकाण्ड उत्पादक शक्तियों का बड़े पैमाने से उत्पादन का स्पष्ट निर्माता है। सर्वहारा वर्ग ने ही अपनी सम्पूर्ण शारीरिक शक्ति और मानसिक योग्यताओं का उपयोग करके श्रम को उदात्त बनाने और [illegible] को सम्भव बनाने के लिए उत्पादनशीलता को आवश्यक सीमा तक बढ़ाने के लिये भौतिक साधनों को उत्पन्न किया। पूंजीपति वर्ग ऐसी स्थिति में उत्पादन और समाज के विकास में बाधक बन गया और उसके द्वारा वास्तविक समानता एवं सामान्य समृद्धि की स्थापना में बाधक बनने लगता है। तब सर्वहारा वर्ग का उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व का उन्मूलन और इन्हें उत्पादकों के सामूहिक नियंत्रण में करना, समाज के प्रत्येक सदस्य को सामाजिक श्रम के उत्पादन तथा वितरण तथा उत्पादन की योजना-बद्ध व्यवस्था करना तथा इस प्रकार सामाजिक उत्पादन को ऐसे स्तर पर पहुंचाना कि समाज के सभी सदस्यों की सतत् बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति करने में जुट जाना। इसके लिए सर्वहारा वर्ग को क्रान्ति द्वारा ही पूंजीवादी व्यवस्था को समाजवादी व्यवस्था में रूपान्तरित करना है। यही वर्ग ऐतिहासिक कार्यभार को पूरा करता है। यही इसकी [illegible] शक्ति है। यही वर्ग हितों को समझ कर राजनीतिक चेतना विकसित करके पूंजीपति के विरुद्ध वर्ग संघर्ष में खिंचता है। पूंजीवादी व्यवस्था से [illegible] को मुक्त कर सर्वहारा वर्ग सारे समाज को उत्पीड़न से मुक्ति की दिशा प्रदान करता है।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त

मार्क्स मूलतः एक दार्शनिक तथा क्रान्तिकारी विचारक था [illegible] उसी प्रकार अर्थशास्त्री के रूप में भी ख्याति प्राप्त की। [illegible] अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त भी मार्क्स की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन है। [illegible] पूंजीवादी अर्थनीति का [illegible] करके अपने "पूंजी" नामक ग्रन्थ में [illegible] कि पूंजीवादी [illegible] वैज्ञानिक विवेचन [illegible] वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में श्रम का क्या महत्त्व है, पूंजीपति [illegible] करता है, पूंजी का [illegible] कैसे होता है और [illegible]

विविध अवस्थायें क्या हैं, आदि अनेक समस्याओं पर उसने परम्परागत मान्
ताओं से हट कर एक स्वतन्त्र चिन्तक के रूप में विचार किया। पूंजीवादी उत्पाद
एवं वितरण सम्बन्धी अनेक असंगतियों पर प्रकाश डालते हुए अर्थनीति के क्षेत्र
मौलिक सिद्धान्तों का निर्धारण किया। अतिरिक्त अर्थ का सिद्धान्त भी मार्क्स
ऐसी ही मौलिक स्थापना है।

उत्पादित वस्तुओं का मूल्य निर्धारण किस आधार पर किया जाय,
समस्या मार्क्स से पहले विद्यमान थी। समय-समय पर अनेक अर्थशास्त्रियों
इस सम्बन्ध में अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिनमें दृष्टिक
सम्बन्धी पर्याप्त विभिन्नता है। ऊपर से देखने में तो यह ज्ञात होता है कि उत्पा
वस्तुओं का मूल्य विनिमय में भाग लेने वाले उभय पक्ष के द्वारा निर्धारित कि
जाता है परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। यदि सूक्ष्मता से प्रवेश किया जाय
हमें ज्ञात होगा कि एक ही वस्तु का मूल्य एक स्थान पर कुछ होता है तो दू
स्थान पर कुछ और, इसी प्रकार एक समय में कुछ होता है तो दूसरे समय में
और अतः वस्तुओं के मूल्य पर विनिमय में भाग लेने वाले दलों की अपेक्षा स
और स्थान का नियन्त्रण ही विशेष रूप से रहता है। साथ ही यह भी
होगा कि विनिमय में भाग लेने वाले दलों की अपेक्षा वस्तु का यथार्थ मूल्य
विनिमय व्यापार को बहुत कुछ नियन्त्रित और प्रभावित करता है।

एक वस्तु का किसी दूसरी वस्तु के निश्चित परिणाम से विनिमय क्यों
किस आधार पर किया जाता है? वह कौन सा तत्व है जो वस्तुओं के
की स्थापना करता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए विभिन्न अर्थशास्त्रियों
जिन मूल्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया उन्हें हम सामान्यतः दो प्रधान वर्ग
विभक्त कर सकते हैं:—

1—मूल्य के आत्मगत अथवा उपयोगितावादी सिद्धान्त।

2—मूल्य के वस्तुगत अथवा श्रम सिद्धान्त।

कोई भी वस्तु पण्य की संज्ञा प्राप्त करके आर्थिक मूल्य तभी धारण
सकती है जब उसमें एक तो हमारी किसी इच्छा अथवा आवश्यकता की पूर्ति
क्षमता हो और दूसरे उसके उत्पादन में किसी न किसी रूप में मानवीय श्रम
समावेश हुआ हो। ऐसी वस्तुओं का न तो हमारे निकट कोई मूल्य ही है
न उससे हम किसी दूसरी वस्तु का बदला ही करना चाहते हैं जो हमारी
आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकती। दूसरे शब्दों में, जिनकी हमारे निकट

उपयोगिता नहीं है । इसी प्रकार कोई वस्तु हमारे लिए कितनी ही उपयोगी क्यों न हो परन्तु यदि उसकी प्राप्ति मे मानवीय श्रम नही लगा है तो उसका हमारे लिए कोई आर्थिक मूल्य नहीं होगा। उदाहरणार्थ, जल और वायु हमारे लिए अत्यधिक उपयोगी हैं फिर भी उनके उत्पादन के लिए हमे कोई श्रम नहीं करना पड़ता वे सर्वत्र प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। अतः उपयोगी होते हुए भी उनका कोई आर्थिक मूल्य नहीं है। अतः हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं "उपयोगिता" और "मानवीय श्रम" यह दो ऐसे अनिवार्य तत्व हैं जिनके समावेश से प्रत्येक पण्य उत्पादित वस्तु आर्थिक मूल्य धारण करके विनिमय के योग्य बनती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी पण्य का मूल्य निर्धारण या तो उसकी उपयोगिता के आधार पर हो सकता है या उसमें समाहित मानवीय श्रम के आधार पर। जो सिद्धान्त पण्य के मूल्य निर्धारण मे मानवीय श्रम की अपेक्षा उसकी उपयोगिता को प्रधान तत्व स्वीकार करते हैं उन्हें "उपयोगितावादी मूल्य सिद्धान्त" कहा जाता है। इसके प्रतिकूल जो सिद्धान्त पण्य की उपयोगिता को नही वरन् मानवीय श्रम को मूल्य निर्धारण का आधार मानता है, उसे "मूल्य का श्रम सिद्धान्त" कहा जाता है। उपयोगिता एक ऐसा गुण है जिसका सम्बन्ध वस्तु की अपेक्षा उपभोक्ता से अधिक है। एक ही वस्तु की उपयोगिता किसी व्यक्ति के लिए अधिक हो सकती है तो किसी के लिए कम। अतः मूल्य की उपयोगितावादी सिद्धान्त को आत्मगत मूल्य सिद्धान्त भी कहा जाता है। किसी वस्तु के उत्पादन मे मानवीय श्रम की जो मात्रा लगी है वह प्रत्येक अवस्था में एक ही रहेगी, भले ही उस वस्तु का उपयोग कोई भी करे। अतः मानवीय श्रम एक वस्तुगत गुण है। अतः मूल्य के श्रम सिद्धान्त को "वस्तुगत मूल्य सिद्धान्त" भी कहा जाता है। मार्क्स के आर्थिक पक्ष का सम्बन्ध मूल्य के उपयोगितावादी अथवा आत्मगत सिद्धान्तों से न होकर श्रम अथवा वस्तुगत सिद्धान्तों से है क्योंकि मार्क्स ने अपने मूल्य सिद्धान्त का विचार ब्रिटिश अर्थ-शास्त्री, विलियम पैटी रिकार्डो तथा एडम स्मिथ के "मूल्य के श्रम सिद्धान्त" के आधार पर ही लिया है। रोल के अनुसार इस सिद्धान्त की मान्यता यह है कि अन्ततः किसी उत्पादित माल की विनिमय दर उस माल के उत्पादन में व्यय किये गये श्रम पर निर्भर करती है और मार्क्स से पूर्व अनुदार तथा प्रगतिशील दोनों प्रकार के सिद्धान्तवादी इस सिद्धान्त को स्वीकार करते थे।

मार्क्स ने अपने मूल्य सिद्धान्त का प्रतिपादन माल के "उपयोग मूल्य" और "विनिमय मूल्य" इन दोनों पक्षों की व्याख्या से प्रारम्भ किया। उन्होंने बताया कि वायु, जल आदि ऐसी अनेक वस्तुयें हैं जिनका उपयोग मूल्य तो अधिक है परन्तु बाजार में उनका विनिमय मूल्य कुछ भी नहीं है। इसका कारण यह है कि इन वस्तुओं की उपयोगिता मानवीय श्रम का परिणाम नहीं है। श्रम ही मूल्य का सृजन करता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति अपने निजी उपयोग के लिए अपने ही परिश्रम से किसी वस्तु का उत्पादन करता है तो मानवीय श्रम और उपयोग मूल्य दोनों के होते हुए भी उसे पण्य या माल की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती। मार्क्स के मतानुसार पण्य या माल के उत्पादन के लिए केवल उपयोग मूल्यों की सृष्टि ही पर्याप्त नहीं है, इसके लिए सामाजिक उपयोग मूल्य अर्थात् दूसरों के लिए उपयोग मूल्य का होना भी आवश्यक है।

विभिन्न वस्तुओं अर्थात् माल का उपयोग मूल्य सम्बन्धी विभिन्नता ही समस्त विनिमय व्यापार का मूल है क्योंकि किसी वस्तु को बदल कर ठीक उसी प्रकार की वस्तु को लेना कोई भी व्यक्ति स्वीकार नहीं करेगा। विनिमय व्यापार में हस्तान्तरित होने वाली अनेक वस्तुयें कच्चे माल की दृष्टि से और उपभोग मूल्य की दृष्टि से विभिन्न होते हुए दो वस्तुओं को समान समझ कर विनिमय किया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक वस्तु में विद्यमान मानवीय श्रम की मात्रा दूसरी वस्तु में विद्यमान मानवीय श्रम की मात्रा के बराबर है। यही दोनों की समता का आधार हो सकता है। प्रत्येक माल मानवीय श्रम की ही उपज है। श्रम शक्ति ही समतासूचक तत्व है जो एक वस्तु को दूसरी से विनिमय के योग्य बनाता है। अतः माल के विनिमय मूल्य को निर्धारित करने का तत्व ही आधार हो सकता है और वह है मानवीय श्रम। अतः प्रत्येक वस्तु के उत्पादन में एक विशिष्ट प्रकार के श्रम की आवश्यकता पड़ती है। विनिमय व्यापार में श्रम की इन अलग-अलग विशिष्टताओं की ओर ध्यान देकर मानवीय श्रम के सामान्य रूप अर्थात् श्रम शक्ति को ही दृष्टि में रखा जाता है। इस प्रकार मूल्य सिद्धान्त के अन्तर्गत समस्त पण्य को अपनी सीमा के अन्तर्गत ले लेता है। मार्क्स के मतानुसार विनिमय व्यापार में जब दो वस्तुयें हस्तान्तरित होती हैं तो इसका आशय यह होता है कि समानता के आधार पर एक प्रकार से हम उनकी तुलना करते हैं। आकार-प्रकार और उपयोग में विभिन्न इन वस्तुओं में समानतासूचक एक ही तत्व हो सकता है और वह है उनमें समाहित मानवीय श्रमशक्ति। इस

वस्तुओं के उत्पादन में व्यय हुई श्रमशक्ति ही व्यापार में उसके मूल्यांकन का एक मात्र आधार हो सकती है।

मार्क्स के अनुसार मानवीय श्रम के मूल्य निर्धारण हेतु किसी वस्तु में समाहित मानवीय श्रम को उस वस्तु के उत्पादन में लगाये गये श्रम काल के आधार पर नापना चाहिए। इस श्रम काल को घण्टा, दिन आदि के रूपों में नापा जा सकता है। मार्क्स का यह भी कथन है कि सामाजिक औसत श्रम काल ही इसके मापदण्ड का एकमात्र आधार हो सकता है। व्यक्तियों की निजी श्रम शक्ति को श्रम काल के मापदण्ड का आधार नहीं बनाया जा सकता। सामाजिक पक्ष पर विशेष बल देते हुए वह कहता है कि किसी वस्तु का मूल्य श्रम की वह मात्रा नहीं है जो एक व्यक्ति विशेष उस वस्तु के उत्पादन में लगाता है वरन् औसत श्रम की वह मात्रा है जो उत्पादन की सामान्य परिस्थितियों के अन्तर्गत एक औसत स्तर के श्रमिक द्वारा उस वस्तु के उत्पादन में लगायी जानी चाहिए।

जब किसी वस्तु में समाहित श्रम की मात्रा को हम श्रम काल के आधार पर नापना चाहते हैं तो श्रमकाल का एक प्रामाणिक मापदण्ड भी होना चाहिए। समाज के सब व्यक्तियों का श्रम समान कोटि का नहीं हो सकता है। किसी को धन्धा कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व वर्षों की शिक्षा एवं पूर्वाभ्यास की आवश्यकता पड़ती है तो किसी को किंचित् मात्र भी नहीं। दूसरे शब्दों में कोई निपुण श्रमिक है तो कोई अनिपुण। ऐसी स्थिति में निपुण और अनिपुण दोनों प्रकार के श्रमिकों के श्रमकाल को नापने के लिए किसी एक ही मापदण्ड का प्रयोग कैसे किया जा सकता है? इसका समाधान करते हुए मार्क्स का कहना है कि निपुण श्रम वास्तव में अनिपुण श्रम का ही एक प्रकार से घनी भूतरूप है, इसके अतिरिक्त दोनों में तत्वतः अन्य कोई अन्तर नहीं है।

वस्तु के मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में मांग और पूर्ति का भी प्रभाव पड़ता है। किसी वस्तु का वास्तविक मूल्य तो उसमें समाहित श्रम की मात्रा के आधार पर ही निर्धारित किया जाता है जिसमें उत्पादन काल में व्यय हुए श्रम के अतिरिक्त कच्चे माल और मशीन औजार आदि के रूप में संचित पूर्व श्रम की मात्रा भी सम्मिलित रहती है। उत्पादित वस्तु को विनिमय या विक्रय के लिए बाजार में ले जाने पर बाजार की विशेष परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है। इसका अर्थ यह आवश्यक नहीं है कि वस्तु का वास्तविक मूल्य और बाजार का दाम सदैव एक ही स्तर पर रहें। [illegible] है। इस समय उत्पादित वस्तु की सामाजिक उपयोगिता और आवश्यकता [illegible]

बाजार के दाम को निरन्तर प्रभावित करती है। अतः इस विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकला है कि माँग और पूर्ति का प्रभाव पण्य के बाजार भाव के चढ़ाव उतार तक ही सीमित रहता है। मार्क्स के अनुसार श्रम काल के आधार पर वस्तुओं के वास्तविक मूल्य निर्धारण पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

जैसे ही अलग-अलग उत्पादकों द्वारा एक ही प्रकार की उत्पादित वस्तुओं का वास्तविक मूल्य उत्पादन गत परिस्थितियों की विभिन्नता के अनुसार अलग-अलग होता है परन्तु जब हम उत्पादित वस्तु को बाजार में ले जाते हैं तब वह बाजार में विद्यमान उसी प्रकार की अन्य वस्तुओं की राशिगत एकता का अंग बन जाती है और उस श्रेणी की समस्त वस्तुओं के बाजार के दाम एक ही रहते हैं, भले ही व्यक्तिगत उत्पादकों की उत्पादन-गत परिस्थितियाँ एक दूसरे से कितनी ही भिन्न क्यों न रही हों। इसका अर्थ यह हुआ कि बाजार के दाम, उत्पादन की औसत परिस्थितियों के अन्तर्गत उस व्यक्ति के उत्पादन के लिए आवश्यक औसत सामाजिक श्रम को व्यक्त करते हैं। यहाँ तक पण्य के बाजार के दाम और वास्तविक मूल्य में कोई भेद नहीं होता परन्तु जब माँग और पूर्ति सम्बन्धी परिस्थितियाँ अपना प्रभाव डालने लगती हैं तब बाजार के दाम वास्तविक मूल्य की अपेक्षा कभी अधिक हो जाते हैं और कभी कम। उसमें उतार-चढ़ाव की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।

मार्क्स का यह सिद्धान्त श्रम की सामाजिक उपयोगिता पर विशेष बल देता है, इसी आधार पर वह समस्त आर्थिक प्रवृत्तियों का विवेचन और विश्लेषण करता है। प्रत्येक समाज की समष्टिगत श्रमशक्ति की एक सीमा होती है और इस प्रकार उनकी विभिन्न आवश्यकताओं की भी एक सीमा होती है। जिस समाज में उत्पादन योजनाबद्ध होता है और सीमाओं का ध्यान रखा जाता है वहाँ पण्य के वास्तविक मूल्य और बाजार के दामों में चढ़ाव-उतार होता रहता है। अतः अब प्रश्न यह उठता है कि बाजार में उसके क्रय-विक्रय द्वारा लाभ की प्राप्ति कैसे होती है?

पण्य के क्रय-विक्रय द्वारा लाभ अर्जित किया जाता है। परन्तु जब पण्य को श्रम शक्ति के आधार पर अनुमानित उसके वास्तविक मूल्य के अनुसार ही बेचा जायेगा तो फिर लाभ कैसे होगा। विनिमय तो समानता के आधार पर होता है। बाजार में कोई भी व्यक्ति अपनी वस्तु को किसी कम दाम वाली वस्तु से बदलना नहीं चाहता। यह बात दूसरी है कि बाजार में इस श्रम काल को हम

मुद्राओं के माध्यम से व्यक्त करें या किसी अन्य माध्यम से परन्तु इससे विनिमय व्यापार की समानता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

पूँजीपति उत्पादन कार्यों में अपनी पूँजी लगाता है और इस पूँजी के बदले में उसे लाभ की प्राप्ति होती है तो यह कथन भी उचित नहीं होगा क्योंकि केवल पूँजी किसी वस्तु में नवीन मूल्यों की सृष्टि नहीं कर सकती। श्रम के अभाव में पूँजी निष्क्रिय और निष्प्राण है। नवीन मूल्यों की सृष्टि का एक ही साधन है और वह है मानवीय श्रम।

मार्क्स ने इस समस्या पर एक नवीन ढंग से विचार किया और इस बात की घोषणा की कि लाभ का मूल कारण है अतिरिक्त मूल्य अर्थात् "अतिरिक्त अर्घ।" इस अतिरिक्त अर्घ की विस्तृत व्याख्या करते हुए मार्क्स ने बतलाया कि वर्तमान पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत मनुष्य की श्रमशक्ति ने भी पण्य का रूप धारण कर लिया है और सामान्य पण्य के समान ही बाजार में क्रय-विक्रय की वस्तु बन गयी है। आर्थिक दृष्टि से माल का पण्य की संज्ञा प्राप्त करने के लिए किसी वस्तु में दो मूल तत्वों का होना आवश्यक है, एक प्राकृतिक और दूसरा सामाजिक। प्राकृतिक तत्व से हमारा तात्पर्य उस स्थूल पदार्थ से है जिसमें किसी मानवीय आवश्यकता को पूर्ण करने की क्षमता हो। सामाजिक तत्व से तात्पर्य वस्तु में समाहित सामाजिक श्रम की मात्रा से है। अमूर्त सामाजिक श्रम अपने अस्तित्व और उपयोगिता को प्राकृतिक तत्व के माध्यम से ही व्यक्त करता है। दूसरे शब्दों में प्राकृतिक तत्व के अभाव में सामाजिक तत्व की स्थिति उसी प्रकार अकल्पनीय है जिस प्रकार शरीर के अभाव में आत्मा की स्थिति। जब हम किसी वस्तु को खरीदते है तो उपयोगिता तो ग्रहण करते हैं उसके प्राकृतिक तत्व से परन्तु मूल्य चुकाते हैं उसके सामाजिक तत्व का अर्थात् उसमें समाहित मानवीय श्रम का। इन दो तत्वों के अतिरिक्त कुछ बातें और भी हैं जिनका माल या पण्य में होना आवश्यक है। एक तो यह कि प्रत्येक पण्य का स्वामी हो जो अपनी सम्पत्ति को जो चाहे कर सकने का अधिकार रखता हो। दूसरे यह कि पण्य बाजार में बेंचने के लिए हो, स्वामी के निजी उपयोग के लिए न हो। मार्क्स के मतानुसार आज मानवीय श्रमशक्ति ने पण्य के इन सभी गुणों को धारण कर लिया है।

वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था में एक ओर जहां विशाल औद्योगिक कल कारखानों को जन्म दिया है वहा दूसरी ओर एक ऐसे सर्वहारा जन-समुदाय को

भी उत्पन्न कर दिया है जिसके पास न तो अपने औजार हैं और न कच्चा माल खरीदने के लिए पूंजी अर्थात् साधनों से वंचित अतः जीवन-निर्वाह के अन्य साधनों के अभाव में यह जन-समुदाय विवश होकर पूंजीपतियों के हाथ अपनी श्रम शक्ति को बेचता है। बाजार में जिस प्रकार वस्तुओं का क्रय विक्रय होता रहता है, ठीक उसी प्रकार आज मानवीय श्रम-शक्ति भी एक सामान्य पण्य के समान ही खरीदी और बेंची जाती है तो वह भौतिक मूल्य का सृजन करने में सक्षम एकमात्र वस्तु पर अधिकार कर लेता है।

मार्क्स की धारणा के अनुसार जिस आधार पर हम बाजार की अन्य वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करते हैं ठीक उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर हम श्रम शक्ति का मूल्य भी निर्धारित कर सकते हैं अर्थात् हम यह देखना चाहिए कि श्रमशक्ति का उत्पादन किस प्रकार होता है और उसके उत्पादन के लिए कितने सामाजिक श्रम की आवश्यकता होती है। यह निर्विवाद है कि मनुष्य का जीवन ही उसकी श्रमशक्ति का मूलाधार है और जीवन की स्थिति के लिए शारीरिक सुरक्षा भी अनिवार्य है। मनुष्य श्रम तभी कर सकता है जब उसका शरीर श्रम करने के योग्य हो और शरीर श्रम करने के योग्य तभी हो सकता है जब उसकी मूल आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहे। अतः श्रम शक्ति के उत्पादन के लिए जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक है। मार्क्स के शब्दों में जीवित प्राणी को अपनी जीवन रक्षा के निमित्त एक निश्चित परिमाण में जीवन-निर्वाह की सामग्री की आवश्यकता पड़ती है। इससे हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि श्रमशक्ति उत्पादन के लिए आवश्यक होता है अथवा दूसरे शब्दों में श्रमशक्ति का मूल्य जीवन निर्वाह की उस सामग्री के समान होता है जो श्रम शक्ति को धारण करने वाले व्यक्ति के जीवन के निर्वाह के लिए आवश्यक होती है।

श्रमशक्ति का मूल्यांकन करते समय यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि समस्त व्यक्तियों की जीवन-निर्वाह सम्बन्धी आवश्यकतायें सदैव एक समान नहीं हो सकतीं। उनमें प्राकृतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप पर्याप्त विभिन्नता आ जाती है। अतः श्रमिक को ऐसी सुविधायें प्राप्त हों जिससे वह पारिवारिक जीवन व्यतीत करके सन्तानोत्पत्ति द्वारा अपने वर्ग की अभिवृद्धि करता रहे। इतना ही नहीं वरन् वह अपने परिवार व बच्चे के भरण-पोषण में भी समर्थ हो सके ताकि उसके यही बच्चे बड़े होकर उसके वृद्ध और अशक्त हो जाने के पश्चात् उसका स्थान ग्रहण कर सकें। अतः श्र

शक्ति का मूल्यांकन करते समय श्रमिक के जीवन-निर्वाह सम्बन्धी आवश्यकताओं मे उसकी निजी आवश्यकताओं के अतिरिक्त जिस देश में वह रहता है उस देश विशेष की प्राकृतिक, सामाजिक, और सांस्कृतिक परिस्थितियों के अनुरूप उसके परिवार की आवश्यकताओं को भी सम्मिलित करना आवश्यक है।

यदि यह मान लिया जाय कि श्रमिक को एक दिन कार्य करने योग्य श्रमशक्ति को प्राप्त करने के लिए जीवन-निर्वाह सम्बन्धी जिस सामग्री की आवश्यकता होती है उसे वह पाच घण्टे के परिश्रम द्वारा प्राप्त कर लेता है तो इसका आशय यह हुआ कि उसकी एक दिन की श्रम-शक्ति का मूल्य पांच घण्टे के श्रम काल के बराबर है। परन्तु जब वह किसी कारखाने मे काम करने के लिए जाता है तो पूंजीपति केवल पाच घण्टे के बाद ही दिन भर की मजदूरी देकर उसकी छुट्टी कर देता है। यदि काम का दिन दस घण्टे का नियत है तो वह उनसे पूरे दस घण्टे काम लेने के बाद ही दिन भर की मजदूरी देता है। इसी बात को दूसरे शब्दो मे हम इस प्रकार कह सकते हैं कि पूंजीपति श्रमिक से काम तो दस घण्टे कराता है परन्तु मजदूरी उसे पांच घण्टे की ही देता है क्योंकि उसकी दिन भर की श्रम शक्ति का वास्तविक मूल्य पांच घण्टे के सामाजिक श्रम के ही बराबर है। श्रमिक पाच घण्टे काम करके अपनी श्रमशक्ति को वास्तविक मूल्य को प्राप्त करता है तो शेष पाच घण्टो पूंजीपति के लिए अतिरिक्त अर्थ अथवा अतिरिक्त मूल्य की सृष्टि करता है।

यदि श्रम-शक्ति का मूल्य मुद्रा मे व्यक्त किया जाय और एक घण्टे का श्रम एक रुपया के बराबर मान लिया जाय तो उपर्युक्त उदाहरण के आधार पर हम कहेगे कि श्रमिक की एक दिन की श्रमशक्ति का मूल्य पाच रुपया है क्योंकि उसे अपने और अपने परिवार के एक दिन के भरण-पोषण के लिए पांच रुपये की आवश्यकता होती है। पूजीपति पाच रुपया देकर श्रमिक की दिनभर की श्रमिक की श्रम-शक्ति को खरीद लेता है क्योंकि सम्पत्ति-विहीन मजदूर आपस मे होड़ लगाते है और इस प्रकार अपनी श्रमशक्ति के दामों को इस सीमा तक नीचे गिरा कर ले जाते है जहा वे केवल जीवित रह सकते हैं। काम का एक दिन दस घण्टे का नियत है। अतः पूंजीपति पांच रुपया देकर अपने कारखाने में श्रमिक से दस घण्टा काम कराता है। एक घण्टे का श्रम एक रुपया के बराबर है। अतः श्रमिक पूजीपति के कारखाने में दस घण्टा काम करके उसके कच्चे माल में दस रुपये के बराबर उपयोग मूल्य की सृष्टि करता है। पूंजीपति पूंजी का स्वामी है और श्रमिक की श्रम-शक्ति को भी खरीद

लेता है। अतः वह श्रमिक के श्रम से तैयार की गयी वस्तु का भी स्वामी बन जाता है। उस वस्तु को बाजार के दाम पर बेंच कर अपने लिए उस भाग को बचा लेता है जो माल के बाजार के दाम का और श्रमिक को दिये श्रम शक्ति के दाम का अन्तर है। मान लें कि पूंजीपति ने मशीनरी और कच्चे माल आदि के रूप में दस रुपये व्यय किये हैं और श्रमिक के दिन भर की श्रमशक्ति के मूल्य के रूप में पांच रुपये दिये गये हैं तो उसकी कुल लागत पन्द्रह रुपया हुई परन्तु श्रमिक ने दस घण्टा काम करके कच्चे माल में दस रुपया के मूल्य की वृद्धि की है। अतः पूंजीपति बाजार में उस वस्तु को बीस रुपया को बेचता है और दोनों के अन्तर अर्थात् (20–15=5) पांच रुपया को अपने लिये बचा लेता है। अतः उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान श्रमिक जितने मूल्य का सृजन करता है, वह उसकी श्रमशक्ति के लिए व्यय से अधिक है। इसी अन्तर को, जिसे पूंजीपति बिना कोई मुआवजा दिये हड़प लेता है और जो उसके धनी बनने का स्रोत है, अतिरिक्त अर्थ अथवा अतिरिक्त मूल्य कहा जाता है।

मार्क्स के अनुसार श्रमशक्ति एक ऐसा पण्य है जो अतिरिक्त अर्थ को जन्म देता है क्योंकि श्रम के उत्पादन के मूल्य और स्वयं श्रमशक्ति के मूल्य में अन्तर है। पहले प्रकार का मूल्य सामाजिक आवश्यकतानुसार श्रम की उस मात्रा से निर्धारित होता है जो उसके उत्पन्न में व्यय होती है और दूसरा उस श्रम की मात्रा से निर्धारित होता है जो श्रमिक और उसके परिवार के आवश्यक भरण-पोषण के लिए पर्याप्त मात्रा के उत्पादन में लगाता है। दोनों का यह अन्तर ही अतिरिक्त अर्थ कहलाता है। मार्क्स के शब्दों में श्रमिक शक्ति के लिए आवश्यक भरण-पोषण का दैन्य मूल्य और श्रमशक्ति का दैन्य उत्पादन यह दोनों अलग अलग बातें हैं। पहली श्रम शक्ति के विनिमय मूल्य को व्यक्त करती है और दूसरी उसके उपयोग मूल्य को। इस प्रकार श्रम का अपने वास्तविक मूल्य से अधिक उत्पादन करने का यह गुण ही वह प्रधान कारण है जो वर्तमान आर्थिक जीवन में अतिरिक्त अर्थ के माध्यम से लाभ को जन्म देता है। अतः पूँजीवादी शोषण का सारतत्व अतिरिक्त अर्थ का उत्पादन और पूंजीपतियों द्वारा उसे हथिया लेना है। भाड़े के श्रम की प्रणाली श्रमिक दासता की प्रणाली है। यह अतिरिक्त अर्थ ही पूंजीपति के कार्यकलाप का मुख्य प्रेरक शक्ति है। यही पूँजीवाद का मुख्य आर्थिक नियम है। इस नियम में ही पूँजीवादी उत्पादन के उद्देश्य और उस उद्देश्य को पूरा करने का साधन दोनों अभिव्यक्त होते हैं।

है। मार्क्स के पक्ष में यही कहा जा सकता है। कि वह श्रमिकों के पूंजीपतियों द्वारा शोषण किये जाने की धारणा को प्रकाश में लाया और उनमें सगठित होकर पूंजीवाद के विरुद्ध इस शोषण के निराकरण करने के लिए क्रान्ति करने की प्रेरणा का सचार किया।

वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त

मार्क्स से पूर्व भी विद्वान लोग अनुभव करते थे कि जनता वर्गों मे विभक्त है और समाज मे वर्ग संघर्ष का अस्तित्व है। किन्तु वे समाज के वर्ग विभाजन का वस्तुगत आधार ढूंढ निकालने मे असमर्थ रहे। वे ये नही देख सके कि समाज के वर्ग विभाजन का कारण भौतिक उत्पादन मे खोजना चाहिए जो मानव सम्बन्धो का प्रधान क्षेत्र है।

वर्ग की एक व्यापक परिभाषा मार्क्स ने दी है कि वर्ग जनता के बड़े समूह को कहते हैं, जिसमें सामाजिक उत्पादन की, इतिहास द्वारा निर्दिष्ट, किसी व्यवस्था मे अपने विशिष्ट स्थान द्वारा, उत्पादन के साधनो के प्रति अपन सम्बन्ध द्वारा, श्रम के सामाजिक सगठन मे, अपनी भूमिका द्वारा, और परिणाम स्वरूप इस तथ्य द्वारा कि वह सामाजिक सम्पदा का कितना बडा भाग अर्जित करते हैं और किस माध्यम से अर्जित करते हैं, एक दूसरे से भिन्नता होती है। वर्ग जनता के ऐसे समूह होते हैं जिनमे से एक इस चीज की बदौलत कि वे सामाजिक अर्थ-व्यवस्था की किसी विशेष पद्धति मे भिन्न-भिन्न स्थान रखते हैं, दूसरों के श्रम को हड़प सकता है। दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो वर्ग ऐसे लोगो के समूह को कहते है, जो अपनी जीविका एक ही ढंग से अर्जित करते हो।

उत्पादन के साधनों के प्रति किसी वर्ग का सम्बन्ध वह मुख्य विशेषता है जो सामाजिक उत्पादन मे उसके स्थान और उसकी भूमिका को निर्धारित करता है और वही यह भी निर्धारित करता है कि वर्ग किस ढग से आय प्राप्त करता है और कितनी आय प्राप्त करता है।

वर्ग सदैव नही रहे। आदिम समाज मे वर्ग नही थे। उत्पादन का स्तर इतना कम था कि उससे जीवन-निर्वाह का साधन बस इतना प्राप्त होता था कि लोग भूखो मरने से बचे रहे। भौतिक सम्पदा अर्जित करने, निजी सम्पत्ति, वर्ग और शोषण के उत्पन्न होने की कोई सम्भावना नही थी।

परन्तु बाद मे उत्पादन शक्तियां जैसे-जैसे विकसित हुई और श्रम उत्पादकता बढ़ी लोग उपभोग से अधिक उत्पादन करने लगे। भौतिक सम्पदा संचित

करना और उत्पादन के साधनों को हस्तगत करना सम्भव हुआ। निजी सम्पत्ति प्रकट हुई। बढ़ते हुए श्रम विभाजन और व्यापार में हुई वृद्धि ने इसे सुगम बनाया था।

सामुदायिक सम्पत्ति के स्थान पर निजी सम्पत्ति के विकास से आर्थिक असमानता बढ़ी। कुछ लोग, विशेषकर कबीलों के सरदार, धनी बन गये और उत्पादन के सामुदायिक साधनों पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। अन्य लोग जो उत्पादन के साधनों से वंचित हो गये, इन साधनों के स्वामी बन जाने वालों के लिए काम करने को विवश हुए। आदिम समुदाय का इसी प्रकार विघटन तथा उसमें वर्ग स्तरों का उदय हुआ। इस प्रक्रिया ने विरोधी वर्गों के उदय और शोषण के साथ पूर्णता प्राप्त की।

वर्ग उस समय उत्पादित हुए जब आदिम सामुदायिक व्यवस्था विघटित हो रही थी और दास व्यवस्था का उदय हो रहा था। समाज में वर्गों की प्रतिद्वन्द्वात्मक स्थिति घोर संघर्ष का स्रोत थी। वर्ग संघर्ष शताब्दियों से मानव जाति के विकास में प्राथमिक विशेषता बना हुआ है। वैमनस्यपूर्ण वर्ग समाजों का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। स्वतन्त्र स्वामी तथा दास, रोमनकाल में पैट्रीशियन (कुलीन) तथा प्लेबियन (साधारण), सामन्त-शाही युग में भूस्वामी और भूदास, उसके पश्चात् श्रेणी स्वामी(Guild master) तथा शिष्य (journe-man), औद्योगिक युग में पूंजीपति तथा श्रमिक, सदैव दो ऐसे वर्गों के रूप में विद्यमान रहे जो एक दूसरे के आमने सामने सतत् विरोधी के रूप में खड़े हुए। उनमें निरन्तर संघर्ष एवं प्रतिद्वन्द चलते रहे जो कभी गुप्त और कभी खुले रूप में हो जाते थे और इन युद्धों का अन्त प्रत्येक बार यों हुआ कि या तो समाज का क्रान्तिकारी पुनर्गठन हुआ या दोनों युद्धरत वर्ग नष्ट हो गये।

वैमनस्यपूर्ण वर्गों का संघर्ष समझौता नहीं होता है क्यों कि समाज में उनकी आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों में मौलिक भेद रहता है। न जाने कितनी शताब्दियों से श्रमजीवी वर्ग का—वे दास हों, कृषक हों या औद्योगिक श्रमिक हों—शासक वर्गों ने निर्ममता से शोषण किया है और यह स्वाभाविक है कि वे उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष करें और स्वतन्त्र तथा सुखी जीवन के लिए प्रयत्नशील हों।

वर्ग समाज में, मौलिक वर्ग होते हैं और अमौलिक वर्ग भी होते हैं। मौलिक वर्ग वे होते हैं जो समाज में प्रचलित उत्पादन पद्धति से सम्बन्धित रहते हैं। वैमनस्य-

पूर्ण वर्ग समाज में वे हैं : एक ओर उत्पादन के साधनों का स्वामी वर्ग और दूसरी ओर उसके विरोध में खड़ा उत्पीड़ित वर्ग। दास समाज में दास और दास स्वामी, सामन्तवाद में किसान और सामन्ती सरदार, पूँजीवाद में सर्वहारा और पूँजीपति ये ही वैमनस्यपूर्ण समाजों के मौलिक वर्ग हैं। वैमनस्यपूर्ण समाजों में अमौलिक वर्ग भी हुआ करते हैं। उनका प्रचलित उत्पादन पद्धति में प्रत्यक्ष लगाव नहीं होता और विभिन्न सामाजिक समूह भी होते हैं। वैमनस्यपूर्ण समाज में वर्ग संघर्ष प्रथमतया मौलिक सामाजिक वर्गों के मध्य चलता है। अमौलिक वर्गों और सामाजिक समूहों की इस संघर्ष में साधारणतया उनकी कोई नीति नहीं होती और वे किसी एक मौलिक वैमनस्य पूर्ण वर्ग का पक्ष ग्रहण करते और उनके हितों की रक्षा करते हैं। वर्ग संघर्ष वैमनस्यपूर्ण वर्ग समाज की प्रेरक शक्ति होती है उसके विकास का स्रोत होता है।

पूँजीवादी परिस्थितियों में वर्ग संघर्ष उत्पादक शक्तियों के विकास में महत्वपूर्ण तत्व होता है, क्योंकि पूँजीपति और सर्वहारा पूँजीवादी समाज के मौलिक वर्ग हैं। पूँजीवाद का स्वरूप जो श्रमिक को उसके श्रम के फल से वंचित करता है तथा समाज में श्रमिक की स्थिति उसे पूँजीपतियों से लड़ने को प्रेरित करती है। अतः पूँजीवादी समाज का इतिहास पूँजीपति और सर्वहारा के संघर्ष का इतिहास है। यह संघर्ष स्वाभाविक है, क्योंकि यह पूँजीवादी विकास का प्राथमिक स्रोत है। सर्वहारा का ध्येय और कर्तव्य पूँजीवादी समाज को समाप्त करना और सर्वहारा वर्ग के हाथों में सत्ता को प्राप्त करना है क्योंकि यही एक मात्र सुसंगत क्रान्तिकारी वर्ग है। एक स्थान विशेष के नहीं अपितु राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय एवं अन्तराष्ट्रीय क्षेत्रों में शोषित सर्वहारा वर्ग क्रान्ति के द्वारा पूँजीपतियों का विनाश कर देगा। संघर्ष की अवधि में उसका उद्देश्य उत्पादन के साधनों पर सर्वहारा वर्ग का सामूहिक स्वामित्व करना तथा पूँजीवाद का विनाश करना होगा।

आलोचना

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त उसके द्वन्दवाद तथा इतिहास की आर्थिक व्याख्या के सिद्धान्त की भाँति ही भ्रामक व दोषपूर्ण है। मार्क्स औद्योगिक तथा पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत केवल बुर्जुआ तथा सर्वहारा वर्ग के निर्मित होने की धारणा दर्शायी है। समाज के अन्तर्गत इस प्रकार के केवल दो ही परस्पर विरोधी आर्थिक वर्गों के अस्तित्व को मानता और अन्ततः

उसके मध्य संघर्ष होने की तथा संघर्ष में सर्वहारा वर्ग की विजय की घोषणा करना कोई व्यावहारिक नहीं है। मार्क्स के इस सिद्धान्त को एक प्रचार मात्र कहा जा सकता है, जो सर्वहारा वर्ग को संगठित होने तथा पूंजीपतियों के विरुद्ध क्रान्ति का द्योतक है। सैद्धान्तिक दृष्टि से औद्योगिक व्यवस्था के अन्तर्गत बुर्जुआ तथा सर्वहारा वर्ग का वर्गीकरण सम्भव नहीं है। कारखानों में कार्य करने वाले उत्तम, वेतन भोगी अभियन्ता, प्रबन्धक, निदेशक आदि को सर्वहारा वर्ग कहना कहाँ तक उचित है। उद्योगों में वैतन-भोगी श्रमिकों के रूप में कार्य करने वाले अनेक व्यक्ति कारखानों में साझीदार तक हैं। उन्हें किस वर्ग में रखा जाय ? इस दृष्टि से मार्क्स का सामाजिक वर्गों का कठोरतापूर्वक निर्धारण करना दोषपूर्ण है।

इस बात को भी पूर्ण सत्य नहीं माना जा सकता कि औद्योगिक अर्थव्यवस्था वाले समाज में स्वामी तथा श्रमिक वर्ग के मध्य निरन्तर संघर्ष की स्थिति बनी रहती है। उद्योगपति अपना लाभ बढ़ाना अवश्य चाहता है, परन्तु कारखानों में रोजगार पर लगाये गये श्रमिकों का शोषण करके या उन्हें कष्टकारी परिस्थितियों में रख कर ही अपना लाभ बढ़ाने का उद्देश्य नहीं रखता। बहुधा विभिन्न उद्योगों के उद्योगपतियों द्वारा रोजगार पर लगाये गये श्रमिकों के मध्य एक से दूसरे मालिक के यहां अधिक या कम सुविधायें प्राप्त करने की चर्चायें रहती हैं और एक उद्योगपति अपने श्रमिकों को अन्य उद्योगपतियों की तुलना में अधिक सुविधा देने का लालच भी देता रहता है। आधुनिक राज्यों में राष्ट्रीयकृत उद्योगों में लगे श्रमिकों की तुलना में अनेक निजी उद्योगों में लगे श्रमिक अधिक सुविधाओं का उपभोग करते हैं। इस दृष्टि से श्रमिक वर्ग तथा पूंजीपति वर्ग के मध्य निरन्तर संघर्ष या शोषण की धारणा बना लेना सत्य नहीं है। श्रमिकों के मध्य परस्पर अन्य प्रकार के हितों में टक्कर हो सकती है यथा कुशल तथा अकुशल श्रमिकों के मध्य भेद, पुरुष तथा महिला श्रमिकों के मध्य भेद, विभिन्न जातियों के मध्य, भेद तथा विभिन्न देशों में प्राप्त श्रमिकों के मध्य भेद। हण्ट ने ठीक ही लिखा है कि "किसी एक देश के श्रमिकों को कष्ट पहुँचाने वाली युक्तियां दूसरे देश के श्रमिकों के लिए लाभदायक सिद्ध हो सकती है, परन्तु किसी भी विकसित देश के श्रमिक सस्ता विदेशी श्रम स्वीकार नहीं करते। पुनश्च, आज तक का अनुभव यही बताता है कि जब कभी देश का अस्तित्व खतरे में होता है तो देश में आन्तरिक वर्ग संघर्ष की धारणा न रह कर देश की सुरक्षा

का हित सभी वर्गों को समान रूप से मान्य होता है। इस दृष्टि से मार्क्स का सिद्धान्त एक सैद्धान्तिक सत्य नहीं है।

मार्क्स का वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त इस कठोर सत्य को सिद्ध करने का असफल तथा गलत प्रयास है कि ऐतिहासिक विकास वर्ग संघर्ष की कहानी है। इतिहास के विभिन्न युगों में केवल दो आर्थिक वर्गों को शोषक तथा शोषित मानना और उनके मध्य संघर्ष द्वारा नये सामाजिक युग का अभ्युदय मानना इतिहास की गलत व्याख्या है। धनी तथा निर्धन वर्ग निरन्तर रहे हैं। परन्तु उनके धनी या निर्धन होने का एक मात्र कारण एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का आर्थिक शोषण मानना और इनके मध्य संघर्ष को मानना एक भारी ऐतिहासिक भूल है। यह दूसरी बात है कि उद्योगों का नियन्त्रण थोड़े से लोगों के हाथ में हो गया हो, परन्तु उनका स्वामित्व थोड़े से लोगों के हाथ में रहता है इस तथ्य की सच्चाई संदिग्ध है। आज के पूंजीवादी देशों के श्रमिकों की दशा इतनी शोचनीय नहीं है जितनी की मार्क्स ने चित्रित की है। उद्योगों के संचालन के लिए जिन उपकरणों, कच्चे माल संगठन की व्यवस्था आदि की आवश्यकता पड़ती है उनका स्वामित्व केवल पूँजीपति वर्ग के ही पास मानना सही नहीं है। वास्तविकता यह है कि उद्योगों के नियम तथा संचालन में संघर्ष नहीं अपितु सहयोग अधिक आवश्यक होता है। श्रमिक तथा पूँजीपति वर्ग दोनों का इसी में हित है। इस दृष्टि से वर्ग संघर्ष की धारणा भ्रामक है।

सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति तथा अधिनायकवाद

मार्क्स का विश्वास था कि पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमिक वर्ग का शोषण इस सीमा तक पहुँच चुका है कि उसे वैधानिक साधनों से समाप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि राजसत्ता पर पूँजीपतियों का ही प्रभाव है। स्वयं पूँजीवाद ने अपने विनाश का मार्ग प्रशस्त कर लिया और शोषित वर्ग की चेतना, इतनी बढ़ चुकी है कि वह अब संगठित होकर अपने शोषकों के विरुद्ध क्रान्ति कर के उन्हें नष्ट करेगा। मार्क्स ने इस क्रान्ति का कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया है। यह क्रान्ति केवल पूँजीपति के विरुद्ध ही नहीं होगी, वरन् पूँजीवाद द्वारा पोषित सम्पूर्ण राज्य व्यवस्था तथा सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध भी होगी। मार्क्स की धारणा थी कि क्रान्ति धीरे-धीरे, तथा कई चरणों में होगी। क्रान्ति का उद्देश्य समाजवाद होगा। यद्यपि पूँजीवाद स्वयं अपने विनाश की ओर बढ़ रहा है तथापि

उसका विनाश स्वयमेव समाजवाद की स्थापना नहीं कर सकता। इसके लिए एक निश्चित कार्यक्रम होगा।

मार्क्स की धारणा कि बुर्जुआ या पूंजीवादी राज्य केवल मात्र एक वर्ग संगठन था। ऐतिहासिक विकास क्रम भी यह प्रदर्शित करता है कि आदिम सामुदायिक से विभिन्न युगों में जो परिवर्तन होते रहे उनमें सदैव उत्पादन के साधनों के स्वामी वर्ग ने समाज में अपनी आर्थिक सत्ता बनाये रखने के लिए राज्य का निर्माण किया और राजसत्ता के भी स्वामी बने रहे। इस प्रकार "राज्य का मुख्य कार्य एक वर्ग को दूसरे वर्ग का शोषण करने की सुविधा प्रदान करना है।" राज्य का संचालन तथा नियमन करने का कार्य समाज के एक छोटे से जन समूह के हाथ में रहता है जिसे सरकार कहा जाता है। यह वर्ग सम्पूर्ण समाज से सर्वथा अपने को पृथक मानता है। मार्क्स के मतानुसार "राज्य एक ऐसे संगठन से अधिक कुछ नहीं है जिसे बुर्जुआ वर्ग के लोग परस्पर अपनी सम्पत्ति तथा अपने हितों की प्रत्याभूति के लिए आन्तरिक तथा बाह्य उद्देश्यों को सम्पन्न करने के निमित बनाते हैं। इस प्रकार राज्य एक वर्ग संगठन है जो बुर्जुआ वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करता है और उसी के विचारों को प्रतिबिम्बित करता है। राज्य की सरकार बुर्जुआ वर्ग की कार्यकारिणी समिति के सदृश है। राज्य या सरकार द्वारा स्थापित सेना, पुलिस, न्याय, तथा कानून व्यवस्था तथा अन्य अभिकरण सभी पूंजीपति वर्ग के हित में आर्थिक व्यवस्था का संरक्षण करने का कार्य करते हैं। ऐसी स्थिति में पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था वाला राज्य, जिसे जनतन्त्र कहा जाता है, स्वयं में एक विरोधाभास है। ऐसे समाज में जनतन्त्र हो नहीं सकता जिसमें जनता शोषक तथा शोषित दो ऐसे वर्गों में विभक्त हो जिनके हितों में भारी अन्तर्विरोध होता है। मार्क्सवादी क्रांति का मुख्य उद्देश्य पूंजीवादी का विनाश करने के लिए सर्वप्रथम पूंजीवाद के संरक्षक राज्य की सत्ता को सर्वहारा वर्ग द्वारा हथियाने का कार्यक्रम प्रस्तुत करना था।

मार्क्स के उपर्युक्त सिद्धान्तों से यह निष्कर्ष निकलता है कि पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था में बुराइयों के आने का कारण वर्तमान उत्पादन तथा वितरण प्रणालियां है। अतः इस व्यवस्था को परिवर्तित करने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादन के साधनों का समाजीकरण करना पड़ेगा ताकि पूंजी के व्यक्तिगत स्वामियों को ही उत्पादन का लाभ न हो, क्योंकि उत्पादन श्रमिकों

के श्रम से होता है। उत्पादन में उपकरणों का नियन्त्रण भी व्यक्तिगत पूंजीपतियों के हाथ में न रह कर उन उपकरणों को कार्यरत रखने वाले श्रमिक वर्ग के हाथ में रहना चाहिए। ऐसा परिवर्तन लाने के लिए मार्क्स ने विकासवादी और क्रान्तिकारी दोनों प्रकार के कार्यक्रमों को प्रस्तुत किया है। विकासवादी या लोकतन्त्री कार्यक्रम में मार्क्स का अभिप्राय यह था कि विभिन्न देशों के श्रमिक जो कि शोषित वर्ग का निर्माण करते हैं, संगठित हों और अपनी राजनीतिक शक्ति को सुदृढ़ करें अर्थात् वे राजनीतिक तत्वों के रूप में संगठित हों और निर्वाचनों द्वारा राज्य की सर्वोच्च संसदों में अपना बहुमत बनायें। यदि पूंजीवादी राज्य बल प्रयोग द्वारा उन्हें दबाने लगे तो श्रमिक दल को भी उनके विरुद्ध बल प्रयोग करना होगा। इस प्रकार जब वे अपनी सर्वोच्च शक्ति को सुदृढ़ बना लेंगे तो विविध लोकतन्त्री संस्थाओं में अपनी शक्ति द्वारा वैधानिक उपायों से पूंजी का समाजीकरण करने के लिए पग उठायेंगे।

सर्वहारा अधिनायकत्व

मार्क्स के मत से पूंजीवाद का विनाश एक ही पग में नहीं हो सकता। अतः राज्य की सत्ता पर सर्वहारा वर्ग द्वारा अपना अधिकार इन जनतन्त्री तथा वैधानिक उपायों से स्थापित करना पूंजीवाद से समाजवाद की स्थापना के मार्ग में पहला कदम होगा। इस संक्रमण की अवधि में पूंजीपति अपनी शक्ति पुनः अर्जित करने का प्रयास करेंगे। अतः इस अन्तर्काल के अनुरूप ही राजनीतिक संक्रमण का एक अन्तर्काल आता है जिसमें राज्य के लिए सर्वहारा के क्रान्तिकारी अधिनायकत्व होने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं रहता।

सर्वहारा अधिनायकत्व सफल सामाजिक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप तथा पूंजीवादी राज्यतन्त्र के चकनाचूर हो जाने पर प्रकट होता है। यह गुणात्मक रूप से नवीन प्रकार का राज्य है और अपने वर्ग चरित्र राज्य संगठन के रूपों तथा उस भूमिका के, जो उसे अदा करनी है, लिहाज से यह पूर्व के राज्य से सर्वथा भिन्न है। राज्य के पूर्व की सभी किस्में शोषक वर्ग के हाथ का हथियार थी और उनका प्रयोग श्रम-जीवी जनता को अधीनस्थ बनाये रखने के लिए किया जाता था। उनका उद्देश्य शोषण प्रणाली को सुदृढ़ करना और उत्पीड़कों तथा उत्पीड़ितों में समाज के विभाजन को निरन्तर बनाये रखना था। परन्तु सर्वहारा अधिनायकत्व श्रम-जीवी वर्ग का शासन है जो सभी श्रम जीवियों के साथ मिल कर

पूँजीवाद को समाप्त करता है और एक नवीन समाज का निर्माण करता है, ऐसे समाज का जिसमें विरोधी वर्गों और शोषण का अस्तित्व नहीं रहता।

लैटिन के वैज्ञानिक ऐतिहासिक दार्शनिक शब्द 'डिक्टेटरशिप आफ दी प्रोलेटारियट" (सर्वहारा अधिनायकत्व) का सरल भाषा में अनुवाद यह है कि "एक निश्चित वर्ग अर्थात् नगरीय श्रमिक तथा सामान्य रूपेण कारखानों में काम करने वाले औद्योगिक श्रमिक ही पूंजी का तख्ता उलटने के संघर्ष में, तख्ता उलटने की इस प्रक्रिया में, विजय को बनाये रखने तथा सुदृढ़ बनाने में नयी समाजवादी व्यवस्था का सृजन करने के काम में, वर्गों के पूर्ण उन्मूलन के पूरे संघर्ष श्रमजीवी और शोषित जन समुदाय का नेतृत्व कर सकते हैं।"

सर्वहारा अधिनायकत्व मार्क्स का सारतत्व है। अधिनायकत्व द्वारा अर्थात् सर्वहारा की अखण्ड शक्ति द्वारा ही सर्वहारा पूंजीवाद का उन्मूलन त समाजवाद का निर्माण कर सकता है। इस प्रकार सर्वहारा अधिनायकत्व ह समाजवाद का निर्माण करने का एक मात्र साधन है और इतिहास ने उनका पू रूप से समर्थन किया है।

मार्क्स ने बताया है कि संक्रमण काल में वर्ग संघर्ष समाप्त नहीं हो जा और किन्हीं किन्हीं क्षणों में बहुत तीव्र हो जाता है। पूंजीपति किसी भी देश राजनीतिक सत्ता से वंचित होने पर अपनी पराजय को तथा अपनी प्रभुता ए विशेषाधिकारों की हानि को शान्तिपूर्वक स्वीकार नहीं कर लेते। अतः वे विज सर्वहारा का बड़ा कट्टरता से विरोध करते हैं। इस प्रतिरोध को दबाने और स में पूंजीपतियों को परास्त करने के लिए सर्वहारा अधिनायकत्व आवश्यक है सर्वहारा द्वारा अधिनायकत्व नये वर्ग द्वारा अपने से अधिक शक्तिशाली श पूंजीपतियों के विरुद्ध जिनका सत्ताहरण के पश्चात् प्रतिरोध दस गुना बढ़ जाता है कठोरतम और अत्यधिक निर्भयतापूर्ण संघर्ष है।

सर्वहारा अधिनायकत्व का प्रथम पक्ष है जोर जबरदस्ती का पक्ष। किन्तु पूंजीपतियों का दमन सर्वहारा वर्ग का अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं है। उसका मुख्य लक्ष्य है समाजवाद का निर्माण करना, नवीन समाजवादी अर्थव्यवस्था का सृजन करना। यह कार्य अधिक कठिन इसलिए हो जाता है कि समाजवादी क्रांति ऐसे प्रारम्भ होती है जिस समय कि कोई समाजवादी आर्थिक रूप तैयार नहीं हो रहते। यह कार्य सर्वहारा अधिनायकत्व का, सर्वहारा के राज्य का होता है कि

समाज का आर्थिक जीवन संगठित करे, पूंजीवाद से श्रेष्ठ एक नवीन प्रकार का अर्थतन्त्र-समाजवाद का अर्थ तन्त्र निर्मित करे। सर्वहारा वर्ग अधिनायकत्व शोषकों के विरुद्ध बल प्रयोग मात्र नहीं है। यह मुख्यतया बल प्रयोग भी नहीं है। सर्वहारा श्रम के सामाजिक संगठन की पूंजीवाद की तुलना में एक उच्चतर किस्म का प्रतिनिधित्व एवं सृजन करता है। यह अन्तर्वस्तु है। यह समाजवाद की अनिवार्यतया होने वाली पूर्ण विजय की सुरक्षा और उसकी शक्ति का स्रोत है।

सर्वहारा अधिनायकत्व का द्वितीय पक्ष है रचनात्मक पक्ष। सर्वहारा अकेले ही नयी समाजवादी व्यवस्था का निर्माण नहीं करता, वह गैर सर्वहारा श्रम जीवियों के मुख्यतया कृषकों के घनिष्ठ सहयोग से यह कार्य करता है। पूंजीपतियों एवं सामन्तों के साथ संघर्ष के समय और समाजवादी निर्माण के समय श्रमिक जनता को नये सिरे से शिक्षित करता है। यह अत्यन्त कठिन कार्य है। पूंजीपतियों के विरुद्ध खुले संघर्ष की अपेक्षा यह कहीं अधिक कठिन कार्य है।

सर्वहारा अधिनायकत्व का तृतीय पक्ष है शैक्षणिक पक्ष। इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि सर्वहारा अधिनायकत्व के सभी पक्ष आंगिक रूप से परस्पर जुड़े हुए हैं। वे एक सम्पूर्ण वस्तु के अंग हैं। लेकिन सर्वहारा अधिनायकत्व का मुख्य पक्ष नवीन समाज का निर्माण करना तथा समाजवाद के सक्रिय निर्माण के रूप में पुनः शिक्षित करना है। साथ ही सर्वहारा अधिनायकत्व के जोर जबर्दस्ती वाले पक्ष का महत्व घटाकर नहीं आंकना चाहिए। इस सबसे स्पष्ट है कि श्रम जीवियों के लिए समाजवाद की प्राप्ति का सर्वहारा अधिनायकत्व के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।

इस प्रकार सर्वहारा सभी श्रम जीवियों और जनतान्त्रिक शक्तियों के दृ[illegible] सहयोग से तथा सर्वसाधारण के समर्थन से ही शोषक वर्गों के प्रतिरोध का दमन कर सकता है। सत्ता अपने हाथ में बनाये रख सकता है, समाजवाद का निर्माण कर सकता है और इस प्रकार जनता के लिए सुखमय जीवन उत्पन्न कर सकता है। इसीलिए श्रमजीवी वर्ग एवं शोषितों के लिए सर्वहारा अधिनायकत्व का आधार है। यही सर्वोच्च सिद्धान्त है। यह सर्वहारा राज्य [illegible] सच्चे जनतन्त्र की पूर्णतम एवं सर्वतोमुखी अभिव्यक्ति है। सर्वहारा [illegible] अधिनायकत्व द्वारा मौलिक राजनैतिक और आर्थिक हितों का [illegible], शोषण [illegible] और समाजवाद स्थापित करने की उनकी समान आकांक्षा है। केवल समाजवाद

ही श्रमिकों को पूंजीवादी मजदूरी की दासता से और अन्य गैर सर्वहारा श्रम-जीवियों की तबाही और दरिद्रता से मुक्ति दिलाने का सामर्थ्य है।

अतः अन्तर्काल मे सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद का उद्देश्य ऐसी उत्पादन प्रणाली की व्यवस्था करना होगा जिसके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा तथा योग्यता के अनुसार श्रम करने तथा उसका भौतिक तथा मानसिक सन्तोष प्राप्त करने का अवसर मिले और कठोर श्रमविभाजन की व्यवस्था समाप्त की जा सके। इससे व्यक्ति के लिए श्रम आजीविका साधनमात्र नही रहेगा, अपितु व्यक्ति श्रम में वास्तविक आनन्द का अनुभव करेगा और श्रम जीवन तथा समाज की एक आवश्यकता बन जायेगा। मनुष्य श्रम इसलिए नही करेंगे कि उन्हें इसके लिए विवश होना पड़ता था, अपितु इस भावना से करेंगे कि वे श्रम करना चाहते हैं। चूकि उत्पादन प्रणाली व्यक्तिगत लाभ के उद्देश्य से संचालित न होकर सामाजिक आवश्यकता के उद्देश्य से संचालित होगी और श्रम का महत्व बढने से उत्पादन की मात्रा भी बढ जायेगी अतएव आर्थिक शोषण का अन्त हो जायेगा। अन्ततः उस समाज के झण्डे पर यह नारा लिख दिया जायेगा कि इस समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करता है और प्रत्येक को अपनी आवश्यकता के अनुसार पारिश्रमिक प्राप्त होता है।

ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वहारा वर्ग के हाथ में ही पूर्णतया उत्पादन के समस्त साधनों का स्वामित्व तथा नियन्त्रण रहेगा। मार्क्स के शब्दों मे उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया का सबसे अन्तिम विरोधी रूप उत्पादन के बुर्जुआ वर्गीय सम्बन्ध होते हैं। उत्पादन प्रणाली से पूंजीपति वर्ग का सम्बन्ध समाप्त हो जाने पर वह वर्ग शनैः शनैः समाप्त हो जायेगा। इस प्रकार समाज में केवल एक ही सर्वहारा वर्ग रह जायेगा। चूकि मार्क्स की दृष्टि में राज्य की सत्ता एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग को सताने के लिए प्रयुक्त होती रही है, अतः पूंजीपति वर्ग का अन्त हो जाने से नयी व्यवस्था में परस्पर विरोधी वर्गों का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। अतः राज्य की आवश्यकता नहीं रह जायेगी, वह स्वयं मुरझा जायेगा। मार्क्स की दृष्टि में विभिन्न सिद्धान्तों का यह अन्तिम निष्कर्ष है कि वर्ग-विहीन तथा राज्य-विहीन समाज की स्थापना ही इतिहास की द्वन्दवादी शक्तियों का अन्तिम लक्ष्य है। द्वन्दवाद का वाद, प्रतिवाद तथा संवाद का चक्र फिर इसके आगे नहीं बढ़ेगा क्योंकि वर्ग-विहीन समाज ऐतिहासिक विकास की द्वन्दात्मक प्रक्रिया का अन्तिम तथा पूर्ण विकास है।

साम्यवादी दल

पूँजीवादी में उदारवादी जनतन्त्रों की मार्क्स ने आलोचना की थी और उसे बुर्जुआ जनतन्त्र कहा। इस प्रकार के जनतन्त्र के अन्तर्गत नागरिकों को मताधिकार द्वारा प्रतिनिधियों का निर्वाचन करना, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास आदि की स्वतन्त्रता जाती रही। मार्क्स ने ऐसी व्यवस्था का उपहास किया और कहा कि उसके अन्तर्गत प्रति चार वर्ष या पाँच वर्ष श्रमिकों को एक मात्र अपने नये शोषकों को चयन करने की स्वतन्त्रता रहती है। मार्क्स के मत से ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत यदि राजनीतिक जनतन्त्र की कल्पना कर ली जाये तो यह असंगतिपूर्ण बात होगी क्योंकि आर्थिक जनतन्त्र के अभाव में राजनीतिक जनतन्त्र की कल्पना नहीं की जा सकती। औद्योगिक युग में "यदभाव्यम् सिद्धान्त" को आर्थिक क्षेत्र में लागू करना समाज की जनतान्त्रिक व्यवस्था से कोई संगति नहीं रख सकता। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की व्यवस्था सर्वाधिक व्यापक और प्रभावकारी आन्दोलन के क्रान्तिकारी संघर्ष की निदेशक शक्ति है। सर्वहारा वर्ग की शक्ति स्वयं इतिहास का वस्तुगत विकास, मानव जाति को समाजवादी भविष्य की ओर अटल प्रगति है जिसके वे ही प्रतिनिधि नेता हैं। सर्वहारा वर्ग सामाजिक विकास की अपेक्षाओं को अभिव्यक्त करते हैं। सर्वाधिक प्रगतिशील वर्ग सर्वहारा वर्ग तथा श्रमजीवी जन समुदाय के हितों के प्रति उनकी अनन्य निष्ठा है इस कारण उन्हें उनका असीम विश्वास तथा समर्थन प्राप्त है। कठोर परीक्षा तथा भीषण संघर्ष और कटु पराजय तथा सुखद विजय के समय भी सर्वहारा वर्ग सदैव सारी जनता और समस्त प्रगतिशील मानवजाति के प्रति निष्ठावान सपूत बना रहता है। सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वोच्चतर अर्थ में मानवीय गुणों से युक्त होने के कारण वे श्रमजीवी लोगों के लिए जीते, कार्यरत रहते, संघर्ष करते तथा आवश्यकता पड़ने पर अपना जीवनोत्सर्ग भी सहर्ष कर देते हैं।

सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व साम्यवादी दल ही अकेला करता है। यही मार्क्स की प्रेरणा एवं सिद्धान्तों पर खरा उतरा है। इस दल का अपने ध्येय के औचित्य में विश्वास नहीं डिगता और न वर्ग-विहीन समाज के संघर्ष हेतु उसकी दृढ़ता ही शिथिल पड़ी। विश्व के श्रमजीवियों को एक जुट कार्य करने के लिए समाजवादी घोषणा पत्र में भी मार्क्स यही उल्लेखित किया है। इस दल का एक ही कार्यक्रम है कि पूंजीवाद से समाजवाद की ओर मानवजाति के

के द्वारा इस नहीं स्वयं पूंजीपति के विध्वंसक हो सकता है जब पूंजीवादी व्यवस्था [illegible] हिल गई हो।

सर्वहारा की क्रान्ति की विजय के पश्चात् वर्ग संघर्ष एक दम समाप्त नहीं हो जाता वरन् सर्वहारा की क्रान्ति एक बड़े परिवर्तन की सूचक है जिसके पश्चात् राजनीतिक सत्ता श्रमजीवी वर्ग के विरुद्ध नहीं रहता, वरन् उसके पक्ष में रहता है। परन्तु इस समय भी ऐसे वर्ग एवं व्यक्ति रह जाते हैं जो श्रमजीवियों के राज्य के विरुद्ध बाह्य शक्तियों के सहयोग से खुल्लमखुल्ला युद्ध प्रारम्भ कर देते हैं। ऐसी स्थिति में श्रमजीवी वर्ग को सत्ता पर अधिकार करने के पश्चात् भी अधिक समय तक राज्य के संगठन को बनाये रखना होगा ताकि वह उसके द्वारा अपनी रक्षा कर सकें और समाजवादी आधार पर उत्पादन व्यवस्था का पुनर्गठन करने के काम में नियन्त्रण अपने हाथ में रख सके। परन्तु जब वर्ग भेद नष्ट हो जायें और एक ऐसी उत्पादन व्यवस्था बनाये रखने के लिए जिसमे कोई वर्ग दूसरे वर्ग के श्रम पर जीवित नहीं रहेगा। दूसरे शब्दों में यह एक ऐसा वर्ग विहीन समाज बनाने के लिए शक्ति पर अधिकार करना है जिसमे सभी मिलकर समाज की सेवा करेंगे। जब यह प्रक्रिया पूर्ण हो जायेगी तब कोई विरोध नहीं रहेंगे, क्योंकि तब पृथक् पृथक् हित रखने वाले वर्ग नहीं बचेंगे और इसलिए उस समय एक प्रकार के हितों की रक्षा करने के लिए राज्य को बल प्रयोग के यन्त्र की भी आवश्यकता न रहेगी। तब राज्य क्रमशः विलुप्त हो जायेगा। एक के बाद दूसरे क्षेत्र में इसकी उपयोगिता मिटती जायेगी और एक केन्द्रीय यन्त्र के रूप में जो कुछ बचेगा, वह केवल उत्पादन और वितरण का संगठन करने के लिए होगा। व्यक्तियों पर शासन नहीं होगा, वरन् उसके स्थान पर वस्तुओं की व्यवस्था और उत्पादन क्रिया का संचालन ले लेगा।

समाजवादी समाज का भविष्य

मार्क्स की रचनाओं ने कहीं भी पूँजीवाद के पश्चात् आने वाली सामाजिक व्यवस्था का विस्तृत विवरण नहीं मिलता। उन्होंने अपने अनेक लेखों में भावी समाज का काल्पनिक चित्र नहीं खींचा परन्तु सामाजिक विकास के साधारण नियमों के आधार पर समाज की प्रमुख विशेषताओं को बता सके तथा यह भी इंगित कर सकें कि वह समाज किस प्रकार विकसित होगा। उस समाज में मानव को शान्ति, श्रम, स्वतन्त्रता समानता तथा बन्धुत्व और सुख प्राप्त कैसे हो।

उसका नियन्त्रण बढ़ता जाता है । मनुष्य स्वेच्छा से तथा चेतन रूप में अपने निजी हितों एवं आकांक्षाओं और उच्च सामाजिक आदर्शों के बीच सामंजस्य स्थापित करने का ज्ञान प्राप्त करता है । समाजवाद के अन्तर्गत मनुष्य को अपने हितों और अपनी योग्यतानुसार स्वतन्त्रतापूर्वक तथा सृजनात्मक रूप में काम करने और समाज के विषयों के प्रबन्ध में प्रत्यक्ष एवं सक्रिय भाग लेने तथा उसकी आर्थिक और सांस्कृतिक प्रगति को बढ़ावा देने का अवसर प्राप्त होता है ।

जनतन्त्र का अर्थ समाजवादी समाज में यह हो जाता है कि प्रत्येक कारखाने में, प्रत्येक मुहल्ले में और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नर नारी स्वयं अपना और अपने देश के भविष्य का निर्माण करते हैं । अधिकाधिक व्यक्ति सार्वजनिक जीवन के किसी न किसी क्षेत्र में प्रवेश करते हैं जहाँ उन्हें अपनी तथा दूसरों की सहायता करने का उत्तरदायित्व सम्भालना पड़ता है । अन्य स्थानों में पाये जाने वाले जनतन्त्र से यह कहीं अधिक पूर्ण, कहीं अधिक सच्चा, जनतन्त्र होता है ।

समानता का समाज

समाजवाद पूर्ण आर्थिक और सामाजिक समानता क्रियान्वित करता है । इस समाज का प्रत्येक सदस्य अपनी योग्यतानुसार कार्य करेगा और आवश्यकतानुसार भौतिक तथा सांस्कृतिक सुलाभ प्राप्त करेगा । उसे अध्ययन करने और विज्ञान तथा संस्कृति की पूर्ण जानकारी प्राप्त के अभूतपूर्व अवसर प्राप्त होंगे । वह बौद्धिक सम्पदा का निर्माण भी करेगा और उसका भौतिक सुधार भी होगा । समाजवादी राज्य में जातियों के बीच खड़ी हुई दीवारें गिर जाती हैं । कोई पराधीन जाति नहीं होती । न किसी को वर्ण या जातिभेद के कारण उच्च या निम्न समझा जाता है । प्रत्येक जाति को अपने आर्थिक साधनों को और अपने साहित्य तथा कला की परम्पराओं को विकसित करने में अधिक से अधिक सहायता दी जायेगी । राज्य का स्थान सार्वजनिक स्वशासन ग्रहण करेगा और समाज के विषयों, उसकी अर्थ व्यवस्था आदि को निर्देशित करने का समान अवसर सभी को प्राप्त होगा ।

बन्धुत्व का समाज

समाज के श्रमजीवियों में मौलिक रूप में नये, सच्चे, मानवीय, सद्‌भावपूर्ण, स्थापित वास्तविक बन्धुत्व सामूहिकता तथा बिरादराना पारस्परिक सहायता के सम्बन्ध होते हैं । इस नवीन समाज में एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का शत्रु नहीं वरन् मित्र, साथी और भाई होता है । इस में "व्यष्टि समष्टि के लिए और समष्टि

व्यष्टि के लिए" का सिद्धान्त क्रियान्वित होता है और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि समाजवादी समाज सार्वजनिक स्वामित्व पर आधारित होता है, जो लोगों को एकता के सूत्र में आबद्ध करता है, और सामाजिक जीवन की अत्यन्त भिन्न-भिन्न समस्याओं के समाधान में उनकी सुसंगत अन्योन्य क्रिया को सुनिश्चित बनाता है।

समाजवादी समाज का मानवतावाद केवल लोगों के बीच बिरादराना सम्बन्धों से ही नहीं, वरन् सभी राष्ट्रों की बन्धुत्वपूर्ण एकता और छोटे बड़े सभी राष्ट्रों के प्रति सम्मान की भावना से प्रकट होता है। समाजवाद राष्ट्रीय पृथकता और राष्ट्रों के मध्य शत्रुता की विचारधारा के प्रतिकूल है। समाजवाद श्रमजीवी जनता के मध्य मित्रता तथा भाईचारे की भावना को जन्म देता है और राष्ट्रीय और जातीय शत्रुता तथा श्रमिकों के मध्य फूट का दृढ़ विरोध करता है।

सुख का समाज

समाजवादी समाज में मनुष्य अपने को पूंजीवादी व्यवस्था से भिन्न स्थिति में पाता है। उसे यह अच्छी तरह ज्ञात है कि वह किस दिशा में अग्रसर हो रहा है और इससे उसे सुख प्राप्त होता है। वह इस कारण सुखी है कि उसके हित और उसकी आवश्यकतायें उसका सर्वतोमुखी विकास, और परिष्कार समाजवाद का मुख्य व एकमात्र ध्येय है। अपने तथा दूसरों के लिए काम करने, विश्व सांस्कृतिक निधि में अपना अधिकतम योगदान प्रस्तुत करने, अपने लिए उच्चादर्श निर्धारित करने और उसे प्राप्त करने की सम्भावना में भौतिक अभाव से मुक्त अपने भविष्य के विषय में विश्वास की भावना में, अपनी शारीरिक तथा मानसिक योग्यता के विकास की सम्भावना में, स्वस्थ तथा उत्साहपूर्ण रहने में, प्रकृति की तथा स्वयं अपनी शक्ति पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करने में, मनुष्य का सच्चा सुख निहित है।

समाजवादी जनता के सर्वावश्यक हितों तथा आकांक्षाओं की पूर्ति करता है। वह सच्ची मानवीय सामाजिक व्यवस्था है। इसी कारण अधिकाधिक लोगों के विचार और उनकी भावनायें समाजवाद की ओर आकर्षित होती जा रही हैं। यही मार्क्स द्वारा चित्रित साम्यवादी समाज का मनुष्य होगा और इसी में मानव जाति का उज्जवल भविष्य निहित है।

सारांश

इन सब बातों का अध्ययन एवं विचार करने के पश्चात् कुछ भ्रान्तियाँ भी मार्क्स के दर्शन में पायी जाती हैं। मार्क्स ने अपनी साम्यवादी समाज के स्वप्न के जगत में भटक कर उसकी स्थापना के निमित्त क्रान्ति का आह्वान करने में ही अधिक अभिरुचि प्रदर्शित की है। इस कार्यक्रम के निमित्त उसने जो क्रमबद्ध सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, उनमें अनेक भ्रान्तियाँ, असंगतियाँ तथा विरोधाभास बने रहे। इन अनेक कमियों को उसके अनुयायियों ने दूर करके मार्क्स के सिद्धान्तों को कार्यक्रम में परिणित किया और मार्क्स के दर्शन में उन्हें पर्याप्त परिवर्तन तथा संशोधन करने पड़े। मार्क्स ने सामाजिक विकास के क्रम में अनेक तत्वों के अस्तित्व को न मानने की भारी भूल की थी, यथा धर्म, राष्ट्रवाद, मनोवैज्ञानिक धारणायें आदि। फिर भी जैसा वेपर ने कहा है, "उसके सन्देश उसकी शिक्षाओं की प्रेरणा तथा भावी विकास क्रम में उसके प्रभाव के कारण मार्क्स निश्चित रूप से विश्व के महानतम राजनीतिक चिन्तकों की श्रेणी में आते हैं"।

फ्रेडरिक एंगेल्स (1820–1895)

फ्रेडरिक एंगेल्स का जन्म बार्मेन में 28 नवम्बर, सन् 1820 को हुआ था। वह एक धनी उद्योगपति के पुत्र थे और उनका पालन-पोषण अत्यन्त रूढ़िवादी एवं सनातनी धार्मिक वातावरण में हुआ था। बार्मेन में रियलशूले की पढ़ाई समाप्त करके वह एल्बरफेल्ड के जिमनाजियम में प्रविष्ट हुए, किन्तु अन्तिम परीक्षा से एक वर्ष पूर्व ही उन्होंने अपने पिता के व्यवसाय की देखभाल प्रारम्भ कर दी। एंगेल्स का जन्मस्थान और घर जो राईन प्रदेश में था, अपनी भौगोलिक स्थिति एवं कोयला और धातुओं की प्रचुर उपलब्धि के कारण औद्योगिक एवं राजनीतिक दृष्टि से जर्मनी का सबसे विकसित क्षेत्र था। फलतः जर्मनी के अन्य किसी भी क्षेत्र की तुलना में वहाँ पहले ही शक्तिशाली पूँजीवादी उद्योगों का और साथ ही पूँजीपति-वर्ग के आवश्यक सम्पूरक शक्तिशाली वर्ग का—सर्वहारा वर्ग का—उदय हो चुका था। उसी समय जर्मनी में दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में व्यापक क्रांति हो रही थी जिसका चरम-बिन्दु हीगेलवादी दर्शन था। एंगेल्स पर भी इस दार्शनिक नव-जागरण का गहरा प्रभाव पड़ा। युवावस्था में ही एंगेल्स हीगेलवाद के उत्साही समर्थक बन गये।

सर्वप्रथम बार्मेन और बाद में ब्रेमेन के व्यवसायगृहों में अपने कार्य से एंगेल्स ने अपने को एक अच्छा व्यवसायी सिद्ध कर दिया था। परन्तु उसका मन व्यव-

साथ में किंचित मात्र भी नहीं लगा। उन्होंने अपना सम्पूर्ण अतिरिक्त समय विज्ञान और दर्शन शास्त्र के अध्ययन में लगाया। अठारह वर्ष की आयु में अपने स्कूली मित्रों के लिये पत्रों में वह अपने निरर्थक व्यावसायिक प्रयासों का मजाक उड़ाते और साहित्य की आलोचना करते थे। किन्तु व्यवसाय के विषय में इन पत्रों में वह अपनी धार्मिक शंकाओं और अपने बाल्यकाल के ईश्वर में फिर आस्था प्राप्त करने की लालसा के सम्बन्ध में भी, संवेदन-शील भाषा में चर्चा करते थे। अन्ततोगत्वा उन्होंने अपनी धार्मिक बेड़ियाँ तोड़ दी और निश्चित रूप से हीगेलवादी दर्शन को अपना लिया।

अक्टूबर, सन् 1841 से अक्टूबर, सन् 1842 तक उन्होंने बर्लिन के रक्षक तोपखाने में कार्य किया और अपने कार्यालय में जैसे वह एक अच्छे व्यवसायी थे, उसी प्रकार बैरकों में भी एक अच्छे सैनिक सिद्ध हुए। उन्होंने सैन्य-विद्या का अध्ययन किया। बाद में तो वह उनके अध्ययन की प्रिय विषय-वस्तु बन गयी। उनकी युद्ध सम्बन्धी भविष्य-वाणियों एवं रुचि के कारण उनकी मित्र मण्डली उनको "जनरल" उपनाम से विभूषित करती थी।

सेना में कार्य की समाप्ति पर एंगेल्स वार्मेन वापस आये और अक्टूबर, सन् 1842 में "एर्मेन और एंगेल्स" नामक धागा बनाने वाले कारखाने के एजेंट के रूप में मैंचेस्टर पहुँचे। अपनी इस यात्रा के क्रम में वह कोलोन स्थित "राइनिशे साइटुंग" के सम्पादकीय कार्यालय में गये। यहां पर ही सर्वप्रथम वह मार्क्स से मिले। परन्तु यह भेंट अधिक प्रभावकारी सिद्ध नहीं हुई।

पूँजी-वाद की जन्मभूमि की औद्योगिक राजधानी मैनचेस्टर में पहुँचकर उन्होंने दर्शनशास्त्र के अतिरिक्त अर्थशास्त्र का भी अध्ययन करना प्रारम्भ किया। उन्हें अर्थशास्त्र और आर्थिक परिस्थितियों के प्रत्यक्ष अध्ययन का अनुपम अवसर मिला। वह इंगलैंड में इक्कीस महीने रहे और उन्होंने इस अवसर का सर्वाधिक सदुपयोग ही किया। एंगेल्स और मार्क्स के भावी जीवन के कर्मक्षेत्र के लिए यह प्रवास काल महत्वपूर्ण रहा। मालिकों और कर्मचारियों के सम्बन्धों का प्रत्यक्ष अध्ययन और पूर्णतः विकसित पुंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत श्रमजीवी वर्ग की वास्तविक विपन्न दशाओं को देखकर सर्वहारा आन्दोलन में उनकी रुचि तीव्रता से बढ़ी। अपनी दार्शनिक अन्तर्दृष्टि और प्रखर प्रतिभा के फलस्वरूप उन्होंने शीघ्र ही पूंजीवादी उत्पादन की वास्तविक प्रवृत्तियों एवं श्रमिकों की वर्तमान भूमिका और उनके महान् ऐतिहासिक भविष्य को समझा। डोइट्श-फ्रांसुएसिशे यारबूशेर

उन्होंने राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था की आलोचना प्रकाशित की। इसे मार्क्स ने देखकर अत्यधिक प्रशंसा की। इस लेख में माल्थस के जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्त, व्यापारिक संकटों, मजदूरी के नियमों, विज्ञान की प्रगति आदि के ऊपर उनके विचारों में वैज्ञानिक समाजवाद के काफी फलदायक बीज सन्निहित थे। इस समय तक एंगेल्स की अवस्था केवल 22 वर्ष की थी और वह श्रमिकों के जीवन की किसी कठिनाई से स्वयं परिचित नहीं थे और परिवार, शिक्षा एवं व्यवसाय से पूंजीपति वर्ग से आये थे, तत्कालीन इंग्लैंड के वर्गों और दलों का उन्होंने जो मूल्यांकन किया, वह रुचिकर और उल्लेखनीय है।

सन् 1844 में एंगेल्स जर्मनी वापस लौटने से पूर्व कुछ दिन पेरिस भी ठहरे। वहाँ ठहरने का उद्देश्य उनका मार्क्स से मिलना था। दार्शनिक और आर्थिक प्रश्नों पर दोनों के दृष्टिकोणों में इतना साम्य हो गया था कि दोनों ने तुरन्त साथ मिलकर एक पुस्तक "परिवार" प्रारम्भ की। यह कृति सन् 1844 में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के लिखने का उद्देश्य जनसाधारण के लिए परिकल्पनात्मक दर्शन की भ्रान्तियों का खण्डन करना था। यहीं से दोनों महान व्यक्तियों में परस्पर निष्ठापूर्वक मैत्री प्रारम्भ हुई। उनकी यह मैत्री दोनों के अन्तिम दिनों तक बनी रही।

सन् 1844 में एंगेल्स ने इंगलैंड से वापस आने पर इंगलैंड के श्रम-जीवी वर्गों की दशा जर्मन भाषा में प्रकाशित करायी। इस समय तक एंगेल्स की आयु 24 वर्ष की थी। इसी पुस्तक के द्वारा समाजवादी श्रमिक आन्दोलनको बल मिला। इसी समय से ट्रेड यूनियन आन्दोलन की सार्थकता और महत्व को समझ कर सक्रिय भाग भी लिया। इस बात पर भी जोर देना प्रारम्भ कर दिया कि समाजवाद का श्रमिकवर्ग के आन्दोलन का सजीव भाग बनाया जाये और उसमें चार्टिस्टों की क्रान्तिकारी भावना को अपनाया जाये। दूसरे शब्दों में समाजवाद को मूलतः सर्वहारा वर्ग का आन्दोलन बनना होगा और सर्वहारा वर्ग के आन्दोलन को समाजवादी बनना होगा, तभी श्रमजीवी वर्ग पूंजीवाद से मुक्ति पा सकता है।

जर्मन वापस आने पर मार्क्स के साथ पत्र व्यवहार हुआ। इन पत्रों में अपने आर्थिक और दार्शनिक सिद्धान्तों पर तत्काल पढ़ी और लिखी जा रही पुस्तकों, यूरोप की तत्कालीन सभी प्रमुख घटनाओं जैसे सन् 1857 के व्यावसायिक संकटों, क्रीमिया युद्ध, आस्ट्रिया के विरुद्ध फ्रांस की लड़ाई, अमेरिका के उत्तरी और दक्षिणी राज्यों के पारस्परिक युद्ध आदि पर विचार विमर्श करते हैं। उन्होंने

आपस में अमेरिका में श्रमजीवी वर्ग के आन्दोलनों और उनके नेताओं के विष
मे भी चर्चा की । विज्ञान के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अनुसंधानों में दोनों
गहरी रुचि रही । दोनों ने इसके सम्बन्ध मे पारस्परिक विचार-विमर्श भी किये

परन्तु एंगेल्स के परिवार के सदस्य एंगेल्स पर इस बात पर जोर देते
कि वह वाणिज्य को ही जीवनवृत्ति के रूप मे अपनाये और निश्चित रूप से
पिता के व्यवसाय में ही बना रहे । किन्तु युवा फ्रेडरिक की आत्मा का प्रत्ये
तन्तु इस सुन्दर भविष्य के विरुद्ध था । उसकी महत्वाकांक्षा बिलकुल दूसरी थी
अतः सन् 1845 में एंगेल्स ने अपना वणिक जीवन त्याग दिया। बार्मेन छो
दिया और ब्रूसेल्स चले आये । यह निर्णय इसलिए किया क्योंकि अपने परिवा
और मित्रों द्वारा उनके कार्यों में बाधा डाली जाने लगी थी । ब्रूसेल्स में मा
भी थे । अतः दोनो ने मिलकर समाजवाद की अपनी वैज्ञानिक प्रणाली का प्रति
पादन किया । इसके साथ ही तत्कालीन श्रमजीवी आन्दोलन मे वर्ग चेतना ला
और अपनी सैद्धान्तिक प्रणाली के आधार पर उसे संगठित करने के लिए
प्रयास किया । ब्रूसेल्स में ही एंगेल्स ने "जर्मन लेबर यूनियन" की स्थापना
और 'ड्यूत्चेन, ब्रूसेलेर साइटुंक' के संचालन मे अग्रणी भूमिका अदा की । इस
ही समाचार पत्र के माध्यम से उन्होने इंगलैंड के चार्टिस्ट आन्दोलन के क्रान्ति
कारी तत्वों तथा फ्रान्स के सामाजिक जनवादियो से निरन्तर घनिष्ठ सम्ब
बनाये रखा । इस समय तक फ्रेडरिक के 'लीग आफ दी जस्ट' के साथ भी सम्ब
हो गये । यही इनकी शिक्षाओं के भाव से इण्टरनेशनल कम्युनिस्ट लीग के रू
विकसित हुई ।

सन 1847 की ग्रीष्म ऋतु मे नवीन संविधान और कार्यक्रम स्वीकृत कर
के लिए लन्दन में लीग का सम्मेलन हुआ । एंगेल्स उसमे पेरिस समूह के प्रतिनि
के रूप में उपस्थित थे । उसी वर्ष नवम्बर महीने में अपने विचारों और स
का घोषणापत्र प्रकाशित करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए पुन सम्मेल
हुआ । मार्क्स एवं एंगेल्स द्वारा सुझाये गये प्रारूप पर दस दिनो तक पूर्णरू
विचार-विमर्श हुआ । अन्त मे उसे प्रकाशन के लिए तैयार करने का भार इन दोन
विभूतियों को सौंपा । साम्यवादी घोषणापत्र सन् 1848 मे प्रकाशित हुआ ।

साम्यवादी घोषणा पत्र प्रकाशित हो जाने के पश्चात एंगेल्स पेरिस
फिर वहाँ से जर्मनी गये । मई, सन् 1849 मे राइन प्रान्त के एक भाग मे वि

दक उठा। एंगेल्स शीघ्र ही घटना स्थल पर पहुँचा परन्तु यह द्रोह दबा दिया गया। नोये रीनशे साइटुग पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। कोलोन में कुछ दिनों तक छिपे रहने के पश्चात् एंगेल्स प्लाटिनेट गये। वहा बेडेन के साथ ही सम्पूर्ण जर्मन साम्राज्य के संविधान के लिए विद्रोह हुआ था। वहा वह सहायक के रूप मे एक स्वयंसेवक दल मे सम्मिलित हो गये। परन्तु वह विद्रोह भी विफल हो गया। जैसा की एंगेल्स ने लिखा है, यह विद्रोह भी खूनी वस्त्रो के साथ समाप्त हुआ। एंगेल्स विजित सेना के साथ अन्त तक रहे अर्थात् तब जब तक सम्पूर्ण आशायें धूमिल नहीं हो गयी। बाद मे वह स्विटजरलैंड चले गये। परन्तु स्विटजरलैंड उनके अनुकूल नही था। अतः वह लन्दन जा पहुंचे।

लन्दन में उन्होंने गहन व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक कार्य प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने सर्वप्रथम साम्यवादी लीग को पूर्ण बनाने और उसके संगठन को यथासम्भव विस्तृत करने के लिए प्रयास किये। इसी समय पिता के आग्रह पर सन् 1850 में मैन्चेस्टर मे एंगेल्स ने "ईर्मन एर्मन और एंगेल्स" की कपडा मिल मे लिपिक के रूप मे कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। वहाँ रहते हुए उसने व्यावसायिक कार्य के अतिरिक्त अपना अध्ययन, विशेषकर सैनिक इतिहास और विज्ञान का, जारी रखा। वह तुलनात्मक भाषा शास्त्र और प्राकृतिक विज्ञानों के अध्ययन मे भी लगे रहे। सन् 1859 मे इटालवी युद्ध के समय एंगेल्स ने "दि पो एण्ड दि राइन" नाम की पुस्तिका प्रकाशित की। इटालवी युद्ध समाप्ति पर उन्होंने एक अन्य पुस्तिका "सैवाय, नाइस एण्ड दि राइन" लिखी। इसी समय इण्टरनेशनल वर्किंगमेन्स एसोसियेशन की स्थापना मे भी सक्रिय सहयोग दिया।

मार्च, सन् 1860 के अन्त मे एंगेल्स के पिता की मृत्यु हो गयी। सितम्बर, सन् 1864 मे वह फर्म मे साझीदार हो गये। इससे उनके कार्यों में अधिक व्यस्तता एवं उत्तरदायित्व बढ गये। परन्तु आर्थिक समृद्धि में वृद्धि हो जाने से उन्होंने मार्क्स की मुक्तकण्ठ से आर्थिक सहायता की। एंगेल्स की इस सहायता से मार्क्स के लेखन कार्यों को आगे बढ़ने में सहायता मिली। मार्क्स ने एंगेल्स की सहायता, परामर्श एवं विचारो को अत्यधिक महत्व दिया जो कि उनके पत्रो के अनेक उद्धरणों से स्पष्ट होता है।

सन् 1868 के कुछ पूर्व एंगेल्स का एक आयरिश लड़की मेरी से सम्पर्क स्थापित हो गया और वह शीघ्र ही गहरी मित्रता में परिवर्तित हो गयी। वह

कई वर्षों तक पति पत्नी के रूप में रहे। वह कुशाग्र बुद्धि, सम्पन्न और प्रत्यु-
त्पन्नमति थी। वह एंगेल्स को अत्यधिक स्नेह करती थी। यकायक 6 जनवरी को
अकस्मात् मेरी का निधन हो गया। मेरी की मृत्यु एंगेल्स को भयंकर धक्का था।
सन् 1864 के अन्त मे मेरी की बहन लिज्जी एंगेल्स की पत्नी बन गयी। लिज्जी की
1878 मे मृत्यु तक पति पत्नी दोनों सुख से रहे। श्रीमती एंगेल्स अत्यन्त कुशाग्र
बुद्धि महिला थी। वह अपने पति के आदर्शों में विश्वास करती थी और अपने
जीवन के अन्तिम समय तक उत्साही फेनियन बनी रही। उनके कोई बच्चे
नहीं थे।

सन् 1868 के अन्त मे एंगेल्स ने कपास के व्यवसाय में जो एर्मेन के साथ
साझेदारी थी, समाप्त कर दी और अपनी पत्नी के साथ सन् 1870 में लन्दन
आ गये। लन्दन प्रवास काल मे बृहत् संख्या मे लेख एवं पुस्तिकायें लिखीं।
कुछ ऐतिहासिक दृष्टि से रुचिकर हैं और कुछ वर्तमान समस्याओं मे सम्बन्धित
है। सन् 1875 में उन्होने वीरवार्ट्स के वैज्ञानिक परिशिष्ट के रूप मे प्रसिद्ध
कृति ड्यूहरिंग मतखण्डन प्रकाशित की। इसके बाद का भाग समाजवा
काल्पनिक और वैज्ञानिक नाम से अलग प्रकाशित हुआ। इसके बाद
एंगेल्स ने अगणित पत्र, पुस्तिकायें और घोषणापत्र पर ही केन्द्रित किय
इसी समय सन् 1883 में मार्क्स की मृत्यु हो गयी। अब सारा कार्य एंगे
के कन्धों पर आ गया। इस समय एंगेल्स की आयु 63 की थी। म
की मृत्यु के पश्चात् सन् 1884 की गर्मियों मे एंगेल्स ने अपनी सर्वाधिक प्
"परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति" प्रकाशित की।
उनकी अन्तिम कृति है। उसके बाद कुछ अधूरे कार्य जो मार्क्स छोड गये थे, उन्हे
पूरा किया।

एंगेल्स सार्वजनिक वक्ता नही थे। समाजवादी जगत मे मार्क्स के पश्चात्
केवल एंगेल्स ही अकेले वैज्ञानिक समाजवाद के व्याख्याता थे। उन्होने ही ज्यूरिच
की कांग्रेस सन् 1893 में भाग लिया। उसके बाद वे वियना और बर्लिन की
कांग्रेस मे अन्तिम रूप मे सार्वजनिक मंच से बोले। इसी समय उनके गले का
कैंसर हो गया और 6 अगस्त, सन् 1895 को उनका निधन हो गया। अपनी
वसीयत मे एंगेल्स ने लिखा कि उनका दाहसंस्कार किया जाये और उनके
भस्मावशेषों को समुद्र मे डाल दिया जाये। यह दुःखद कार्य उनके इष्टमित्रो और
[illegible]नार मार्क्स ने किया। 27 अगस्त, सन् 1895 को उनकी भस्म समुद्र मे
[illegible]र दी गयी।

घोषणा पत्र का प्रथम भाग पूँजीपति वर्ग एव श्रमजीवी वर्ग से सम्बन्धित है और उसमें सक्षेप में बताया गया है कि किस प्रकार आधुनिक पूँजीपति वर्ग समाज की पूर्ववर्ती व्यवस्थाओं में विकसित हुआ है और कैसे विनिमय के और वस्तुओं में वृद्धि ने, नये देशों की खोज ने वाणिज्य, नौसंचालन और उद्योग को अभूतपूर्व प्रोत्साहन दिया और इस प्रकार तत्कालीन लड़खड़ाते सामन्ती समाज के क्रान्तिकारी तत्व का अत्यन्त तीव्र गति से विकास भी किया। द्वितीय भाग मे घोषणा पत्र समाजवादियो का सर्वहारा वर्ग से सम्बन्ध निरूपित करता है। समाजवादियो का सर्वहारा वर्ग से अलग कोई हित नही है। वे सब देशों में श्रमजीवी आन्दोलन के हिरावल दस्ता मात्र है। यही नही, साम्यवादियो द्वारा व्यक्त किये जाने वाले विचार किसी तथाकथित विश्व सुधारक द्वारा आविष्कार किये या खोज निकाले गये, विचार नहीं हैं। तृतीय भाग में सुधारवादी, प्रतिक्रियावादी और कल्पनावादी समाजवादियो की विभिन्न विचारधाराओं की बड़ी सटीक व्याख्या की गयी है।

इस प्रकार उन्होंने प्रमाणित किया कि निजी स्वामित्व तथा शोषण पर आधारित पूँजीवादी समाज का स्थान शोषण शून्य और उबरती दासता से मुक्त समाज ग्रहण करेगा, उसके स्थान पर कम्युनिष्ट समाज स्थापित होगा और यह कि मानव जाति महान् साम्यवादी क्रान्ति की ओर गतिमान है। इस घोषणा पत्र द्वारा काल्पनिक समाजवाद का अन्त तथा वैज्ञानिक समाजवाद के समारम्भ का द्योतक था। जैसा कि सन् 1888 के सस्करण की भूमिका मे एंगेल्स ने बताया कि घोषणा पत्र निःसन्देह समाजवादी साहित्य में सबसे अधिक प्रचारित और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रकाशित होने वाली पुस्तक थी।

पूंजीवादी और सर्वहारा जनतन्त्र

पेरिस मे रहते हुए सन् 1848 मे क्रान्तिकारियो की भ्रान्ति के विरुद्ध व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक रूप से एगेल्स ने संघर्ष किया। सन् 1848 के अधिकाश क्रान्तिकारियो का विचार था कि नागरिक एव राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना ही सब कुछ है। इसकी प्राप्ति के पश्चात् लोगो की बेड़ियाँ स्वतः टूट जायेंगी और तब लोग शान्ति और समृद्धि का जीवन व्यतीत करेंगे। यह कहने की आवश्यकता नही है कि राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति और प्रति-क्रिया को उखाड़ फेंकने पर मार्क्स की ही भांति एगेल्स ने सशक्त कार्यवाई पर जोर दिया। किन्तु इसका उद्देश्य श्रमिकों के पूजीवादी आधिपत्य से मुक्ति के

वास्तविक संघर्ष के लिए पृष्ठभूमि तैयार करना था। एंगेल्स यह भलीभांति समझते थे कि जनतन्त्र के सिद्धान्त साम्यवाद की प्रगति से ही साकार हो सकते हैं।

एंगेल्स ने कहा है किसी भी अन्य प्रकार का जनतन्त्र साम्यवादी नहीं, केवल ख्याली पुलाव पकाने वाले सिद्धान्तकारों के मस्तिष्क में ही रह सकता है जो यथार्थ की चिन्ता नहीं करते और जिनके अनुसार व्यक्ति एवं परिस्थितियां सिद्धान्तों का विकास नहीं करतीं, वरन् सिद्धान्त अपने आप विकसित होते हैं। जनतन्त्र सर्वहारा वर्ग का एक सिद्धान्त बन गया है, जब तक जनतान्त्रिक प्रगति के विरुद्ध शासक वर्ग द्वारा प्रयोग की जाने वाली शक्ति को समाप्त नहीं किया जाता तब तक जनतान्त्रिक प्रगति की सुनिश्चितता नहीं हो सकती।

एंगेल्स ने इस बात पर जोर दिया है कि व्यापक मताधिकार श्रमिक वर्ग की प्रौढ़ता का मानदण्ड है। जिस दिन व्यापक मताधिकार का थर्मामीटर यह सूचना देगा कि श्रमिकों में उबाल आने वाला है, उस दिन मजदूर तथा पूंजीपति दोनों जान जायेंगे कि उन्हें क्या करना है। दूसरे शब्दों में व्यापक मताधिकार श्रमिक वर्ग की बढ़ती हुई शक्ति का सूचक है। यह इस तथ्य का सूचक है कि शासक वर्ग अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए वास्तविक सत्ता अपने हाथों में रख कर जन-साधारण को सत्ता का मात्र आभास देते हैं। किन्तु जब श्रमजीवी वर्ग या उसका वर्ग चेतन भाग वास्तव में इस सत्ता का प्रयोग करने के लिए तैयार होगा, तब वह प्रयोग के योग्य रहेगी या नहीं। इसका उल्लेख एंगेल्स ने आदिम साम्यवाद से समाज की प्रगति में दासता की उपयोगी एवं आवश्यक भूमिका की चर्चा की और उसके बाद बताया कि कालचक्र स्थिर नहीं रहता। उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका सर्वहारा के जनतन्त्र में की।

समाजवाद का वैज्ञानिक आधार

एंगेल्स ने सन् 1875 में "समाजवाद—काल्पनिक और वैज्ञानिक" नाम से पुस्तक प्रकाशित की। उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में जर्मन सामाजिक जनवाद की प्रगति और सफलता ने पूंजीपति वर्ग के असन्तुष्ट और उदारवादी अंग के अधिकाधिक सदस्यों को अपनी ओर आकर्षित करना प्रारम्भ कर दिया था। समाजवादी और श्रमिक संगठनों में मध्यम और उच्च वर्गों के सदस्यों को लाने के प्रति कोई आपत्ति नहीं होती बशर्ते कि इन सदस्यों ने विचार एवं आदर्श की अपनी वर्ग-पद्धति से स्वयं को पूर्णतया मुक्त कर लिया होता। किन्तु

समाजवादी शिविर की ओर पूंजीपतियों की भगदड़ किसी भी प्रकार इस नियम के अनुकूल नहीं थी। इसके विपरीत नये पूंजीवादी तत्वों ने तत्कालीन समाजवादी आन्दोलन का सर्वहारा चरित्र समाप्त करने का तथा मध्यम वर्गों के लिए उसे ग्राह्य बनाने या समाजवाद को सम्माननीय बनाने का प्रयास किया।

इन नये पूंजीवादी नेताओं में यूजिन ड्यूहरिंग एक अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उन्होंने दल के युवा लोगों को विशेष रूप से प्रभावित करना प्रारम्भ कर दिया था। निस्सन्देह वह अत्यन्त गुणी व्यक्ति थे। उन्होंने अपने प्रारम्भिक जीवन में अनेक बड़ी कठिनाइयों पर नियन्त्रण पाया था। उन्होंने अनेक विषयों पर लिखा था और उनके विषय में उन्हें जानकारी थी, किंतु उनमें गहराई की कमी थी। सबसे प्रमुख एवं विशेष बात यह थी कि उनके पास कोई ऐक्यबद्ध करने वाला सिद्धान्त नहीं था तथा ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के पारस्परिक सम्बन्धों से सम्बन्धित इस कोई मूल अवधारणा नहीं थी।

एंगेल्स ने विश्वकोश सदृश ज्ञान और द्वन्दात्मक प्रणाली के अतुलनीय अधिकार के साथ उनके विषयों में ड्यूहरिंग का पीछा किया जिन पर ड्यूहरिंग ने लेखनी उठायी थी। एंगेल्स ने ड्यूहरिंग के विचारों का न केवल खण्डन किया वरन् सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि उन्होंने एक स्थायी मूल्य की कृति की रचना की जो वैज्ञानिक साम्यवाद की प्रतिभापूर्ण विवेचना से परिपूर्ण थी। उन्होंने सम्पूर्ण आधुनिक विज्ञान पर भौतिकवादी दृष्टिकोण से लिखा। सामाजिक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप उत्पन्न व्यावहारिक प्रश्नों की उनकी विवेचना आज भी मार्गदर्शन के रूप में उतनी ही मूल्यवान है, जितनी पुस्तक लिखी जाने के समय थीं।

सर्वप्रथम वह ऐतिहासिक भौतिक-वाद के स्रोतों के विषय में सूक्ष्म अन्वेषण करते हैं। वह द्वन्दात्मक अन्वेषण प्रणाली की विवेचना करते हैं और विज्ञान एवं दर्शन शास्त्र में उसको समुचित स्थान दिया। एंगेल्स ने स्वयं स्पष्ट किया है कि दूसरी ओर द्वन्दवाद वस्तुओं और उनके प्रतिरूपों को उनके मूलभूत सम्बन्धों तथा श्रृंखलाक्रमों को, उनकी गति को, और उनके आदि और अन्त को ध्यान में रखते हुए ग्रहण करता है। अतः द्वन्दवाद की अपनी कार्य पद्धति की प्रामाणिकता की पुष्टि होती है। प्रकृति द्वन्दवाद की कसौटी है।

अतः विश्व की, उसके विकास की, मनुष्य जाति के विकास की तथा मनुष्यों के मन में इस विकास के प्रतिबिम्ब की सच्ची अवधारणा केवल द्वन्द-

वाद की पद्धतियों के द्वारा ही की जा सकती है जो निर्माण और निर्वाण
उन्नत और अवनत परिवर्तनों की, असंख्य क्रियाओं प्रतिक्रियाओं को निरन्
ध्यान में रखती है। वस्तुतः द्वन्दवाद प्रकृति, मानव समाज तथा चिन्तन
गति एवं सामान्य नियमों के विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह उ
छद्म समाजवादियों को पूरे तिरस्कार के साथ फटकारते हैं जो, नैतिकता, स
और न्याय के शाश्वत नियमों में विश्वास रखने तथा उनके अनुसार आचर
करने को हमें बाध्य करते है।

अतः जब इस बहाने से कि नैतिक जगत के भी अपने कुछ स्थायी सिद्धा
होते है, जिन पर इतिहास का तथा राष्ट्रों के बीच पाये जाने वाले भेदों
कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जब इस बहाने से नैतिकता सम्बन्धी किसी भी रू
को एक शाश्वत रूप एवं सदा-सर्वदा के लिए अपरिवर्तनीय नैतिक नियम के
में, हम पर लादने का कोई भी प्रयास किया जाता है तो हम उसका विरो
करते हैं। इसके विपरीत हमारा कहना है कि अभी तक नैतिकता के स
सिद्धान्त अन्तिम विश्लेषण में, समाज की तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों
उपज सिद्ध हुए हैं।

और चूंकि अभी तक समाज वर्ग-विग्रहों के भीतर विचरण करता रहा
इसलिए नैतिकता सदा वर्गीय नैतिकता रही है। उसके द्वारा या तो शोषक
के प्रभुत्व तथा हितों का औचित्य सिद्ध किया गया है, या जब से उत्पीि
वर्ग काफी शक्तिशाली हो गया है, वह इस प्रभुत्व के विरुद्ध उत्पीड़ित वर्ग
क्रोध तथा उसके भावी हितों का प्रतिनिधित्व करने लगी है।

या फिर अभाव और विलास, भूख और अतृप्ति के उग्र व्यतिरेकों वाली,
की पैदावार के वितरण की वर्तमान प्रणाली के निकट भविष्य में समाप्त हो ज
की यदि हमारे पास इस चेतना से अच्छी और कोई सुरक्षा नहीं है कि
वितरण प्रणाली, न्याय विरुद्ध है तथा अन्त में न्याय की विजय होनी चाहि
तो हमारी स्थिति पतली नजर आयेगी और सम्भव है कि हमें बहुत लम्बे सम
तक प्रतीक्षा करनी पड़े।

दूसरे शब्दों में इसका कारण यह है कि आधुनिक पूंजीवादी उत्पा
प्रणाली ने जिन उत्पादक शक्तियों को जन्म दिया है और इसने उत्पादित वस्
के वितरण की जो प्रणाली स्थापित की है, वे दोनों स्वयं उत्पादन प्रणाली
बुरी तरह टकरा रही है और सच पूछिये तो उत्पादन प्रणाली के साथ इन दो

का विरोध इतना अधिक बढ़ गया है कि यदि समस्त आधुनिक समाज को नष्ट नहीं हो जाना है तो उत्पादन तथा वितरण की प्रणाली में एक क्रान्ति को होना नितान्त आवश्यक है और यह क्रान्ति ऐसी होनी चाहिए जो समस्त वर्ग विभेदों का अन्त कर दे। आधुनिक समाजवाद को अपनी विजय में जो विश्वास है, वह कुर्सी तोड़ दार्शनिकों की न्याय तथा अन्याय की किन्हीं अवधारणाओं पर आधारित नहीं है, वरन् वह इस ठोस तथा भौतिक तथ्य पर आधारित है कि न्यूनाधिक स्पष्टरूप में, किन्तु दुर्लंघ्य अपरिहार्यता के साथ वह शोषित सर्वहारा के मानस पटल पर अंकित होता जा रहा है।

इन तर्कों का खण्डन करते हुए कि वर्गीय पराधीनता की दिशा को राजनीतिक स्थितियों में ढूँढना चाहिए और वर्ग विभेद का प्राथमिक कारण राजनीतिक शक्ति है तथा आर्थिक स्थितियां गौण कारण मात्र है। एंगेल्स ने बताया कि आदिम जागरण में निजी सम्पत्ति का उद्‌भव कैसे हुआ। उसका उद्‌भव बलात् डकैती के कारण ही सर्वथा नहीं हुआ, वरन् प्रारम्भिक आदिम जन समुदायों में कतिपय चीजों के सीमित होने के कारण हुआ। चीजों की सीमितता के कारण विनिमय की आवश्यकता और उपभोग के बदले विनिमय के लिए सामानों के उत्पादन का जन्म हुआ।

फलतः वितरण की पद्धतियों में भी परिवर्तन हुआ और व्यक्तियों की सम्पत्तियों में विषमता उत्पन्न हो गयी। बाह्य हिंसक निरंकुशता के होते हुए भी आदिम साम्यवाद शताब्दियों तक बना रहा, किन्तु बड़े उद्योग के उत्पादनों की प्रतिद्वन्दिता ने उसे अपेक्षाकृत अल्पसमय में समाप्त कर दिया।

जहाँ तक पूंजीवादी क्रान्ति का प्रश्न है उसने सम्पूर्ण सामन्ती बेड़ियों को तोड़ दिया। पूंजीवाद ने ऐसी राजनीतिक स्थिति पैदा की और कार्य सम्पन्न किया जिनमे नयी आर्थिक परिस्थिति अस्तित्व में आयी और विकसित हुई। इस राजनीतिक तथा कानूनी व्यवस्था के अन्तर्गत जो नयी आर्थिक परिस्थिति में तीव्र गति के साथ विकास हुआ और शीघ्र ही पूँजीवाद सामाजिक दृष्टि से अनावश्यक बनता गया और आगे चल कर सामाजिक बाधा का रूप धारण किया। उत्पादक क्रियाशीलता से उसका अधिकाधिक सम्बन्ध विच्छेद होता गया और अतीत के सामन्ती वर्ग की भाँति, वह भी अधिकाधिक एक ऐसा वर्ग बनता गया जो केवल अपनी जेब ही भरता रहा। अपनी स्थिति में यह क्रान्तिकारी परिवर्तन था। एक नयी वर्ग सर्वहारा वर्ग का सृजन हुआ और यह कार्य विशुद्ध आर्थिक

ढंग से सम्पन्न हुआ। इस प्रकार यह अनिवार्य है कि जैसे आर्थिक परिस्थितियाँ समाजवाद के लिए परिपक्व हों, वैसे-वैसे मजदूरों की पूँजीवादी मनोवृत्ति समाजवादी मनोवृत्ति में परिवर्तित हो। अत. पूँजीपतियों के वर्ग और श्रमिकों के वर्ग के मध्य एक मौलिक अन्तर्विरोध है। इसी से वैज्ञानिक समाजवाद मुख्यतः सर्वहारा का ही आह्वान करता है।

सर्वहारा वर्ग ही सार्वजनिक सत्ता पर अधिकार कर लेता है और उसके द्वारा उत्पादन के उन समाजीकृत माध्यमों को सार्वजनिक सम्पत्ति में परिवर्तित कर देता है। उत्पादन के साधनों ने अभी तक पूँजी का जो स्वरूप ग्रहण कर रखा था, उसे अपने इस कार्य द्वारा सर्वहारा वर्ग नष्ट कर देता है और उनके सामाजिक स्वरूप के विकास को पूर्णतः मुक्त कर देता है। पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार सामाजिक उत्पादन सम्भव हो जाता है। उत्पादन का विकास समाज के विभिन्न वर्गों के अस्तित्व को कालातीत बना देता है। जैसे-जैसे सामाजिक उत्पादन से अराजकता ओझल होती जाती है, वैसे वैसे राज्य का राजनीतिक प्रभुत्व भी समाप्त हो जाता है। मनुष्य अन्ततः सामाजिक संगठन की अपनी पद्धति का स्वामी बन जाता है, इसके साथ ही वह प्रकृति का शासक और स्वयं अपना स्वामी बन जाता है, अर्थात् स्वतन्त्र हो जाता है।

सर्वव्यापी मुक्ति के इस कार्य को पूरा करना सर्वहारा वर्ग का ऐतिहासिक कर्तव्य है।

परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार

मार्गन के शोध कार्य की खाइयों को भर कर गण और परिवार के विकास सम्बन्धी "प्राचीन समाज" की प्रचुर सामग्री के आधार पर कार्य करते हुए और उसका इतिहास के भौतिकवादी दृष्टिकोण से विश्लेषण करते हुए एंगेल्स ने प्रारम्भिक यूथविवाह से समाज के आर्थिक विकास के अनुकूल विभिन्न चरणों का उल्लेख करते हुए वर्तमान एक-निष्ठ विवाह के रूप में परिवार के विकास तक की रूपरेखा प्रस्तुत की।

समय एवं शासक वर्ग की सुविधा द्वारा प्रतिष्ठित समाज की प्रत्येक अन्य संस्था की भाँति ही परिवार का वर्तमान रूप दैव-विहित या समाज के हमारे विशिष्ट स्वरूप से बिना किसी सम्बन्ध के यौन सम्बन्ध का अत्यन्त स्वाभाविक रूप समझा गया।

तथापि प्रत्येक अन्य सामाजिक संस्थान की भांति परिवार का वस्तुतः एक लम्बा इतिहास है और समाज के विकास एवं निजी सम्पत्ति की वृद्धि के अनुरूप परिवार विकसित हुआ। जंगलीपन की अवस्था के अनुरूप परिवार का प्रारम्भिक रूप ग्रुप विवाहों का था।

जैसे-जैसे समाज बर्बरता की ओर बढ़ा, हम युग्म परिवार की ओर बढ़े, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की एक प्रधान पत्नी होती थी और पत्नी के लिए वह आदमी उसका प्रधान पति होता था। निकट सम्बन्धियों के मध्य विवाह को अधिकाधिक निषिद्ध कर दिया गया था। जब तक समाज कबीलों के रूप में सगठित रहा, आधुनिक अर्थ में परिवार नहीं था।

इसके विपरीत परिवार का साम्यवादी रूप पाया जाता था जिसमें अधिकतर सब औरतों पर एक ही कबीले का आधिपत्य होता था, यद्यपि पति विभिन्न कबीलों के होते थे। इन परिवारों में औरतों ने स्वभावतः अपनी भूमिका अदा की। वे पुरुष की दासी कतई नहीं थीं। घर में प्रायः नारी पक्ष शासन करता था। .... सामान सबका सामूहिक होता था, परन्तु यदि कोई अभागा पति या प्रेमी इतना अयोग्य होता था कि वह अपने भाग का कार्य नहीं कर पाता था, तो उसे कठिनाई का सामना करना पड़ता था। उसके चाहे कितने ही बच्चे हों और घर मे उसका चाहे कितना ही सामान हो, उसे किसी भी समय बोरिया बिस्तर उठाने का नोटिस मिल सकता था। एक बार ऐसा आदेश मिलने पर आदेश का पालन न करना, उसके लिए हानिप्रद हो सकता था। घर मे ठहरना उसके लिए असम्भव हो जाता था .. .। उसे अपने कबीले में लौट जाना पड़ता था या जैसा कि बहुधा होता था किसी और गण मे जाकर उसे एक नया वैवाहिक सम्बन्ध करने का प्रयत्न करना पड़ता था। अन्य स्थानो की भांति कबीलों मे मुख्य शक्ति स्त्रियों की होती थी। आवश्यकता होती थी तो वे गण के प्रमुख को उसके पद से हटा कर साधारण योद्धाओं की पांत में वापस भेज देने मे या उसके मस्तक के सीग को तोड़ फेंकने मे नही हिचकिचाती थी। किन्तु इस स्थिति को धन और निजी सम्पत्ति की वृद्धि ने सब कुछ बदल दिया। निजी सम्पत्ति बढने के साथ ही उत्तराधिकार के नियम बदल गये। पितृसत्तात्मक नियम विकसित हुआ। इस प्रकार परिवार विशेष को अधिक शक्ति प्राप्त हुई और उत्पादन के साधन जैसे-जैसे विकसित हुए दासता का प्रचलन हुआ। परिवार सर्वप्रथम पितृसत्तात्मक रूप में विकसित हुए तथा बाद मे वे आज से अधिक व्यक्तिगत रूप मे काफी प्रचलित हो गया। गण संस्थान तब तक लगातार कमजोर होते गये, जब तक कि

वर्तमान समाज के आदिम रूप का उदय नहीं हुआ अर्थात् ऐसे समाज का जिसमे स्वामी वर्ग स्वामित्व विहीन वर्गों का शोषण पर जीवित रहते हैं। भले ही इनका समाज में स्थान दैहिक दास, कृषक दास या मजदूरी पाने वाले दास का है।

इस प्रकार इन सब परिवर्तनों में निजी सम्पत्ति सचालक शक्ति थी।

स्त्रियों की स्थिति सम्बन्धी विचार

समाज का सामाजिक जीवन अब नवीन उद्योगों में होता है। अब तक जो आदमी निर्वाह के साधन में लगा था, वह जानवरों के झुण्डों, जमीन जोतने के औजारों और बाद में दासों का भी स्वामी हो गया। इस प्रकार इस तथ्य के कारण कि परिवार अब सामाजिक प्रकार्य नहीं रहा वरन निजी प्रकार्य बन गया। समाज में पुरुष ने प्रथम और स्त्री ने द्वितीय स्थान ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया।

उसी समय अपने बच्चो का उत्तराधिकार पक्का करने के लिए मनुष्य ने नयी सत्ता का प्रयोग मातृपक्ष से पितृपक्ष की ओर करने के लिए निश्चित रूप से किया। इस प्रकार परिवार और समाज में उसने अपनी स्थिति सुदृढ कर ली। किसी युग विशेष में समाज में प्रतिवर्ग की भांति ही औरत की स्थिति का मनुष्य के प्रति उसकी स्थिति तथा कथित हीनता से कोई सम्बन्ध नहीं है। वरन् यह निर्वाह के साधन प्राप्त करने की पद्धति के ऐतिहासिक विकास और निजी सम्पत्ति के कारण है। स्त्री सम्बन्धी प्रश्न की चर्चा मे एंगेल्स ने कहा है, "केवल बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योगों ने ही स्त्रियो के लिए सामाजिक उत्पादन के द्वार फिर खोले है। अब भी स्थिति यह है कि जब नारी अपने परिवार की सेवा करती है तो उसे सार्वजनिक उत्पादन के बाहर रहना पड़ता है और वह कुछ अर्जित नही कर सकती। जब वह सार्वजनिक उद्योग मे भाग लेना और स्वतन्त्र रूप से अपनी जीविका अर्जित करना चाहती है, तो वह अपने परिवार के प्रति अपना कर्तव्य पूरा नहीं कर पाती और जो बात कारखाने मे काम करने वाली स्त्री के लिए सत्य है। वह डाक्टरी या वकालत करने वाली स्त्री के लिए भी अर्थात् सभी प्रकार के पेशो मे काम करने वाली स्त्रियों के लिए सत्य है।

"आधुनिक एकनिष्ठ विवाह परिवार, नारी की खुली या छिपी हुई घरेलू दासता पर आधारित है और आधुनिक समाज एकनिष्ठ विवाह वाले परिवारों

के अणुओं से मिलकर बना है। आज अधिकतर परिवारों में, कम से कम सम्पत्तिवान वर्गों में, पुरुषों को जीविका कमानी पड़ती है और परिवार का पालन-पोषण करना पड़ता है। फलतः परिवार के अन्दर उसका आधिपत्य स्थापित हो जाता है और उसके लिए किसी कानूनी विशेषाधिकार की आवश्यकता नहीं पड़ती। परिवार में पति पूँजीपति होता है, पत्नी सर्वहारा की स्थिति में होती है।.... यह स्पष्ट होगा कि स्त्रियों की मुक्ति की पहली शर्त यह है कि पूरी नारी जाति फिर से सार्वजनिक उद्योग में प्रवेश करे और इसके लिए यह आवश्यक है कि एकनिष्ठ विवाह परिवार समाज की आर्थिक इकाई न रहे।...

अब हम एक ऐसी सामाजिक क्रान्ति की ओर अग्रसर हो रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप एकनिष्ठ विवाह का वर्तमान आर्थिक आधार उतने ही निश्चित रूप से मिट जायगा, जितनी निश्चितता से उसकी पूरक वेश्यावृत्ति का आर्थिक आधार मिटेगा। एकनिष्ठ विवाह की प्रथा एक व्यक्ति के और वह भी एक पुरुष के हाथों में बहुत साधन एकत्र हो जाने के कारण तथा उसकी इस इच्छा के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थी कि अपने मरने के पश्चात् वह यह धन किसी दूसरे को न देकर केवल अपनी सन्तान को दे जाना चाहता था। इस उद्देश्य के लिए आवश्यक था कि स्त्री एक निष्ठ रहे, परन्तु पुरुष के लिए यह आवश्यक नहीं था।... किन्तु आने वाली सामाजिक क्रान्ति अचलधन सम्पदा के अधिकतर भाग को अर्थात् उत्पादन के साधनों को सामाजिक सम्पत्ति बना देगी और ऐसा करके अपने सम्पत्ति को बच्चों के लिए छोड़ जाने की इस सारी चिन्ता को एकदम समाप्त कर देगी।"

इस प्रश्न के विषय में कि अस्तित्व के आर्थिक कारण के समाप्त होने के पश्चात् क्या एकनिष्ठ विवाह बचा रहेगा एंगेल्स ने भविष्य-वाणी करने तथा स्वयं अनुमान लगाने से मना किया। वह केवल यह बताता है कि साम्यवाद स्थापित होने के साथ वेश्यावृत्ति निश्चित रूप से समाप्त हो जायगी क्योंकि उसके लिए कोई आर्थिक कारण नहीं रह जायगा। अगर स्त्री के लिए एकनिष्ठ विवाह बना रहे तो इतिहास में पहली बार यह पुरुष के लिए भी समान रूप से अनिवार्य हो जायेगा।

सम्पूर्ण अपव्यय और क्षुद्रता सहित वर्तमान व्यक्तिगत परिवार निश्चित रूप से लुप्त हो जायगा और बच्चे वैध हों या अवैध राज्य की अधिकाधिक देखरेख में रहेंगे। व्यक्तिगत यौन प्रेम यथार्थ जीवन में और इतिहास में यह स्थिति प्राप्त

होगा; व्यक्तिगत प्रेम ही एक मात्र [illegible] कारण होगा जो [illegible] [illegible] एक [illegible] करने के लिए और एक दूसरे के प्रति स्वच्छ होने के लिए [illegible]। इसलिए [illegible] ठीक किस प्रकार से अपने जीवन को [illegible] और इस सम्बन्ध में एंगेल्स ने कहा है "[illegible] तब स्पष्ट निश्चित होगा जब एक नयी पीढ़ी जन्म ले चुकी होगी। ऐसे पुरुषों की पीढ़ी जिन्हें जीवन भर कभी किसी नारी की देह को पैसा देकर या सामाजिक शक्ति के किसी अन्य साधन के द्वारा खरीदने का अवसर नहीं मिला है और ऐसी नारियों की पीढ़ी जिन्हें कभी सच्चे प्रेम के अतिरिक्त और किसी कारण से किसी पुरुष को अपनी देह देने के लिए विवश नहीं होना पड़ा है जिन्हें आर्थिक परिणामों के भय से अपने आपको अपने प्रेमी को देने में कभी हिचकिचाहट नहीं हुई है। एक बार जब ऐसे स्त्री पुरुष इस संसार में जन्म ले लेंगे, तब वे इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं करेंगे कि आज हमारी राय में उन्हें क्या करना चाहिए। वे स्वयं निश्चित करेंगे कि उन्हें क्या करना चाहिए और उसके अनुसार वे स्वयं ही प्रत्येक व्यक्ति के आचरण के विषय में जनमत का निर्माण करेंगे बस समस्या समाप्त हो जायेगी।

इस प्रकार धन और उत्पादनों के साधनों पर निजी स्वामित्व अपने सहगामी वर्ग और नारी दासता के सहित धन के संचय का आवश्यक परिणाम था और वह अपने विनाश के जीवाणु छिपाये हुए है। निजी सम्पत्ति और वर्ग आधिपत्य इनके सामने आने वाली समस्याओं का सामना नहीं कर सकते। हमारे आधुनिक औद्योगिक जीवन के सारे तथ्य उत्पादन और विनिमय के साधनों के निजी स्वामित्व की कब्र खोदते और उसे गहरा करते रहे हैं। अत समस्त वर्ग और यौन आधिपत्य की समाप्ति को अपरिहार्य बनाते रहे हैं।

राज्य सम्बन्धी विचार

एंगेल्स का कहना है कि वस्तु उत्पादन, वितरण और विनिमय ने नवीन सामाजिक एवं राजनीतिक रूपों को आवश्यक बना दिया। गण अब उत्पादन की नयी पद्धतियों के अनुकूल नहीं रह गये। वे समाज के अन्दर व्यवस्था बनाये रखने या नयी उत्पादक शक्तियों के विकास को सुगम बनाने में सक्षम नहीं थे। वस्तु उत्पादन और वर्ग आधिपत्य पर आधारित समाज के अन्तर्गत ऋणी, ऋणदाता और सामाजिक संगठनों की समस्त पेचीदगियों के नियमन में भी वे सक्षम नहीं रहे। अतः राज्य का उदय हुआ। अब भी राज्य देवत्व युक्त और बिलकुल स्थायी समझा जाता है।

हैं जिन्होंने बिना राजसत्ता के अपना कार्य चलाया, और उनमें राजसत्ता और राजशक्ति का विचार तक नहीं पाया जाता था। आर्थिक विकास की एक निश्चित अवस्था में, समाज आवश्यक रूप से वर्गों में बंट गया और इस विभाजन के कारण राजसत्ता का होना आवश्यक हो गया। अब हम तेजी से उत्पादन के विकास की उस अवस्था की ओर बढ़ रहे हैं जिसमें इन वर्गों का जिन्दा रहना केवल आवश्यक नहीं रहेगा वरन् उत्पादन के लिए एक बड़ी भारी बाधा बन जायेगा, तब इन वर्गों का उतने ही अवश्यम्भावी ढंग से विनाश हो जायेगा जितने अवश्यम्भावी ढंग से अपनी प्रथम पूर्वावस्था में उनका जन्म हुआ था। उनके साथ साथ राजसत्ता भी अनिवार्य रूप से मिट जायेगी, जो समाज के उत्पादकों के स्वतन्त्र तथा समान सहयोग की भित्ति पर उत्पादन का संगठन करेगा, वह समाज के पूरे यन्त्र को उठा कर उस स्थान में रख देगा जो उस समय उसके सबसे उपयुक्त होगा, अर्थात् राजसत्ता को वह हाथ के चर्खे और काँसे की कुल्हाड़ी के साथ-साथ प्राचीन वस्तुओं के अजायब घर में रख देगा।

एंगेल्स ने अपने राजसत्ता सम्बन्धी विचार "समाजवाद काल्पनिक और वैज्ञानिक" में भी इस प्रकार व्यक्त किये है :—

सर्वहारा राजसत्ता पर अधिकार कर लेता है और सर्वप्रथम उत्पादन के साधनों को राजकीय सम्पत्ति में बदल देता है। परन्तु ऐसा करके वह सर्वहारा के रूप में स्वयं अपने आपको समाप्त कर देता है। सम्पूर्ण वर्ग-भेदों और वर्ग विग्रहों को मिटा देता है। राज्य के रूप में राज्य का भी अन्त कर देता है। अभी तक वर्ग विरोधों पर आधारित समाज को राज्य की आवश्यकता होती थी, अर्थात् उसे उस विशिष्ट वर्ग के संगठन की आवश्यकता होती थी जो प्रत्येक अलग-अलग काल में शोषक वर्ग होता था। प्राचीन काल में दासों के स्वामी नागरिकों का राज्य था। मध्य युग में सामान्तवादी प्रभुओं का राज्य था और हमारे अपने युग में पूँजीपति वर्ग का राज्य है। अन्त में जब राज्य पूरे समाज का सच्चा प्रतिनिधि बन जाता है तब वह अपने आपको अनावश्यक बना देता है। जब ऐसा कोई वर्ग नहीं रह जाता जिसे पराधीन बना कर रखने की आवश्यकता हो तब वर्ग शासन और उत्पादन की वर्तमान अराजकता पर आधारित व्यक्तिगत जीवन-संग्राम, और उनसे उत्पन्न होने वाली टक्करें और अत्याचार समाप्त हो जाते हैं। तब ऐसी कोई वस्तु नहीं बचती जिसको दबाकर रखना आवश्यक हो और तब एक विशेष दमनकारी शक्ति की, या राज्य की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

प्रथम कार्य जिसके द्वारा राज्य अपने आपको सचमुच पूरे समाज का प्रतिनिधि बना देता है अर्थात् समाज के नाम पर उत्पादन के साधनों को अपने अधिकार में ले लेना यह साथ ही राज्य के रूप में उसका अन्तिम स्वतन्त्र कार्य होता है। एक क्षेत्र के बाद दूसरे क्षेत्र में सामाजिक सम्बन्धों में राज्य का हस्तक्षेप अनावश्यक बनता जाता है और फिर अपने आप समाप्त हो जाता है। व्यक्तियों के शासन को स्थान वस्तुओं का प्रबन्ध तथा उत्पादन की प्रक्रियाओं का संचालन ग्रहण कर लेता है। राज्य का उन्मूलन नहीं किया जाता, वह अपने आप मर जाता है।

अतः सत्ता प्राप्त करने में श्रमजीवी वर्ग 'सर्वहारा का अधिनायकत्व' के द्वारा अपने आपको शासक वर्ग के रूप में संगठित करता है। वह वर्तमान राज्य यन्त्र को तोड़ कर उखाड़ फेंकता है और उसके स्थान पर इस प्रकार के राज्य को स्थापित करता है जो शब्द के वर्तमान अर्थ में राज्य नहीं है क्योंकि सत्ता प्राप्त करते ही श्रमिक वर्ग समाज के सारे वर्गों को समाप्त कर देता है। पूर्ण साम्यवाद की ओर सम्पूर्ण संक्रमण काल के दौरान इस प्रकार का राज्य कार्य करता रहता है। साथ ही वह यथाशक्ति वर्ग विग्रह और अपदस्थ वर्गों के प्रतिरोध को समाप्त करने के लिए प्रयास करता है।

जैसे जैसे श्रमिक वर्ग सुदृढ़ होता जाता है और पूंजीपति वर्ग तथा अभिजात्य वर्ग के अवशेष लुप्त हो जाते हैं तथा जैसे जैसे गणतन्त्र अधिकाधिक बिना शोषक या उत्पीड़ित वर्गों के शुद्ध श्रमिक गणतन्त्र के रूप में परिवर्तित हो जाता है, वैसे वैसे इस प्रकार का राज्य मरता जाता है। उसका स्थान समाज के कार्यों का संगठन करने वाली निर्वाचित कार्यकारिणी समिति ले लेती है।

मार्क्स तथा एंगेल्स की रचनाओं एवं विचारों ने यूरोप के विभिन्न देशों के समाजवादी विचारकों एवं नेताओं को प्रभावित किया। अनेक देशों में श्रमिक संगठनों तथा अन्य देशों में समाजवादी दलों का संगठन किया जाने लगा। सन् 1864 में सर्वप्रथम श्रमिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का आयोजन किया गया था जिसमें स्वयं मार्क्स एवं एंगेल्स ने भाग लिया था। इसके पश्चात् द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का भी आयोजन किया गया। ये गतिविधियां उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में यूरोप तथा अमेरिका के विभिन्न स्थानों में चलती रहीं। इनका उद्देश्य संसार के विभिन्न देशों के श्रमिक संगठनों की क्रान्तिकारी चेतना को विकसित करके उन्हें समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयार करना था।

के भ्रणुओं से मिलकर बना है। भ्राज भ्रधिकतर परिवारों में, कम से कम सम्पत्तिवान वर्गों में, पुरुषों को जीविका कमानी पड़ती है भ्रौर परिवार का पालनपोषण करना पड़ता है। फलतः परिवार के भ्रन्दर उनका भ्राधिपत्य स्थापित हो जाता है भ्रौर उसके लिए किसी कानूनी विशेषाधिकार की भ्रावश्यकता नहीं पड़ती। परिवार में पति पूँजीपति होता है, पत्नी सर्वहारा की स्थिति में होती है।''' यह स्पष्ट होगा कि स्त्रियों की मुक्ति की पहली शर्त यह है कि पूरी नारी जाति फिर से सार्वजनिक उद्योग में प्रवेश करे भ्रौर इसके लिए यह भ्रावश्यक है कि एकनिष्ठ विवाह परिवार समाज की भ्रार्थिक इकाई न रहे।...

भ्रब हम एक ऐसी सामाजिक क्रान्ति की भ्रोर भ्रग्रसर हो रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप एकनिष्ठ विवाह का वर्तमान भ्रार्थिक भ्राधार उतने ही निश्चित रूप से मिट जायगा, जितनी निश्चितता से उसकी पूरक वेश्यावृत्ति का भ्रार्थिक भ्राधार मिटेगा। एकनिष्ठ विवाह की प्रथा एक व्यक्ति के भ्रौर वह भी एक पुरुष के हाथों में बहुत साधन एकत्र हो जाने के कारण तथा उसकी इस इच्छा के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थी कि भ्रपने मरने के पश्चात् वह यह धन किसी दूसरे को न देकर केवल भ्रपनी सन्तान को दे जाना चाहता था। इस उद्देश्य के लिए भ्रावश्यक था कि स्त्री एक निष्ठ रहे, परन्तु पुरुष के लिए यह आवश्यक नहीं था।... किन्तु भ्राने वाली सामाजिक क्रान्ति भ्रचलधन सम्पदा के भ्रधिकतर भाग को भ्रर्थात् उत्पादन के साधनों को सामाजिक सम्पत्ति बना देगी भ्रौर ऐसा करके भ्रपने सम्पत्ति को बच्चों के लिए छोड़ जाने की इस सारी चिन्ता को एकदम समाप्त कर देगी।''

इस प्रश्न के विषय में कि भ्रस्तित्व के भ्रार्थिक कारण के समाप्त होने के पश्चात् क्या एकनिष्ठ विवाह बचा रहेगा एंगेल्स ने भविष्य-वाणी करने तथा भ्रर्थ भ्रनुमान लगाने से मना किया। वह केवल यह बताता है कि साम्यवाद स्थापित होने के साथ वेश्यावृत्ति निश्चित रूप से समाप्त हो जायगी क्योंकि उसके लिए कोई भ्रार्थिक कारण नहीं रह जायगा। भ्रगर स्त्री के लिए एकनिष्ठ विवाह बना रहे तो इतिहास में पहली बार यह पुरुष के लिए भी समान रूप से भ्रनिवार्य हो जायेगा।

सम्पूर्ण भ्रपव्यय भ्रौर क्षुद्रता सहित वर्तमान व्यवं
लुप्त हो जायगा भ्रौर बच्चे वैध हों य
रहेंगे। व्यक्तिगत यौन प्रेम यथ

अस्तित्व जो अब सीधे सीधे जनता से एक रूप नहो होती और जो सशस्त्र शक्ति के रूप मे सगठित होती है और जिसमे केवल हथियार-बन्द लोग ही नही वरन् जेलखाने तथा विभिन्न प्रकार के दमन के यन्त्र आदि भौतिक साधन भी होते है, जिनका गण समाज मे अस्तित्व तक न था।

एंगेल्स उन विभिन्न रूपो को जाच करते हैं जिनसे होकर राजसत्ता गुजरी है और दिखाते हैं, कि इतिहास मे अभी तक जितने राज्य हुए है उनमें से अधिकतर मे नागरिको को उनकी सम्पत्ति के अनुसार कम या अधिक अधिकार दिये गये है। इससे इस बात की प्रत्यक्ष पुष्टि हो जाती है कि राज्य सम्पत्तिवान् वर्गो का एक सगठन है जो सम्पत्तिहीन वर्गों से उनकी रक्षा करने के लिए बनाया ा है। एगेल्स ने यह भी जाच की कि किस प्रकार वर्ग नैतिकता और वर्ग दर्श हमारे सम्पूर्ण आधुनिक राजकीय सस्थानो मे व्याप्त हो जाते है और कैसे मिक वर्ग की मुक्ति के साथ ही सम्पूर्ण आधुनिक राज्य यन्त्र को उन्मूलित कर ा होगा उन्होंने साम्यवादी घोषणापत्र के सन् 1888 के सस्करण की भूमिका कहा है, श्रमिक वर्ग राजसत्ता की बनी बनायी मशीन पर केवल अधिकार रके उसका उपयोग अपने लिए नहो कर सकता।

नही, श्रमिकों को उसे अवश्य तोड देना चाहिए क्योकि श्रमिक वर्ग की ाजय का अर्थ है वर्ग शासन और वर्ग राज्य का अन्त। किन्तु नि.सन्देह, इसका र्थ प्रतिनिधि संस्थाओ का उन्मूलन नहीं है। इसके विपरीत इसका अर्थ है नकी वास्तविक स्थापना और श्रमिको का गलत प्रतिनिधित्व करने वाली स्थाओ का उन्मूलन। इसका अर्थ है नौकरशाही का उन्मूलन। इसका अर्थ है त्यन्त अल्प काल के लिए चुने गये श्रमिको के प्रत्यक्ष प्रतिनिधियों को सस्थाओं की स्थापना। इन प्रतिनिधियो को मतदाताओ की इच्छाओ के विरुद्ध कार्य रने पर किसी भी समय वापस बुलाया जा सकेगा। ये प्रतिनिधि संस्थायें माज के विशेषाधिकार प्राप्त भाग नही बनेंगी। इनके सदस्यो को साधारण वेतन मिलेगा जिससे वे देश के किसी भी अन्य नागरिक के समकक्ष होंगे। मतदाताओ के निर्देशो के अनुसार कानून बनेंगे और ये मतदाता स्वय उन कानूनो का पालन करेंगे। इस प्रकार पूरी नौकरशाही के और धीरे धीरे स्थायी अफसरशाही के दुःस्वप्न समाप्त होंगे।

एगेल्स राजसत्ता के विषय मे अपनी शिक्षाओ का समापन इस प्रकार किया: राजसत्ता अनादिकाल से नही चली आ रही है। ऐसे समाज भी हुए

एंगेल्स ने राज्य के सम्बन्ध में कहा है कि किस प्रकार पितृसत्तात्मक परिवारों के हाथों में धन के संचय ने और फलत: उत्तराधिकार नियमों ने परिवार की सत्ता को गण के विरुद्ध उठाया और वंशगत आभिजात्य वर्ग एव राजतन्त्र का सूत्रपात किया। धन सचय की सम्भावना में वृद्धि के साथ दासता आयी। सर्वप्रथम युद्ध बन्दियों को किन्तु शीघ्र ही अपने ही कबीले के गरीब सदस्यों को दास बनाया गया। एंगेल्स ने कहा है, "कि संक्षेप मे धन-दौलत को संसार में सबसे बड़ी चीज समझा जाता है और पुराने गण समाज की संस्थाओं और प्रथाओं को इस प्रकार तोड़ा मरोडा जाता है कि धन दौलत को जबर्दस्ती लूटना उचित ठहराया जा सके। अब केवल एक ही वस्तु की कमी थी। कोई ऐसी संस्था नहीं थी जो न केवल व्यक्तियों की नयी निजी सम्पत्ति को गण व्यवस्था की पुरातन साम्यवादी परम्पराओं से बचा सके जो न केवल निजी सम्पत्ति को जिसकी पहले अधिक प्रतिष्ठा नही थी, पवित्र घोषित कर सके और इस पवित्रता को मानव समाज का परम लक्ष्य घोषित कर दे। ऐसी संस्था की आवश्यकता थी जो सम्पत्ति प्राप्त करने के और इस लिए सम्पत्ति को लगातार बढते रहने के, नये और विकसित होते हुए तौर-तरीको पर सार्वजनिक मान्यता की मुहर भी लगा दें। कोई ऐसी संस्था नहीं थी जो न केवल समाज के नव जातवर्ग विभाजन को वरन् सम्पत्तिवान् वर्गों द्वारा सम्पत्ति-विहीन वर्गों पर सम्पत्तिवान वर्गों के शासन को भी स्थायी बना दे और यह संस्था सामने आ भी गयी। राजसत्ता का उदय हुआ।"

इस प्रकार स्वतन्त्र राष्ट्र के स्थान पर जो स्वतः अपने प्रधान अथवा सरदार को अपना सैनिक तथा असैनिक प्रधान मानता था और बाह्य शत्रुओं से रक्षा के लिए सशस्त्र था राजसत्ता आयी जो समाज की उपज है, जो विकास की एक निश्चित अवस्था मे पैदा होती है। राजसत्ता का निर्माण इस बात की स्वीकारोक्ति है कि यह समाज एक ऐसे अन्तर्विरोध मे फंस गया है जिसे हल करना उसकी सामर्थ्य के बाहर है। वह ऐसे विरोधी पक्षों में विभक्त हो गया है, जिनमे सामंजस्य पैदा करना उसके वश के बाहर है। इन विरोधो या वर्गों के झगड़ों को कुछ सीमाओं के अन्दर रखने के लिए आवश्यक था कि एक ऐसी शक्ति हो जिससे आभास हो कि जो समाज के ऊपर खड़ी है, किन्तु वास्तव में वह शासक वर्ग के अभिप्राय और सत्ता की रक्षा करे। यह शक्ति है "राजसत्ता" जो समाज से पैदा होती है, परन्तु जो अपने को उससे ऊपर रखती है।

राजसत्ता की सर्वप्रथम विशेषता है राज्य की प्रजा का क्षेत्रीय विभाजनों के अनुसार विभाजन। द्वितीय विशेषता है, एक ऐसी सार्वजनिक शक्ति का

प्रथम कार्य जिसके द्वारा राज्य अपने आपको वास्तव में पूरे समाज का प्रति-निधि बना देता है अर्थात् समाज के नाम पर उत्पादन के साधनों को अपने अधिकार में ले लेना वह साथ ही राज्य के रूप में उसका अन्तिम स्वतन्त्र कार्य होता है। एक क्षेत्र के बाद दूसरे क्षेत्र में सामाजिक सम्बन्धों में राज्य का हस्तक्षेप अनावश्यक बनता जाता है और फिर अपने आप समाप्त हो जाता है। व्यक्तियों के शासन को स्थान वस्तुओं का प्रबन्ध तथा उत्पादन की प्रक्रियाओं का संचालन ग्रहण कर लेता है। राज्य का उन्मूलन नहीं किया जाता, वह अपने आप मर जाता है।

अतः सत्ता प्राप्त करने में मजदूरों वर्ग 'सर्वहारा का अधिनायकत्व' के द्वारा अपने आपको शासक वर्ग के रूप में संगठित करता है। वह वर्तमान राज्य तन्त्र को तोड़ कर उखाड़ फेंकता है और उसके स्थान पर इस प्रकार के राज्य को स्थापित करता है जो शब्द के वर्तमान अर्थ में राज्य नहीं है क्योंकि सत्ता प्राप्त करते ही श्रमिक वर्ग समाज के सारे वर्गों को समाप्त कर देता है। पूर्ण साम्यवाद की ओर सम्पूर्ण संक्रमण काल के दौरान इस प्रकार का राज्य कार्य करता रहता है। साथ ही वह यथास्थित वर्ग विग्रह और परस्पर वर्गों के प्रतिरोध को समाप्त करने के लिए प्रयास करता है।

जैसे जैसे श्रमिक वर्ग सुदृढ़ होता जाता है और पूँजीपति वर्ग तथा अभि-जात्य वर्ग के अवशेष लुप्त हो जाते हैं तथा जैसे जैसे गणतन्त्र अधिकाधिक बिना शोषक या उत्पीड़ित वर्गों के शुद्ध श्रमिक गणतन्त्र के रूप में परिवर्तित हो जाता है, वैसे वैसे इस प्रकार का राज्य मरता जाता है। उसका स्थान समाज के कार्यों का संगठन करने वाली निर्वाचित कार्यकारिणी समिति ले लेती है।

मार्क्स तथा एंगेल्स की रचनाओं एवं विचारों ने यूरोप के विभिन्न देशों के समाजवादी विचारकों एवं नेताओं को प्रभावित किया। अनेक देशों में श्रमिक संगठनों तथा अन्य देशों में समाजवादी दलों का संगठन किया जाने लगा। सन् 1864 में सर्वप्रथम श्रमिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का आयोजन किया गया था जिसमें स्वयं मार्क्स एवं एंगेल्स ने भाग लिया था। इसके पश्चात् द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का भी आयोजन किया गया। ये गतिविधियाँ उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में यूरोप तथा अमेरिका के विभिन्न स्थानों में चलती रहीं। इनका उद्देश्य संसार के विभिन्न देशों के श्रमिक संगठनों की क्रान्तिकारी चेतना को विकसित करके उन्हें समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयार करना था

हैं जिन्होंने बिना राजसत्ता के अपना कार्य चलाया, और उनमें राजसत्ता और राजशक्ति का विचार तक नहीं पाया जाता था। आर्थिक विकास की एक निश्चित अवस्था में, समाज आवश्यक रूप से वर्गों में बंट गया और इस विभाजन के कारण राजसत्ता का होना आवश्यक हो गया। अब हम तेजी से उत्पादन के विकास की उस अवस्था की ओर बढ़ रहे हैं जिसमें इन वर्गों का जिन्दा रहना केवल आवश्यक नहीं रहेगा वरन् उत्पादन के लिए एक बड़ी भारी बाधा ब जायेगा, तब इन वर्गों का उतने ही अवश्यम्भावी ढंग से विनाश हो जाये जितने अवश्यम्भावी ढंग से अपनी प्रथम पूर्वावस्था में उनका जन्म हुआ था उनके साथ साथ राजसत्ता भी अनिवार्य रूप से मिट जायेगी, जो समाज उत्पादकों के स्वतन्त्र तथा समान सहयोग की भित्ति पर उत्पादन का संगठ करेगा, वह समाज के पूरे यन्त्र को उठा कर उस स्थान में रख देगा जो उ समय उसके सबसे उपयुक्त होगा, अर्थात् राजसत्ता को वह हाथ के चर्खे भी काँसे की कुल्हाड़ी के साथ-साथ प्राचीन वस्तुओं के अजायब घर में रख देगा।

एंगेल्स ने अपने राजसत्ता सम्बन्धी विचार "समाजवाद काल्पनिक औ वैज्ञानिक" में भी इस प्रकार व्यक्त किये हैं :—

सर्वहारा राजसत्ता पर अधिकार कर लेता है और सर्वप्रथम उत्पादन के साधनों को राजकीय सम्पत्ति में बदल देता है। परन्तु ऐसा करके वह सर्वहार के रूप में स्वय अपने आपको समाप्त कर देता है। सम्पूर्ण वर्ग-भेदों और व विग्रहों को मिटा देता है। राज्य के रूप में राज्य का भी अन्त कर देता है। अभी तक वर्ग विरोधों पर आधारित समाज को राज्य की आवश्यकता होती थी अर्थात् उसे उस विशिष्ट वर्ग के संगठन की आवश्यकता होती थी जो प्रत्येक अलग-अलग काल में शोषक वर्ग होता था। प्राचीन काल में दासों के स्वामी नागरिकों का राज्य था। मध्य युग में सामन्तवादी प्रभुओं का राज्य था और हमारे अपने युग में पूँजीपति वर्ग का राज्य है। अन्त में जब राज्य पूरे समाज का सच्चा प्रतिनिधि बन जाता है तब वह अपने आपको अनावश्यक बना देता है। जब ऐसा कोई वर्ग नहीं रह जाता जिसे पराधीन बना कर रखने की आवश्यकता हो तब वर्ग शासन और उत्पादन की वर्तमान अराजकता पर आधारित व्यक्तिगत जीवन-संग्राम, और उनसे उत्पन्न होने वाली टक्करें और अत्याचार समाप्त हो जाते हैं। तब ऐसी कोई वस्तु नहीं बचती जिसको दबाकर रखना आवश्यक हो और तब एक विशेष दमनकारी शक्ति की, या राज्य की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

प्रथम कार्य जिसके द्वारा राज्य अपने आपको सचमुच पूरे समाज का प्रतिनिधि बना देता है अर्थात् समाज के नाम पर उत्पादन के साधनों को अपने अधिकार मे ले लेना यह साथ ही राज्य के रूप में उसका अन्तिम स्वतन्त्र कार्य होता है। एक क्षेत्र के बाद दूसरे क्षेत्र मे सामाजिक सम्बन्धो मे राज्य का हस्तक्षेप अनावश्यक बनता जाता है और फिर अपने आप समाप्त हो जाता है। व्यक्तियों के शासन को स्थान वस्तुओं का प्रबन्ध तथा उत्पादन की प्रक्रियाओं का संचालन ग्रहण कर लेता है। राज्य का उन्मूलन नहीं किया जाता, वह अपने आप मर जाता है।

अतः सत्ता प्राप्त करने में श्रमजीवी वर्ग 'सर्वहारा का अधिनायकत्व' के द्वारा अपने आपको शासक वर्ग के रूप मे संगठित करता है। वह वर्तमान राज्य यन्त्र को तोड कर उखाड फेंकता है और उसके स्थान पर इस प्रकार के राज्य को स्थापित करता है जो शब्द के वर्तमान अर्थ में राज्य नहीं है क्योकि सत्ता प्राप्त करते ही श्रमिक वर्ग समाज के सारे वर्गों को समाप्त कर देता है। पूर्ण साम्यवाद की ओर सम्पूर्ण सक्रमण काल के दौरान इस प्रकार का राज्य कार्य करता रहता है। साथ ही वह यथाशक्ति वर्ग विग्रह और अपदस्थ वर्गों के प्रतिरोध को समाप्त करने के लिए प्रयास करता है।

जैसे जैसे श्रमिक वर्ग सुदृढ़ होता जाता है और पूंजीपति वर्ग तथा अभिजात्य वर्ग के अवशेष लुप्त हो जाते हैं तथा जैसे जैसे गणतन्त्र अधिकाधिक बिना शोषक या उत्पीडित वर्गों के शुद्ध श्रमिक गणतन्त्र के रूप मे परिवर्तित हो जाता है, वैसे वैसे इस प्रकार का राज्य मरता जाता है। उसका स्थान समाज के कार्यों का संगठन करने वाली निर्वाचित कार्यकारिणी समिति ले लेती है।

मार्क्स तथा एंगेल्स की रचनाओ एव विचारो ने यूरोप के विभिन्न देशो के समाजवादी विचारको एव नेताओ को प्रभावित किया। अनेक देशों मे श्रमिक संगठनो तथा अन्य देशो मे समाजवादी दलो का संगठन किया जाने लगा। सन् 1864 मे सर्वप्रथम श्रमिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का आयोजन किया गया था जिसमें स्वय मार्क्स एवं एंगेल्स ने भाग लिया था। इसके पश्चात् द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का भी आयोजन किया गया। ये गतिविधियां उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम वर्षों मे यूरोप तथा अमेरिका के विभिन्न स्थानो मे चलती रही। इनका उद्देश्य ससार के विभिन्न देशो के श्रमिक सगठनो की क्रान्तिकारी चेतना को विकसित करके उन्हें समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयार करना था।

परन्तु ये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन सुदृढ़ नहीं हो पाये। सरकारो ने इनके विरुद्ध दमनकारी प्रतिक्रियायें प्रदर्शित की। परन्तु मार्क्स एवं एंगेल्स के विचारों से श्रमिक संगठन सशक्त होता गया। देश की सीमायें टूटने लगीं और पूंजीवादी व्यवस्था एवं राज्य के प्रति जनता का रोष तीव्रतर होता ही गया। पूंजीपति वर्ग और निरंकुश राजतन्त्रों के बीच सर्वहारा वर्ग का निर्णायक युद्ध प्रारम्भ हो गया। जनता ने मार्क्स एवं एंगेल्स को अपने मार्ग दर्शक के रूप में अपना कर सर्वविजयिनी शक्ति प्राप्त की। लेनिन ने भी लिखा है:—

"ऐतिहासिक महत्व की महान् उपलब्धि यह है कि उन्होने सारी दुनिया के सर्वहारा वर्ग को उसकी भूमिका, उसका कार्य और उसका लक्ष्य स्पष्ट किया। उन्होने सर्वहारा वर्ग को बताया कि पूंजी के विरुद्ध किये जाने वाले क्रान्तिकारी संघर्ष में उसे ही सबसे आगे आना होगा और इस संघर्ष में उसे सभी मेहनतकशों और शोषितो को अपने गिर्द जमा करना होगा।"

निकोलाई लेनिन

(1870–1924)

मार्क्स एवं एंगेल्स की क्रान्तिकारी शिक्षा के प्रतिभावान् उत्तराधिकारी, सोवियत संघ के साम्यवादी दल के संगठनकर्त्ता, समाजवादी क्रान्ति के कर्णधार, सोवियत राज्य के संस्थापक, महान विद्वान् ब्लादीमिर इल्यीच लेनिन का जन्म 10 अप्रैल, सन् 1870 में सिम्बास्कं नगर में एक मध्यम वर्गीय सरकारी शिक्षा निरीक्षक के घर मे हुआ था। लेनिन के पिता इल्या निकोलायेविच उल्यानोव प्रगतिशील विचारो के व्यक्ति थे और उन्होने जनसाधारण मे शिक्षा-प्रचार के लिए बहुत कुछ किया। उन्होंने ग्राम्यांचल में दूर दूर तक स्कूल स्थापित किये। लेनिन की माता मरीया अलेक्सान्द्रोव्ना अत्यन्त ही समझदार, शान्त, अच्छे स्वभाव की दृढ़ निश्चय एवं दृढ़ चरित्र वाली नारी थीं। उन्होने बच्चों के पालन-पोषण मे ही अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी लेनिन के जन्म के समय सारी जनता के मानस मे तत्कालीन शासन व्यवस्था के विरुद्ध बढते हुए आक्रोश का काल था।

उल्यानोव परिवार में छः बच्चे थे। लेनिन अपने भाई बहनो मे तीसरे थे। माता-पिता ने सन्तान को विविधतापूर्ण शिक्षा देने और उन्हे परिश्रमी, सत्यनिष्ठ, नम्र और सार्वजनिक समस्याओं के प्रति चिन्ताशील बनाने का भरसक प्रयत्न किया। इस परिवार के सभी बच्चे क्रान्तिकारी थे। उनमे से एक को 19 वर्ष की अवस्था में ज़ार शासक एलेक्जेंडर तृतीय की हत्या के षड़यन्त्र का दोषी

[illegible] था। [illegible] क्रान्तिकारी [illegible] है। [illegible] क्रान्तिकारी [illegible] दिया। [illegible] [illegible] थे। [illegible] [illegible] था।

लेनिन ने पांच वर्ष की आयु में पढ़ना सीखा। नौ वर्ष के होने पर वे सिम्बीर्स्क हाई स्कूल में प्रविष्ट हुए। वे बड़े चाव से पढ़ते थे और असाधारण योग्यता वाले, अनुशासित और परिश्रमी विद्यार्थी थे। प्रतिवर्ष ही उन्हें योग्य विद्यार्थी होने का प्रथम पुरस्कार मिलता था। वे अध्ययन में अपने मित्रों की सहायता भी करते थे।

लेनिन ने बहुत [illegible] थी। वे महान् रूसी लेखकों की रचनाओं से भली भांति परिचित थे और साहित्य को अत्यन्त ही मनोभाव से पढ़ा। इस साहित्य पर उस समय प्रतिबन्ध लगा हुआ था। सबसे अधिक प्रभावित [illegible] की रचनाओं एवं विचारों से रहे। जब वे हाईस्कूल में थे तब उन्होंने एक निबन्ध "दमन के शिकार होने वाले वर्ग" लिखकर अपनी क्रान्तिकारी भावनायें व्यक्त कीं। इसी वर्ष उन्होंने धर्म से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और अपने भाई अलेक्जान्डर के द्वारा मार्क्सवादी साहित्य से भी परिचित हुए।

तरुणावस्था में ही लेनिन को भारी सदमों का शिकार होना पड़ा। सन् 1886 में अचानक ही उनके पिता का देहान्त हो गया और इस दुःख कष्ट भूल भी नहीं पाये थे कि उन्हें मार्च सन् 1887 में अलेक्जान्डर को गिरफ्तार कर फांसी पर लटका देने का झटका लगा। अलेक्जान्डर ने एक वीर की भाँति मृत्यु को गले लगाया और उसके रक्त ने अपनी क्रान्तिकारी अग्नि की लपट से उसका अनुकरण करने वाले भाई लेनिन का पथ-प्रदर्शन किया। उसी समय से लेनिन ने क्रान्तिकारी संघर्ष के लिए अपना जीवन समर्पित कर दिया। उन्होंने अथक परिश्रम करके सामाजिक विज्ञानों का अध्ययन किया। हाई स्कूल की परिक्षा उन्होंने स्वर्ण पदक के साथ समाप्त की और अगस्त, सन् 1887 में वे कजान विश्वविद्यालय के विधि संकाय में प्रविष्ट हुए।

विश्वविद्यालय में उन्होंने अपनी और क्रान्तिकारी झुकाव करने वाले विद्यार्थियों से सम्पर्क स्थापित किया। सन् 1887 के दिसम्बर के प्रारम्भ में विद्यार्थियों की एक सभा में भाग लेने के कारण लेनिन को विश्वविद्यालय से

निष्कासित कर गिरफ्तार कर लिया गया। गिरफ्तार कर उन्हें गुबेनिया के कोकुशकिनों ग्राम में नज़रबन्द कर दिया गया। इस अवधिकाल में लेनिन ने पढ़ने-लिखने और स्वाध्याय में अपने समय को लगाया। एक वर्ष तक लेनिन वहा पर नज़र बन्द रहे। छूटने पर उन्होंने कज़ान विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने का प्रयत्न किया, परन्तु असफल रहे। फिर विदेश जाकर अध्ययन की अनुमति मांगी, लेकिन जार शाही ने विदेश जाने की अनुमति नही दी। इस समय तक लेनिन का नाम राजनीतिक दृष्टि से क्रान्तिकारियो की श्रेणी मे आगया।

इस समय कज़ान में अनेक अवैध क्रान्तिकारी मण्डल स्थापित हो गये थे और वह क्रान्ति के प्रचार एवं प्रसार में संलग्न थे। ये मण्डल मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित थे। मार्क्सवाद का प्रचार भी इन्ही मण्डलों के माध्यम से होता था। लेनिन के क्रान्तिकारी आन्दोलन में सम्मिलित होने के समय तक मार्क्सवादी विचारधारा श्रमिक आन्दोलन में प्रमुखतम स्थान प्राप्त कर चुकी थी और रूस मे फैलने लगी थी। रूस मे मार्क्स वाद के प्रमुख प्रचारक प्लेखानोव थे। जार-शाही के अत्याचार से बचने के लिए विदेश में जाकर बसने के लिए विवश हुए और प्लेखानोव और उनके साथियो ने सन् 1883 मे जेनेवा मे प्रथम रूसी मार्क्सवादी "श्रममुक्त" दल संगठित किया। इसके सदस्यो ने मार्क्स और एंगेल्स की कृतियों का रूसी भाषा मे अनुवाद किया और उन्हे गुप्त रूप से रूस मे भेजा।

युवा लेनिन ने मार्क्सवाद मे ही वह सैद्धान्तिक शस्त्र देखा जिसकी सहायता से सर्वहारा वर्ग मुक्ति प्राप्त कर सकता था और समाजवाद की विजय का झण्डा गाड़ सकता था। इसी भावना से प्रेरित होकर लेनिन मार्क्सवादी और वैज्ञानिक समाजवाद के महान् विचारो के उत्साही प्रचारक बन गये थे।

मई, सन् 1889 में लेनिन अपने परिवार सहित कज़ान से समारा गुबेनिया आ गये और अगले साढे चार वर्षों तक वही रहे। ग्रीष्मकाल मे लेनिन परिवार अलाकायेव्का नामक ग्राम के निकट एक फार्म पर रहता और पतझड मे समारा लौट जाता। लेनिन के लिए ये कड़े श्रम और अध्ययन के वर्ष थे। यह समय उसने विदेशी भाषायें विशेष कर जर्मन भाषा को सीखने मे व्यतीत किया। इन्हीं वर्षों में लेनिन ने मार्क्स और एंगेल्स के "साम्य-वादी घोषणापत्र" का रूसी भाषा मे अनुवाद किया।

इसी समय ज़ारशाही तानाशाही के विरुद्ध संघर्ष मे नरोदनिकों ने महत्व-पूर्ण भूमिका अदा की। इनका उद्देश्य आतंक-वाद पैदा करके ज़ार शासक एवं

उच्चाधिकारियों को भयभीत करना था। इसके द्वारा अनेक मन्त्रियों की हत्या कर दी गयी। इस आतंक के परिणाम स्वरूप नरोदनिकों को भयानक दण्ड भोगने पड़े। जारशाही ने नरोदनिकों के क्रान्तिकारी संघर्ष को पूर्णरूप से कुचल दिया और कुछ नरोदनिकों ने जारशाही से समझौता भी कर लिया। इसीलिए लेनिन ने इन उदारपन्थी नरोदनिकों का जिनके विचार और कार्यवाइयाँ अपनी क्रान्तिकारी प्रकृति खो चुकी थी, डट कर भण्डा फोड़ किया और समारा में उनके विरुद्ध सार्वजनिक भाषण भी दिया।

लेनिन अथक परिश्रम से स्वशिक्षा के कार्य में लगे रहे। उन्होंने स्वयं ही अपने परिश्रम से विश्वविद्यालय का चार वर्ष का पाठ्यक्रम डेढ़ वर्ष में भली प्रकार तैयार कर लिया। सन् 1891 में उन्होंने बहुत अच्छे अंकों के साथ पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में कानून परिक्षा उत्तीर्ण की और प्रथम श्रेणी का डिप्लोमा प्राप्त किया। समारा में उन्होंने वकालत प्रारम्भ कर दी और मुख्यतः निर्धन किसानों की ओर से ही न्यायालय में उपस्थित होते थे। मगर उन्हें वकालत में अधिक रुचि नहीं थी। वह अपना अधिकांश समय क्रांतिकारी कार्यवाइयों में ही लगाते थे। उन्होंने यहाँ पर मार्क्सवादी मण्डल संगठित किया था और इसके वही सदस्य होते थे जिनकी क्रान्ति के प्रति रुझान थी। किसानों की आर्थिक स्थिति का भी ज्ञान प्राप्त करते रहे और समारा में रहते हुए उन्होंने "किसान के जीवन में नये आर्थिक आन्दोलन" लेख लिखा। इस लेख में उन्होंने रूस की कृषि के पूँजीवाद के प्रवेश और किसानों के गरीब, मध्य और कुलक धनी किसान—इन तीन श्रेणियों में विभाजन पर प्रकाश डाला।

लेनिन मार्क्सवादी मण्डल की कार्यवाइयों को गुप्त रखने का यथा शक्ति प्रयास करते थे। इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्य क्षेत्रों के मार्क्स-वादियों से भी सम्पर्क बनाया। इस समय तक समारा में लेनिन के कार्यों का अधिक क्षेत्र नहीं था। वे किसी बड़े औद्योगिक केन्द्र में जाने के लिए उत्सुक थे जहाँ सर्वहारा बहुत बड़ी संख्या में सकेन्द्रित हो और जहाँ उनके क्रान्तिकारी संघर्ष के लिए विस्तृत क्षेत्र हो। अगस्त, सन् 1893 में वे समारा छोड़ कर पीटर्स-बर्ग चले आये।

उस समय पीटर्स-बर्ग रूस की राजधानी और श्रमजीवियों के आन्दोलन का एक प्रमुख केन्द्र था। अनेके प्रबंध मण्डल कार्य कर रहे थे, लेनिन भी ऐसे ही मण्डल में सम्मिलित हो गये। वे बड़े उत्साह एवं लगन से क्रान्तिकारी कार्य में जुट गये। मार्क्सवाद की गहरी जानकारी, रूसी परिस्थितियों के अनुसार उनका

अत्याचारिक प्रयोग करने की क्षमता, श्रमिकों के उद्देश्य की विजय में विश्वास और असाधारण संगठनात्मक योग्यता के कारण पीटर्सबर्ग के मार्क्सवादियों ने शीघ्र ही उन्हें अपना नेता मान लिया।

लेनिन ने अब अपनी सम्पूर्ण शक्ति क्रान्तिकारी मार्क्सवादी पार्टी बनाने के कार्य में लगा दी। उन्होंने बड़े बड़े कारखानों के श्रमिकों और अन्य बहुत से श्रमिकों से साथ सम्पर्क स्थापित किया। लेनिन के नेतृत्व में रूस के श्रमजीवियों ने एक पार्टी गठित की। इस पार्टी की ओर से श्रमजीवियों को प्रशिक्षण दिया जाने लगा और उनको पूंजीपतियों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया। श्रमजीवी वर्ग ही सच्चा मार्क्सवादी हो सकता है और वही कुलकों, पूंजीपतियों एवं बुर्जुआ वर्ग से संघर्ष कर सकता है। अतः लेनिन ने मार्क्स की जटिल से जटिल समस्याओं को बहुत ही सरल और स्पष्ट ढंग से समझाया। वे देश के दैनिक जीवन की समस्याओं तथा मेहनतकशों की आवश्यकताओं से जोड़ते हुए उसे श्रमजीवी वर्ग के लिए स्पष्ट और सर्वग्राह्य बनाने का प्रयत्न किया। राजद्रोह के अभियोग में 1 वर्ष का कारावास का दण्ड दिया। इसकी समाप्ति पर उसे 3 वर्ष की अवधि के लिए साइबेरिया में निष्कासित कर दिया गया। वहीं लेनिन ने अपनी ही भांति निष्कासित की गयी एक महिला नादेझ्दा कोन्सतान्तोनोव्ना क्रूप्सकाया जो कि स्कूल में अध्यापिका थी, के साथ विवाह कर लिया। वे लेनिन के जीवन की अन्तिम घड़ी तक निष्ठावान संगिनी और सच्ची सहायिका रही। दोनों ही क्रान्ति के कार्य में जुट गये। वहीं पर लेनिन ने अपनी रचना "रूस में पूंजीवाद का विकास" लिखी। यह सन् 1899 में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में लेनिन ने तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध किया कि रूस में न केवल उद्योग में ही, वरन् कृषि में भी पूंजीवाद का विकास हो रहा था। इस पुस्तक ने सर्वहारा पार्टी के सिद्धान्तों, कार्यक्रम और कार्यनीति की तयारी में बड़ा योगदान दिया। अग्रणी बुद्धिजीवियों, विद्यार्थियों और मजदूर मण्डलों में भाग लेने वालों में यह हाथों हाथ बिक गयी और मार्क्सवादी कार्यकर्ताओं की सैद्धान्तिक शिक्षा के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण रही।

निर्वासन काल समाप्त होते ही 29 जनवरी, सन् 1900 को प्रातःकाल वे शूशेन्स-कोये से चल दिये। उन्हें और क्रूप्सकाया को लम्बी यात्रा निश्चित की थी। यह लम्बी यात्रा 300 किलोमीटर की अत्यन्त ही दुर्गम साधनों से पूरी की। लेनिन को रूस की राजधानी में राजनीतिक कार्य में रोक लगा दी गयी। लेनिन का विचार हुआ कि समाचार पत्र प्रकाशित किया जाये और इस योजना

को फलीभूत करने मे पूरा एक वर्ष लगा। उस समय ज़ारशाही की कठोर दमन के कारण श्रमजीवियों का कोई भी समाचार प्रकाशित नहीं हो सकता था। अतः फिर लेनिन ने समाचार पत्र विदेश से निकालने का निश्चय किया। इससे पूर्व उन्होंने रूस के प्रमुख नगरों की संगठनात्मक दृष्टिकोण से यात्रा की। पुलिस इनकी राजनीतिक गतिविधियो पर सतर्कता रखती थी। अतः लेनिन जब पीटर्सबर्ग पहुँचा तब पुलिस ने उन्हे गिरफ्तार कर लिया। लेनिन का अब रूस में रहना असम्भव हो गया था और ज़ार के अधिकारी लेनिन को सबसे बड़ा शत्रु मानते थे। पुलिस के उच्चाधिकारियो ने लेनिन की हत्या की संस्तुति ज़ार से की।

अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करते हुए लेनिन 16 जुलाई, सन् 1900 मे जर्मनी पहुच गये। यहीं से लेनिन का प्रवासकाल प्रारम्भ होता है। यह क्रम पूरे पाँच वर्ष तक समाचार पत्र के लिए क्रान्तिकारी नाम "ईस्क्रा" (चिंगारी) तय किया गया। समाचार पत्र निकालने के सम्बन्ध मे अनेक समस्यायें भी उठी जैसे धन-संग्रह करना, छापेखाने के लिए स्थान खोजना और रूसी टाइप प्राप्त करना आदि। इन कठिनाइयो को दूर करने मे जर्मन सामाजिक जनवादियो ने अधिक सहायता की। दिसम्बर सन् 1900 मे "ईस्क्रा" का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ। इस पत्र का आदर्श वाक्य था—"चिनगारी लपट बनेगी।" वास्तव मे हुआ भी यही। रूस में धधक उठने वाली महान क्रान्तिकारी ज्वाला ने जार की तानाशाही और पूँजीवादी प्रणाली को भस्म करके रख दिया। लेनिन ने इस पत्र के द्वारा सारे जन-विद्रोह को उभारने में लगायी। इसी पत्र के एजेण्टो के माध्यम से अनेक कार्यकर्ता सामने आये जिन्होने लेनिन के निर्देशन और निरीक्षण मे जन-हित संघर्ष के क्षेत्र मे साहसी और अनुभवी संगठनकर्ता बन गये। सभी से सम्पर्क स्थापित करते थे। इस प्रकार ईस्क्रा पार्टी शक्तियो को सूत्रबद्ध करने, पार्टी कार्यकर्ताओ की खोज और उनका शिक्षण करने का केन्द्र बन गया। यह पत्र शीघ्र ही श्रमजीवियो का लोकप्रिय पत्र बन गया। सन् 1902 में लेनिन ने अपनी पुस्तक प्रकाशित की जिसका नाम था "क्या करें" ? यह उच्चकोटि की रचना थी, जिसने पार्टी की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। इसके बाद सन 1903 मे किसानो को पार्टी का कार्यक्रम स्पष्ट करने के लिए "गाव के गरीबों से" नामक पुस्तिका लिखी। इस समय तक रूस की पुलिस ने ईस्क्रा का सुराग पा लिया था और लेनिन के लिए अधिक समय तक म्यूनिक में रहना सम्भव नहीं था। अतः सम्पादक मण्डल ने इस पत्र का प्रकाशन लन्दन से करने का निश्चय किया। अप्रैल, सन 1902 मे लेनिन लन्दन पहुँच गये।

लन्दन में रहकर लेनिन ने श्रमिक आन्दोलन का परिचय प्राप्त किया और अंग्रेजी सर्वहारा वर्ग के जीवन का अध्ययन किया। और सभा-सम्मेलनों में भाग लिया। वह अपना अधिकांश समय पुस्तकालयों में व्यतीत करते। विशेष कर ब्रिटिश संग्रहालय के पुस्तकालय मे उन्हें बहुधा देखा जाता था।

सन् 1903 की वसन्त मे लेनिन लन्दन से जेनेवा आ गये। ईस्क्रा अब यहां से प्रकाशित होता था। लेनिन की प्रेरणा से "सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस को बुलाने की तैयारी भी जाने लगी। इस समय लेनिन उसकी सफलता में व्यस्त हो गये। उन्होंने कांग्रेस के संगठन की योजना, प्रस्तावों के प्रारूप, और पार्टी के कार्यकर्ताओं को अनुशासन बद्ध के लिए नियम भी बनाये। वह दिन भी आगया जब दूसरी कांग्रेस आरम्भ हुई। यह कांग्रेस ब्रुसेल्स में चली। परन्तु कुछ समयोपरान्त इसकी पूरी कार्यवाई लन्दन में हुई और सर्वहारा की पार्टी घोषित की गयी। इसी के बाद से रूस मे समाजवादी क्रान्ति के लिए पन्द्रह वर्ष तक तनाव पूर्ण और वीरतापूर्ण संघर्ष करना पड़ा। यह कांग्रेस रूस के लिए ही नही वरन् विश्व श्रमिक आन्दोलन के लिए भी एक नया मोड़ सिद्ध हुई। इसी समय दो दलों में श्रमिक आन्दोलन विभक्त हो गया। लेनिन समर्थक वोल्शेविक और अवसरवादी मेंन्शेविक कहलाये वोल्शेविक शब्द रुसी शब्द 'वोल्शिनस्वों' से ही बनता है जिसका अर्थ है बहुमत। इसके विपरीत कम संख्या मे रह जाने वाले अवसरवादी मे मेन्सोविक मेन्शिन्सवों शब्द से जिसका अर्थ है अल्पमत। कहलाने लगे। लेनिन ने दल के क्रान्तिकारी रुप को स्पष्ट करने हेतु एक पुस्तक "एक कदम आगे और दो कदम पीछे" मई सन् 1904 मे लिखकर पूरा किया। लेनिन ने स्पष्ट शब्दो में कहा कि सर्वहारा वर्ग के निर्देशन का संगठन के रूप में पार्टी के मार्क्सवादी सिद्धान्त का और विकास किया और यह बताया कि पार्टी के बिना समाजवादी क्रान्ति करना और साम्यवादी समाज बनाना असम्भव है। सत्ता के संघर्ष मे सर्वहारा वर्ग के पास संगठन के अतिरिक्त और कोई अस्त्र नहीं है। उन्होने बताया कि पार्टी श्रमिक वर्ग का अंग है उनका वर्ग चेतना सम्पन्न हरावल है।

इस प्रकार विदेशों मे रहते हुए रूस के क्रान्तिकारी आन्दोलन का अत्यन्त सावधानी से अध्ययन किया और क्रान्ति घटित होने से पूर्व ही उन्होंने क्रान्ति का आगमन अनुभव किया। 9 जनवरी, सन् 1905 को जार के आदेशानुसार सेना ने पीटर्सबर्ग के श्रमिकों पर गोली चलायी। जार के इस निर्दय हत्याकाण्ड से जनता में विरोध और क्रोध की आग भड़क उठी। लेनिन ने इसे क्रान्ति का

थी क्रान्ति माना उसने सम्पूर्ण रूप में रूस पर केन्द्रित किया। उन्होंने अनुमान लगा लिया था कि क्रान्ति बढ़ेगी और फैलेगी। इस लिए लेनिन ने तीसरी कांग्रेस को आयोजित करने पर जोर दिया और 30 अप्रैल, सन् 1905 में तीसरी कांग्रेस लन्दन में हुई। इस कांग्रेस में केवल बोल्शेविकों ने भाग लिया था और मेन्शेविकों ने भाग लेने से मना कर दिया था। उन्होंने अपना पृथक सम्मेलन जेनेवा में बुलाया। लेनिन को कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया। लेनिन ने सब पार्टी को व्यावहारिक कार्य की ठोस योजना से लैस कर दिया। क्रान्ति के भावी विकास के मार्ग और साधन निर्धारित कर श्रमिक वर्ग को तानाशाही के विरुद्ध संघर्ष में विजय पाने के लिए सन्नद्ध कर दिया। लेनिन को पार्टी के केन्द्रीय मुख पत्र "प्रोलितारी" (सर्वहारा) का सम्पादक नियुक्त किया गया। कांग्रेस की समाप्ति पर लेनिन पुनः जेनेवा लौट आये।

जेनेवा लौटने पर उन्होंने जुलाई, सन् 1905 में "जनवादी क्रान्ति में सामाजिक जनवाद की दो कार्य नीतियाँ" नामक पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक में लेनिन ने सर्वप्रथम मार्क्सवाद के इतिहास में साम्राज्यवाद के युग में पूंजीवादी जनवादी क्रान्ति की विशेषताओं, उसकी प्रेरक शक्तियों और सम्भावनाओं से सम्बन्धित प्रश्नों का विस्तृत विवेचन किया। उन्होंने यह भी बताया कि पूंजीवादी क्रान्ति को पूरी तरह सफल बनाना सर्वहारा वर्ग के हित में था क्योंकि वह समाजवाद की स्थापना के लिए किये जाने वाले संघर्ष को प्रवृत्त और अधिक आसान बना देती है। सर्वहारा वर्ग ही क्रान्ति का संचालन शक्ति बन कर क्रान्ति का नेतृत्व करे। किसानों को सर्वहारा वर्ग का साथ देना चाहिए। इस प्रकार लेनिन ने इस पुस्तक में समाजवादी क्रान्ति के विषय में नये विचारों को समृद्ध किया। इस पुस्तक के उपरान्त ही सारे रूस में और विशेषकर औद्योगिक केन्द्रों में व्यापक हड़तालें हुई। किसानों और मजदूर हड़तालों से रूस का पांचवां भाग इसके अन्तर्गत आ गया। सेना में भी इसी समय विद्रोह हो गया। लेनिन ने इस विद्रोह को अत्यधिक महत्व दिया। लेनिन अपने लेखों और पार्टी कार्यकर्ताओं के बीच में सशस्त्र विद्रोह की आवश्यकता पर अधिकाधिक जोर दिया। इसी के परिणामस्वरूप अक्टूबर, सन् 1905 में एक आम राजनीतिक हड़ताल हुई। इस हड़ताल ने देश का समूचा जीवन ठप्प कर दिया। सर्वहारा वर्ग के संघर्ष का यह सर्वथा विश्व में नया रूप था। जारशाही ने भयभीत होकर 17 अक्टूबर को एक घोषणा द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, भाषण, लेखन प्रकाशन, सभा-सम्मेलन सम्बन्धी और दूसरी नागरिक स्वतन्त्रतायें देने का

दया। यह सर्वहारा वर्ग की बहुत बड़ी विजय थी। लेकिन इस
ा से सन्तुष्ट नहीं हुए और सर्वहारा को इस घोषणा के प्रति
ा अपनाने को प्रेरित किया। इस समय लेनिन को स्वदेश में अधिक
ता थी।

त में नवम्बर, सन् 1905 में वे पीटर्सबर्ग वापस आ गये और उन्होंने
र क्रान्तिकारी संघर्ष की बागडोर अपने हाथ में ले ली। वह सघटन कार्य
थे। जार द्वारा घोषित जनता की स्वतन्त्रताओं के होते हुए भी लेनिन को
रूप से पुलिस से छिपकर रहना पड़ता था। इस समय रूसी सामाजिक
मजदूर पार्टी की कांग्रेस बुलाने की मांग जोर पकड़ने लगी। अन्त में 10
006 को चौथी कांग्रेस स्टाकहोम में प्रारम्भ हुई। इस कांग्रेस के बाद लेनिन
सामाजिक जनवादी मजदूर पार्टी की एकता कांग्रेस की रिपोर्ट' शीर्षक
पुस्तक प्रकाशित की। इसके फलस्वरूप रूस में बोल्शेविकों का प्रभुत्व
आन्दोलन पर तेजी से बढ़ने लगा। इस शक्ति के परिचय हेतु लेनिन ने
र्टी की कांग्रेस बुलाने पर जोर दिया। अप्रैल, सन् 1907 के अन्त में रूसी
क जनवादी मजदूर पार्टी की पांचवीं कांग्रेस लन्दन में बुलायी। इस
बोल्शेविकों की नीति और रीति की पुष्टि की। इस कांग्रेस में बोल्शेविकों
न अन्य मसलों पर मेन्शेविकों को पराजित किया। इसी कांग्रेस
केन्द्रीय समिति के लिए चुने गये। जून, सन् 1907 में वे लन्दन से
ट आये और फिनलैण्ड में रहने लगे। इस समय तक क्रान्ति असफल हो
र जारशाह सरकार ने जवाबी चोट प्रारम्भ कर दी।

नेनिन की खोज फिनलैण्ड में जारी की गयी। पुलिस की सरगर्मी जोरों
पड़ी। अन्त में लेनिन को फिनलैण्ड के भीतरी भागों में जाना पड़ा।
भीतरी भाग में भी अधिक दिन तक नहीं रह सके। अतः बोल्शेविक केन्द्र ने
किया कि लेनिन को पुनः विदेश चला जाना चाहिए। कठिनाइयों को
ए लेनिन फिनलैण्ड से जनवरी, सन् 1903 में जेनेवा पहुंचे। क्रान्ति की
ता से लेनिन के संघर्ष संकल्प में कमी नहीं आयी। वे नयी शक्ति और
से एक अन्य क्रान्ति की तैयारी और पार्टी कार्य में डूब गये। वे कार्य-
में अडिग विश्वास पैदा कर रहे थे। वह वहां से पुनः समाचार पत्र के
शन के कार्यों में जुट गये। समाचार पत्र के प्रकाशन में अपनी सारी
लेनिन ने लगा दी। इस पत्र को उन्होंने पार्टी समाचार पत्र को बोल्शेविक
र्मियों को एकत्र करने, उनका प्रशिक्षण और पार्टी तथा मजदूर वर्ग को

नयो क्रान्तिकारी ज्वार के लिए तैयार करने का महत्वपूर्ण माध्यम माना। ने पार्टी को सुरक्षित ही नहीं रखा वरन् सुदृढ़ बनाने के लिए संघर्ष। कुछ समय के बाद पत्र का प्रकाशन पेरिस में किया जाने लगा। यह समय रूसी प्रवासियों का केन्द्र था। लेनिन और उसकी पत्नी क्रूप्सकाया पेरिस आ गये। पेरिस में लेनिन परिवार को अनेक कठिनाइयों का सामना ना पड़ा। अभावों में वहां का जीवन व्यतीत हुआ। इन कठिनाइयों के होते भी लेनिन ने एक पुस्तक लिखी जिसका नाम 'भौतिकवाद और अनुभव-सिद्ध लोचना' थी। इस पुस्तक ने मार्क्सवादी दर्शन को सुरक्षित रखने और क्षित करने तथा पार्टी कार्यकर्ताओं को सैद्धान्तिक शिक्षा में बहुत महत्वपूर्ण का अदा की। इस पुस्तक ने सभी को बहुत प्रभावित किया।

लेनिन की माता स्टाकहोम में रहती थी। कई वर्षों से लेनिन की अपनी ता से भेंट नहीं हो सकी थी। पुत्र से मिलने की उत्कट अभिलाषा के फल-रूप 75 वर्षीय वृद्धामाता सन् 1910 को पतझड़ में विदेश जाने के लिए मत हो गयी। पुत्र का मिलन यही अन्तिम मिलन था क्योंकि लेनिन के रूस स आने पर उनकी माता नहीं रही। उनकी मृत्यु सन् 1916 मे ही हो ी थी।

सन 1910 में रूस में मजदूर आन्दोलन फिर उभार पर आया। उस में रूस के बड़े नगरों, में कारखानों और फैक्टरियों में हड़तालें, प्रदर्शन, सभायें र दूसरी राजनीतिक कार्यवाहियां हुई। इसके बाद के वर्षों में क्रान्तिकारी न्दोलन जोर पकड़ता गया। इस संघर्ष में किसानों, सेना और नौसेना ने भाग या। लेनिन की प्रेरणा से बोल्शेविक पार्टी ने पुन समाचार पत्र रूस में प्रकाशित ये। उन समाचार पत्रों में लेनिन के लेख रहते थे। ऐसी स्थिति में पार्टी ी मीटिंग बुलाना भी आवश्यक हो गया। पार्टी का सम्मेलन प्राग में आयोजित या गया। सन् 1912 में अत्यन्त गुप्त ढंग से अखिल रूसी सम्मेलन 'चेक माजिक जनवादी समाचार पत्र' कार्यालय में हुआ। चैक पार्टी ने भी सम्मेलन ो सफल बनाने में सक्रिय सहयोग दिया। इस पार्टी के लिए गए निर्णय अन्त-ष्ट्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण थे। सम्मेलन में लेनिन ने केन्द्रीय समिति का चयन या। इस समिति में पार्टी के प्रमुख नेता सम्मिलित किये गये, जिन्होंने गुप्त ार्य के बहुत ही कठिन समय में बड़ी दृढ़ता और साहस का परिचय दिया था। निर्णय को व्यावहारिक रूप देने में सभी नेता लग गये। रूस पहुंचने पर इन्होंने अपने प्रान्तों का दौरा किया। पत्रों में सम्मेलन की पूरी कार्यवाई प्रकाशित

पर दूमा में बोलने को कहा जाता। लेनिन से परामर्श लेने के लिये समय-समय पर पार्टी के प्रतिनिधि क्रेको तक पहुंचते थे। लेनिन ने निश्चय किया कि पार्टी और उसकी एकता को सुदृढ़ करने के लिए पार्टी की मीटिंग बुलायी जाये। दिसम्बर, सन् 1912 में पार्टी परिषद् की मीटिंग क्रेको में हुई। इस मीटिंग में बोल्शेविक प्रतिनिधियों ने गली कूचों में क्रान्तिकारी प्रदर्शनों, हड़तालों को करने तथा कारखानों और फैक्टरियों में गुप्त समितियां स्थापित करने का निर्णय किया। परन्तु लेनिन की पत्नी का स्वास्थ्य खराब होने लगा था। क्रेको और पोरोनिन गांव की जलवायु लाभकारी सिद्ध नहीं हुई। अतः 1913 में बर्न जाना पड़ा। वे शीघ्र ही जुलाई के अन्त में पोरोनिन वापस आ गये। इस समय तक रूस में क्रान्तिकारी आन्दोलन निरन्तर जोर पकड़ता रहा। सन् 1914 में देशव्यापी जो हड़तालें हुई उनमें 15 लाख से अधिक श्रमिकों ने भाग लिया। आर्थिक प्रश्न राजनीतिक प्रश्नों के साथ जुड़ गये। अब रूस एक नयी क्रान्ति की ओर अग्रसर हो रहा था। बोल्शेविक एक और पार्टी सम्मेलन आयोजित कर रहे थे कि इसी समय विश्वयुद्ध छिड़ गया और कांग्रेस न हो सकी। ये युद्ध दो साम्राज्यवादी शक्तियों के मध्य में था। लेनिन ने युद्ध आरम्भ होते ही उसकी जोरदार शब्दों में कड़ी निन्दा की। शीघ्र ही असत्य आरोप लगाकर आस्ट्रिया के अधिकारियों ने गिरफ्तार कर लिया। पौलैण्ड और आस्ट्रिया के कार्यकर्ताओं ने लेनिन का समर्थन किया और यह सिद्ध कर दिया कि जो अधिकारियों ने आरोप लगाये हैं, निराधार हैं। अन्त में दो सप्ताह तक जेल में रहने के बाद लेनिन रिहा कर दिये गये।

अब ऐसी स्थिति नहीं थी कि वह आस्ट्रिया में अधिक समय तक रहें। अतः शासन से अनुमति प्राप्त करके स्विटजरलैण्ड जाने का निश्चय किया और वह वहाँ 27 मार्च सन् 1917 तक रहे। लेनिन और उसकी पार्टी ने युद्ध के विषय में सर्वहारा अन्तर्राष्ट्रीय-वाद का झण्डा ऊंचा रखा। लेनिन ने रूस के ही नहीं, वरन् यूरोपीय देशों के श्रमजीवियों से भी युद्ध के विरुद्ध युद्ध छेड़ने की घोषणा की। उन्होंने बताया कि पूंजीवादी, प्रतिक्रिया-वादी सरकारों के विरुद्ध शस्त्रों का उपयोग किया जाना चाहिए। यही क्रान्ति का आह्वान था। अतः उन्होंने साम्राज्यवादी युद्ध के विरुद्ध संघर्ष करने का एक स्पष्ट कार्यक्रम तैयार किया। उन्होंने युद्ध की प्रकृति, मजदूरवर्ग और उसकी पार्टी के कार्यभारों और कार्यनीति सम्बन्धी प्रश्नों का विशुद्ध विवेचन किया। लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी ने डटकर युद्ध का विरोध किया। राज्य दूमा के बोल्शेविक प्रतिनिधियों ने श्रमजीव

गर्न में जोर शोर से क्रान्तिकारी कार्यवाई प्रारम्भ की। अन्यायपूर्ण और न्यायपूर्ण युद्ध की विशद व्याख्या करके जनता को समझाया कि "मातृभूमि की रक्षा" का नारा मात्र ढोंग है। जब कि यह युद्ध अन्यायपूर्ण हो और यदि युद्ध न्यायपूर्ण हो तो मजदूरों को अवश्य ही मातृभूमि की रक्षा करनी चाहिए। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर लेनिन ने सन् 1915 तथा सन् 1916 के अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलनों में भाग लेकर लाभ उठाया। इस युद्ध काल में लेनिन को अत्यधिक यत्न और बड़ा परिश्रम करना पड़ा। आर्थिक स्थिति भी काफी दयनीय रही। लेनिन को अभी तक आर्थिक कठिनाइयों का ऐसा ज्ञान नहीं था। लेनिन की साहित्यिक कृतियाँ ही आय का मुख्य साधन थीं। इस समय युद्ध विरोधी राजनीतिक पुस्तकें और लेख छापने वाला प्रकाशक भला कहाँ मिलता। लेनिन सदैव से ही साधारण जीवन व्यतीत करते थे और मामूली कपड़े पहनते थे और अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति से ही सन्तुष्ट हो जाते थे। रहने के लिए मकान भी सुविधाजनक नहीं मिला था।

क्रान्तिकारी आन्दोलन का व्यावहारिक निर्देशन करने के अतिरिक्त लेनिन गहन सैद्धान्तिक अध्ययन में भी बहुत सा समय लगाते थे। उन्होंने विभिन्न देशों के सामाजिक जीवन के इतिहास के विषय में विश्व साहित्य का बहुत ही गम्भीर अध्ययन किया। उन्होंने ही नये युग का सार स्पष्ट किया जिसमें मानव जाति प्रवेश कर चुकी थी। अपनी कृति "साम्राज्यवाद, पूंजीवाद की चरम अवस्था" में लेनिन ने स्पष्ट किया।

युद्ध के विरुद्ध संघर्ष करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा हरावल थे। मो
पर हुई पराजयों, आर्थिक गड़बड़ी और दुर्भिक्ष ने यह स्पष्ट कर दिया कि ज
शाही बिल्कुल गल-सड़ चुकी है और देश का शासन चलाने के पूरी तरह अ
है। देश के सभी भागों में जारशाही नीति के विरुद्ध असन्तोष बढ़ा। लेनि
इस अनुभव को खूब समझ लिया था। 9 जनवरी, सन् 1917 को खूनी इ
की वर्षगांठ के अवसर पर पेत्रोग्राद में एक विराट् युद्ध विरोधी प्रदर्शन
अन्य नगरों में भी इसी प्रकार के प्रदर्शन हुए। फरवरी, सन् 1917 में बो
पार्टी के आह्वान पर मजदूरों ने एक आम राजनीतिक हड़ताल की। ला
संख्या में मजदूरों ने हड़तालों में भाग लिया। शीघ्र ही इस हड
राजनीतिक प्रदर्शन का रूप ले लिया। मजदूर राजधानी की सड़कों पर
के विरुद्ध नारे लगाते रहे। जारशाही ने आन्दोलन को कुचलने मे

[illegible] किया । मजदूर जनता की इस लहर को रोकने में [illegible] असमर्थ रही । [illegible] की मजदूरों ने [illegible] । मजदूरों के [illegible] करने में [illegible] [illegible] के लिए लड़े । रूसी क्रान्तिकारी मार्क्सवादी पार्टी के नेतृत्व में मजदूरों [illegible] भी पार्टी [illegible] हुई, जिन मजदूरों ने क्रान्तिकारी [illegible] [illegible] का [illegible] किया था [illegible] किया गया था । जारशाही [illegible] को पदच्युत किया और [illegible] प्रणाली [illegible] कर दी । लेनिन ने [illegible] से तार द्वारा [illegible] पार्टी के कार्यकर्ताओं को सचेत किया [illegible] राजसत्ता की नई [illegible] के लिए उनमें अदम्य [illegible] का परिचय दिया और निकट भविष्य में ही उन्हें अनिवार्य रूप से जमींदारों और पूंजीपतियों की सत्ता को खत्म करने के लिए वैसी ही वीरता का चमत्कार दिखाना होगा । क्रान्ति सफल होने पर रूस की श्रमजीवी जनता लेनिन के आने की प्रतीक्षा करने लगी, मगर अस्थायी सरकार ने उनके लौटने के मार्ग में विविध बाधाएँ खड़ी कीं । विदेशों में अपने एजेण्टों के नाम काली सूचियां भेजीं और ऐसी सूचियों में लेनिन और अनेक बाल्शेविक नेताओं के नाम थे । इन्हें मातृभूमि में पुनर्प्रवेश की आज्ञा देने से मना कर दिया था । अन्त में लेनिन बोल्शेविक तथा अन्य प्रवासियों के दल के साथ रूस लौटने की व्यवस्था करने में सफल हो गये और लगभग दस वर्षों के निर्वासन के पश्चात् 16 अप्रैल सन् 1917 को लेनिन पेत्रोग्राद लौटे। क्रान्तिकारी रूस ने अपने महान् नेता का अवर्णनीय उत्साह से स्वागत किया। हजारों की संख्या में मजदूर और मजदूरनी लेनिन के स्वागत के लिए फिनलैण्ड स्टेशन पर एकत्र हुए। क्रान्तिकारी सैनिकों और सोसेनिकों के दलों ने गार्ड आफ आनर की व्यवस्था की । लेनिन ने मजदूर जनता को स्टेशन पर ही जोशीला भाषण दिया ।

पेत्रोग्राद पहुँचने पर लेनिन शीघ्र ही अपने कार्य में जुट गये । 4 अप्रैल को उन्होंने बोल्शेविकों की एक सभा में बताया कि अस्थायी सरकार पूंजीपतियों तथा जमींदारों के हितों की रक्षा करती है । अस्थायी सरकार का किसी भी प्रकार समर्थन नहीं किया जाये । लेनिन ने समझाया कि सत्ता के सोवियतों के अधिकार में आने के पश्चात् ही जनता को शान्ति, किसानों को भूमि और भूखों को रोटी मिलेगी । आर्थिक क्षेत्र में पार्टी के कार्यों की रूपरेखा प्रस्तुत कर किसानों और मजदूरों को एकजुट होकर क्रान्ति को आगे बढ़ाने के लिए प्रेरित किया । इसके लिए उन्होंने पार्टी का सम्मेलन बुलाने के लिए जोर दिया पार्टी का नाम, कार्यक्रम आदि पर पुनर्विचार करना आवश्यक था । इसक

मुख्य उद्देश्य था कि जारशाही का तख्ता उलटने के पश्चात् सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी संघर्ष के पथ को आलोकित करना था। अतः सम्मेलन में समाजवादी क्रान्ति के संघर्ष के लिए लेनिन की योजना स्वीकार कर ली गयी और उसे व्यावहारिक कार्यवाहियों का आधार बनाया। अब बोल्शेविक पार्टी लेनिन के नेतृत्व में मजदूरों, सैनिकों और किसानों को पार्टी की नीति स्पष्ट करने, जनता को राजनीतिक शिक्षा देने, उसको संगठित करने का कार्य किया।

इस समय अस्थायी सरकार ने पूंजीपति वर्ग के संकेत पर चलते हुए मजदूरों द्वारा प्राप्त की गयी क्रान्तिकारी सफलताओं पर अधिकाधिक वार करने का प्रयत्न किया। यह सरकार साम्राजवादी युद्ध लड़ती रही और मोर्चे पर ढेरों सैनिक भेजती गयी। सैनिक दुखी थे। वह खून बहाते थे, परन्तु किसान मजदूरों की स्थिति सुधारने के लिए कुछ भी नहीं किया। जनसाधारण भी अस्थायी सरकार की पूंजीवादी नीति से असन्तुष्ट थे। इसी समय अस्थायी सरकार ने प्रदर्शनकारी मजदूरों पर गोलियां चलायीं। पेत्रोग्राद तथा अन्य स्थानों पर सेना ने सड़कों को खून से लथपथ कर दिया। बोल्शेविकों तथा मजदूर संगठनों पर घोर अत्याचार किये गये। बोल्शेविकों को जेल में डाल दिया गया। 5 जुलाई की रात्रि को जंकरों ने "प्राव्दा" के सम्पादकीय कार्यालय पर छापा मारा। लेनिन जो केवल आध घण्टा पूर्व कार्यालय में थे, बाल-बाल बचे। देश की पूरी सत्ता पूंजीवादी अस्थायी सरकार के हाथों में चली गयी।

अस्थायी सरकार ने लेनिन और बोल्शेविकों के विरुद्ध झूठा प्रचार प्रारम्भ किया, बोल्शेविक पार्टी को नेताहीन करने का प्रयत्न किया। इस सरकार ने लेनिन को अवैध घोषित किया। उनकी गिरफ्तारी का वारण्ट जारी किया और उन्हें पकड़ने तथा कत्ल करने का यत्न भी किया। अस्थायी सरकार के अध्यक्ष केरेन्स्की ने सरकार को लेनिन के विषय में सूचना देने वाले व्यक्ति को बहुत बड़ा प्रलोभन देने की घोषणा की। पूंजीवादी पत्र तथा पूंजीवादी वक्ता चिल्ला-चिल्ला कर कह रहे थे कि लेनिन जर्मनी का जासूस है और इसके प्रमाण पाये गये।

पूंजीपति वर्ग के अत्याचारों और गन्दे प्रचार के उत्तर में लेनिन ने पार्टी के विषय में बहुत गर्व से यह कहा "हमारी इसमें पूर्ण आस्था है, हम इसी पार्टी में अपने युग की चेतना, सम्मान और प्रतिष्ठा देखते हैं। साम्यवादी दल की क्रान्तिकारी मजदूरों ने अपने नेता की सुरक्षा की। केन्द्रीय समिति के निर्णय

अनुसार लेनिन रूपोश हो गये। साढ़े तीन महीनों से अधिक समय तक वे बहुत ही गुप्त ढंग से रहे और किसी भी समय अस्थायी सरकार के जासूसों के हाथ पड़ जाने की भारी जोखिम उठाकर उन्होंने लुक छिप कर कार्य किया।

कई दिनों तक वे पेत्रोग्राद के मजदूरों के घरों में रहे। फिर वे पेत्रोग्राद के समीप रज़लीव झील के तट पर एक झोंपड़ी में किसी किसान का भेष बनाकर टिके रहे। सेस्त्रोरेत्सक श्रमिक लेनिन की रक्षा और सहायता करता था। रूपोशी के समय में भी लेनिन पार्टी की कार्यवाइयों और रूसी मजदूर वर्ग के संघर्ष का निर्देशन करते रहे। केन्द्रीय समिति के सदस्य समय समय पर उनसे मिलने आते। लेनिन के सुझाव पर ही जुलाई की घटनाओं के बाद पार्टी ने अस्थायी रूप से "सारी सत्ता सोवियतों को दी जाये" का नारा त्याग दिया। कारण यह था कि मेन्शेविकों और समाजवादी क्रान्तिकारियों द्वारा निर्देशित सोवियतें अस्थायी सरकार की ही कठपुतलियाँ बन गयीं। अब सशस्त्र विद्रोह का प्रश्न ही सामने आ गया था। रूपोशी के स्थान से ही लेनिन ने पार्टी की छठी कांग्रेस का निर्देशन किया।

लेनिन ने कांग्रेस में हुए निश्चयों के आधार पर कारखानों, सेना और देहातों में बहुत बड़े पैमाने पर मजदूरों, सैनिकों, नौसैनिकों और किसानों के संगठन और स्पष्टीकरण का कार्य किया। लाल गार्डों के दस्ते बनाये गये। मजदूरों ने हथियार प्राप्त कर उनको चलाने का प्रशिक्षण लिया। इस समय तक लेनिन ने अपनी पुस्तक "राज्य और क्रान्ति" लिखी। इस पुस्तक के द्वारा पार्टी और मजदूर वर्ग को यह बात स्पष्ट रूप से समझा दी कि मजदूरों और किसानों का राज्य कैसा होना चाहिए।

इस समय तक लेनिन ने अपनी चिर-पोषित दाढ़ी मुड़ा डाली, और मूंछें कतर ली थीं। अब उनको पहचानना अत्यन्त कठिन हो गया। जाड़ा पड़ने लगा तो अगस्त के अन्त में लेनिन को फिनलैण्ड भेजने का प्रबन्ध किया गया। उन्होंने कोयला झोंकने वाले के भेष में एक भाप इन्जन के पावदान पर खड़े होकर फिनलैण्ड की सीमा पार की। प्रारम्भ में वे हेलसिंगफोर्स के निकट मजदूरों के घर में रहे और बाद में हेलसिंगफोर्स में आ गये। फिनलैण्ड के बोल्शेविक अपने प्राण देकर भी लेनिन की रक्षा करने के लिए प्रस्तुत थे।

जुलाई की घटनाओं के पश्चात् अब एक नयी परिस्थिति उत्पन्न हुई। क्रान्ति के लिए शान्तिपूर्ण समय बीत चुका था। अब तो गोलियों और संगीनों

वाले होती थीं। सोवियतों की शक्ति को समाप्त करके क्रान्ति विरोधी अस्थायी सरकार ने सारे अधिकार अपने हाथ में ले लिये थे। सोवियतें उनकी पूंछ मात्र रह गयी थी। मेन्शेविक और समाजवादी क्रान्तिकारी सोवियतों के संचालक थे। इसी लिए लेनिन ने पार्टी के दांव पेंचों को बदलना आवश्यक समझा।

इसी बीच रूस की स्थिति दिन ब दिन अधिकाधिक तनावपूर्ण होती जा रही थी। आर्थिक गड़बड़ी बढ़ गयी थी, ईंधन की कमी के कारण परिवहन व्यवस्था रुक गयी थी। नगरों में आवश्यक कच्चे माल और खाद्य वस्तुएं पहुंचनी बन्द हो गयी थी, चोरबजारी बढ़ रही थी और कीमतें चढ़ती जा रही थीं। पूंजीपति वर्ग ने इस स्थिति को जान बूझ कर और बिगाड़ दिया। पूंजीपतियों ने फैक्टरियों और कारखाने बन्द कर दिये और लाखों मजदूरों को भूखों मरने के लिए छोड़ दिया। इस प्रकार पूंजीपति वर्ग, सामन्त वर्ग और मेन्शेविकों तथा प्रतिक्रान्तिकारियों के द्वारा देश को तबाही की ओर ले गये। लेनिन ने इस परिस्थिति से बचने के मार्ग की ओर संकेत किया। उन्होंने बताया कि केवल समाजवादी निर्माण के मार्ग पर बढ़ते हुए देश को बचाया जा सकता है। फिनलैण्ड में लेनिन को देश की स्थिति की खबर रत्ती-रत्ती मिलती रही। घटनाओं का अध्ययन करने के उपरान्त उन्होंने पार्टी के लिए सही कार्य क्षेत्र, रणनीति और कार्यनीति निर्धारित कर केन्द्रीय समिति के समक्ष सशस्त्र विद्रोह को प्रेरित किया। उन्होंने योजना बना कर केन्द्रीय समिति को निर्देश दिये कि विद्रोह करने वाले दस्तों का एक मुख्य कार्यालय शीघ्र ही स्थापित करके शक्तियों का उचित विभाजन करके और सबसे निष्ठावान दस्तों को सबसे महत्वपूर्ण स्थानों पर नियुक्त किया जाये। सरकारी भवनों को घेरे में लिया जाये और टेलीफोन तथा तारघरों पर अधिकार कर लिया जाये। ऐसे जुझारू दस्ते तैयार करके सेना से लोहा लेने के लिए भेजे जायें। इन निर्देशों को केन्द्रीय समिति ने सारे देश में प्रचारित एवं प्रसारित किया। सितम्बर में लेनिन विबोर्ग आ गये जो कि पैत्रोग्राद के समीप था। इसी स्थान से। अक्टूबर को लेनिन ने शीघ्र ही विद्रोह करने को कहा। अक्टूबर को विद्रोह का नेतृत्व करने के लिए लेनिन विबोर्ग से पैत्रोग्राद आ गये। इसी समय कुछ बोल्शेविक मेन्शेविकों से जाकर मिल गये और पार्टी के गुप्त निर्णयों को बता दिया। यह पार्टी और लेनिन के प्रति अभूतपूर्व विश्वासघात था। अस्थायी सरकार ने सशस्त्र विद्रोह को रोक-थाम के लिए शीघ्र ही आवश्यकीय पग उठाये।

लेनिन ने निश्चय किया कि सोवियतों की दूसरी कांग्रेस के प्रारम्भ होने से पूर्व ही सशस्त्र विद्रोह कर दिया जाय। 25 अक्टूबर को सोवियतों की दूसरी

कोई खुनखराबी नहीं की। परन्तु विद्रोह 24 अक्टूबर को ही प्रारम्भ हो गया
और 25 अक्टूबर की सुबह तक विद्रोहियों का प्रभुत्व सभी स्थानों पर अधिका
हो गया। रात्रि भर लेनिन ने सशस्त्र विद्रोह का नेतृत्व किया। 10 बजे प्रा
श्रम मज़दूरों और सैनिकों के प्रतिनिधियों की पैट्रोग्राद सोवियत की सैनि
क्रान्तिकारी समिति ने एक घोषणा पत्र प्रसारित किया। घोषणा का प्रारूप लेनि
ने तैयार किया था और इसमें घोषणा थी कि अस्थायी सरकार का तख्ता उ
लटा गया है और अब सत्ता सोवियतों के हाथ में आ गयी है।" 11 बजे पैट्रो
ग्राद में सोवियत की ऐतिहासिक सभा प्रारम्भ हुई और लेनिन ने घोषित कि
क अब रूस के इतिहास में एक नवीन युग का सूत्रपात हुआ है। 25–26 अक्टू
की रात्रि को लेनिन ने शिशिर प्रासाद पर जहां अस्थायी सरकार के सदस्य थे अ
चौंक ही तूफानी हमला बोल कर अधिकार कर लिया और इस प्रकार पूँजीवा
सरकार का अन्तिम गढ़ भी जीत लिया गया। लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेवि
पार्टी रूस को महान् विजय की मंजिल तक ले गयी। अक्टूबर क्रान्ति की वि
लेनिन की रीति-नीति की विजय थी यह दृढ़ और कठोर कार्य, उस वीरता अ
तनावपूर्ण संघर्ष का परिणाम थी जो बोल्शेविक पार्टी अनेक वर्षों तक लेनिन
नेतृत्व में तय करती रही।

25 अक्टूबर सन् 1917 की सन्ध्या वेला में स्मोलनी में सोवियतों
दूसरी कांग्रेस प्रारम्भ हुई और उस कांग्रेस में लेनिन ने युद्धरत देशों की ज
और सरकारों के नाम यह अपील की कि मोर्चों पर तत्काल शान्ति सन्धि
कर लें। कांग्रेस ने शान्ति की आज्ञप्ति स्वीकार कर ली। इसके बाद लेनि
भूमि सम्बन्धी आज्ञप्ति प्रसारित की जिसके अनुसार भूमि पर जमींदारों
स्वामित्व बिना किसी मुआवजे के सदैव के लिए समाप्त कर दिया गया
इसे जनता की सम्पत्ति घोषित किया। इस प्रकार भूमि का निजी स्वामि
समाप्त हुआ और वह सार्वजनिक या राज्य का स्वामित्व बन गयी। कांग्रे
लेनिन को सरकार का अध्यक्ष निर्वाचित किया। इस प्रकार रूस में बोल्शे
की पूर्ण सत्ता स्थापित हो गयी। लेनिन ने बहुत थोड़े समय में देश में मू
राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तन किये। उत्पादन और वितरण के क्षे
मजदूरों की नियन्त्रण व्यवस्था लागू की। पूंजीपतियों से कारखाने
फैक्टरियाँ छीन कर जनता की सम्पत्ति बना दी। इस प्रकार लेनिन ने
समाजवादी व्यवस्था का अत्यधिक क्रान्तिकारी जनवादी स्वरूप दिया। ले
के इन सब कार्यों से श्रमजीवी जनता के मन पर गहरी छाप अंकित हुई।

6 मार्च, सन् 1918 को पेत्रोग्राद में सातवीं पार्टी कांग्रेस प्रारम्भ हुई। अक्टूबर क्रान्ति की विजय के पश्चात् यह पार्टी कांग्रेस पहली थी। लेनिन ने इसकी पूरी कार्यवाई का निर्देशन किया। कांग्रेस ने भी लेनिन के दृष्टिकोण का बहुमत से अनुमोदन किया। लेनिन ने पार्टी का नाम बोल्शेविक पार्टी से बदल कर 'साम्यवादी दल' रखा जिसको स्वीकार किया गया। कांग्रेस ने अब पार्टी का नया कार्यक्रम स्वीकार किया और सन् 1903 का स्वीकृत कार्यक्रम पूरा हो चुका था। 11 मार्च सन 1919 को सरकार ने मास्को में मुख्य कार्यालय बनाया जो सोवियत राज्य की राजधानी घोषित हुई।

जुलाई, सन् 1918 में सोवियतों को पांचवी काग्रेस बुला कर रूसी समाजवादी राज्य का प्रथम संविधान स्वीकार किया। देश और विदेश की पूंजीपति एवं साम्राज्यवादी इस समाजवादी देश को फूटी आंखो नहीं देखना चाहते थे। अतः सन् 1918 में पुनः पूंजीवादी देशों अमेरिका, ब्रिटेन, और फ्रान्स ने मुर्मान्स्क पर अधिकार कर समाजवादी रूस को युद्ध के लिए ललकारा। यहां तक कि जापान भी इन देशों के साथ युद्ध में उतर आया। रूस की लाल सेना लड़ाई में तपकर इस्पात की तरह सुदृढ़ बन कर मोर्चे पर लड़ी। साधनो का अभाव होने पर भी लेनिन के नेतृत्व में सेना डट कर लडी। लेनिन ने देश की सुरक्षा के लिए प्रत्येक प्रकार से अध्ययन किया और वे अपने अध्ययन कक्ष से प्रत्येक कोने में आदेश अनुदेश और हिदायतें भेजते थे। वे रात्रि भर कार्य करने में व्यस्त रहते थे। लेनिन ने जनता का आह्वान भी किया और प्रत्येक प्रकार से लाल सेना को सहायता देने के लिए निवेदन किया। इस प्रकार सारा देश लेनिन के सुदृढ़ हाथों, दृढ़ संकल्प और स्पष्ट क्रान्तिकारी विचारधारा के प्रति सचेत सजग था। उनका सन्देश ही देश को एक सूत्र मे बांधता था। इसी समय साम्राज्यवादियों से धन और प्रोत्साहन प्राप्त देश की क्रान्ति विरोधी शक्तियों ने सोवियत सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र रच कर लेनिन तथा उसके साथियो की हत्या की योजना बनायी और उसके लिए 30 अगस्त सन् 1918 को एक समाजवादी क्रान्तिकारी नारी कपलान ने पिस्तौल से लेनिन पर कई गोलियां चला दीं और बुरी तरह घायल किया। गोलियां जहरीली थीं। घावों के भरते ही उन्होंने पुनः पार्टी और देश का नेतृत्व सम्भाल लिया।

सन् 1918–19 के जाड़े मे पुनः लड़ाई प्रारम्भ हो गयी। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रान्स और जापान के साम्राज्यवादियों ने सोवियत रूस के विरुद्ध अपनी सेनायें भेजी और आक्रमण चारों ओर से किया गया। लगभग दस लाख सैनिकों

का जमाव था। लेनिन स्वयं खतरनाक मोर्चे पर लड़े और उन्होंने अपनी उस वीरता के उदाहरणों से सैनिकों को प्रेरणा दी। भारी कठिनाई और मुश्किल के समय मे साम्यवादी पार्टी अविचल रही, दृढ़ता से डटी रही। पार्टी का यह अडिग विश्वास बना रहा कि इसे अन्त में शत्रु पर विजय प्राप्त होगी। सोवियत देश को चौदह राज्यों की संयुक्त शक्तियों के विरुद्ध अपनी रक्षा करनी थी। विदेशी हस्तक्षेपकारियों और देश के क्रान्ति-विरोधियों को पराजित करने के लिए सभी यत्नों और साधनों को केन्द्रित करने में लेनिन लग गये। जब यह संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुंचा हुआ था, उसी समय पार्टी की आठवीं कांग्रेस बुलायी गयी। लेनिन ने जो आयोग गठित किया था उसका कार्यक्रम कांग्रेस में प्रस्तुत करके स्वीकृत करा लिया। लेनिन सोवियत सत्ता के निर्माण और देश की रक्षा करने में जुट गये थे।

पहली कांग्रेस ने तीसरे इन्टरनेशनल की स्थापना की घोषणा की। कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल की स्थापना लेनिन की बहुत बड़ी विजय थी। लेनिन ने कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल की अन्य कांग्रेस के कामों में भी भाग लिया। दूसरी कांग्रेस सन् 1920, तीसरी सन् 1921 और सन् 1922 मे हुई। उन्होंने सबसे महत्वपूर्ण आयोगों में कार्य किया। उन्होंने किसानों और जातीय समस्याओं, पददलित जातियों, उपनिवेशों के प्रश्न के प्रति दृष्टिकोण और साम्यवादियों की भूमिका तथा कार्यनीतियों के विषय मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल की कांग्रेसों के प्रमुख निर्णयों के प्रारूप भी लेनिन ने ही तैयार किये थे। विभिन्न देशों की कम्युनिस्ट पार्टियां, रूसी कम्युनिस्टों के अनुभव से परिचित हो सकें, जिससे कि उनके अनुभव से लाभ उठाया जा सके लेनिन ने सन् 1920 मे "वामपक्षी साम्यवादी—एक बचकाना मर्ज" पुस्तक लिखी। इस पुस्तक मे उन्होंने बोल्शेविक पार्टी के निर्माण, विकास संघर्ष और विजयों का पूरा इतिहास लिखा। उन्होंने इस बात का वर्णन किया कि बोल्शेविक पार्टी कैसे बढ़ी और विकसित हुई, कैसे और क्यों वह अपनी कठिनाइयों पर विजय पा सकी तथा इसके दीर्घ अनुभव से दूसरी साम्यवादी पार्टियां क्या सबक सीख सकती हैं।

सन् 1919 के अन्त मे शत्रुओं को लगभग सभी मोर्चों पर पराजित कर दिया और लेनिन ने तब देश की अधिकांश शक्ति का देश की अर्थ व्यवस्था के निर्माण, यातायात, ईंधन उद्योग और दूसरी महत्वपूर्ण चीजों की बहाली के लिए तुरन्त उपयोग किया। इसी समय पुनः साम्राज्यवादी शक्तियों की प्रेरणा पर

6 मार्च, सन् 1918 को पेत्रोग्राद में सातवीं पार्टी कांग्रेस प्रारम्भ हुई। अक्टूबर क्रान्ति की विजय के पश्चात् यह पार्टी कांग्रेस पहली थी। लेनिन ने इसकी पूरी कार्यवाई का निर्देशन किया। कांग्रेस ने भी लेनिन के दृष्टिकोण का बहुमत से अनुमोदन किया। लेनिन ने पार्टी का नाम बोल्शेविक पार्टी से बदल कर 'साम्यवादी दल' रखा जिसको स्वीकार किया गया। कांग्रेस ने अब पार्टी का नया कार्यक्रम स्वीकार किया और सन् 1903 का स्वीकृत कार्यक्रम पूरा हो चुका था। 11 मार्च सन 1919 को सरकार ने मास्को में मुख्य कार्यालय बनाया जो सोवियत राज्य की राजधानी घोषित हुई।

जुलाई, सन् 1918 में सोवियतों को पांचवी कांग्रेस बुला कर रूसी समाजवादी राज्य का प्रथम संविधान स्वीकार किया। देश और विदेश की पूंजीपति एवं साम्राज्यवादी इस समाजवादी देश को फूटी आंखों नहीं देखना चाहते थे। अतः सन् 1918 में पुनः पूंजीवादी देशों अमेरिका, ब्रिटेन, और फ्रान्स ने मुर्मान्स्क पर अधिकार कर समाजवादी रूस को युद्ध के लिए ललकारा। यहां तक कि जापान भी इन देशों के साथ युद्ध में उतर आया। रूस की लाल सेना लड़ाई में तपकर इस्पात की तरह सुदृढ़ बन कर मोर्चे पर लड़ी। साधनों का अभाव होने पर भी लेनिन के नेतृत्व में सेना डट कर लड़ी। लेनिन ने देश की सुरक्षा के लिए प्रत्येक प्रकार से अध्ययन किया और वे अपने अध्ययन कक्ष से प्रत्येक कोने में आदेश अनुदेश और हिदायतें भेजते थे। वे रात्रि भर कार्य करने में व्यस्त रहते थे। लेनिन ने जनता का आह्वान भी किया और प्रत्येक प्रकार से लाल सेना को सहायता देने के लिए निवेदन किया। इस प्रकार सारा देश लेनिन के सुदृढ हाथों, दृढ़ संकल्प और स्पष्ट क्रान्तिकारी विचारधारा के प्रति सचेत सजग था। उनका उद्देश्य ही देश को एक सूत्र में बांधता था। इसी समय साम्राज्यवादियों से धन और प्रोत्साहन प्राप्त देश की क्रान्ति विरोधी शक्तियों ने सोवियत सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र रच कर लेनिन तथा उसके साथियों की हत्या की योजना बनायी और उसके लिए 30 अगस्त सन् 1918 को एक समाजवादी क्रान्तिकारी नारी कपलान ने पिस्तौल से लेनिन पर कई गोलियां चला दी और बुरी तरह घायल किया। गोलियां जहरीली थीं। घावों के भरते ही उन्होंने पुनः पार्टी और देश का नेतृत्व सम्भाल लिया।

सन् 1918–19 के जाड़े में पुनः लड़ाई प्रारम्भ हो गयी। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रान्स और जापान के साम्राज्यवादियों ने सोवियत रूस के विरुद्ध भारी सेनायें भेजी और आक्रमण चारों ओर से किया गया। लगभग दस लाख सैनिकों

पोलैण्ड के जमींदारों और पूंजीपतियों ने देश पर आक्रमण कर दिया, 5 मई सन् 1920 को युद्ध मोर्चे पर लाल सेना ने शीघ्र उस आक्रमण को असफल बना दिया।

सन् 1922 में उनका स्वास्थ्य अधिक खराब हो गया। मगर इतनी अस्वस्थता के होते हुए भी प्रतिदिन राज्य सम्बन्धी कार्य भली-भांति सम्पादित करते रहे। मार्च, सन् 1922 में ग्यारहवीं पार्टी कांग्रेस बुलाने का आदेश दिया। यही अन्तिम पार्टी कांग्रेस थी जिसमें लेनिन ने भाग लिया। उन्होंने अपनी सारी मानसिक और शारीरिक शक्ति लगाकर इन चार पांच वर्षों में कठोर परिश्रम किया था, अब उसका दुष्प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर तेजी से पड़ने लगा था। कांग्रेस में इस स्थिति में भी उन्होंने केन्द्रीय समिति की ओर से राजनैतिक रिपोर्ट प्रस्तुत की। सन् 1922 की ग्रीष्मऋतु में वह मास्को के समीप ही गोर्की नामक स्थान पर चले गये। मई के अन्त में सख्त बीमार हुए। कुछ सुधार होने पर पुनः कामकाज सम्बन्धी पत्र व्यवहार प्रारम्भ कर दिया। पुस्तकें पढ़ने की रुचि अधिक थी, परन्तु डाक्टरों ने पुस्तक पढ़ना बिलकुल रोक दिया था।

13 नवम्बर, सन् 1922 को लेनिन ने कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल की चौथी कांग्रेस में रूसी क्रान्ति के पांच वर्ष और विश्व क्रान्ति की सम्भावना पर भाषण दिया। लेनिन ने यह भी प्रतिनिधियों को बताया कि सोवियत सत्ता ने नयी आर्थिक नीति के आधार पर क्या उपलब्धियां प्राप्त कीं। लेनिन ने यह भी कहा कि कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत और सोवियत राज्य की सही नीति के फलस्वरूप ये सफलतायें प्राप्त हुईं। 20 नवम्बर, सन् 1922 को भाषण देते हुए लेनिन ने कहा कि साम्राज्यवादियों और हस्तक्षेपकारियों को कुचल दिया गया है। इसी महीने लेनिन पुनः सख्त बीमार हो गये। जनवरी, सन् 1923 में लेनिन कुछ स्वस्थ हुए। इसी अवधि में उन्होंने अपने प्रसिद्ध लेख अनेक विषयों पर लिखे। ग्यारहवीं कांग्रेस जो सन् 1923 में हुई थी, उसमें लेनिन सम्मिलित न हो सके, परन्तु फिर भी उन्होंने उसके लिए निर्देश और रिपोर्ट तैयार करायी थी जो प्रस्तुत हुई और स्वीकार कर ली गयी। उसके बाद लेनिन का स्वास्थ्य बिगड़ता ही गया। मई में फिर वे गोर्की चले गये। गर्मी समाप्त होते-होते उनका कुछ स्वास्थ्य ठीक अवश्य हुआ। 18 और 19 अक्टूबर के दो दिन मास्को में व्यतीत किये। इसी समय सुदूर सोवियत रूस से आये हुए किसानों और मजदूरों के डेलीगेटों से भी मिलें। 'यह उनकी अन्तिम भेंट थी। 21 जनवरी, सन् 1924 की सन्ध्या बेला में 6 बज कर 50 मिनट पर मस्तिष्क के

[illegible] के [illegible], मालिकों तथा [illegible] [illegible], [illegible]
पूंजी पर नियंत्रण, इन सब बातों से कम सामाजिक तथा जातीय उत्पीड़न
सम्पूर्ण साम्राज्यवादी व्यवस्था के अन्तर्विरोधों के केन्द्रबिन्दु और इस प्रकार
के सबसे कमजोर कड़ी बन गया था। ऐसे ही समय इसने संसार को लेनिनवाद
अर्थात् नयी ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुरूप समृद्ध तथा विकसित मार्क्सवाद
प्रदान किया। मार्क्सवाद का यह गुणात्मक विकास अविच्छिन्न रूप से लेनिन
नाम से सम्बद्ध था।

इस प्रतिभासम्पन्न दार्शनिक और अविचल क्रान्तिकारी ने श्रमजीवी व
के क्रान्तिकारी संघर्ष के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन अर्पित कर दिया था। उन
सैद्धान्तिक कार्यकलाप सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी संघर्ष और सोवियत संघ
समाजवाद के निर्माण से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध था। उन्होंने न केवल वैज्ञानि
समाजवाद के सिद्धान्त को विकसित किया, वरन् सोवियत संघ में समाजवा
निर्माण की ठोस योजना तैयार की और उसके व्यावहारिक कार्यान्वयन को स
निर्देशित किया। अतः लेनिनवाद नये युग का साम्राज्यवाद और सर्वह
तियों के युग का पूंजीवाद से समाजवाद में संतरण एवं साम्यवादी समा
के निर्माण के युग का मार्क्सवाद है। उनके विचार इस प्रकार समाज
जवादी पुनर्गठन के संघर्ष में एक के बाद दूसरी पीढ़ी को अनुप्राणित क
हैं और करते रहेंगे। लेनिनवाद क्रान्तिकारी विचार तथा क्रान्तिकारी क्रि
ता का चिरन्तन स्रोत है। लेनिन का नाम नये संसार का प्रतीक
नवाद के सिद्धान्त निम्नांकित हैं :—

त्मक भौतिकवाद की पुनर्व्याख्या

हीगेल्स तथा मार्क्स ने द्वन्दवाद के सिद्धान्त के आधार पर ऐतिहासि
हास को समझाया था। हीगेल ने इस सिद्धान्त का आध्यात्मीकरण किया
र्क्स ने इसे भौतिकवादी रूप दिया। एक ने आदर्शवादी और दूसरे ने समा
दी दर्शन प्रस्तुत किया। मार्क्स के समाजवादी दर्शन का आधार ही द्व
क भौतिक था। इस बीच कुछ वैज्ञानिक विज्ञान के दर्शन का प्रतिपादन
ये। साथ ही बर्नस्टीन ने मार्क्सवाद के विरोध में अपने विचार रखे।
रिणाम यह हुआ कि अनेक मार्क्स के अनुयायी मार्क्सवाद से अपनी आस्था ह
ये थे। अतः लेनिन ने द्वन्दात्मक भौतिकवाद की पुनर्व्याख्या करके मार्क्स
ो नष्ट होने से बचाने का प्रयास किया।

लेनिनवाद

19 वीं शताब्दी के अन्त में जब पूँजीवाद साम्राज्यवाद की स्थिति में आ रहा था, वैज्ञानिक समाजवाद परिपक्व हो चुका। 19 वीं शताब्दी के अन्त तथा 20 वीं शताब्दी के प्रथम चरण में ऐतिहासिक परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन हुए। पूँजीवाद ने अपनी अन्तिम अवस्था साम्राज्यवाद में प्रवेश किया। साम्राज्यवाद के उदय के साथ ही आर्थिक और सामाजिक अन्तर्विरोध प्रखर होते गये। अपेक्षाकृत शान्तिपूर्ण विकास के ऐतिहासिक काल का स्थान सामाजिक तूफानों तथा क्रान्तिकारी उथल पुथल के काल ने ले लिया। सामाजिक सम्बन्धों में आमूल परिवर्तनों के इस युग के साथ ही वैज्ञानिक तथा तकनीकी क्रान्ति का दौर प्रारम्भ हुआ। वैज्ञानिक तथा तकनीकी उपलब्धियां बड़ी स्पष्टता के साथ यह प्रकट करती हैं कि पूँजीवाद, जो ऐतिहासिक दृष्टि से केवल संक्रमणशील सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था है, मानव जाति की सामाजिक, वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति में अधिकाधिक बाधक सिद्ध हो रहा है। पूँजीवाद से समाजवाद द्वारा स्थान ग्रहण की ऐतिहासिक अनिवार्यता अपरिहार्य स्वीकरणीय बनती जा रही है।

जब से नवीन परिस्थितियां पैदा हुईं तो मौलिक सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए मार्क्सवाद के सृजनात्मक विकास में सम्बद्ध नया दृष्टिकोण अपनाना स्वाभाविक रूप से आवश्यक हो गया। राष्ट्रीय मुक्ति तथा जनवादी आन्दोलनों के साथ सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलनों के नये अनुभव का और नवीनतम वैज्ञानिक एवं तकनीकी उपलब्धियों का सामान्यीकरण करना भी अनिवार्य हो गया। यह इसलिए और भी आवश्यक हो गया कि मार्क्सवाद की विरोधी शक्तियां अधिक सक्रिय हो गयी थीं और वैज्ञानिक समाजवाद सिद्धान्त और व्यवहार पर अपने हमलों को तेज कर रही थी, जो उस समय संसार भर में अधिकाधिक श्रमजीवियों के मस्तिष्क पर हावी हो रहा था।

19 वीं शताब्दी के अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तिकारी और विशेष रूप से श्रमिक आन्दोलन का केन्द्र सोवियत संघ की ओर खिसकने लगा, उस समय तक समाजवादी क्रान्ति की परिस्थितियाँ परिपक्व हो रहीं थी। यद्यपि अभी सोवियत संघ खेतिहर देश था, परन्तु उसमें पूँजीवाद तीव्रगति से विकसित हो रहा था और औद्योगिक उत्पादन अत्यन्त संकेन्द्रित हो गया था। उसका सर्वहारा वर्ग मुख्यतः औद्योगिक श्रमिकों का बना था। श्रमिकों के निर्मम शोषण, किसानों की जमीन की भूख और गरीबी, जनता की अधिकारहीनता, जातीय

वर्ग के हितों का। इनमें से वह सर्वहारा वर्ग के विज्ञान को उच्चतर मानता है क्योंकि उसके मत से यह भविष्य की गतिविधियों का प्रतिनिधित्व करता है, जिसके अन्तर्गत सामाजिक प्रगति के मार्ग में यह वर्ग ऊपर उठने की दिशा में प्रवृत्त रहेगा। मध्यम वर्ग तो केवल पूंजीवाद के विनाश मे विलम्बकारी पद्धति है। यह प्रतिक्रियावादी होता है। इस प्रकार लेनिन ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को आगे बढ़ाया। ऐसा करके लेनिन ने दर्शन में बहुत बड़ा योगदान किया है। फलतः इतिहास असम्बद्ध तथ्यों का अस्तव्यस्त समूह नहीं रह गया। वह द्वन्द्वात्मक नियमों द्वारा अधिशासित क्रमबद्ध एवं सामंजस्य युक्त प्रक्रिया के रूप मे सामने आया। इसी विकास की प्रक्रिया मे मानव जाति सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकती है।

साम्राज्यवाद—पूंजीवाद की सर्वोच्च मंजिल

लेनिन ने साम्राज्यवाद को ऐतिहासिक स्थिति को दर्शाया। उन्होंने प्रमाणित किया कि साम्राज्यवाद समाजवादी क्रान्ति की पूर्ववेला है। लेनिन ने लिखा कि साम्राज्यवाद के फलस्वरूप उत्पादन का अत्यन्त व्यापक समाजीकरण हो जाता है। परन्तु यह निजी स्वामित्व पर आधारित वितरण सिद्धान्त को बनाये रखता है, निजी आर्थिक सम्बन्ध और निजी स्वामित्व के सम्बन्ध उस खोल के समान हैं जो अब अपने अन्तर्य के अनुरूप नहीं रहा। वह ऐसा खोल है जो अनिवार्यतः नष्ट होगा—और जिसे अपरिहार्य रूप से दूर कर दिया जायेगा। पूंजीवाद के अन्तर्विरोधों के बहुत ही तीव्र हो जाने से समाजवादी क्रान्ति न केवल सम्भव वरन् आवश्यक और अपरिहार्य हो जाती है। समाजवादी क्रान्ति श्रमजीवी वर्ग का फौजी कार्यभार बन जाता है।

निर्बाध प्रतिद्वन्द्वता के स्थान पर इजारेदारों की प्रभुता साम्राज्यवाद का मुख्य लक्षण है। इजारेदारियां पूंजीपतियों के विशाल संघ ही हैं, जिन्होंने यथासम्भव अधिकतम लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से उत्पादित सभी वस्तुओं के अधिकांश के उत्पादन तथा बिक्री को अपने हाथों में संकेन्द्रित कर रखा है। अधिकाधिक लाभ अर्जित करने की अपनी प्रवृत्ति के कारण साम्राज्यवादी स्वयं अपने देश के और उपनिवेशों तथा पराधीन देशों के श्रमजीवियों का और अधिक निर्मम शोषण करने लगते हैं। अपने मध्य संसार का विभाजन कर लेने के पश्चात् वे उसके पुनर्विभाजन के लिए घोर संघर्ष करते हैं।

साम्राज्यवाद के अन्तर्गत पूंजीवादी समाज के सभी अन्तर्विरोध बहुत ही तीव्र हो जाते हैं और उत्पादन शक्तियों तथा उत्पादन सम्बन्धों, उत्पादन शक्तियों

लेनिन ने अपनी रचना 'भौतिकवाद और अनुभवसिद्ध आलोचना' में मार्क्सवाद तथा विज्ञान का विवेचन किया है और भौतिकवाद तथा द्वन्दवाद का भी विवेचन करके इनके मध्य सम्बन्ध दर्शाने का प्रयास किया। लेनिन के मतानुसार द्वन्दवाद ज्ञान तथा कार्य के मध्य दार्शनिक रहस्य के समाधान की कुंजी है। द्वन्दवाद एक सार्वभौम सिद्धान्त है जो प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक वस्तु के मध्य एक जीवित सम्बन्ध दर्शाता है। यह अतीत तथा वर्तमान के मध्य सम्बन्धों का ज्ञान कराता है अर्थात् यह ज्ञान कराता है कि अतीत में क्या हुआ था और उसके आधार पर भविष्य में क्या होगा। लेनिन के मत मे वस्तुपरक वास्तविकता चेतना से पृथक होती है। यह वास्तविकता मनुष्य के ज्ञानेन्द्रियो को प्रभावित करती है। इसी से ज्ञान प्राप्त होता है स्वयं मस्तिष्क ज्ञान प्राप्त करने में सक्रिय तत्व नहीं होता। अपितु ज्ञान तथा चेतना की उत्पत्ति पदार्थों से ज्ञानेन्द्रियों पर पडने वाले प्रभावों से होती है। अतः पदार्थ जगत की वास्तविकता है। जैसा कि लेनिन ने लिखा है, "जीवन का व्यवहार का दृष्टिबिन्दु ज्ञान के सिद्धान्त में प्रथम और मौलिक होना चाहिए और यह हमें अनिवार्य तथा भौतिकवाद के निकट पहुँचा देता है। लेनिन आर्थिक नियतिवाद को महत्व देते हुए यह दर्शाते हैं कि आर्थिक पद्धतियाँ ही भूत तथा वर्तमान के मध्य सम्बन्ध निर्धारित करती हैं।

लेनिन ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्दात्मक भौतिकवाद एक अकाट्य सिद्धान्त है। द्वन्दात्मक भौतिकवाद की पुनर्व्याख्या करते हुए लेनिन ने यह दर्शाया है कि केवल दो ही दार्शनिक पद्धतियां हो सकती है, प्रथम, आदर्शवाद तथा द्वितीय भौतिकवाद। इन दोनों से लेनिन का अभिप्रायः द्वन्दवाद पर आधारित हीगेल एवं मार्क्स द्वारा प्रतिपादित पद्धतियों से था। उसका मत था कि आदर्शवाद मिथ्या है क्योंकि इसमे कोई वस्तुपरक सत्य नहीं है। यह शासकों को उच्च स्थिति मे रखकर उनके द्वारा शासित वर्ग का शोषण करने की शिक्षा देता है। वस्तुपरक सत्य का ज्ञान भौतिकवाद द्वारा ही हो सकता है। लेनिन मैक सदृश भौतिक शास्त्रियो द्वारा प्रतिपादित दो पद्धतियों के मध्य वैज्ञानिक प्रत्यक्षवाद जैसी किसी तीसरी पद्धति के अस्तित्व का विरोध करता है। ऐसी धारणा को वह मूर्खतापूर्ण तथा बुर्जुआ कहता है और उनके मतानुसार ऐसी धारणा सामान्य सिद्धान्तों के विरुद्ध है। द्वन्दात्मक भौतिकवाद की संरचना के अन्तर्गत लेनिन दो प्रकार के सामाजिक विज्ञानो की सम्भावना को मानता है, जिनमें एक मध्यम वर्ग के हितों का पोषक है और दूसरे सर्वहारा

वर्ग के हितों का। इससे वे वह सर्वहारा वर्ग के विकास को उन्नततर मानता है क्योंकि उसके मन में यह भविष्य की गतिविधियों का प्रतिनिधित्व करता है, जिसके अन्तर्गत सामाजिक प्रगति के मार्ग में यह वर्ग ऊपर उठने की दिशा में प्रवृत्त रहेगा। मध्यम वर्ग तो केवल पूंजीवाद के विनाश में विनम्रकारी पद्धति है। वह प्रतिक्रियावादी होता है। इस प्रकार लेनिन ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को आगे बढ़ाया। ऐसा करके लेनिन ने दर्शन में बहुत बड़ा योगदान किया है। फलतः इतिहास असम्बद्ध तथ्यों का अस्तव्यस्त समूह नहीं रह गया। वह द्वन्द्वात्मक नियमों द्वारा अधिशासित क्रमबद्ध एवं सामंजस्य युक्त प्रक्रिया के रूप में सामने आया। इसी विकास की प्रक्रिया में मानव जाति सच्ची स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकती है।

साम्राज्यवाद—पूंजीवाद की सर्वोच्च मंजिल

लेनिन ने साम्राज्यवाद की ऐतिहासिक स्थिति को दर्शाया। उन्होंने प्रमाणित किया कि साम्राज्यवाद समाजवादी क्रान्ति की पूर्ववेला है। लेनिन ने लिखा कि साम्राज्यवाद के फलस्वरूप उत्पादन का अत्यन्त व्यापक समाजीकरण हो जाता है। परन्तु यह निजी स्वामित्व पर आधारित वितरण सिद्धान्त को बनाये रखता है, निजी आर्थिक सम्बन्ध और निजी स्वामित्व के सम्बन्ध उस खोल के समान हैं जो अब अपने अन्तर्य के अनुरूप नहीं रहा। वह ऐसा खोल है जो अनिवार्यतः नष्ट होगा—और जिसे अपरिहार्य रूप से दूर कर दिया जायेगा। पूंजीवाद के अन्तर्विरोधों के बहुत ही तीव्र हो जाने से समाजवादी क्रान्ति न केवल सम्भव वरन् आवश्यक और अपरिहार्य हो जाती है। समाजवादी क्रान्ति श्रमजीवी वर्ग का फौजी कार्यभार बन जाता है।

निर्बाध प्रतिद्वन्द्वता के स्थान पर इजारेदारी की प्रभुता साम्राज्यवाद का मूल्य लक्षण है। इजारेदारियां पूंजीपतियों के विशाल संघ ही हैं, जिन्होंने यथासम्भव अधिकतम लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से उत्पादित सभी वस्तुओं के अधिकांश के उत्पादन तथा बिक्री को अपने हाथों में सकेन्द्रित कर रखा है। अधिकाधिक लाभ अर्जित करने की अपनी प्रवृत्ति के कारण साम्राज्यवादी स्वयं अपने देश के और उपनिवेशों तथा पराधीन देशों के श्रमजीवियों का और अधिक निर्मम शोषण करने लगते हैं। अपने मध्य संसार का विभाजन कर लेने के पश्चात् वे उसके पुनर्विभाजन के लिए घोर संघर्ष करते हैं।

साम्राज्यवाद के अन्तर्गत पूंजीवादी समाज के सभी अन्तर्विरोध बहुत ही तीव्र हो जाते हैं और उत्पादन शक्तियों तथा उत्पादन सम्बन्धों, उत्पादक शक्तियों

के सामाजिक स्वरूप और उनके विकास के निजी पूंजीवादी ढंग के मध्य अन्त-र्विरोधों के प्रसंग में यह बात विशेषरूप से लागू होती है। निजी स्वामित्व तथा शोषण पर आधारित उत्पादन के पूंजीवादी सम्बन्ध उत्पादन के विकास में अधिकाधिक बाधा प्रस्तुत करते हैं।

उत्पादन के विकास के उच्चस्तर के फलस्वरूप बहुत बड़ी मात्रा में भौतिक वस्तुएं तैयार होती हैं, परन्तु निजी स्वामित्व पर आधारित वितरण सिद्धान्त के कारण जन संख्या का भारी बहुमत उन्हें प्राप्त करने तथा उनके उपभोग करने में असमर्थ होता है। फलतः प्राय: आर्थिक संकट पैदा होते रहते हैं, जो वस्तुओं के अत्युत्पादन और उनके लिए मण्डियां पाने की अत्यधिक कठिनाइयों में प्रकट होते हैं। ऐसी स्थिति में या तो उद्यमों को बन्द कर दिया जाता है अथवा उत्पादन में कमी कर दी जाती है। फलतः बेकारी बढ़ती जाती है, श्रमजीवी लोगों का स्तर गिरता है और व्यापारिक और वित्तीय व्यवस्था भंग हो जाती हैं। इन संकटों से उत्पादन का विकास न केवल अवरुद्ध हो जाता है, वरन् बहुधा बहुत ही पिछड़ जाता है।

निस्सन्देह अधिकतम लाभ अर्जित करने के इजारेदारियां पुरानी मशीनों के स्थान पर नयी मशीनें लगाने और उत्पादक शक्तियों को सुधारने को विवश होती हैं। परन्तु अपने उत्पादन में सुधार करते हुए इजारेदारियां अपने प्रति-द्वन्दियों को वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रगति से अवगत नहीं होने देती, वैज्ञानिक सूचनाओं के आदान-प्रदान को प्रतिबन्धित करती हैं और इस प्रकार वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति में बाधा डालती हैं। बहुधा वैज्ञानिक तथा तकनीकी उप-लब्धियों का उपयोग जनसाधारण के अनिष्ट के लिए किया जाता है। उदा-हरणार्थ युद्ध की तैयारी तथा उसे चलाने के लिए। फलतः लाखों व्यक्ति मौत के मुह में झोंक दिये जाते हैं और विपुल भौतिक सम्पदा नष्ट हो जाती है। संक्षेप में उत्पादन के पूंजीवादी सम्बन्धों की सीमा के अन्तर्गत पूंजीवादी निजी स्वामित्व के भीतर बहुत ही विकसित उत्पादक शक्तियां अपने को आबद्ध पाती हैं। वर्ग संघर्ष की तीव्रता में प्रकट होने वाले उत्पादन की पूंजीवादी पद्धति का यह अन्तर्विरोध समाजवादी क्रान्ति का आर्थिक आधार है। इस प्रकार समाज-वादी क्रान्ति सार्वजनिक स्वामित्व द्वारा निजी पूंजीवादी स्वामित्व का स्थान ग्रहण एक ऐतिहासिक अनिवार्यता है। सामाजिक प्रगति के लिए उत्पादन का विकास करने की अनिवार्य आवश्यकताओं से यही निष्कर्ष निकलता है। यह पूंजीवाद की साम्राज्यवादी अवस्था में उसके अन्तर्विरोधों को बढ़ जाने का

रणाम है। यही कारण साम्राज्यवाद पूँजीवाद के विकास की अन्तिम अवस्था
। नये समाजवादी समाज के आविर्भाव का द्योतक है।

क देश में समाजवाद के विजयी होने की सम्भावना

समाजवाद की व्यावहारिक उपलब्धि के लिए पूंजीवाद के अन्तर्गत, विशेष
र पूंजीवाद की अन्तिम साम्राज्यवादी अवस्था के दौरान, गठित बड़े पैमाने का
श्रीकृत तथा बहुत ही समाजीकृत अवस्था के दौरान गठित उत्पादन अपेक्षित
। ऐसे समाज के निर्माण के लिए जिसमें शोषण नहीं होता, तथा प्रत्येक अपनी
मतानुसार श्रम करता है और अपने कार्य के अनुसार वेतन पाता है, कल्पनाओं
विचरण करना ही काफी नहीं है। समाज के सभी सदस्यों के लिए यथार्थ
प में मानवोचित निर्वाह की परिस्थितियों को पैदा करने में सक्षम बड़े पैमाने
सुविकसित सामाजिक उत्पादन के रूप में वस्तुगत पूर्वापेक्षायें आवश्यक हैं।
माजवादी समाज का निर्माण निर्धनता और समतावाद के आधार पर नहीं,
रन् बड़े पैमाने के उत्पादन में सामूहिक श्रम द्वारा सृजित वर्द्धमान सामाजिक
म्पदा के आधार पर ही हो सकता है। लेकिन इस लक्ष्य को समाजवादी क्रांति
ूंजीवादी क्रान्तिकारी साधनों के विनाश और समाजवाद की स्थापना द्वारा ही
ाप्त किया जा सकता है।

वैज्ञानिक समाजवाद के प्रवर्तक मार्क्स और एंगेल्स ने पूंजीवाद के विनाश
ौर समाजवाद की विजय की अनिवार्यता वैज्ञानिक दृष्टि से प्रमाणित की थी।
रन्तु वे जिस काल में रह रहे थे, उसमें पूंजीवाद लगातार और कमोवेश समान
ाति से विकास कर रहा था। इस कारण उन्हें विश्वास था कि सर्वहारा क्रान्ति
सभी अथवा अधिकांश सभ्य देशों में एकमात्र विजयी हो सकती है।

परन्तु 19वीं शताब्दी के अन्त तथा 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब
ूँजीवाद ने साम्राज्यवादी अवस्था में प्रवेश किया तो समाजवादी क्रान्ति की
परिस्थितियां सर्वथा बदल चुकी थी। लेनिन ने क्रान्तिकारी सिद्धान्त को विकसित
करके साम्राज्यवादी युग के अनुरूप बनाया।

प्रारम्भ में एक अलग देश में समाजवाद के विजयी होने की सम्भावना का
प्रख्यात निरूपण लेनिन के समाजवादी क्रान्ति के सिद्धान्त का सर्वाधिक महत्व-
पूर्ण तत्व है। इसे प्रमाणित करते समय लेनिन ने इस तथ्य को दृष्टि में रखा
कि आजकल की भांति उस समय पूंजीवादी देश बहुत ही असमान दर से इकाइयें
अलग-अलग कर विकसित हो रहे थे। पहले के पिछड़े हुए देश आर्थिक तथा

राजनीतिक दृष्टि से विकसित देशों के समकक्ष पहुंच कर उनसे आगे निकल जाते हैं। इससे शक्ति सन्तुलन गड़बड़ा जाता है, संघर्ष पैदा होते हैं और पूंजीवाद देशों का संयुक्त मोर्चा कमजोर होता है। विश्व पूंजीवाद की स्थिति कमजोर हो जाती है तथा साम्राज्यवादी श्रृंखला को उसकी सबसे कमजोर कड़ी तोड़ देने की सम्भावना पैदा हो जाती है। लेनिन ने लिखा "विभिन्न देशों में पूंजीवाद का विकास बहुत ही असम में होता है। पण्य-उत्पादन की दशा में इससे भिन्न बात हो भी नहीं सकती। इससे निर्विवाद रूप में यह निष्कर्ष निकलता है कि समाजवाद सभी देशों में एक साथ विजय नहीं प्राप्त कर सकता। प्रारम्भ में यह एक देश अथवा कई देशों में विजयी होगा, जब कि दूसरे देश पूंजीवाद अथवा प्राक्-पूंजीवादी बने रहेंगे।

यह प्रमाणित करके कि प्रारम्भ में एक देश में समाजवाद का विजयी होना सम्भव है लेनिन ने यह भविष्यवाणी भी की कि विश्व में समाजवादी क्रान्ति कैसे विकसित होगी। अधिकाधिक देश साम्राज्यवादी श्रृंखला से अलग हो जायेंगे, जब कि अन्य देश पूंजीवादी तथा प्राक्-पूंजीवादी बने रहेंगे। लेनिन ने पूंजीवाद से समाजवाद की ओर मानव जाति के संक्रमण को एक घटना के रूप में नहीं वरन पूरे ऐतिहासिक युग के रूप में देखा।

समाजवादी क्रान्ति के मार्क्सवादी सिद्धान्त को विकसित करते हुए लेनिन ने समसामयिक संसार के जटिल चित्र को ध्यान में रखा था। पूंजीवादी तथा प्राक् पूंजीवादी दोनों प्रकार के देशों का अस्तित्व, उपनिवेशों और ऐसे देशों का अस्तित्व जिन्हें अभी पूंजीवादी जनवादी क्रान्ति की समस्याओं को हल करना था, जबकि सभी देशों में विभिन्न वर्गों, सामाजिक श्रेणियों आदि का अस्तित्व पाया जाता है। फलतः लेनिन इसी निष्कर्ष पर पहुंचे कि साम्राज्यवाद के अन्तर्गत "विशुद्ध" समाजवादी क्रान्तियां नहीं हो सकती। लेनिन ने लिखा कि यह नहीं सोचना चाहिये कि एक सेना एक स्थान में पंक्तिबद्ध खड़ी होकर यह कहे, हम समाजवाद के पोषक हैं तथा दूसरी सेना किसी अन्य स्थान में इसी प्रकार खड़ी होकर कहे, हम साम्राज्यवाद के पोषक हैं, और यही सामाजिक क्रान्ति होगी। जो भी विशुद्ध सामाजिक क्रान्ति की आशा लगाये बैठा है, वह इसे कभी नहीं देख पायेगा। वह केवल कथनों में क्रान्तिकारी है जो यह नहीं समझता कि वास्तविक क्रान्ति क्या है। लेनिन के मतानुसार क्रान्तिकारी प्रक्रिया प्रत्येक तथा सभी उत्पीड़ित तथा असन्तुष्ट तत्वों के जन संघर्ष का उभार है। इस प्रक्रिया में श्रमिक आन्दोलन, कृषक आन्दोलन, राष्ट्रीय मुक्ति

आन्दोलन और साम्राज्यवाद के विरुद्ध सभी जनवादी आन्दोलन समाविष्ट होते हैं।

लेनिन ने इस सम्बन्ध में इस बात पर जोर दिया कि साम्राज्यवाद की जड़ खोदने वाली सभी क्रान्तिकारी शक्तियों के साथ श्रमिक वर्ग को सुदृढ़ सश्रय स्थापित करना चाहिए। उन्होंने संकीर्णता और अन्य श्रमजीवी लोगों तथा जनवादी शक्तियों से श्रमजीवी वर्ग में अलग-अलग पड़ जाने का डटकर विरोध किया। लेनिन का तात्पर्य किसी भी प्रकार के संश्रय से नहीं वरन् ऐसे सश्रय से था जिसमें नेतृत्वकारी भूमिका मजदूर वर्ग की थी जिसे वह क्रान्तिकारी शक्ति मानते थे।

क्रान्तिकारी दल के संस्थापक

लेनिन यह नहीं मानते थे कि साम्राज्यवादी युग में प्रत्येक क्रान्तिकारी अगर समाजवादी होगा और यह कि इसके फलस्वरूप सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित होगा, यद्यपि कई देशों में वह इसकी सम्भावना को अस्वीकार भी नहीं करते थे। प्राक् पूंजीवादी देशों उपनिवेशों और प्रबल सामन्ती अवशेष वाले देशों तथा उन देशों में, जहां पूंजीवाद जनवादी क्रान्ति अभी तक पूर्ण नहीं हो पायी है, वहां समाजवादी क्रान्ति के पहले पूंजीवादी जनवाद अथवा राष्ट्रीय मुक्ति क्रान्ति हो सकती है और अनुकूल परिस्थितियां उत्पन्न होने पर वह समाजवादी क्रान्ति में विकसित हो सकती है। लेनिन ने अन्य देशों में समाजवाद के विजयी हो जाने की दशा में प्राक् पूंजीवादी देशों द्वारा विकास के गैर पूंजीवादी पथ को अपनाने का विचार भी विकसित किया। मजदूर वर्ग की पार्टी के विषय में मार्क्स और एंगेल्स के विचारों को विकसित करते हुए लेनिन ने मार्क्सवादी सर्वहारा पार्टी के सामजस्यपूर्ण सिद्धान्त को निरूपित किया। उन्होंने मजदूर वर्ग तथा अन्य सभी मेहनतकश लोगों के पथ-प्रदर्शक के रूप में उसकी भूमिका निर्धारित की। उसकी नियमावली तैयार की और उसकी मौलिक नीति की रूप रेखा निर्धारित की। लेनिन ने प्रमाणित किया कि पार्टी मजदूर वर्ग का सर्वाधिक प्रगतिशील वर्ग चेतन और सर्वोत्कृष्ट रूप से संगठित दस्ता है जो मजदूर वर्ग और करोड़ों अन्य मेहनतकश लोगों के मध्य सम्पर्क स्थापित रखता है। इसके विशिष्ट लक्षण हैं:—पूंजीवाद तथा पूंजीवादी वैचारिकी के प्रति असहाता प्रगाढ़ क्रान्तिकारी दृष्टिकोण, कथनी और करनी में सगति और शोषण के उन्मूलन तथा समाज के समाजवादी पुनर्गठन के निमित्त

क्रान्तिकारी संघर्ष के साथ वैज्ञानिक समाजवाद के क्रान्तिकारी सिद्धान्त का समन्वय।

लेनिन ने वास्तविक क्रान्तिकारी पार्टी के संगठन में वर्षों लगाये। उन्होंने जिस पार्टी को स्थापित किया, वही मजदूर आन्दोलन से वैज्ञानिक समाजवाद को समन्वित करने वाली पार्टी थी। सत्ता के लिए संघर्ष में सर्वहारा वर्ग का सभी मेहनत कश लोगों का नेतृत्व करने के लिए वह पूर्णतया तैयार थी। उसने रूसी तथा विश्वसर्वहारा वर्ग दोनों के क्रान्तिकारी संघर्ष के अनुभव को सृजनात्मक रूप में आत्मसात् करके क्रान्तिकारियों की पूर्ववर्ती पीढ़ियों के प्रत्येक सत्यनिष्ठ, विवेकपूर्ण साहसपूर्ण और आत्मोत्सर्ग मद तत्व को अपना लिया था। उसने रूसी मजदूर वर्ग को जनवादी तथा समाजवादी क्रान्ति का वैज्ञानिक कार्यक्रम दिया, उसे राजनीतिक रूप से संगठित किया और निरंकुशता तथा पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए उद्बोधित किया। बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में रूस के मजदूर वर्ग और सभी श्रमजीवियों ने महान् अक्तूबर समाजवादी क्रान्ति में और ससार मे पहले समाजवादी राज्य की स्थापना में विजय प्राप्त की।

लेनिन ने अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी वर्ग सम्पूर्ण संसार के मेहनतकश लोगों का नेतृत्व किया। जिस विश्वसाम्यवादी आन्दोलन का उन्होंने नेतृत्व किया था, उसके भावी विकास में उनकी गहरी अभिरुचि थी। दूसरे इन्टरनेशनल का, जिसके नेताओं ने श्रमजीवी वर्ग के हितों के साथ विश्वासघात किया था, स्थान ग्रहण करने वाले तीसरे साम्यवादी इन्टरनेशनल के वह प्रेरणा स्रोत थे। दूसरे इन्टरनेशनल के नेताओं के विश्वासघात और राष्ट्रीयवादी भावनाओं का पर्दाफाश करते हुए उन्होंने साम्यवादी आन्दोलन के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप पर जोर दिया और संसार की सभी साम्यवादी शक्तियों की एकता का आह्वान किया। तीसरे इन्टरनेशनल ने मार्क्सवाद लेनिनवाद के विचार धारात्मक आधार पर संसार के साम्यवादियों को एकजुट किया। नयी ऐतिहासिक परिस्थितियों में मजदूर आन्दोलन की राजनीति तथा कार्यनीति को निर्धारित किया, नयी साम्यवादी दलों को क्रान्तिकारी संघर्ष के अनुभव से समृद्ध करके उनकी स्थापना तथा विकास में सहायता प्रदान की और मजदूर आन्दोलन के शत्रुओं का अविचल विरोध किया।

अक्टूबर क्रान्ति का सारतत्व और महत्व

लेनिन के समाजवादी क्रान्ति के सिद्धान्त से निर्देशित होते हुए रूस के मजदूर वर्ग ने मेहनतकश किसानों से मिलकर लेनिन की पार्टी के नेतृत्व में पूँजी-

पतियों और ज़ारों (सामन्तों) की सत्ता को उखाड़ फेंका और 25 अक्टूबर सन् 1917 को राजनीतिक सत्ता को अपने हाथ में ले लिया। इस तिथि ने एक नये युग, पूँजीवाद से समाजवाद की ओर संक्रमण के युग का समारम्भ के रूप में इतिहास में अपना स्थान बना लिया है। लेनिन ने लिखा, "हमें इस बात पर गर्व करने का अधिकार है और हम गर्व करते हैं कि सोवियत राज्य का निर्माण करने और इस प्रकार विश्व के इतिहास में एक नवीन युग का एक ऐसे नवीन युग के प्रभुत्व युग का श्रीगणेश करने का सौभाग्य हमें प्राप्त हुआ है जो प्रत्येक पूँजीवादी देश में उत्पीड़ित है, परन्तु जो प्रत्येक स्थान पर नये जीवन की ओर पूँजीपति वर्ग पर विजय की ओर सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की ओर, और पूँजी की दासता और साम्राज्यवादी युद्धों से मानव जाति की मुक्ति की ओर आगे बढ़ रहा है।"

अन्त में सर्वहारा होने के साथ ही अक्टूबर क्रान्ति वस्तुतः जन क्रान्ति भी थी। इसका जनवादी स्वरूप मजदूर वर्ग तथा किसान समुदाय के संश्रय और सभी जातियों के संयुक्त संघर्ष और भ्रातृत्वपूर्ण सहयोग से प्रकट हुआ। मजदूर वर्ग और किसान समुदाय के संश्रय को आधार बनाकर बोल्शेविक पार्टी ने विभिन्न क्रान्तिकारी साधनों, पूँजीपति वर्ग का तख्ता पलटने के लिए सर्वहारा वर्ग के समाजवादी आन्दोलन, जमींदारों के विरुद्ध किसानों के क्रान्तिकारी संघर्ष, जनता के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन, और शान्ति स्थापित करने तथा प्रथम विश्व युद्ध को समाप्त करने के लिए जन आन्दोलन में समन्वय स्थापित किया और उन्हें एक ही ध्येय की ओर लक्षित किया। इसी के फलस्वरूप अक्टूबर क्रान्ति ने बुनियादी समाजवादी कार्यभारों के साथ ही जनवादी कार्यभारों का भी मूलभूत समाधान प्रस्तुत किया। इस प्रकार इसने जनता के व्यापक जनवादी आन्दोलन के साथ समाजवाद के लिए मजदूर आन्दोलन को जनवाद के निमित्त संघर्ष के साथ समाजवाद के लिए संघर्ष को एकजुट करने की न केवल सम्भावना, वरन् आवश्यकता भी प्रदर्शित की। समाजवादी क्रान्ति कोई षड्यन्त्र या सक्रिय क्रान्तिकारियों के एक समूह का विद्रोह नहीं, वरन मजदूर वर्ग तथा इसकी पार्टी के नेतृत्व में करोड़ों लोगों का आन्दोलन और संघर्ष है।

महान् अक्टूबर समाजवादी क्रान्ति का ऐतिहासिक महत्व इस तथ्य में निहित है कि शोषण और उत्पीड़न की पूँजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के लिए संसार में यह प्रथम क्रान्ति थी। प्राकृतिक सम्पदा और उत्पादन के मुख्य साधन जनता की सम्पत्ति बन गये। नवोदित जनतन्त्र ने जातियों को

समानता तथा उसके आत्मनिर्णय के अधिकार की उद्घोषणा की, समाज के श्रेणियों में विभाजन तथा धनिकों के विशेषाधिकारों को समाप्त किया और महिलाओं की असमानता को समाप्त कर दिया। इस क्रान्ति ने सोवियत संघ को विनाशकारी साम्राज्यवादी युद्ध के गर्त से निकाला। राष्ट्रीय आपदा से देश बचाया और सोवियत संघ की जनता को विदेशी पूंजी की दासता के भय से मुक्ति दिलायी। इस क्रान्ति ने अन्तर्राष्ट्रीय महत्व प्राप्त किया। इस क्रान्ति ने वैज्ञानिक समाजवाद को अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप दिखाया। इसने पूंजीवाद के विरुद्ध समाजवाद के लिए संघर्ष का बहुमूल्य अनुभव दूसरे देशों के मजदूर वर्ग और मेहनतकश लोगों को प्रदान किया। नये समाजवादी समाज की ओर मानव जाति का पथ प्रशस्त किया। इसने संसार के लोगों को आर्थिक तथा सांस्कृतिक पिछड़ेपन को दूर करने, जातीय समस्या को हल करने तथा जीवनस्तर को ऊंचा उठाने और शान्ति रखने एवं सुदृढ़ बनाने का मार्ग दिखाया।

अक्टूबर क्रान्ति का अन्तर्राष्ट्रीय महत्व इस तथ्य में भी निहित है कि इसने दुनिया पर पूंजीवाद के एक छत्र आधिपत्य को समाप्त किया। इसने दुनिया को दो परस्पर विरोधी प्रणालियों में विभाजित कर दिया और इसके फलस्वरूप विश्व इतिहास के पूरे क्रम में परिवर्तन आ गया। समाजवादी प्रणाली के प्रादुर्भाव के साथ साम्राज्यवादियों की प्रतिक्रियावादी महत्वाकांक्षाओं का प्रतिरोध करने तथा मानव समाज के विकास पर अधिकाधिक प्रभाव डालने में समर्थ शक्ति अस्तित्व में आ गयी। इस क्रान्ति की विजय से अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर आन्दोलन के विकास को शक्तिशाली प्रेरणा प्राप्त हुई। विश्वसाम्यवादी आन्दोलन अस्तित्व में आ गया।

राज्य

एक व्यावहारिक क्रान्तिकारी होने के नाते लेनिन की अभिरुचि साम्यवादी क्रान्ति के निमित्त मार्क्स की भांति केवल कुछ सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में नहीं थी, प्रत्युत उसने मार्क्स से जिन सिद्धान्तों को ग्रहण किया था उनके प्रति पूर्ण निष्ठा रखते हुए उन्हें विशेषरूप से सोवियत संघ में समाजवादी क्रान्ति को साकार करने के निमित्त जो कि उसका लक्ष्य था, एक नयी दिशा में परिमार्जित तथा साकार करने का उद्देश्य बनाया था। जब मार्च, सन् 1917 में रूस में बुर्जुआ क्रांति के द्वारा ज़ारशाही का अन्त कर दिया गया तो कोटस्की तथा मैनशेविक दल के लोगों ने मार्क्स के सिद्धान्तों को तोड़-मरोड़ कर रखने का प्रयास किया। अन्यत्र भी यह प्रयास किया जाने लगा था कि पूंजीवादी जनतन्त्रों के अन्तर्गत

धानिक उपायों से सर्वहारा वर्ग की समस्याओं को हल किया जा सकता है। अतः
नरी क्रान्ति आवश्यक नहीं है। लेनिन की धारणा यह थी कि ये संशोधन-वादी
मार्क्स के सिद्धान्तों की क्रान्तिकारिता को नष्ट कर रहे हैं। बिना क्रान्ति के
पूँजीवादी रूपों का अन्त नहीं हो सकता और न ही सर्वहारा वर्ग की शोषण से
मुक्ति हो सकती है। यद्यपि मार्च की क्रान्ति के बाद लेनिन रूस मे पहुँच चुके
। तथापि वह पुन. फिनलैण्ड चले गये और वहां उन्होंने सोवियत संघ मे स्थापित
बुर्जुआ सरकार के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के कार्यक्रम पर विचार करना
आरम्भ किया। वहाँ उन्होंने "राजसत्ता एवं क्रान्ति" नामक रचना तैयार की।
सन् 1902 में ही उसने अपनी रचना "क्या करें" तैयार कर ली थी। इन दोनों
रचनाओं में विशेषरूप से 'राज्य सत्ता एव क्रान्ति" मे लेनिन के राज्य तथा
क्रान्ति सम्बन्धी विचार प्राप्त होते हैं। मार्क्स तथा लेनिन का मत था कि राज्य
वर्ग-संघर्ष का परिणाम है। अत राज्य में जो परस्पर विरोधी हितो से युक्त
वर्ग होते हैं उनके मध्य समन्वय स्थापित करने के लिए राज्य का उपयोग असम्भव
है। यह अन्तर्विरोध संघर्ष के द्वारा ही दूर किया जा सकता है। अत शोषित
वर्ग को शोषकों के विरुद्ध क्रान्ति करनी पड़ेगी क्योंकि राज्य की सत्ता तथा उप-
करण शोषक वर्ग के हाथ मे ही रहते हैं और राज्य अपने समस्त अभिकरणो तथा
उपकरणों का उपयोग शोषक वर्ग के हितो मे करता है। इसलिए शोषक वर्ग को
शोषित वर्ग क्रान्ति करके न केवल विनष्ट करेगा अपितु राज्य सहित शोषण के
अन्य सभी उपकरणों पर भी अपना स्वामित्व स्थापित करेगा। लेनिन ने मार्क्स
और एंगेल्स की इस धारणा को पूर्णतया अपनाया और यह बताया कि राज्य
सदैव शासक वर्ग का एक अंग होता है जिसका उपयोग शासक वर्ग केवल अपने
हितो के लिए करता है। जो लोग मार्क्स के सिद्धान्तों को तोड़-मरोड़ कर रखते
हैं उनकी यह धारणा कि बुर्जुआ राज्य तिरोहित हो जायेगा कदापि सत्य नही
हो सकती। लेनिन की स्पष्टोक्ति यह थी कि "बुर्जुआ राज्य तिरोहित नही हो
सकता, सर्वहारा वर्ग का अधिनायक-तन्त्र ही तिरोहित हो सकता है।" मार्क्स-
वादी सिद्धान्त मे राज्य के तिरोहित होने की धारणा सर्वहारा वर्ग के अधिना-
यकवाद के सम्बन्ध मे थी न कि उसके पूर्ववर्ती बुर्जुआ राज्य के सम्बन्ध मे। अतएव
लेनिन ने यह दर्शाया कि बुर्जुआ राज्य का बल प्रयोग तथा सर्वहारा वर्ग की
क्रान्ति के द्वारा नष्ट किया जायेगा और उसका स्थान सर्वहारा वर्ग का अधिक-
नायक तन्त्र लेगा जो कि पूंजीवाद से समाजवाद की स्थापना के मध्य संक्रमण
काल तक रहेगा। इस संक्रमण काल मे सर्वहारा वर्ग के हितो का सम्पादन

उसके प्रतिनिधिक साम्यवादी दल के द्वारा किया जायेगा । यह अधिनायकवाद पूंजीवाद के अवशिष्ट तत्वों को नष्ट करने तथा साम्यवादी समाज की स्थापना के निमित्त पग उठायेगा । जब साम्यवादी व्यवस्था सुस्थापित हो जायेगी और शोषण की सम्पूर्ण प्रक्रिया का अन्त हो जायेगा तो सर्वहारा का अधिनायकवाद स्वयं अनावश्यक हो जायेगा। उस स्थिति में फिर राज्य तिरोहित हो जायेगा ।

लेनिन का मत था कि सभी राज्य वर्ग संगठन होते हैं । अतएव सर्वहारा का अधिनायकत्व भी एक वर्ग संगठन अथवा वह भी राज्य ही होगा । लेनिन क्रान्ति की सफलता के पश्चात् समाजवाद की स्थापना हो जाने तक की संक्रमण कालीन अवधि के राज्य की अपरिहार्यता को स्वीकार करता है। वह राज्य क्रान्ति के पश्चात् संस्कृति तथा मनोवृत्ति का अन्त करने के निमित्त आवश्यक होगा। लेनिन अधिनायकवाद की संज्ञा देता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में प्रत्येक राज्य या सरकार अधिनायकवादी और उसका आधार बल प्रयोग होता है। अतः सर्वहारा वर्गीय राज्य तथा शासन भी अधिनायकतन्त्र नहीं रहेगा। परन्तु बुर्जुआ अधिनायकतन्त्र तथा सर्वहारा वर्गीय अधिनायकतन्त्र के मध्य एक मौलिक भेद यह होगा कि सर्वहारा वर्गीय अधिनायकतन्त्र बल का प्रयोग अपने हित साधन निमित्त दूसरे वर्ग के शोषण के लिए नहीं करेगा, अपितु अपने पूर्ववर्ती शोषकों को विनिष्ट करके उन्हे अपनी ही स्थिति मे लाने के उद्देश्य से करेगा। यह अधिनायकवाद एक वर्गविहीन समाज की स्थापना का उद्देश्य रखेगा। ज्यों-ज्यों समाज से पूजीवादी तत्व विनिष्ट होते जायेंगे, त्यों-त्यो राज्य की बल-प्रयोग शक्ति स्वयमेव कम होती जायेगी और अन्ततः यह राज्य स्वयं अनावश्यक होकर तिरोहित हो जायेगा। लेनिन ने कहा था कि "जब तक राज्य बना रहता है तब तक स्वतन्त्रता का अस्तित्व नहीं रहता, जहा स्वतन्त्रता विद्यमान रहती है वहाँ राज्य का अस्तित्व ही नहीं होगा।" यद्यपि सर्वहारा का अधिनायकत्व भी अन्य राज्यों की भांति अधिनायकवादी होगा तथापि यह अल्पसंख्यकों के बहुसंख्यकों के उपर शोषणकारी शासन की न होकर बहुसंख्यको के अल्पसंख्यकों के ऊपर शासन की द्योतक होगी। इसी अर्थ मे लेनिन इसे सर्वहारा वर्गीय जनतन्त्र का रूप देता है। लेनिन ने यह भी कहा है कि राज्य तिरोहित एक लम्बी और क्रमिक प्रक्रिया है जो एक लम्बे ऐतिहासिक युग के बीच सम्पन्न होती है। एक विशेष अवधि के पूरे दौर में राज्य प्रशासन और सार्वजनिक स्वशासन को विशेषता में साथ साथ चलेंगी और परस्पर गुंथी रहेगी। केवल उस समय जब समाज स्वशासन के लिए पूर्णतया तैयार हो जा

है, तभी अर्थात् विकसित साम्यवाद की परिस्थितियों में ही राज्य की आवश्यकता समाप्त होगी।

जब समाज वर्गविहीन हो जायेगा और वर्ग संघर्ष का अन्त हो जायेगा तो ऐसे जनतन्त्र की भी आवश्यकता नहीं रह जायेगी और वह भी स्वयं समाप्त हो जायेगा। लेनिन का कथन है कि तभी जनतन्त्र इस साधारण तथ्य के अनुसार तिरोहित होने लगेगा कि लोग पूंजीवादी दासता, अकथनीय संकटों, जंगलीपन तथा अपमानजनित पूंजीपतियों के शोषण से मुक्त होकर धीरे-धीरे सामाजिक जीवन के उन मूलभूत नियमों का पालन करने में अभ्यस्त हो जायेंगे। अब वे इन नियमों का पालन करने में न तो बल प्रयोग को आवश्यक समझ कर अभ्यस्त हो जायेंगे, न वे ऐसा करने में किसी की अधीनता का आभास करेंगे और न राज्य सदृश किसी विशेष उपकरण की आवश्यकता को प्रतीत करेंगे, जो कि उन नियमों का पालन कराने के लिए बल प्रयोग करता था। एक ऐसे स्वतन्त्र समाज में एक वर्ग द्वारा दूसरे का या एक व्यक्ति द्वारा दूसरे का दमन करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। व्यक्तियों का दमन करने के लिए जिस राज्य रूपी उपकरण की आवश्यकता होती थी, अब वह अनावश्यक हो जायेगा।

लेनिन ने कहा है राज्य उसी समय पूर्णतया तिरोहित हो पायेगा जब समाज इस नियम को अपना लेगा "प्रत्येक से उसकी क्षमता के अनुसार, प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार" अर्थात् उस समय जब कि लोग सामाजिक आदान-प्रदान के मौलिक नियमों का पालन करने के इतने अभ्यस्त हो जायेंगे और जब उनका श्रम इतना उत्पादक हो जायेगा कि वे स्वेच्छापूर्वक अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करने लगेंगे। मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद की धारणा का भी अन्तिम उद्देश्य ऐसे ही समाज की स्थापना करना था।

क्रान्ति

लेनिन ने मार्क्सवाद के लिए क्रान्ति को सक्रिय रूप प्रदान करने में मार्ग दर्शन का कार्य किया। वह मार्क्स की शिक्षाओं को कोरे सैद्धान्तिक उपदेशों के रूप में नहीं मानता था, वरन् उसने उन्हें साकार करने के लिए उनमें अनेक संशोधन तथा परिमार्जन किये। ऐसा करने में भले ही वह कई दृष्टियों से मार्क्सवाद के बिल्कुल प्रतिकूल भी हो गया, तथापि उसके विचारों तथा कार्यों दोनों में मार्क्स की आत्मा बनी रही। जिस प्रकार प्राचीन यूनान में प्लेटो के अनेक विचारों की अरस्तू ने आलोचना करते हुए भी अपने गुरु प्लेटो को आदर्श-

वादिता का परित्याग नहीं किया था, उसी प्रकार लेनिन ने मार्क्सवाद का संशोधक होते हुए भी मार्क्स के विचारों की आत्मा को बनाये रखा।

यदि मार्क्सवाद वैज्ञानिक समाजवाद तथा साम्यवाद का सैद्धान्तिक पक्ष है तो लेनिनवाद उसका व्यावहारिक पक्ष है, जिसकी व्यावहारिकता लेनिन के विचारों तथा कार्यों के आधार पर अक्टूबर, सन् 1917 की रूसी समाजवादी क्रान्ति तथा उसके पश्चात् सोवियत संघ एवं विश्व के अन्य साम्यवादी देशों में स्थापित व्यवस्था में परिलक्षित होती हैं। मार्क्स का मत था सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ही हो सकती है, जहाँ कि व्यापक औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप पूंजीपतियों द्वारा सर्वहारा वर्ग की दृष्टि, उसकी संख्यात्मक शक्ति का विस्तार तथा उनके श्रम के व्यापक शोषण का क्रम बढ़ाया जाता है, लेनिन मार्क्स के इस सिद्धान्त से विमुख नहीं हुआ। परन्तु उसका तात्कालिक उद्देश्य रूस के सदृश देश मे ऐसी क्रांति करना था ताकि वहाँ जारशाही के अत्याचारो से पीड़ित जनता को मुक्ति प्रदान की जा सके। तत्कालीन रूस मे न तो पूंजीवादी व्यवस्था थी और न ही वहा औद्योगीकरण का इतना विस्तार हो सका था कि वहा सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के निमित्त समुचित वातावरण बन गया हो। इसके विपरीत रूस मुख्यतया एक कृषि अर्थ व्यवस्था का देश था जहां जारशाही शासन के अन्तर्गत सामन्तवादी व्यवस्था बनी हुई थी। मार्क्स तथा एगेल्स को समाजवादी क्रान्ति के निमित्त कृषक जन-समूहों पर विश्वास नहीं था। रूस में कोई दलित वर्ग था तो वह मुख्यतया किसानों का ही था। अतः मार्क्सवादी परम्परा के अनुसार जब तक रूस में पर्याप्त औद्योगीकरण न हो जाता और उसके अन्तर्गत पूंजीवाद तथा सर्वहारा वर्ग का व्यापक विस्तार न हो जाता तब तक समाजवादी क्रान्ति का प्रश्न नही उठता था। परन्तु लेनिन को सह्य नहीं था कि रूस मे समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने से पूर्व ऐसे एक दीर्घकाल की प्रतीक्षा की जाय जिससे पूंजीवाद एवं सर्वहारा वर्ग का विस्तार हो सके और तब क्रान्ति का आह्वान किया जा सके। इस बीच मार्क्सवादी क्रान्ति के सिद्धान्त के विरोधी भी पूंजीवादी जनतन्त्रों के अन्तर्गत विकासवादी साधनों से समाजवाद लाने की बातें करने लगे थे। अतः लेनिन को इससे बड़ी चिन्ता थी। वह सन् 1905 में "जनवादी क्रान्ति में समाजवादी जनतान्त्रिकों की दो कार्यनीतियां" लिख चुका था। सन् 1917 में उसकी रचना "राज्य और क्रान्ति" में क्रान्ति के विचारो का पुनः विकास तथा विस्तार किया गया था। उन्होंने साम्राज्यवाद के युग के अनुरूप क्रान्ति का एक नया सिद्धान्त

प्रस्तुत किया। लेनिन ने नयी अवस्थाओं में मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलन की विशेषताओं का विश्लेषण किया विशेष कर रूस की सन् 1905 से सन् 1907 की क्रान्ति की विशेषताओं का। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि केवल सर्वहारा ही जिसका प्रत्यक्ष हित क्रान्ति को चरम परिणति तक पहुँचाने में है, साम्राज्यवाद के युग में पूँजीवादी जनवादी क्रान्ति का नेता बन सकता है, और बनना चाहिए। क्रान्ति के दौरान सर्वहारा पहले जनवादी परिवर्तन सम्पन्न करता है और उसके बाद सीधे जनवादी क्रान्ति से समाजवादी क्रान्ति की ओर आगे बढ़ जाता है।

लेनिन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि क्रान्ति पहले केवल एक देश के अन्दर ही विजयी हो सकती है। उनकी यह खोज उनके द्वारा प्रतिपादित क्रान्ति के सिद्धांत का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। लेनिन इस सिद्धान्त को आधार बनाकर चले कि साम्राज्यवाद के अन्तर्गत पूँजीवादी देशों का विकास बहुत ऊबड़-खाबड़ होता है, रुक रुक कर होता है। कुछ देश जो पहले पीछे पड़ गये थे आर्थिक दृष्टि से उन्नत देशों की समानता पर पहुँच जाते हैं और उन्हें पीछे छोड़ देते हैं। शक्ति सन्तुलन बिगड़ जाता है और संसार के पुनर्विभाजन के लिए झगड़े और युद्ध प्रारम्भ हो जाते हैं। फलतः विश्व पूँजीवाद की स्थितियां कमजोर हो जाती हैं और साम्राज्यवाद की जंजीर की सबसे कमजोर कड़ी को तोड़ना सम्भव हो जाता है। लेनिन ने कहा, "पूँजीवाद का विकास विभिन्न देशों में अत्यन्त असमान रूप में होता है। माल उत्पादन के अन्तर्गत और कुछ हो भी नहीं सकता। इससे यह अकाट्य निष्कर्ष निकलता है कि समाजवाद सभी देशों में एक साथ विजयी नहीं हो सकता। वह पहले एक या कुछेक देशों में विजय प्राप्त करेगा जब कि शेष देश कुछ समय तक पूँजीवादी या पूर्व पूँजीवादी बने रहेंगे।" लेनिन के सिद्धान्त का व्यावहारिक महत्व है। वह मेहनतकश जनता की क्रान्तिकारी पहल को बन्धनमुक्त करता है और प्रत्येक देश के श्रमजीवी वर्ग को अपने महान् ध्येय की विजय में आस्थावान बनाता है। इस प्रकार लेनिन के सिद्धान्तों तथा व्यवहार की दूरदर्शिता परिलक्षित होती है।

लेनिन के अन्य विचार

लेनिन मूलरूप से समाजवादी क्रान्ति का सक्रिय नेता था। उसके राजनीतिक विचारों का केन्द्र क्रान्ति को साकार करना था। वह पूर्णतया मार्क्सवादी था। जो कुछ भी संशोधन उसने मार्क्सवाद में किये, उनका उद्देश्य भी रूसी क्रान्ति को सफल करना ही था। अतएव उनके अन्य विचारों पर मार्क्स का ही प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

धर्म

मार्क्स परम्परागत धर्मों तथा धार्मिक विश्वासों का शत्रु था। अतः लेनिन भी यही मानता था कि साम्यवादियों को नास्तिक होना चाहिए। लेनिन के मत से धर्म शोषण का एक अच्छा साधन है। इसकी आड़ में शासक तथा शोषक वर्ग निम्न वर्ग का आध्यात्मिक शोषण करते हैं। धर्म संस्थाओं पर राज्य का प्रभाव रहने से वह धर्म के नाम पर जनसाधारण के विरोधों को दबाने का प्रयास करता है। लेनिन के मत से धर्म मनुष्य तथा प्रगति का हजारों वर्ष पुराना शत्रु रहा है। अधिक से अधिक लेनिन धार्मिक विश्वास को व्यक्ति का वैयक्तिक विषय मानता है। अतः उसके कार्यक्रम में साम्यवादियों के लिए धार्मिकता के त्याग का उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु यह केवल एक चाल मात्र थी। व्यवहार में यही माना जाता था कि साम्यवादी के लिए पूर्णतया नास्तिक बना रहना आवश्यक है। लेनिन यह भी मानता है कि देवी देवताओं की सृष्टि का कारण भय है। एक क्रान्तिकारी साम्यवादी को भय से दूर रहना चाहिए।

संसदवाद

संसदवाद से लेनिन का अभिप्राय पाश्चात्य पूंजीवादी देशों में प्रचलित संसदीय जनवादों से था जिनके अन्तर्गत संसदें जनता के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों से निर्मित होती थीं और जन प्रतिनिधिक संस्थाओं के नाम पर सम्प्रभु सत्ता का प्रयोग करती थी। मार्क्स ने ऐसी संसदों का विरोध किया। लेनिन ने उन्हें ऐसी संस्थायें कहा है जिनके निर्वाचन में जन साधारण को प्रति दूसरे, चौथे अथवा पाँचवे वर्ष यह निर्धारण करने का अवसर प्राप्त होता है कि कौन सा प्रतिनिधि जनता का सर्वाधिक शोषणकर्ता हो सकता है। ऐसी संसदों में वही लोग प्रतिनिधित्व प्राप्त कर सकते हैं जो धनी हैं और इसलिए अधिक प्रभावशाली ढंग से जनता के मतों को क्रय कर सकते हैं। इस प्रकार मार्क्स, लेनिन, की दृष्टि में संसदें बुर्जुआ संस्था होने से कम कुछ नहीं है। इनके द्वारा सम्पूर्ण विधि निर्माण तथा व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्य केवल मात्र पूंजीपति वर्ग के हित में किये जाते हैं और जन साधारण को मूर्ख बनाया जाता है। राज्य व्यवस्था चाहे वैधानिक राजतन्त्रों की हो या गणतन्त्रों की, सर्वत्र संसदों का रूप तथा कार्यभाग पूंजीपतियों के हित तथा जनसाधारण एव सर्वहारा वर्ग के शोषण की ओर निर्देशित रहता है। अतः साम्यवादियों के कार्यक्रम का एक प्रमुख तत्व ऐसी संसद व्यवस्था का अन्त करना होगा। जब क्रान्ति के परिणामस्वरूप सर्वहारा वर्ग के हाथ में राज्य की सत्ता आ जायेगी तो वही वर्ग राष्ट्र का निर्माण करेगा और

अतएव राष्ट्रीय कांग्रेसो मे एकमात्र सर्वहारा वर्ग रहेगे और अन्य तत्वोंको उनमे प्रवेश नही दिया जायेगा ।

मूल्यांकन

साम्यवादी संसार मे जो स्थिति मार्क्स को प्राप्त है, वही लेनिन को भी प्राप्त हुई है । लेनिनवाद मार्क्सवाद का व्यावहारिक पक्ष है । निसन्देह यदि लेनिन ने मार्क्स के विचारों को कार्यरूप मे परिणत न किया होता तो मार्क्सवाद का उतना महत्व नही रह जाता जितना उसे प्राप्त हुआ है, क्योंकि अनेक विचार मार्क्स की क्रान्तिकारी विचारधारा पर से विश्वास उठाकर उसे तोड़ मरोड कर रखने का कार्य कर रहे थे । यह बात भी निर्विवाद है कि लेनिन का मार्क्सवाद भी मार्क्स के विचारो का संशोधित रूप ही है, परन्तु लेनिन ने उसे व्यवहृत करने के निमित्त इस रूप से संशोधित किया था कि उसकी आत्मा बनी रहे, भले ही रूप परिवर्तित हो जाये । इस प्रकार लेनिनवाद मार्क्सवाद के क्रान्तिकारी पक्ष का परिमार्जित व्यावहारिक पक्ष है ।

यद्यपि साम्यवादी ससार में लेनिन को उसकी उपलब्धियों के कारण इतनी अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है तथापि लेनिन के अनेक विचार दोषों से मुक्त नही कहे जा सकते । लेनिन मार्क्स की तुलना मे एक दार्शनिक की स्थिति प्राप्त नही कर पाया। उन्होंने मार्क्सवाद की जो व्याख्यायें की है, वे सब ऊपरी ही हैं । द्वन्दात्मक भौतिकवाद की पुनर्व्याख्या करके उसने ऐतिहासिक विकासक्रम की मार्क्स द्वारा प्रतिपादित पद्धति को अपने अनुरूप ढालने का कार्य किया, वह इतने बुद्धिमान एवं व्यावहारिक अवश्य थे कि उन्होंने अपने सिद्धान्तो के अन्तर्गत मार्क्सवाद को बनाये रखने का प्रयास अवश्य किया । लेनिन ने निरन्तर शोषित जनता को मुक्ति दिलाने के विषय मे लिखा और उसके लिए कार्य किया ।

जोजफ स्टालिन (1879-1953)

यदि कार्ल मार्क्स को आधुनिक सोवियत संघ का बीजवपनकर्त्ता, लेनिन को उनका जन्मदाता तथा स्टालिन को उसका निर्माता कहा जाय तो अनुचित नहीं होगी । लेनिन ने सोवियत संघ में मार्क्सवादी शिक्षाओ पर आधारित सर्वहारा क्रान्ति को सफल बनाने के लिए संशोधन किये और क्रान्ति के सफल संचालन के उपरान्त लगभग छ वर्ष तक समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने का कार्यक्रम अपनाया । उनके पश्चात् सोवियत संघ की शासन सत्ता स्टालिन के हाथ में आ

गयी और लगभग 29 वर्ष तक वह सोवियत संघ का अधिनायक बना रहा। इस दीर्घावधि में स्टालिन ने पुनः मार्क्सवाद लेनिनवाद में संशोधन करके "एक देश में समाजवाद" के सिद्धान्त को अपनाया। इसके कारण साम्यवादी क्रान्ति का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप न रह कर राष्ट्रवादी हो गया। साथ ही स्टालिन के विचारों के अन्तर्गत मार्क्स तथा लेनिन के "राज्य के तिरोहित हो जाने" की धारणा भी विलुप्त हो गयी। साम्यवादी सोवियत संघ का वास्तविक निर्माता होने के कारण स्टालिन के राजनीतिक विचारों का महत्व भी कम नहीं है।

जोजफ स्टालिन का जन्म 21 दिसम्बर, सन् 1879 को जार्जिया नामक प्रांत में हुआ था। उसके पिता एक निर्धन मोची थे और जब स्टालिन 11 वर्ष का ही था, तो उसके पिता का निधन हो गया था। उसकी माता जो कृषक परिवार की पुत्री थी, उसकी महत्वाकांक्षा थी कि स्टालिन धर्मपुरोहित बने। इसके विपरीत स्टालिन युवावस्था से ही राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने लगा। बाल्यकाल से ही क्रान्तिकारी विचारों का होने के कारण स्नातक शिक्षा प्राप्त करने के पूर्व ही सन् 1899 में विद्यालय से निष्कासित कर दिया गया। वह मलेंखनोव तथा लेनिन के सम्पर्क में आया और भूमिगत कार्यवाई करने लगा। उसे सन् 1902 में एक वर्ष का कारावास भी हुआ। बाद मे उसे साइबेरिया निष्कासित कर दिया गया। उस काल में सोवियत-संघ मे क्रान्तिकारियो को ऐसा ही दण्ड दिया जाता था। लेनिन, ट्राटस्की प्रभृति सभी को ऐसे दण्ड मिले थे। परन्तु वह साइबेरिया से भाग गया और सन् 1905 की क्रान्ति में भाग लिया जो सफल न हो सकी। लेनिन की कृपा से स्टालिन बोलशेविक दल की केन्द्रीय समिति का सदस्य भी रहा। लेनिन भी उसे "लौह पुरुष" उसके कार्यों के कारण कहा करता था। मोलोटोव के साथ "प्रवदा" पत्र के सम्पादन कार्य मे लग गया। सन् 1913 में उसे फिर देश निकाले का दण्ड मिला परन्तु इस बार भी वह बच निकला।

सन 1917 की क्रान्ति में उसने सक्रिय भाग लिया। क्रान्ति के पश्चात् लेनिन के शासन काल में ट्राटस्की तथा स्टालिन दोनों ही लेनिन के प्रमुख सहयोगी थे। सम्भवतः लेनिन ट्राटस्की को ही अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। परन्तु सन 1924 मे लेनिन की मृत्यु के समय राजधानी मे ट्राटस्की की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर स्टालिन सत्ता अपने हाथ में लेने में सफल हो गया। कुछ प्रमुख नेताओं का सहयोग प्राप्त करके उसने ट्राटस्की को न केवल प्रधान के पद से ही वंचित किया, अपितु उसे कालान्तर में युद्ध परिषद की अध्यक्षता से भी पृथक कर दिया। उसके पश्चात् स्टालिन के ट्राटस्की के साथ मतभेद इस सीमा

इस पर यह कहते कि ट्राटस्की अपनी [illegible] एवं षड़यन्त्रों के कारण उसे निर्वासित कर दिया। ट्राटस्की के सभी समर्थकों का सफाया कर षड़यन्त्र के द्वारा उनकी हत्या भी मैक्सिको में कर दी। सत्ता हथियाने के पश्चात् वह सोवियत संघ में इतना शक्तिशाली बन गया कि विश्व के राष्ट्र भी उससे भयभीत रहने लगे। उसने सोवियत संघ में स्टालिन-वाद का प्रारम्भ किया था जिसके कारण सोवियत संघ में देवता के समान पूजा होती थी। उसने नवीन संविधान बनाया और नवीन क्रान्तिकारी आर्थिक नीतियों को क्रियान्वित किया और सम्पूर्ण सोवियत संघ में तीव्र गति से औद्योगीकरण किया। विश्व में उसने ही सर्वप्रथम अधिनायकवादी दृष्टिकोण से पंचवर्षीय योजना का निर्माण किया था। संसार में सम्भवतः इतनी शक्ति किसी भी नेता के हाथ में कभी नहीं आयी, जितनी कि स्टालिन के पास थी। उसकी मृत्यु 5 मार्च सन् 1953 को हुई थी।

साम्यवादी विचारों की यह परम्परा है कि प्रत्येक साम्यवादी नेता अपने को मार्क्स अनुयायी बताता है। लेनिन की भांति स्टालिन ने भी यही कहा था किन्तु उसने भी मार्क्स की व्याख्या करने के नाते कुछ संशोधन कर डाला। द्वितीय विश्व युद्ध भी स्टालिन के युग में हुआ था। उसने हिटलर को पराजित करने के लिए सेना का कुशल नेतृत्व किया था। स्टालिन ने सोवियत संघ को प्रथम कोटि का उन्नत राज्य बना दिया। सोवियत संघ की परिस्थिति के अनुकूल मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों को तोड़-मरोड़ कर स्टालिन-वाद बना कर भी स्वयं लेनिन-वादी बना रहा। मार्क्स के सिद्धान्तों में स्टालिन ने भी संशोधन किये।

स्टालिन की रचनायें

1. मार्क्सवाद और राष्ट्रीय समस्या (Marxism and National Problem) सन् 1913।
2. लेनिनवाद के आधार (Foundations of Leninism) सन 1924।
3. द्वन्दात्मक एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद (Dialectical and Historical Materialism)।

स्टालिन के विचारों को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित कर सकते हैं :

1. एकदेशीय समाजवाद

मार्क्स का कहना था कि पूंजीवाद के विरुद्ध क्रान्ति करके सभी देशों में समाजवाद लाना चाहिए। ट्राटस्की का भी यही मत था कि अन्य देशों में पहले समाजवाद लाया जाय और बाद में सोवियत संघ में। स्टालिन ने ट्राटस्की

को पराजित करने के लिए पहले समाजवाद को सोवियत-संघ में लाने को कहा था। जब स्टालिन की विजय मिली तो उसने सन् 1924 में लिखी गयी "लेनिनवाद की समस्याओं" में प्रतिपादित किया कि सम्पूर्ण विश्व में पूंजीवाद के रहते हुए भी एक देश में समाजवाद की स्थापना की जा सकती है। स्टालिन के इस विचार की कटु आलोचना हुई थी। आलोचक कहा करते थे कि उसने मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों को त्याग दिया। उसके विरोधियों का विचार था कि स्टालिन ने अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति को त्याग दिया है। परन्तु सभी आलोचनाओं के पश्चात् भी एक-राष्ट्रीय समाजवाद का सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह इस तथ्य की स्वीकृति थी कि सोवियत संघ अपने अधिकार में स्वयं एक शक्ति थी। वह शतरंज का कोई नहीं थी, जहाँ अन्य देशों में रूसी मोहरें विश्व क्रान्ति मचा सकें। स्टालिन ने सोवियत संघ को साध्य माना था, जब कि ट्राटस्की उसे साधन मानता था। यदि लेनिन जीवित होते तो वह भी स्टालिन के समान ही अपनी नीति को बदल देते। लेनिन यह समझने लगे थे कि रूस में समाजवाद का विकास देश की आन्तरिक सांस्कृतिक, और राजनीतिक परिस्थिति पर निर्भर है, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर नहीं। स्टालिन ने एकदेशीय समाजवाद के पक्ष में कहा था कि रूस के चारों ओर पूंजीवादी राष्ट्र रूस की क्रान्ति को चुनौती दे रहे हैं। अतएव रूस को आर्थिक, सैनिक तथा राजनीतिक दृष्टिकोण से शक्तिशाली बनाया जाय। संसार के श्रमिक रूस से तभी प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं जब रूस में समाजवाद की जड़ें सुदृढ़ हो जायें। स्टालिन का कहना वस्तुतः सत्य था। रूस एक ऐसा पिछड़ा हुआ समुदाय था जो अज्ञान और अन्धेरे के किनारे पर खड़ा था तथा जो यूरोप की सहायता नहीं कर सकता था, वरन् वह स्वयं यूरोप से सहायता की आशा कर रहा था। अतएव स्टालिन का प्रथम कर्त्तव्य था कि रूस को शक्तिशाली बनाये। यदि वह पूंजीवादी देशों में क्रान्ति फैलाने का प्रयत्न करता तो सम्भवतः पूंजीवादी देश रूस की सफल क्रान्ति को रौंद देते। फिर भी स्टालिन ने अन्य देशों के श्रमिक आन्दोलनों एवं मुक्ति-आन्दोलनों को समय-समय पर सहायता दी। चीन में क्रान्ति सोवियत संघ के प्रयासों से ही सफलीभूत हो सकी। स्टालिन के इस सिद्धान्त ने अनेक निष्कर्ष निकाले हैं जिन्हें स्टालिन ने अपने शासन काल में कार्यरूप प्रदान किया। निसन्देह वह ऐसा कर्मठ अधिनायक, राजनीतिज्ञ, तथा संगठनकर्त्ता सिद्ध हुआ कि उसके प्रयासों ने केवल 30 वर्ष की अवधि में ही सोवियत संघ का औद्योगिक, सामरिक, तथा राजनीतिक दृष्टि से संयुक्त राज्य अमेरिका को छोड़ कर विश्व की महानतम शक्ति बना दिया। उसके एकदेशीय समाजवाद के सिद्धान्त से अग्रांकित निष्कर्ष निकले हैं।

विरोधियों की समाप्ति

मार्क्स ने पूँजीवाद के समर्थकों को नष्ट करने को कहा था क्योंकि पूँजीवादी तथा उनके समर्थक श्रमजीवियों का शोषण एवं दोहन करते हैं। स्टालिन ने इसमें संशोधन करके कहा कि पूँजीवादियों के साथ ही सोवियत संघ के आन्तरिक शत्रुओं से अधिक भय है। क्रान्ति को सफल बनाने की आड़ में स्टालिन ने अपने विरोधियों को नृशंसता एवं निर्दयतापूर्वक उन्मूलन किया। अनेक व्यक्तियों को मिथ्या आरोप में मृत्यु दण्ड दिया तथा अनेकानेक साइबेरिया के जंगलों में आजीवन काल के लिए भेज दिये गये। सन् 1935 में साम्यवादी दल का पुनीकरण करने के बहाने कर्मठ एवं मार्क्सवादी विचारों के व्याख्याताओं एवं दल की निष्ठापूर्वक दीर्घकाल तक सेवा करने वालों को भी मृत्यु के घाट उतार दिया।

सैन्यविस्तारवाद

मार्क्स ने कहीं पर भी विस्तारवादी एवं प्रसारवाद नीति को अपनाने को नहीं कहा था और न लेनिन ने। स्टालिन ने साम्यवाद को सुरक्षित रखने के लिए सोवियत संघ के पश्चिम में "लौह आवरण" बिछाना चाहा, जिससे साम्यवाद नष्ट न हो पावे। सोवियत संघ पर नैपोलियन एवं जर्मनी ने दो बार पश्चिमी सीमा से आक्रमण किया था। साम्यवादी क्रान्ति के पश्चात् इसकी सम्भावना अधिक बढ़ गयी थी। द्वितीय विश्वयुद्ध में हिटलर को पराजित करने के लिए एवं मित्र राष्ट्रों को सहायता देने के लिए जो सेनायें भेजी थीं उन्हें हिटलर की पराजय के पश्चात् वापस नहीं बुलाया। उन देशों में सेनाओं के बल पर साम्यवादी शासन स्थापित कर दिया जिसकी कल्पना मार्क्स ने कभी नहीं की थी। मार्क्स श्रमिकों के आन्दोलनों द्वारा एवं लेनिन निर्वाचनों में भाग लेकर साम्यवादी सरकारों की स्थापना करना चाहते थे। चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, हंगरी, रुमानिया, बलगेरिया, अलबानिया आदि में रूसी सेनाओं के माध्यम से साम्यवादी सरकारों की स्थापना की। इन देशों में किसी भी प्रकार का श्रमिक आन्दोलन नहीं हुआ और न सोवियत संघ जैसी कोई क्रान्ति हुई।

अधिनायकवादी राज्य

लेनिन ने सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति तथा सर्वहारा वर्गीय अधिनायकवाद का निर्देशन एवं संचालन करने के लिए एक सुदृढ़ तथा छोटे से साम्यवादी दल की आवश्यकता पर बल दिया था। लेनिन के काल में दल के सदस्य परस्पर वाद-

विवाद तथा सैद्धान्तिक आलोचना तथा प्रत्यालोचना करते रहते थे। स्वयं भी लेनिन इनमें पर्याप्त अभिरुचि रखता था। दलीय कांग्रेस प्रतिवर्ष होती [illegible] थी, जिनमें स्वतन्त्रतापूर्वक विचारों का आदान-प्रदान होता था, परन्तु स्टालिन के एक देश में समाजवाद के सिद्धान्त का यह निष्कर्ष था कि यदि सोवियत रूस को समाजवादी देश बनना है तो वह दल के सदस्यों तथा कार्यकर्ताओं को आलोचना तथा प्रत्यालोचना की छूट नहीं मिलनी चाहिए। अतः स्टालिन कालीन सोवियत संघ में दल तथा शासन दोनों का संगठन कठोर तथा अनुशासन पूर्ण केन्द्रीकृत व्यवस्था के रूप में किया गया। शीर्ष पर स्टालिन स्वयं दोनों का प्रधान था। किसी भी रूप में विरोध को सहन नहीं किया जाता था। इस प्रकार दल तथा सरकार दोनों में स्टालिन का अधिनायकवाद स्थापित हो गया। व्यापार संघों का महत्व समाप्त हो गया। हड़तालों पर कठोर प्रतिबन्ध लगाया गया। सोवियतों की स्वायत्तता नहीं रह गयी। उन्हें समाजवादी व्यवस्था का शस्त्र-मात्र [illegible] जाने लगा। इस प्रकार स्टालिन के कार्यों में सोवियत संघ में स्टालिन का अधिनायकत्व, मुसोलिनी के फासीवाद तथा हिटलर के नाजीवाद से किसी भी कम नहीं था। शासन का रूप केन्द्रीकृत नौकरशाही तथा स्वेच्छाचारी [illegible] बना रहा। यह सब इसी आधार पर किया गया कि यदि सोवियत संघ में समाजवाद की स्थापना करनी है तो उसे एक शक्तिशाली देश के रूप में परिणत हो जाना चाहिए और ऐसा तभी सम्भव है जब कि राज्य का रूप अधिनायकवादी हो। नागरिकों को भी किसी प्रकार की कोई भी स्वतन्त्रता नहीं थी। उत्पादन के सभी साधन, व्यापार तथा अन्य छोटी वस्तुओं का तथा यहाँ तक कि मनुष्यों का भी स्टालिन ने राष्ट्रीयकरण कर लिया था। [illegible] स्टालिन के काल में एक देश में समाजवाद के सिद्धान्त ने सर्वहारा वर्ग के [illegible] साम्यवाद को साम्यवादी दल के अधिनायकवाद से मुक्त करके एक व्यक्ति के अधिनायकवाद में परिणित कर दिया।

साम्यवादी राष्ट्रवाद

कार्ल मार्क्स अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के पक्ष में था, किन्तु इसके विरोध [illegible] ने राष्ट्रवाद के बीज बोये और जिसका चरम विकास स्टालिन ने किया। [illegible] वाद की भावना को जागृत करने में उसने पूँजीवादी राष्ट्रों को भी [illegible] किया। इसी राष्ट्रवाद के कारण सोवियत संघ को द्वितीय विश्वयुद्ध में [illegible] हुई थी। राष्ट्रवाद को अपनाने का महत्वपूर्ण कारण स्टालिन का [illegible] है [illegible] से सोवियत संघ को रूसी, यहूदियों, स्लोवाकियों, बल्गारों [illegible]

स्टालिन के एक देश में समाजवाद के सिद्धान्त का परिणाम यह हुआ कि मार्क्स तथा लेनिन के अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद की धारणा से काफी दूर चला गया। यद्यपि स्टालिन के युग का रूसी समाजवाद विश्व के समाजवाद का नेतृत्व करने का दावा रखता था और द्वितीय विश्वयुद्ध तथा उसके पश्चात् भी काफी समय तक वह ऐसा दावा करता रहा, किन्तु स्टालिन के काल में ही स्थिति परिवर्तित होने लगी थी। युद्धोत्तर काल में पूर्वी यूरोप के जो अनेक देश रूसी प्रभाव में आ गये थे, कालान्तर में उनमें भी राष्ट्रवादी समाजवाद की धारणा बढ़ने लगी। शीघ्र ही यूगोस्लाविया रूसी प्रभाव से टूट गया और अब तटस्थ राष्ट्रों के गुट में सम्मिलित समाजवादी देश है। हंगरी को सोवियत संघ ने बल प्रयोग से अपने दबाव में लिया है। राष्ट्रवाद का सर्वोत्तम उदाहरण जनवादी चीन है जिसने स्टालिन के सहयोग से विजय पायी थी और कुछ समय तक सोवियत संघ के प्रभाव में बना भी रहा। परन्तु सन् 1964 से चीन तथा सोवियत संघ के मध्य भारी सैद्धान्तिक मतभेद उत्पन्न हो गये है। आज ये दोनों देश परस्पर ऐसी शत्रुता की स्थिति में है जैसी कि साम्यवादी देशों तथा पूँजीवादी देशों के मध्य भी नही पायी जाती। यह सब साम्यवादी के राष्ट्रवादी स्वरूप के फलस्वरूप हुआ है, जिसकी उत्पत्ति स्टालिन के एक देश में समाजवाद की धारणा से हुई थी। इस प्रकार साम्यवाद की विश्व

कामरेड की धारण नहीं रह गयी है। चीन में माओ के नेतृत्व में विकसित साम्यवाद ने भी राष्ट्रवादी रूप धारण किया है। दोनों देश विश्व के साम्यवादी देशों का नेतृत्व करने की होड़ में एक दूसरे के शत्रु बन गये हैं। यहां तक कि वे इस प्रतिद्वन्दिता में सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से पूंजीवादी देशों के साथ सन्धियां, सहचार, तथा सह-अस्तित्व को बनाये रखने से भी नहीं हिचकते। अनेक साम्यवादी देश जो पहले रूसी प्रभाव में थे चीन के दबाव में आ गये हैं। यद्यपि एक देश मे समाजवाद तथा उसका अनुगामी राष्ट्रवादी साम्यवाद का सिद्धान्त स्टालिन की सामयिक तकनीक थी, यद्यपि इनके बहुत दूरगामी प्रभाव दृष्टिगोचर हुए।

द्वन्दात्मक भौतिकवाद

स्टालिन ने मार्क्स के द्वन्दात्मक भौतिकवाद में आंशिक संशोधन करके उसका और विकास किया। मार्क्सवाद की जब भी कभी विरोधी व्याख्या की गयी, तब लेनिन के समान स्टालिन ने सदैव द्वन्दात्मक भौतिकवाद का आश्रय लिया। राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की व्याख्या भी इसी आधार पर की गयी। सोवियत संघ के प्रत्येक राज्य को सघ से पृथक होने का अधिकार है। उनके पृथक राष्ट्रीय ध्वज-गान, विदेशी नीति, सेना आदि रखने की स्वतन्त्रता है। युक्रेन और बाइली को सयुक्त राष्ट्र संघ को सोवियत संघ के अतिरिक्त सदस्यता प्राप्त है। यहां राज्य को अकेले इसलिए रखा गया है कि वह विशालतर इकाई के निर्माण में योग दे सके। इसे "एकीकरण के लिए पृथक-करण" नाम लेनिन ने दिया था। स्टालिन ने इसमें सुधार कर व्यवहार में यह नीति अपनायी कि यदि कोई राज्य रूसी संघ से पृथक होने का प्रयत्न करता है तो उसका कठोरतापूर्वक दमन किया जाता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर जार्जिया और यूक्रेन के पृथकतावादी आन्दोलन को निर्दयतापूर्वक कुचल दिया गया। आन्दोलन के नेताओं को फांसी दी गयी। स्टालिन को जब भी कभी अपने विरोधियों का दमन करना पड़ता था अथवा आलोचकों को समाप्त करना पड़ता, तब इसी द्वन्दात्मक भौतिकवाद का आश्रय लिया जाता था। द्वन्दात्मक भौतिकवाद की प्रक्रिया से उसने यह सिद्ध कर दिया कि स्टालिन कभी कोई गलत कार्य नहीं करता।

क्रान्ति

मार्क्स तथा लेनिन की भांति स्टालिन भी द्वन्दवाद के सिद्धान्त को अपनाता है। उसके अनुसार द्वन्दवाद ऐतिहासिक विकास को ऐसी साधारण प्रक्रिया मान

नहीं है, जिसमें परिमाणगत परिवर्तन, गुणगत परिवर्तन की दिशा में न बढ़े, वरन् "यह ऐसी प्रक्रिया है जिसमें महत्वहीन परिमाणगत परिवर्तनों से होकर विकास क्रम गुणगत परिवर्तनों की ओर ले जाता है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत परिमाणगत परिवर्तन शनै शनै. परन्तु गुणगत परिवर्तन तुरन्त तथा एकाएक होते हैं।" अत विकास के इस नियम के अनुसार शोषित जनता द्वारा क्रान्तियों का किया जाना स्वाभाविक बात है। इस दृष्टि से पूंजीवाद से समाजवाद में परिवर्तन गुणगत परिवर्तन है। स्टालिन यह भी मानता है कि यदि आवश्यकता प्रतीत हो तो समाजवाद तथा पूँजीवाद को साथ साथ चलने दिया जा सकता है, परन्तु स्टालिन ने मूलभूत बातों के ऊपर पूँजीवादी देशों से कभी समझौता नहीं किया और वह यह भी नहीं मानता था कि पूंजीवाद और समाजवाद बहुत अधिक समय तक साथ साथ चल सकते हैं। वह लेनिन के साम्राज्यवादी सिद्धान्त से सहमत था और उसकी यह भी धारणा थी कि शोषित जनता साम्राज्य के किसी भी भाग में क्रान्ति कर सकती है, भले ही अन्य भागों में साम्राज्यवाद सुदृढ़ बना रहे। इस प्रकार एक देश में समाजवाद के सिद्धान्त को जहां स्टालिन ने रूस के सन्दर्भ में प्रमुखता दी और उसे सुदृढ़ बनाने का भरसक प्रयत्न किया। वहाँ उसने विश्व भर में समाजवादी क्रान्तियों की सम्भावनाओं को भी अस्वीकार नहीं किया, प्रत्युत उनको समर्थन भी दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् पूर्वी यूरोप के देशों में शान्तिपूर्ण साधनों से समाजवाद लाने की धारणा को भी स्टालिन ने उपेक्षित नहीं रखा। इन्हें भी वह मार्क्सवादी परम्परा के अनुसार उचित मानता था। इसके साथ साथ स्टालिन ऐसे परिवर्तनों को बल प्रयोग पर सम्भव मानता था। वह इन्हें समाजवादी वृत्त के प्रभाव के कारण ही सफल मानता था, न कि आन्तरिक द्वन्द्व के कारण। संक्षेप में, एक राज्य में समाजवाद का सिद्धान्त तथा विश्व व्यापी क्रान्ति की धारणा, जिन्हें स्टालिन स्वीकार करता रहा एक दूसरे से संगति नहीं रखती। इससे केवल स्टालिन की रूसी साम्राज्यवादी साम्यवाद की धारणा का बोध होता है। यदि सोवियत संघ को अन्य देशों की समाजवादी क्रान्तियों को सहायता प्रदान करना है तो वास्तव में सोवियत संघ की शक्ति का प्रयोग करके ही उन्हें सहायता देना। इस प्रकार सोवियत संघ स्वयं एक समाजवाद साम्राज्यवाद का अगुवा सिद्ध होगा।

राज्य के लोप होने का सिद्धान्त

लेनिन की भांति स्टालिन का भी मार्क्स के इस सिद्धान्त पर विश्वास न था कि राज्य का लोप हो जायेगा। उसके विचार में मार्क्स ने यह कभी न

कामरेड की धारण नही रह गयी है। चीन में माम्रो के नेतृत्व में विकसित साम्यवाद ने भी राष्ट्रवादी रूप धारण किया है। दोनों देश विश्व के साम्यवादी देशों का नेतृत्व करने की होड में एक दूसरे के शत्रु बन गये हैं। यहां तक कि वे इस प्रतिद्वन्दिता मे सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से पूंजीवादी देशों के साथ सन्धियां, सहचार, तथा सह-अस्तित्व को बनाये रखने से भी नहीं हिचके। अनेक साम्यवादी देश जो पहले रूसी प्रभाव मे थे चीन के दबाव में आ गये हैं। यद्यपि एक देश मे समाजवाद तथा उसका अनुगामी राष्ट्रवादी साम्यवाद का सिद्धान्त स्टालिन की सामयिक तकनीक थी, यथापि इनके बहुत दूरगामी प्रभाव दृष्टिगोचर हुए।

द्वन्दात्मक भौतिकवाद

स्टालिन ने मार्क्स के द्वन्दात्मक भौतिकवाद में आंशिक संशोधन करके उसका और विकास किया। मार्क्सवाद की जब भी कभी विरोधी व्याख्या की गयी, तब लेनिन के समान स्टालिन ने सदैव द्वन्दात्मक भौतिकवाद का आश्रय लिया। राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की व्याख्या भी इसी आधार पर की गयी। सोवियत संघ के प्रत्येक राज्य को संघ से पृथक होने का अधिकार है। उनके पृथक राष्ट्रीय ध्वज-गान, विदेशी नीति, सेना आदि रखने की स्वतन्त्रता है। युक्रेन और वाइलो को संयुक्त राष्ट्र संघ की सोवियत संघ के अतिरिक्त सदस्यता प्राप्त है। यहां राज्य को अकेले इसलिए रखा गया है कि वह विशालतर इकाई के निर्माण में योग दे सके। इसे "एकीकरण के लिए पृथक-करण" नाम लेनिन ने दिया था। स्टालिन ने इसमें सुधार कर व्यवहार में यह नीति अपनायी कि यदि कोई राज्य रूसी संघ से पृथक होने का प्रयत्न करता है तो उसका कठोरतापूर्वक दमन किया जाता है। इसी सिद्धान्त के आधार पर जार्जिया और यूक्रेन के पृथकतावादी आन्दोलन को निर्दयतापूर्वक कुचल दिया गया। आन्दोलन के नेताओं को फांसी दी गयी। स्टालिन को जब भी कभी अपने विरोधियों का दमन करना पड़ता था अथवा आलोचकों को समाप्त करना पड़ता, तब इसी द्वन्दात्मक भौतिकवाद का आश्रय लिया जाता था। द्वन्दात्मक भौतिकवाद की प्रक्रिया से उसने यह सिद्ध कर दिया कि स्टालिन कभी कोई गलत कार्य नहीं करता।

क्रान्ति

मार्क्स तथा लेनिन के

है उसके अनुसार

परिमाणगत परिवर्तन, गुणगत परिवर्तन की दिशा मे न बढे, प्रक्रिया है जिसमें महत्वहीन परिमाणगत परिवर्तनो से होकर तन परिवर्तनो की ओर ले जाता है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत रवर्तन शनै शनै परन्तु गुणगत परिवर्तन तुरन्त तथा एकाएक । विकास के इस नियम के अनुसार शोषित जनता द्वारा क्रान्तियो ा स्वाभाविक बात है। इस दृष्टि से पूजीवाद से समाजवाद मे न परिवर्तन है। स्टालिन यह भी मानता है कि यदि आवश्यकता समाजवाद तथा पूँजीवाद को साथ साथ चलने दिया जा सकता है, ा मे मूलभूत बातो के ऊपर पूँजीवादी देशो से कभी समझौता नही ह यह भी नही मानता था कि पूजीवाद और समाजवाद बहुत तक साथ साथ चल सकते हैं। वह लेनिन के साम्राज्यवादी सिद्धान्त ा और उसकी यह भी धारणा थी कि शोषित जनता साम्राज्य के ग में क्रान्ति कर सकती है, भले ही अन्य भागो मे साम्राज्यवाद रहे। इस प्रकार एक देश मे समाजवाद के सिद्धान्त को जहा स्टालिन सन्दर्भ मे प्रमुखता दी और उसे सुदृढ बनाने का भरसक प्रयत्न हा उसने विश्व भर मे समाजवादी क्रान्तियो की सम्भावनाओ को भी नही किया, प्रत्युत उनको समर्थन भी दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध पूर्वी यूरोप के देशों में शान्तिपूर्ण साधनो से समाजवाद लाने की धारणा स्टालिन ने उपेक्षित नहीं रखा। इन्हे भी वह मार्क्सवादी परम्परा के उचित मानता था। इसके साथ साथ स्टालिन ऐसे परिवर्तनो को वल र सम्भव मानता था। वह इन्हे समाजवादी वृत्त के प्रभाव के कारण ही ानता था, न कि आन्तरिक द्वन्द के कारण। संक्षेप में, एक राज्य मे ाद का सिद्धान्त तथा विश्व व्यापी क्रान्ति की धारणा, जिन्हें स्टालिन र करता रहा एक दूसरी से सगति नहीं रखती। इससे केवल स्टालिन की साम्राज्यवादी साम्यवाद की धारणा का बोध होता है। यदि सोवियत सघ न्य देशो की समाजवादी क्रान्तियो को सहायता प्रदान करना है तो वास्तव

कहा कि राज्य को पूर्णतया लुप्त हो जाना चाहिए, अपितु मार्क्स यह कहना चाहता था कि राज्य की शोषण और दमनकारी नीति को समाप्त किया जाय। स्टालिन ने मार्क्सवाद के इस शास्त्रीय सिद्धान्त को त्याग दिया कि राज्य केवल शासक वर्ग का दमन अस्त्र है और वर्गों के अन्त होने के साथ साथ इसका अन्त भी हो जायेगा। सन् 1936 के संविधान में उसने राज्य तथा नागरिक शब्दों को स्थान प्रदान किया है। लेनिन ने राज्य के स्थान पर "सोवियत" या "नागरिक" के स्थान पर श्रमिक, कृषक, अथवा सैनिक शब्द प्रयुक्त किये हैं। "राज्य का अन्त हो जायेगा। इस मत के प्रति वह कृत्रिम सहानुभूति ही प्रदर्शित करता है।" एंगेल्स का विचार था, उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण से विभिन्न वर्गों का अन्त हो जायेगा और तब राज्य का लोप हो जायेगा। स्टालिन ने सन् 1936 के संविधान पर भाषण करते हुए कहा था कि रूस में उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण तथा वर्ग विभिन्नताओं का नाश तो हो गया है, परन्तु वहां राज्य का अन्त होने का कोई चिन्ह नहीं दिखाई देता। सन् 1939 में 18 वीं कांग्रेस पार्टी में ऐसा न होने के कारण ही व्याख्या भी की थी। उसके विचार से पूंजीवादी चक्र में चक्रित होने के कारण राज्य का अन्त न हो सका। इस प्रकार स्टालिन ने मार्क्स तथा एंगेल्स के सिद्धान्तों में ही सुधार नहीं किये, अपितु लेनिन के सिद्धान्तों में भी सुधार किये हैं। उसने बताया कि जब तक आन्तरिक पूंजीवादी चक्र दूर नहीं होता, तथा बाह्य सैनिक शक्तियों का भय समाप्त नहीं होता, तब तक राज्य का अन्त नहीं हो सकता। विश्व में न तो पूंजीवादी व्यवस्था समाप्त होगी और न राज्य का अन्त होगा। स्टालिन राज्य के विनाश के लिए राज्य की शक्ति को विकसित करना चाहता था। राज्य के लोप होने के सिद्धान्त की रक्षा के लिए स्टालिन ने कितना बलपूर्ण आडम्बर रखा है।

स्टालिन को अपने कार्य में पूर्ण सफलता मिली। उसने मार्क्सवाद तथा लेनिनवाद का मनमाना अर्थ निकाला। वह दल, शासन और जनता में सबसे अधिक शक्तिशाली था। उसकी देवता के समान पूजा की जाती थी। उसकी प्रशंसा में नाटक, कविता, उपन्यास, इतिहास आदि लिखे जाते थे। बच्चों को पाठशाला में स्टालिन देवता का पाठ पढाया जाता था। उसकी कृपा से बसन्त में फूल खिलते थे तारों को प्रकाश मिलता था। उसी के कारण बादल वर्षा करते थे। उसी के कार्यकाल में रूस शक्तिशाली हो गया। अब रूस जर्जरित, दलित और पीड़ित बंजर नहीं था, वरन् एक सांसारिक दर्शनीय स्थल बन गया।

निकिता ख्रुश्चेव
(1894–1971)

सोवियत संघ के कस्कं प्रान्त में ख्रुश्चेव का जन्म 17 अप्रैल, सन् 1894 में एक खदान के स्वामी के घर में हुआ था। 20 वर्ष की अवस्था में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् वे सन् 1918 में साम्यवादी दल के सदस्य बने। सन् 1932 में नाटकों के नगर की पार्टी के सचिव बने सन् 1934 में सोवियत संघ के साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति में आये। सन् 1938 में यूक्रेनियन साम्यवादी दल के प्रथम सचिव बने तथा उसी प्रान्त के मन्त्रिमण्डल में वे सन् 1943 में सम्मिलित हुए। रूसी साम्यवादी दल के प्रथम सचिव का पद उन्हें 5 मार्च, सन् 1953 में प्राप्त हुआ। 17 मार्च सन् 1958 को रूस के प्रधान मन्त्री बुल्गानिन को अपदस्थ कर स्वयं प्रधान मन्त्री बने। उनका पतन 14 अक्टूबर, सन् 1966 को हुआ। 11 सितम्बर सन् 1971 को उनकी मृत्यु हो गयी।

लेनिन तथा स्टालिन की भाँति ख्रुश्चेव ने भी मार्क्सवादी सिद्धान्तों में महत्वपूर्ण परिवर्तन एवं संशोधन किये और वह भी अपने पूर्ववर्तियों की भाँति मार्क्सवादी बने रहे। उन्होंने पूंजीवादी राष्ट्रों में शत्रु के स्थान पर मित्रता का हाथ बढ़ाया, और स्टालिन के लौह आवरण को अलग कर दिया। सोवियत संघ के बाहर सर्वप्रथम भारत में आकर विश्व के अनेक देशों का भ्रमण किया। सोवियत संघ की वैदेशिक नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन भी किये और शान्ति सहअस्तित्व एवं निर्गुटवाद के प्रसार हेतु त्रिमूर्ति पंडित जवाहर लाल नेहरू, केनेडी और ख्रुश्चेव के रूप में ख्याति अर्जित की। साम्यवादी देशों को रोकने के लिए पूंजीवादी देशों ने जिस प्रकार असभ्य एवं अविकसित देशों को आर्थिक सहायता देना प्रारम्भ किया था, ख्रुश्चेव ने भी साम्यवाद के प्रचार एवं प्रसार हेतु सहायता देना प्रारम्भ कर दिया। ख्रुश्चेव के मुख्य परिवर्तन निम्नलिखित थे :—

हिंसक क्रान्ति के स्थान पर शान्तिपूर्ण सहयोग देना

मार्क्स के इस सिद्धान्त को ख्रुश्चेव ने स्वीकार किया था कि संसदीय प्रणाली वाले लोकतन्त्रीय राज्यों में साम्यवाद शान्तिपूर्ण उपायों के द्वारा भी लाया जा सकता है। ऐसे देशों में हिंसात्मक क्रान्ति की आवश्यकता नहीं होगी। फिर भी ख्रुश्चेव ने विदेशी राज्यों के आन्तरिक निर्वाचन में परोक्ष एवं अपरोक्ष रूप से प्रभाव डालना, वहां के दल को गुप्तरूप से आर्थिक सहायता देना आदि

कार्यों को अपनाया था। लोकमत को अपने पक्ष में करने के लिए उसने अमेरिका की भांति कई राज्यों को आर्थिक सहायता भी दी। इच्छुक राष्ट्रों को सैनिक सहायता भी दी। क्यूबा, भारत, दक्षिणी एशिया एवं अरब देशों, अफ्रीका के कई देशों को तकनीकी, आर्थिक एवं सैनिक सहायता समय-समय पर दी गयी। इस कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ख्रुश्चेव का अत्यधिक प्रभाव बढ़ गया था। चीन को सोवियत संघ की यह प्रगति पसन्द नहीं थी, अतएव माओ ने ख्रुश्चेव को सबसे बड़ा संशोधनवादी कहा था।

शक्ति सन्तुलन का महत्व

मार्क्स ने कहा था कि राज्य का लोप हो जायगा, इसके स्थान पर ख्रुश्चेव ने सोवियत संघ को विश्व का सबसे शक्तिशाली ऐसा राज्य बनाया, जहां राज्य कभी भी लुप्त नहीं हो सकता। उसने चन्द्रमा पर कुतिया भेज कर विश्व को चकित कर दिया। विज्ञान और अणु शक्ति में नवीन प्रयोग एवं आविष्कार करके संसार में सोवियत संघ की धाक जमा दी। पहले कई राष्ट्र अमेरिका की कृपा पाने के लिए लालायित रहते थे, उनमें से कुछ सोवियत संघ के खेमे में आने लगे। इससे एक शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त का निर्माण हो गया जो मार्क्सवाद के विश्व क्रान्ति से सर्वथा नया था। कई देशों को अपने प्रभाव क्षेत्र में लाने के लिए सोवियत संघ ने क्रान्ति के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं पारस्परिक सहयोग की नीति को अपनाया।

अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति का समर्थन

मार्क्स ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बिलकुल भी पसन्द नहीं किया था। वह वर्ग संघर्ष चाहता था। संघर्ष के द्वारा ही परिवर्तन होता है। मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रमुख आधार वर्ग संघर्ष था, जिसे ख्रुश्चेव ने त्याग कर क्रान्ति के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को अपनाया। मार्क्स के अनुसार पूर्ण शान्ति राज्य के लोप हो जाने के पश्चात् आ सकती है, जब कि ख्रुश्चेव ने इसे पहले लाने का प्रयत्न किया। क्रान्ति की अपेक्षा लोकतन्त्रीय एवं संवैधानिक साधनों के द्वारा साम्यवाद को स्थापित करने का नया सुझाव ख्रुश्चेव ने दिया था। भारत और पाकिस्तान, अरब-इजरायल आदि युद्ध में ख्रुश्चेव ने शान्ति स्थापित करने के लिए तटस्थता की नीति को अपनाया था और उसने [illegible] दि वह सच्चा मार्क्सवादी होता तो

शोषण का नया रूप

मार्क्स ने कहा था कि पूंजीपति श्रमिकों का शोषण करेंगे और श्रमिकों का राज्य हो जाने के पश्चात् वे पूंजीपतियों को नष्ट कर देंगे। ख्रुश्चेव के नेतृत्व में उपर्युक्त प्रणाली में परिवर्तन हुआ। सोवियत संघ में श्रमिकों का शासन नहीं है। ये बुर्जुआ पूंजीवादी न होकर बुद्धिवादी और अधिनायकतन्त्र है। साम्यवादी दल में भी श्रमिकों का नाममात्र का प्रतिनिधित्व होता है। यह दल श्रमिकों का नैतिक, बौद्धिक, आर्थिक, राजनीतिक दृष्टिकोण से शोषण कर रहा है। पूंजीपतियों के स्थान पर वहां बुद्धिजीवी शासक गण हैं और श्रमिकों का वैसा ही शोषण हो रहा है जैसा पूंजीवादी देशों में हो रहा है।

हस्तक्षेप की नीति का सिद्धान्त

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के द्वारा यदि कोई परिवर्तन होता है तो मार्क्स के मतानुसार यह प्राकृतिक है ख्रुश्चेव उपर्युक्त सिद्धान्त को केवल पूंजीपति देशों में लागू करने के इच्छुक थे, किन्तु यदि यह परिवर्तन साम्यवादी देशों में होता है तो उसे सैनिक शक्ति द्वारा दबा दिया जाना चाहिए। इसी प्रकार जो भी देश सोवियत संघ के प्रभाव से अपने आपको मुक्त करना चाहता है उस देश में भी हस्तक्षेप या षड्यन्त्र करके वहां जबरन प्रभाव क्षेत्र बनाया जाता है सन् 1956 में हंगरी में सोवियत संघ के विरुद्ध जो विद्रोह किया था तब वहां के प्रधान मन्त्री को फांसी पर चढ़ा दिया गया। सन् 1968 में चेकोस्लोवाकिया में जब रूसी प्रभाव क्षेत्र से अलग होने का प्रयत्न किया गया, तब रूसी सैनिकों को वहां दमन करने के लिए भेजा गया था और सेनाओं को उसी समय वहां के लोकप्रिय नेता दुबचेक को हटाने के पश्चात् ही अपनी सेना को वापस बुलाया गया।

माओत्से तुंग (1883 से 1976)

माओत्से तुंग 26 दिसम्बर सन् 1883 में चीन के हूनान प्रान्त के शाओशान गांव में पैदा हुए थे। उनके पिता माओशुन बड़े लम्बे तगड़े किसान थे जो कर्जदारों से मुक्ति पाने के लिये सेना में भरती हुए थे। किन्तु एक साल की नौकरी के बाद वह फिर घर लौट आये और इसके साथ ही उनके भाग्य ने भी पलटा खाया। सुअरों और चावल के व्यापार से वह सम्पन्न किसान बन गये। माओ के पिता का स्वभाव कठोर था जब कि उनकी माता वेन-चो-मेई ममता और दया की मूर्ति थी। माओत्से तुंग पिता की अपेक्षा अपनी माता के अधिक

समीप थे। मामों के अतिरिक्त तीन भाई और बहन और थे। वे बचपन से ही अपनी धुन के पक्के थे और जो भी काम करते थे, पूरी गम्भीरता से करते थे। माओ 5 वर्ष की अवस्था से ही खेती के काम काज में अपने पिता का हाथ बटाने लगे थे। सात वर्ष की आयु में उन्हें एक निजी शिक्षक के यहाँ लिखना पढना सीखने के लिये भेजा गया ताकि वह हिसाब-किताब रख सके और पत्र लिख सकें। 12 वर्ष की आयु में उनके पिता ने पढाई बन्द करके उन्हें खेती के काम में लगा दिया। उनकी अध्ययन में अत्यधिक रुचि थी। अतः 16 वर्ष की आयु मे वह एक अच्छे स्कूल में भरती हुए। इस से पूर्व ही सन् 1907 में माओ का अपने से 4 वर्ष बड़ी लड़की के साथ विवाह हुआ। उनकी इस पत्नी से कभी भी नहीं पटी और अतः उन्होंने उससे विवाह विच्छेद कर लिया। पढ़ाई के प्रश्न पर पुत्र और पिता में सदैव विवाद बना रहता था, किन्तु उद्यमी, हठनिश्चयी माओ अपनी इच्छा पूरी करके ही रहे। सन् 1911 में वह इंट्रेन्स की परीक्षा में बैठे जिसमें वह सफल हुए।

माओ को देशव्यापी निर्धनता, भ्रष्टाचार और शोषण का अनुभव था। विदेशियों द्वारा बार बार किये गये राष्ट्रीय अपमान की जानकारी भी उन्हें थी। इस सबने उन्हें राजनीतिक तथा सामाजिक आन्दोलनों का इतिहास पढ़ने के लिये प्रेरित किया। 18 वर्ष की आयु में उन्होंने इस शताब्दी की चीन की पहली क्रान्ति देखी और उसमें भाग लिया। सुनयातसेन के नेतृत्व में सन् 1911 में हुई इस क्रान्ति ने 257 वर्ष पुराने मांचू साम्राज्य को उखाड़ फेंका। उनके राष्ट्रपति बनने पर माओ ने सेना छोड़ दी। अन्ततः वह हुनाउ स्टेट कालेज में भरती हुए और वहा से डिग्री प्राप्त की। वह सन् 1918 में पीकिंग गये और विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में नौकरी कर ली। यहीं वह चीन के बुद्धिजीवियों और राजनैतिक कार्यकर्ताओं के निकट सम्पर्क में आए। सन् 1920 में उन्होंने हुनान में एक साम्यवादी संगठन खड़ा किया। अगले वर्ष चीनी साम्यवादी दल की स्थापना में हुई प्रथम कांग्रेस मे भाग लिया जहाँ वह पार्टी की हुनान शाखा के सचिव हो गये।

इस बीच चीन में सत्ता संघर्ष चलता रहा। इस सम्बन्ध मे साम्यवादी इन्टरनेशनल ने चीनी साम्यवादियों को परामर्श दिया कि वे निजी तौर पर कोमिन्तांग का साथ दें और सन् 1924 मे कोमिताङ्ग ने इस योजना को स्वीकार कर लिया। डा० सुन के निधन पर सन् 1925 में च्याङ्ग काई शेक ने कोमिताङ्ग का नेतृत्व सम्भाला। सोवियत संघ ने इस आशा में च्याङ्ग का समर्थन किया कि वह दक्षिण

ति के दृढ़ संकल्पों को उखाड़ फेंकने में समर्थ होंगे। किन्तु जब च्याङ्ग ने शंघाई के मजदूरों पर ही प्रहार किया तो सारा विभ्रम दूर हो गया और च्याङ्ग तथा साम्यवादियों के बीच विच्छेद और बढ़ गया। दिसम्बर सन् 1927 में माओ ने हूना-न में किसान क्रान्ति का नेतृत्व किया। माओ अपने सहयोगियों सहित चिङ्ग-कांग शान में शरण लेने को विवश हुए। सात महीने बाद लालसेना के जनक, प्रतिभा-सम्पन्न कोमिन्ताङ् सैनिक अधिकारी चू तेह भी अपने सैनिक समेत उनसे आ मिले। अगस्त, सन् 1929 में माओ ने क्याङ्गसी में सोवियत गणराज्य की स्थापना की।

इसके बाद माओ और उनके साथियों को पग-पग पर मुसीबतों से जूझना पड़ा। सन् 1931 से 34 के दौरान च्याङ्ग काई शेक ने साम्यवादियों के उन्मूलन के लिये ऐतिहासिक अभियान चलाया। माओ के प्रशिक्षित सैनिकों को कुछ सफलतायें तो मिलीं किन्तु वे च्याङ्ग की विशाल वाहिनी को पूर्णतया पराजित नहीं कर सके। माओ की दूसरी पत्नी को इसी समय मृत्युदण्ड भी दिया गया। पुलिस की खोज से साम्यवादी नेता भूमिगत हो गये। चू माओचो तथा चाऊ-एन लाई समेत अनेक नेताओं को राजधानी छोड़कर भाग जाना पड़ा। सन् 1934 में कोई 90,000 स्त्री पुरुष-बच्चों ने शस्त्रास्त्रों और रसद लेकर माओ के नेतृत्व में 5000 मील लम्बी यात्रा आरम्भ की। इनमें केवल 8000 ही सन् 1935 में येनान में सुरक्षित पहुँच पाये। माओ को स्वयं अपने बच्चे किसानों के घर में छोड़ देने पड़े जिनसे उनकी अन्तिम समय तक भेंट नहीं हो सकी। इसी लम्बी कूच से माओ को अनेक अनुभव हुए और किसानों की स्थिति से भलीभाँति परिचित हुए। सन् 1936 में चीनी साम्यवादी दल ने जापान से संघर्ष में कोमिताङ्ग का साथ देने का निर्णय किया। अन्त में गठबन्धन बना। इस युद्ध में साम्यवादियों ने यह सिद्ध कर दिया कि उनका युद्ध कौशल कहीं अच्छा है। जापान की पराजय हुई। इस के बाद माओ और चाओ के बीच समझौता हुआ परन्तु इसके बाद ही चाओ के जहाजों ने येनान स्थित अड्डे पर बम वर्षा की। सन् 1946 में पुनः समझौते के प्रयास हुए किन्तु कुछ ही महीने बाद चीन में व्यापक गृह युद्ध छिड़ गया। च्याङ्ग के पास यद्यपि विशाल सेना थी किन्तु वह माओ के सैनिकों की छापामार लड़ाई में समता नहीं कर सके। फिर भ्रष्टाचार ने भी कोमिताङ् सरकार की जड़ें खोखली कर दी थीं। परिणामतः जनवरी सन् 1949 में साम्यवादियों का पीकिङ्ग पर अधिकार हो गया और उसके बाद नानकिङ् का पतन हुआ और 1 अक्टूबर सन् 1949 में माओ ने चीनी गणराज्य की स्थापना की।

सन् 1949 से अब तक की अवधि में साम्यवादी चीन ने माओ के नेतृत्व में अपने को विश्व का एक महान् शक्तिशाली राष्ट्र बना लिया जिसने चीन को क्या

बदला एक विशाल भूखण्ड को ही बदल दिया। वह अणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों की श्रेणी मे काफी समय पूर्व आ चुका है। प्रारम्भ में साम्यवादी चीन तथा सोवियत संघ के मध्य घनिष्ठ मैत्री सम्बन्ध बने रहे, जिनसे अमरिका तथा पाश्चात्य शक्तियाँ भयभीत थी परन्तु ख्रुश्चेव के सोवियत संघ के नेतृत्व काल में चीन तथा सोवियत संघ के मध्य खुला संघर्ष प्रारम्भ हो गया। चीन को एक साथ सोवियत संघ तथा अमेरिका दोनों महाशक्तियों से जूझना पड़ा। आन्तरिक क्षेत्र में भी प्रतिक्रान्तिकारियों का सामना करना पड़ा। माओ तथा चाऊ के नेतृत्व में चीन ने इन सब समस्याओं का सामना सभी मोर्चों पर किया। सैद्धान्तिक, नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि सभी क्षेत्रों में युद्ध तथा नीतियों का निर्धारण करने में माओ ने जिस कुशलता का परिचय दिया है, उससे यह सिद्ध होता है कि सोया हुआ चीन जाग चुका है और अब विश्व के लिए भयावह बन चुका है। माओ ने एक पूरी सभ्यता को बदल दिया है।

भारत के साथ भी प्रारम्भ में साम्यवादी चीन के अच्छे सम्बन्ध रहे, परन्तु धीरे-धीरे उनमे कटुता उत्पन्न हुई। सन् 1962 में चीन ने भारत पर आक्रमण ही कर दिया। तबसे लेकर आज तक दोनों देशों के सम्बन्धों में तनाव बना हुआ है। सन् 1972 में चीन ने अमेरिका के साथ में मैत्री भी प्रारम्भ कर दी है और चीन ने अमेरिका को इतना प्रभावित कर लिया है कि अमेरिका के प्रयत्नों के फलस्वरूप ही अब चीन संयुक्त राष्ट्र संघ के कुओमिन्तांग के स्थान पर स्थायी सदस्य बन चुका है। साम्यवादी चीन के निर्माण, विकास तथा उपलब्धियों का उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय ज्ञात किये बिना माओत्सेतुंग के राजनीतिक चिन्तन का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि इस समूचे घटनाचक्र में माओ की विचारधारा का ही प्रभाव है। 9 सितम्बर सन् 1976 को क्रान्ति द्रष्टा एवं क्रान्तिकारी चिन्तक इस संसार से विदा हो गया। माओ आधी शताब्दी तक चीन की राजनीति पर छाये रहे और 25 वर्षों से वे विश्व की राजनीति को प्रभावित करते रहे।

माओ की प्रमुख रचनायें

(i) On New Democracy, 1940.

(ii) On Coalition Government, 1945.

(iii) On the Peoples' Democratic Dictatorship, 1949.

इनके अतिरिक्त उनके विचारों का संकलन विशाल साहित्य का विषय बना है। वे Selected Works of Mao Tse Tung तथा Selected Readings

युद्ध की अनिवार्यता

माओ का मार्क्स के समान कहना है कि संघर्ष द्वारा ही परिवर्तन होता है। जब जब युद्ध होता है तब तब पूंजीपति प्रणाली में परिवर्तन होकर समाजवाद की स्थापना होती है। प्रथम विश्व युद्ध के कारण रूस में क्रान्ति तथा कई पूर्वी यूरोप मे साम्यवादी सरकारें बनी। द्वितीय विश्व युद्ध के कारण चीन में क्रान्ति हुई और तृतीय विश्व युद्ध से सम्पूर्ण विश्व में समाजवाद की स्थापना हो जायेगी। माओ पूंजीवादी देशो को 'कागज का शेर' मानता है और कहता है कि इस शेर को जब चाहे तब समाप्त किया जा सकता है। अमेरिका, फ्रान्स आदि देशों में अणु शस्त्रों का इतना अधिक विकास हुआ है कि वे यदि चाहे तो सम्पूर्ण विश्व को बीस वर्षो से नष्ट कर सकते हैं। इस विषय मे माओ का कहना है कि उनके देश की जनसंख्या इतनी अधिक है कि कोई न कोई जीवित बचेगा और वही उजड़े हुए जर्जर अवस्था के लोगों मे साम्यवाद फैला देगा। पूंजीपति देशो की तुलना करने के लिए साम्यवादी देश भी संहारक अस्त्रों से परिपूर्ण रहें। यही कारण है कि रूस के तैयार होने के पश्चात् भी चीन निःशस्त्रीकरण के पक्ष में नहीं है। इसीलिए चीन को प्रत्येक प्रकार के अस्त्र शस्त्रो से सुसज्जित होना चाहिए। उसने अणु शस्त्र बना कर उनका प्रयोग भी कर लिया है। युद्ध प्रेम माओ का ऐसा ही प्रमुख अंग है जैसा फासीवाद का था।

विश्व को दो वर्गों में विभक्त मानना

मार्क्स के वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त माओ विश्व के देशों पर भी क्रियान्वित करता है। उसके अनुसार संसार इस समय दो विरोधी खेमो मे विभाजित है। एक ओर साम्राज्यवादियो का खेमा है जिसमे अमेरिकन साम्राज्यवाद, उनका साथी और संसार के सब देशो के प्रति क्रियावादी व्यक्ति हैं। दूसरा खेमा साम्राज्यवाद के विरोधियो का है जिसमे सोवियत संघ, पूर्वी यूरोप के जनतन्त्र और चीन है। माओ के इस दृष्टिकोण मे विश्व के इन दोनो गुटों से पृथक और स्वतन्त्र बने रहने वाले तटस्थ राष्ट्रों का कोई स्थान नही है। जो राष्ट्र चीन और रूस का साथ देने से मना करते हैं पर हिचकिचाते है वे सभी भाड़े के टट्टू (Hirelings), पागल कुत्ते (Raving Dogs) और साम्राज्यवादी है। माओ ने सन् 1949 मे ही कह दिया था "तटस्थता धोखे की टट्टी है और तब तीसरे पर तर्क को कोई सत्ता नही है और वस्तुतः भारत ने माओ की इस घोषणा का सही मूल्यांकन न कर सकने की ही गम्भीर गलती की। सन् 1962

मे भारत पर चीन का निर्लज्ज आक्रमण इसी सिद्धान्त का परिणाम था। भारत की तटस्थता की नीति में चीन को प्रारम्भ से ही विश्वास नही था और माओ ने सन् 1949 को अपनी घोषणा को कार्यरूप देकर भारत की ओर सारे विश्व की आँखें खोल दी।

साम्यवादी दल

कार्ल मार्क्स केवल श्रमिको का साम्यवादी दल बनाने का समर्थक था, किन्तु रूसी बुद्धिजीवियों को इसका सदस्य बनाते थे, जबकि माओ के साम्यवादी दल में मध्यम वर्ग श्रमिक, कृषक, देशभक्त, धनी लोग, बुद्धिजीवी आदि सभी सम्मिलित हैं। दल मे कठोर अनुशासन है। रूस की भाँति माओ अन्य साम्यवादी देशो पर प्रभुत्व रखने का पक्षपाती नही था। सम्भवतः माओ के प्रभाव क्षेत्र मे एक दो ही राज्य थे अथवा स्वयं को इसके प्रभाव क्षेत्र से पृथक रखने के लिए माओ की यह नीति रही हो। सन् 1956 में जब रूस ने हंगरी के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप किया था तब चीन ने रूस की निन्दा की थी। साम्यवादी देशों के साथ सहअस्तित्व के सिद्धान्त का माओ समर्थक है किन्तु पूंजीवादी देशो के साथ युद्धावस्था बनाना चाहता है। अमेरिका के द्वारा पुनः घेराबन्दी करने पर जब रूस युद्ध से पीछे हट गया तब माओ ने रूस की निन्दा की थी। रूस का प्रभाव जिन देशों पर है, उसे माओ समाप्त करना चाहता है। अभी तक वे पश्चिमी राष्ट्रों से दूर रखना चाहते थे, किन्तु उनमें कुछ परिवर्तन हुआ। सन् 1972 मे अमेरिका के राष्ट्रपति ने चीन की यात्रा भी की।

नवीन लोकतन्त्र

मार्क्स की भाँति माओ को साम्यवाद की स्थापना के लिए संक्रमण काल की अवस्था को प्राप्त करना आवश्यक समझता है। इस अवस्था को उसने नवीन लोकतन्त्र नाम से सम्बोधित किया है। यह अवस्था बहुत समय तक रह सकती है। इस नवीन लोकतन्त्र में पूंजीवाद और समाजवाद का मिश्रण रहना चाहिए। साम्यवाद का उग्र समर्थक होते हुए भी यह पूंजीवाद को अपने सिद्धान्त में स्थान देता है। इस नये लोकतन्त्र में पूंजीवाद को भी प्रोत्साहन मिलेगा। वह पूंजीवाद के साथ समझौता करने के लिए भी तैयार हैं। यह कहता है कि साम्यवादी दल इतना शक्तिशाली होगा कि पूंजीवादी कोई कुचक्र न कर सकेंगे। औद्योगिक दृष्टि से चीन अधिक पिछड़ा है, अतएव पूंजीपतियों का सहयोग [illegible] आवश्यक है। नवीन लोकतन्त्र में मिलीजुली सरकार होगी जिसमें [illegible] मिश्रित अर्थव्यवस्था को प्रधानता दी जायेगी।

लोकतान्त्रिक अधिनायकवाद

लेनिन के सर्वहारा वर्ग की अधिनायकता की भाँति माओ भी लोकतान्त्रिक
अधिनायकवाद का समर्थन करता है। इस अधिनायक तन्त्र में छोटे एवं बड़े पूंजी-
पति, दुकानदार, श्रमिक, कृषक आदि को भी सम्मिलित किया गया है। कार-
खाने, उद्योग आदि में अनाम्य होने के कारण माओ पूंजीपतियों की सेवा क
लाभ उठाने का इच्छुक था अतएव उन्हें शासन में लेना आवश्यक था। बहुमत
में मजदूर रहेंगे, इस कारण पूंजीपति उनका शोषण नहीं कर सकते। कृषक
एवं श्रमिक द्वारा किये गये प्रत्येक कार्य लोकतान्त्रिक कहे जायेंगे। भले ही वे
निरंकुश, दमनकारी और कठोर क्यों न हों। इस राज्य को लोकतन्त्रीय इसलिए
कहा जाता है क्योंकि यह जनता के लोकप्रिय प्रतिनिधियों द्वारा जनता के हित
के लिए चलाया जाता है और इसके द्वारा समाजवादी क्रान्ति सम्भव हो
सकती है। इसे अधिनायक तन्त्र इसलिए कहा जाता है क्योंकि क्रान्ति के तथ
जनता के विरोधियों का दमन करने के लिए निरंकुश शक्ति का प्रयोग करना
आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार लोकतान्त्रिक अधिनायकत्व माओवादियों
के लिए लोकतन्त्र है, किन्तु गैर साम्यवादियों के लिए अधिनायकवाद है।

सांस्कृतिक क्रान्ति

मार्क्सवाद को शुद्ध तथा संशोधन से रक्षा पाने के लिए माओ विरोधी
विचारों एवं कार्यों का कठोरतापूर्ण दमन किया गया। माओ ने 27 लाख
व्यक्तियों की सेना इसी उद्देश्य के लिए बनायी थी। विशुद्धता बनाये रखने के
लिए माओ ने कुछ नियम भी बनाये थे। इन नियमों से परिपूर्ण "माओ गीता"
का अध्ययन प्रत्येक घर में होता है। इसके चार नियम हैं—(1) सेना में
राजनीति को स्थान दिया जाय, सैनिक कार्यों के समान इसे भी प्रधान माना
जाय, (2) युद्ध में निर्णय अस्त्र द्वारा न होकर मनुष्य द्वारा होता है अर्थात्
अस्त्र की अपेक्षा मनुष्य प्रधान है। (3) उन्हीं राजनीतिक विचारों को आदर्श
माना जाय जो स्वयं माओ द्वारा अभिव्यक्त किये गये हों, और (4) काल्पनिक
निरे सिद्धान्तवादी आदर्शों की अपेक्षा जीवित विचारकों के आदर्शों को प्रधानता
दी जाय। इन विचारों की कुछ लोगों ने विशेषकर सेना के अधिकारियों ने
आलोचना की तो सन् 1966 में माओ के संकेत पर एक सांस्कृतिक क्रान्ति की
गयी। यह क्रान्ति लगभग 100 दिन चलती रही जिसमें माओ समर्थक एवं विरो-
धियों की सर्वप्रथम पोस्टरबाजी का संग्राम चला और अन्त में रक्त क्रान्ति हुई।
लाखों माओ विरोधी मौत के घाट उतार दिये गये, जल, थल और नभ सेनाध

लेनिन, स्टालिन, ख्रुश्चेव व माओ के विचारों के समन्वय से साम्यवाद का जो रूप बनता है, उसे हम समाजवाद का एक ऐसा क्रान्तिकारी तथा उग्र रूप कह सकते हैं जिसका उद्देश्य एक ऐसे वर्गरहित व राज्य रहित समाज की स्थापना करना है जिसका व्यवस्था का आधार शक्ति और सार्वजनिक दृष्टि से निर्बलों का शोषण न होकर नव निर्मित समाज के लोगों का पारस्परिक सहयोग व सबके हितों का उचित सरक्षण हो जिसमें उत्पादन के साधनों का सार्वजनिक स्वामित्व व वितरण की व्यवस्था का सार्वजनिक नियन्त्रण हो तथा जिसमें सब अपनी योग्यतानुसार कार्य करें और सब आवश्यकतानुसार पा सकें। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए साम्यवाद उग्र व हिंसात्मक उपायों का आश्रय लेकर समर्थन करता है क्योंकि बिना ऐसे उपायों के प्रयोग के पूंजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकना व नवीन साम्यवादी की स्थापना करना यह सम्भव नहीं मानता। इस प्रकार साम्यवाद के प्रमुख सिद्धान्त संक्षेप में निम्न हैं—

पूंजीवाद का विरोध

साम्यवाद पूंजीवाद व्यवस्था पर मार्क्सवाद की भाँति ही घोर आक्रमण करते हुए उस दारुण स्थिति का भयावह चित्रांकन करता है जो पूंजीपतियों ने श्रमजीवी वर्ग का निर्मम शोषण करके उत्पन्न कर दी है। इस अव्यवस्था ने श्रमिकों को शारीरिक एवं मानसिक क्षति पहुँचायी है। मार्क्स के समान ही पूंजीवाद पर राष्ट्रीय सम्पत्ति के वितरण में भयंकर विषमताओं को उत्पन्न करने का लाछन लगाते हुए साम्यवादी एक ओर प्रबल आलोचना यह करते हैं कि पूंजीवादी व्यवस्था में शक्ति का असमान वितरण होता है, जो सबसे बड़ी बुराई है। साम्यवादियों का उद्देश्य एक ऐसी राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करना है, जिनमें जनता को पद और अवसर की समानता प्राप्त हो सके।

क्रान्ति की अनिवार्यता

पूंजीवाद को समाप्त करने के लिए क्रान्ति की अत्यधिक आवश्यकता है। चीन हिंसात्मक क्रान्ति का समर्थन करता है किन्तु सोवियत संघ समय, काल और परिस्थिति के अनुसार क्रान्ति के साधनों में परिवर्तन का इच्छुक है। सभी साम्यवादी इस मत पर सहमत हैं कि पूंजीवाद व्यवस्था को अवश्य समाप्त करना चाहिए। सभी छल-कपट, षड्यन्त्र, अव्यवस्था आदि का आश्रय लेते हैं। जहाँ लोकतन्त्रात्मक शासन हों, वहाँ शान्तिपूर्वक उपायों के द्वारा, बिना किसी हिंसा के साम्यवादी क्रान्ति लाना चाहते हैं। साम्यवादियों का कहना है कि विश्व

क्रान्ति भी की जा सकती है। विश्व क्रान्ति के लिए साम्यवादी दल निर्वाचन आन्दोलन करे, जिन देशों में उन्हे खुले रूप में कार्य करने की स्वतन्त्रता न हो, वहाँ वे गुप्त रूप से कार्य करें, वे एक साम्यवादी प्रेस खोलें और समाचार पत्रों, ग्रन्थों, पुस्तकों तथा पुस्तिकाओं एवं विज्ञापनों का वितरण करें, वे साम्यवादी स्वाध्याय मण्डलों, पर्वों एवं उत्सवों का आयोजन करें। साम्यवादी श्रमिक संघों का संगठन किया जाय। हड़तालों में उग्र भाग लिया जाय, जिन देशों में जो नियमित सैनिक कार्यवाइयाँ होती रहती है, उनका साम्यवादी उद्देश्य के लिए उपयोग किया जाय। इस अन्तिम साधन का प्रयोग करते समय साम्यवादियों को सैनिक विरोधी शान्तिवादी ढंग के आन्दोलनों से पृथक रहना चाहिए क्योंकि साम्यवादी शान्तिवादी नहीं होते। उन्हे वर्तमान सेनाओं, रायफल क्लबों, तथा नागरिक रक्षक दलों का उपयोग श्रमिकों को भावी क्रान्तिकारी संघर्षों के लिए सैनिक प्रशिक्षण देने के लिए किया जाना चाहिए। साधारणतया प्रत्येक देश में संगठनकर्ताओं को अपने दल के प्रत्येक सदस्य तथा प्रत्येक क्रान्तिकारी कार्यकर्ता को भविष्य की क्रान्तिकारी सेना का एकभावी सैनिक समझना चाहिए।

वर्ग संघर्ष में विश्वास

सभी साम्यवादी वर्ग संघर्ष में विश्वास करते हैं। उनका कहना है कि वर्ग संघर्ष को समाप्त करने के लिए उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त किया जाय। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि उत्पादन, एवं वितरण और उपभोग को, राजनीतिक संस्थायें निर्धारित करें। व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर सामाजिक स्वामित्व होना चहिए। उद्योगों का समाजीकरण किया जाय, कृषि का समूहीकरण हो तथा सभी उत्पादन पर राज्य का अंकुश एवं नियन्त्रण हो। वर्ग संघर्ष ही सामाजिक विकास का आधारभूत सिद्धान्त है, अत. इसी के आधार पर समाज में क्रान्ति हो। सक्रमण काल की अवस्था में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व हो और अन्त में वर्गविहीन समाज की स्थापना हो। इस प्रकार वर्ग संघर्ष साम्यवादी दर्शन का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है।

शक्ति सरकार का मुख्य आधार

साम्यवादी, राजनीतिक सर्वोच्च सत्ता एवं शासन को शक्ति के बल पर स्थापित रखते हैं। पुराने मार्क्सवादियों का स्पष्ट विचार था कि किसी भी श्रमिक सरकार को प्रतिक्रान्तियों या विद्रोह का जो किसी भी सामाजिक क्रान्ति के पश्चात् निश्चित रूप से होंगे, दमन करने और आवश्यकता पड़ने पर इनके

लेनिन, स्टालिन, ख्रुश्चेव व माओ के विचारों के समन्वय से साम्यवाद का [illegible] बनता है, उसे हम समाजवाद का एक ऐसा क्रान्तिकारी तथा उग्र [illegible] हैं जिसका उद्देश्य एक ऐसे वर्गरहित व राज्य रहित समाज की स्थापना [illegible] जिसका व्यवस्था का आधार शक्ति और सार्वजनिक दृष्टि से निर्बलों का [illegible] होकर नव निर्मित समाज के लोगों का पारस्परिक सहयोग व उनके [illegible] उचित संरक्षण हो जिसमें उत्पादन के साधनों का सार्वजनिक स्वामित्व [illegible] की व्यवस्था का सार्वजनिक नियन्त्रण हो तथा जिसमें सब अपनी योग्यतानुसार कार्य करें और सब आवश्यकतानुसार पा सकें। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के [illegible] साम्यवाद उग्र व हिंसात्मक उपायों का आश्रय लेकर समर्थन करता है [illegible] बिना ऐसे उपायों के प्रयोग के पूंजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकना [illegible] साम्यवादी की स्थापना करना यह सम्भव नही मानता। इस प्रकार साम्यवाद के प्रमुख सिद्धान्त संक्षेप में निम्न हैं—

पूंजीवाद का विरोध

साम्यवाद पूंजीवाद व्यवस्था पर मार्क्सवाद की भांति ही घोर [illegible] करते हुए उस दारुण स्थिति का भयावह चित्रांकन करता है जो पूंजीवाद [illegible] श्रमजीवी वर्ग का निर्मम शोषण करके उत्पन्न कर दी है। [illegible] श्रमिकों को शारीरिक एवं मानसिक क्षति पहुँचायी है। [illegible] पूंजीवाद पर राष्ट्रीय सम्पत्ति के वितरण में भयंकर विषमताओं को [illegible] का लाछन लगाते हुए साम्यवादी एक और प्रबल आलोचना [illegible] पूंजीवादी व्यवस्था में शक्ति का असमान वितरण होता है, [illegible] है। साम्यवादियों का उद्देश्य एक ऐसी राजनीतिक और सामाजिक [illegible] स्थापना करना है, जिनमें जनता को पद और अवसर की समानता [illegible]

क्रान्ति की अनिवार्यता

पूंजीवाद को समाप्त करने के लिए क्रान्ति को अत्यधिक [illegible] घोर हिंसात्मक क्रान्ति का समर्थन करता है किन्तु [illegible] परिस्थिति के अनुसार क्रान्ति के साधनों में परिवर्तन का [illegible] वादी इस मत पर सहमत हैं कि पूंजीवाद व्यवस्था को [illegible] चाहिए। [illegible] षड़यन्त्र, [illegible] आदि का [illegible] लोकतन्त्रात्मक शासन हो, वहाँ [illegible]

के साम्यवादी क्रान्ति [illegible]

अध्याय 8

संशोधनवादी समाजवादी विचारक

ोधनवाद का अर्थ तथा स्वरूप

मार्क्स तथा एंगेल्स ने समाजवाद के जिस रूप का प्रतिवाद किया था उसे ार्क्सवाद" या 'वैज्ञानिक समाजवाद' कहा जाता है। मार्क्स के समाजवादी चार मुख्यतया उनकी रचनाओं में मिलते हैं जिनमें "पूंजी" और "साम्यवादी पणा पत्र" प्रमुख हैं। इन रचनाओं के प्रकाशन के पश्चात् समाजवादी न्तन में नयी प्रवृत्तियाँ आने लगी। कट्टर मार्क्सवादी मार्क्स के समाजवाद सम्बद्ध विविध सिद्धान्तों की सत्यता पर विश्वास करने लगे और समाजवाद ो प्राप्ति के क्रान्तिकारी कार्यक्रम को भावी आन्दोलन का रूप देने की विधियों े सोचने लगे। इनमें सोवियत संघ के बोल्शेविक नेता कार्ट्स्की, लेनिन, ्टालिन, ट्राटस्की, आदि प्रमुख थे। दूसरी ओर क्रान्तिकारी अराजकतावादी ाकुनिन, क्रोपाट्किन, आदि पर भी मार्क्स के क्रान्तिकारी विचारों का प्रभाव ा, यद्यपि अराजकतावादी सिद्धान्त तथा कार्यक्रम मार्क्सवाद से पर्याप्त दूर हट गये थे। फ्रान्स में श्रम संघवादी आन्दोलन भी मार्क्स तथा अराजकतावाद से प्रभावित था, परन्तु यह भी मार्क्स से बहुत भिन्न था। इन्हें मार्क्सवाद से प्रभावित माना जा सकता है, न कि मार्क्सवाद पर संशोधन। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में जर्मनी में एडवर्ड बर्नस्टीन, फ्रान्स में जीन जोरेस, बेल्जियम में एडवर्ड अन्सीला, इटली में बिस्सोलाटी, सोवियत संघ में टूगन बेरोनोस्की तथा स्वीडेन में कार्ल ब्रेटिंग ने मार्क्स के द्वारा प्रतिपादित इतिहास की आर्थिक व्याख्या, अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त तथा पूंजीवादी विस्तार की धारणाओं की सत्यता को चुनौती दी थी। बर्नस्टीन, जोरेस तथा टूगन बेरोनोस्की ने लेखों एवं रचनाओं में विशुद्ध रूप से मार्क्सवाद के अनेक सिद्धान्तों में संशोधन किये। परिणामस्वरूप बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में समाजवाद का एक नया आन्दोलन प्रारम्भ होने लगा, जिसे संशोधनवाद कहा जाता है।

संशोधनवाद की पारिभाषिक व्याख्या कर सकना अत्यन्त ही कठिन कार्य है मार्क्स के पश्चात् उसके अनुयायियों ने मार्क्स के सिद्धान्तों की अपने-अपने ढंग से

ख्या करनी प्रारम्भ की । विभिन्न देशों में पूंजीवाद तथा श्रमिकों की स्थिति समान नहीं थी । साथ ही मार्क्स के काल से आगे के वर्षों में पूंजीवाद तथा औद्योगिक व्यवस्था में अनेक परिवर्तन भी आने लगे थे । इन सब परिवर्तित परिस्थितियों के सन्दर्भ में मार्क्स के अनेक अनुयायियों ने मार्क्स की कई धारणाओं की सत्यता पर विश्वास नहीं किया। कुछ विचारक जो मार्क्स के प्रबल समर्थक थे, मार्क्स द्वारा निर्दिष्ट क्रान्तिकारी कार्यक्रम को ही समाजवाद की स्थापना के लिए आवश्यक मानने लगे । कुछ क्रान्तिकारी कार्यक्रम को ही समाजवाद की स्थापना के लिए आवश्यक मानने लगे । कुछ का क्रान्तिवादी कार्यक्रम से विश्वास हटता गया। विकासवादी कार्यक्रम की उपादेयता का समर्थन करने लगे । उन्होंने मार्क्सवाद के अनेक सिद्धान्तों को गलत ठहराया । इस प्रकार जो लोग क्रान्ति के स्थान पर विकासवादी कार्यक्रम के समर्थक थे उन्हें प्रबल मार्क्सवादी लोग संशोधनवादी कहने लगे । कोकर ने लिखा है, "संशोधनवादी तथा कट्टर मार्क्सवादी दोनों ही समाजवाद को श्रमिक वर्ग के लिए एक सिद्धान्त तथा कार्यक्रम मानते थे। दोनों ने ऐसी नीति की खोज करने का प्रयास किया जिससे श्रमिकों के भौतिक, बौद्धिक और सांस्कृतिक कल्याण तथा उनकी राजनीतिक अवस्था में सुधार करके उनके सर्वोत्तम हितों का सम्पादन हो सके । इन दोनों के मध्य जो विवाद था, उसका मुख्य कारण श्रमिकों की वर्तमान आर्थिक स्थिति, उसमें होते जा रहे परिवर्तन की प्रवृत्ति तथा समाजवादी दल के लिए वर्तमान आन्दोलनों से पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए उपयुक्त राजनीतिक युक्तियों के सम्बन्ध में मतभेदों का होना था ।"

परन्तु यह भी स्मरणीय है कि भले ही प्रारम्भ में बर्नस्टीन तथा जीन जौरेस, मिलेरां, मेलन, अनसीले, बिसोलाटी, टूगन बेरोनास्टी, कार्लवे न्टिग आदि अन्य विचारक, जो समाजवादी कार्यक्रम के विकासवादी स्वरूप को मान्यता देते थे, उन्हीं को संशोधनवादी कहा गया, तथापि तबसे लेकर आज तक स्वयं क्रान्तिकारी वेरे क में, अपने को कट्टर मार्क्सवादी मानने वाले स्वयं संशोधनवादी हो गए हैं। लेनिन जिसने सर्वप्रथम बोल्शेविक क्रान्ति का मार्क्सवाद के आधार पर सफल नेतृत्व किया था, स्वयं एक संशोधनवादी थे । उन्होंने मार्क्सवाद को रूसी परिस्थितियों के सन्दर्भ में निर्वाचित करके क्रान्ति का निर्देशन किया । यह कार्यक्रम वस्तुतः मार्क्स के ऊपर एक संशोधन ही था । अन्यथा मार्क्सवादी सन्दर्भ में सोवियत संघ में श्रमिक क्रान्ति का प्रश्न नहीं उठता, जहां कि पूंजीवाद का विकास नहीं हुआ था । लेनिन के बाद स्टालिन ने मार्क्सवाद में वर्तमान

समर्थन किया। उसके पश्चात् भी संशोधन का दौर समाप्त नहीं हुआ है। जहाँ स्टालिन ने युगोस्लाविया के मार्शल टीटो को संशोधनवादी कहा, तो ख्रुश्चेव को चीनी नेताओं ने संशोधनवादी कहा। माओ-त्से-तुंग जो अपने को प्रबल एवं कट्टर मार्क्सवादी लेनिनवादी कहने का दावा करते है, स्वयं एक संशोधनवादी थे। माओवाद और मार्क्सवाद में कोई साम्य नहीं है। संक्षेप में, आज साम्यवादी क्षेत्र में जो तथाकथित सैद्धान्तिक फूट है, वह सैद्धान्तिक नहीं, अपितु राजनीतिक जगत में नेतृत्व की आकांक्षा से प्रेरित है। इसके अन्तर्गत "संशोधनवाद" शब्द का प्रयोग एक दूसरे को गाली देने के रूप में किया जाता है।

एडवर्ड बर्नस्टीन (1850–1932)

एडवर्ड बर्नस्टीन का जन्म सन् 1850 में जर्मनी के बर्लिन नगर में हुआ था। उसके पिता लोकोमोटिव इंजीनियर थे। जर्मनी में सामाजिक जनतन्त्र की विचारधारा बर्नस्टीन के जन्म के पूर्व ही प्रचारित थी और उसका नेतृत्व फर्डिनेन्ड लसाल कर रहे थे। लसाल (Universal German Men's Association) 'यूनिवर्सल जर्मन मेन्स एसोसियेशन' के नेता थे जिसका उद्देश्य समाज में वर्ग संघर्ष को शान्तिपूर्ण वैधिक एवं जनतान्त्रिक पद्धति से दूर करना था। सन् 1864 में लसाल की मृत्यु हो गयी और उसके उपरान्त बैबिल और लेबुकनेव ने संगठन का नेतृत्व किया। इन लोगों ने जर्मनी में सामाजिक जनतन्त्र प्राप्त करने की दृष्टि से अनेक व्यावहारिक कार्यक्रम भी प्रस्तुत किये।

इस पृष्ठभूमि को दृष्टिगत रखते हुए बर्नस्टीन पर पड़ने वाले प्रभावों को समझा जा सकता है। जब बर्नस्टीन 16 वर्ष की आयु के थे, तो उसी समय एक बैंक के लिपिक के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया और उसका सामाजिक जीवन सन् 1872 में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी का सदस्य बनने से प्रारम्भ हुआ। सन् 1878 में जब समाजवाद विरोधी कानून पारित हुआ तो बर्नस्टीन को जर्मनी छोड़ कर अपने जीवन के लगभग 20 वर्ष एक निर्वासित के रूप में व्यतीत करने पड़े। उसने कुछ समय पूर्व स्विट्जरलैण्ड में व्यतीत किया और बाद में इंगलैंड में। सन् 1900 में वह पुन जर्मनी आ गये यद्यपि इंगलैंड में रहते हुए बर्नस्टीन ने समाजवादी आन्दोलन को निकट से देखा ही नहीं था वरन् सक्रिय भाग भी लिया था। जर्मनी लौटने पर उसने पुनर्विचारवादी आन्दोलन की बागडोर अपने हाथ में ले ली और सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के कटु विरोध के होते हुए भी युवकों को बड़ी सीमा तक प्रभावित किया। पुनर्विचारवाद के विरुद्ध विरोध का नेता

हुआ नहीं है । उसने मार्क्स के इस सिद्धान्त की अधिक व्याख्या की, जिसमें भविष्य के सम्बन्धों के निर्माण में विचारधारा सम्बन्धी और नैतिक जैसे अनुपयोगी कारणों को भी ध्यान में रखा गया । यद्यपि मार्क्स और एंगेल्स दोनों ने इनको सदा स्वीकार की थी, किन्तु उन्होंने इनको गौण स्थान दिया था, जब कि बर्नस्टीन के अनुसार इनको स्वतन्त्र क्रिया के लिए अधिक स्थान है । अपने अन्य विकासवादी समाजवाद में उसने लिखा है कि 'आधुनिक समाज प्रारम्भिक समाजों के आदर्शों से कहीं अधिक ऊँचा उठा हुआ है । ये आदर्श केवल आर्थिक तत्वों तक ही सीमित नहीं हैं, वरन् विज्ञान, कला तथा अन्य सामाजिक सम्बन्ध भी इन आदर्शों के क्षेत्र में आते हैं । ये विभिन्न तत्त्व आज आर्थिक तत्वों पर इतने आधारित नहीं हैं जितने कि प्राचीन काल में थे । आधुनिक आदर्शों का, विशेषकर नैतिक आदर्शों का, क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत है तथा वे आर्थिक तत्त्वों पर आधारित नहीं हैं । बर्नस्टीन ने बताया कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव की आर्थिक निर्देशन की शक्ति बढ़ती जाती है और इसके साथ ही प्राकृतिक आर्थिक शक्ति मनुष्य की सेविका बन जाती है । वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि व्यक्तिगत हित के विरुद्ध सामान्य हित अधिक प्रबल होता जा रहा है और व्यावसायिक आर्थिक विकास तथा अन्य सामाजिक प्रवृत्तियों के विकास से, कारण और कार्य की अन्योन्याश्रिता अधिक परोक्ष होती जा रही है, तथा परिणामस्वरूप पूर्वोक्त को उपर्युक्त के रूप में निर्धारित करने की शक्ति बहुत कम होती जा रही है ।" स्पष्ट है कि बर्नस्टीन का यह विचार मार्क्सवाद के मूल पर प्रहार करता है, क्योंकि यह ऐतिहासिक विकास में आवश्यकता के नियम से मना करता है । बर्नस्टीन की मान्यता है कि व्यक्तिगत हित के विरुद्ध सामान्य हित अधिक प्रबल होता जा रहा है, फलतः "आर्थिक शक्तियों का प्रारम्भिक नियम" खण्डित होता जा रहा है ।

बर्नस्टीन ने मार्क्स के मूल सिद्धान्त का भी खण्डन किया है और उस क्रान्ति की ओर निर्देशन किया जो "पूंजी" ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में मार्क्स के मत परिवर्तन के कारण उत्पन्न होती है । मार्क्स ने कहा है कि किसी उत्पादित वस्तु का विनिमय मूल्य उसके उत्पादन में लगाये गये श्रम की मात्रा से निर्धारित किया जाता है। आगे उसने यह भी कहा है कि किसी वस्तु का बाजार मूल्य उसके उत्पादन की लागत के बराबर होता है जिसमें उसका औसत लाभ भी सम्मिलित है । पूर्ण उत्पादन पूर्ण मजदूरी से जितना ही अधिक होता है वह अतिरिक्त मूल्य है जो उत्पादन करने वाले श्रमिकों को नहीं दिया जाता, वरन् उद्योगपतियों की जेब में जाता है । बर्नस्टीन अतिरिक्त मूल्य के इस मार्क्सवादी विचार से सहमत नहीं

कट्टरपंथी था। बर्नस्टीन का सन् 1914 तक उससे सैद्धान्तिक संघर्ष चलता रहा सन् 1932 में यह महान् संशोधनवादी नेता मृत्यु को प्राप्त हुआ था।

रचनायें

बर्नस्टीन ने मार्क्सवाद पर समाजवाद की समस्यायें (Problems of Socialism) नामक लेखमाला में अपने आलोचनात्मक विचार प्रकाशित किये। एक जटिल शीर्षक वाले ग्रन्थ में उसके विचारों की अभिव्यक्ति हुई जिसका संक्षिप्त अंग्रेजी अनुवाद "विकासवादी समाजवाद" (Evolutionary Socialism) के नाम से प्रकाशित हुआ। बर्नस्टीन ने मार्क्सवाद की अपनी आलोचना का सार एक वृहद् पत्र में प्रस्तुत किया है, जो उसने सन् 1898 में जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी को लिखा था। बर्नस्टीन की शंकाओं, अविश्वासों और मार्क्सवादी आलोचनाओं का मुख्य तर्क यह था कि मार्क्स ने समाज का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया था वह समाज द्वारा गलत प्रमाणित हो चुका था और घटना क्रम के अनुसार मार्क्स की भविष्यवाणियां भी सिद्ध नहीं हुई थीं। अतः यह सर्वथा उचित था कि मार्क्स के सिद्धान्तों में संशोधन किया जाय और उन बातों को बाहर निकाल फेंका जाय जो गलत सिद्ध हो चुकी थीं।

बर्नस्टीन द्वारा मार्क्सवाद में संशोधन

बर्नस्टीन ने "समाजवाद की समस्यायें" नामक लेखमाला के अपने लेख में मार्क्स पर स्वप्नलोकीय होने का आरोप लगाया। यद्यपि मार्क्स ने भविष्य के सामाजिक संगठन की कोई कल्पना नहीं की थी, किन्तु उसने यह पूर्ण विश्वास के साथ कहा था कि समाज आकस्मिक तथा तीव्र परिवर्तन फलस्वरूप पूंजीवाद से समाजवाद का रूप धारण कर लेगा। बर्नस्टीन ने मार्क्स के इस विचार को केवल कल्पनालोकीय अथवा स्वप्निल बताया। उसने कहा कि मार्क्स की इस प्रकार की धारणा बनाना यथार्थ को दूर फेंकना था। उसके अनुसार यह विश्वास गलत था कि पूंजीवादी समाज का अन्त निकट आ रहा था और वह उस अन्तिम संकट के चरम बिन्दु पर था जिसके परिणामस्वरूप श्रमिक वर्ग को शक्ति प्राप्त हो जानी थी। मार्क्स द्वारा ऐसे विचारों को प्रकट करना भ्रान्तिपूर्ण था और उसके चिन्तन में यह प्रमुख स्वप्नलोकीय तत्व है।

बर्नस्टीन ने यह आरोप लगाया कि मार्क्स के उपर्युक्त स्वप्नलोकीय विचारों का ही यह दुष्परिणाम था कि जर्मनी की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी में निष्क्रियता व्याप्त थी। इस पार्टी ने क्रान्ति से पूर्व कोई भी रचनात्मक कार्य करना आवश्यक

नहीं सकता था। बर्नस्टीन को मार्क्स द्वारा कथित क्रान्ति के कोई भी लक्षण दृष्टिगत नहीं दिखायी दे रहे थे, अत: उसने यह तर्कसंगत तथ्य प्रस्तुत किया कि क्या श्रमिकों के लिए यह उचित है कि वे उन सुधारों के लिए कोई प्रयत्न न करें जो पूंजीवादी राज्य में पूंजीवादी होने के अन्तर्गत भी प्राप्त हो सकते हैं, और क्या उनके लिए यह उचित है कि वे इन सुधारों को पाने के लिए प्रयत्नशील होने की अपेक्षा अनिश्चित क्रान्ति की प्रतीक्षा करते रहें। बर्नस्टीन ने आग्रहपूर्वक यह विचार प्रकट किया कि क्रान्ति की अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करना श्रमिकों के हितों के दृष्टिकोण से लाभप्रद नहीं है और उचित एवं तर्कसंगत मार्ग यही है कि पूंजीवाद के विनाश की प्रतीक्षा में न बैठ कर श्रमिक पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत अधिकतम सुविधायें लेने को सचेष्ट हों। बर्नस्टीन के ये विचार सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के सिद्धान्तों से मेल नहीं खाते थे।

बर्नस्टीन ने अनुभव किया कि मार्क्स की भविष्यवाणी के विपरीत वर्ग संघर्षों में कमी होने के कारण क्रान्ति की सम्भावना निरन्तर घटती जा रही थी। मार्क्स ने कहा था कि ज्यों-ज्यों पूंजीवाद की अभिवृद्धि होगी त्यों-त्यों वर्ग संघर्ष बढ़ता जायेगा और क्रान्ति सन्निकट होती जायेगी, किन्तु मार्क्स की कल्पना के विरुद्ध समाज दो घोर परस्पर विरोधी वर्गों में विभक्त नहीं हो रहा था। श्रमिक स्वयं किसी एक संगठित वर्ग में आबद्ध नहीं थे, उनका विभाजन कुशल अकुशल आदि अनेक वर्गों में हो रहा था। बर्नस्टीन ने कहा कि सामाजिक धन की भारी वृद्धि ने बड़े पूंजीपतियों की संख्या में कमी नहीं की थी, वरन् समस्त श्रेणी के पूंजीपतियों में वृद्धि ही हुई थी। पूंजी का केन्द्रीयकरण कुछ हाथों में होने के साथ-साथ मध्यवर्गीय व छोटे व्यवसायों का लोप नहीं हो रहा था और श्रमिकों की दशा गिरने की अपेक्षा सुधर रही थी। राज्य का ज्यों-ज्यों लोकतान्त्रिक स्वरूप उन्नत हो रहा था, त्यों-त्यों श्रमिक वर्ग की राजनीतिक क्रान्ति के द्वारा समाजवाद के आने की सम्भावना कम हो रही थी। बर्नस्टीन के शब्दों में कारखानों के विषय में अधिनियम, स्थानीय शासन का जनतन्त्रीय कारण, उसके कार्य क्षेत्र का विस्तार, वैधानिक प्रतिबन्धों से श्रमिक संगठनों और सहयोगी व्यापारी संस्थाओं की मुक्ति, सार्वजनिक सेवाओं के द्वारा कार्य किये जाने के एक निश्चित स्तर का विचार, ये समस्त विचारधारायें विकास की विशेषतायें हैं। वर्तमान राष्ट्रों का राजनीतिक संगठन जितना ही अधिक जनतन्त्रीय होता है, उतनी ही अधिक राजनीतिक संकट की आवश्यकतायें तथा अवसर कम होते हैं। बर्नस्टीन इन परिस्थितियों में इस परिणाम पर पहुँचा कि समाजवाद का कार्य

श्रमिक वर्ग को राजनीतिक रूप से संगठित करना और उन्हें एक संगठन में विकसित करना तथा राज्य से उन समस्त सुधारों के लिये लड़ना है जो कि श्रमिक वर्ग को ऊपर उठा सकते हैं और राज्य को लोकतन्त्र की दिशा में परिवर्तित कर सकते हैं।" इस प्रकार स्पष्ट बर्नस्टीन के मतानुसार पूँजीवाद से समाजवाद पर आरोहण धीरे-धीरे ही हो सकता है। स्थायी सफलता के लिए यह आवश्यकता इस बात की है कि एक क्रान्तिकारी परिवर्तन की अपेक्षा धीरे-धीरे परन्तु निश्चित विकास की ओर बढ़ा जाय। समाजवाद की स्थापना वर्ग संघर्ष के परिणाम स्वरूप नहीं होगी, वरन् क्रमिक सुधारों के संचय द्वारा होगी। श्रमिकों को चाहिए कि वे अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए जोर दें। श्रमिकों को दासों और मजदूरों से अपने वर्ग के हितों के लिए राजनीतिक संघर्ष करना चाहिए और श्रमिकों के औद्योगिक संगठन के लिए प्रयत्न करना चाहिए। बर्नस्टीन को मार्क्स के इतिहास की एक युग से दूसरे युग पर आकस्मिक छलांग की धारणा से कोई विश्वास न था। फेबियन्स के विचार भी ऐसे ही थे। सिडनी वेब और बर्नस्टीन ने कोल के शब्दों में, "एक विकासवादी प्रक्रिया के दर्शन किये जिसमें आकस्मिक छलांगें" अपवाद स्वरूप थीं और सामान्य नियम क्रमिक तथा सुव्यवस्थित परिवर्तनशीलता का था। मार्क्स के लिए आधारभूत कारण से भिन्न परिवर्तन की पद्धति का वर्ग संघर्ष था और यह क्रान्ति थी, जिसमें कि उदीयमान वर्ग उस ह्रासोन्मुखी वर्ग को परास्त कर देता है जो कि उत्पादन की शक्तियों का समुचित प्रयोग करने में असमर्थ हो जाता है। इसके विपरीत वेब तथा बर्नस्टीन के अनुसार वर्ग संघर्ष यद्यपि वह इसकी सत्ता से मना नहीं करते, परिवर्तन का वास्तविक महत्वपूर्ण यन्त्र नहीं है। परिवर्तन इसलिए होता है क्योंकि जीवन की मूलभूत स्थितियाँ बदल जाती हैं और क्योंकि इन स्थितियों में परिवर्तन मनुष्यों को अपनी संस्थाओं को नयी आवश्यकताओं के अनुकूल ढालने के लिए प्रेरित करता है। वर्ग भी एक कारक हो सकता है कि यह आधारभूत कारक नहीं है आधारभूत कारक तो सामाजिक संस्थाओं को मानवीय आवश्यकताओं के बनाने की अनुकूल की सामर्थ्य है।

बर्नस्टीन ने न केवल मार्क्स की इन धारणाओं का खण्डन किया कि पूँजीवादी समाज का अन्त होने वाला है और वर्ग-संघर्ष में तीव्रता होना अनिवार्य है, वरन् उसने मार्क्स की इतिहास की आर्थिक व्याख्या को भी अपने आक्रमण का निशाना बनाया। बर्नस्टीन ने मार्क्सवादी इस व्याख्या को अत्यन्त संकीर्ण बताया और यह मत प्रकट किया कि इतिहास के निर्धारण में केवल आर्थिक तत्व ही सब

रूप नहीं है । उन्होंने मार्क्स के इस सिद्धान्त की अधिक व्याख्या की, जिसमें भविष्य के परिवर्तनों के निर्धारण में विचारधारा सम्बन्धी और नैतिक जैसे अनुयोगी कारकों को भी ध्यान में रखा गया । यद्यपि मार्क्स और एंगेल्स दोनों ने इनकी सत्ता स्वीकार की थी, किन्तु उन्होंने इनको गौण स्थान दिया था, जब कि बर्नस्टीन के अनुसार इनको स्वतन्त्र क्रिया के लिए अधिक स्थान है । अपने अन्य विकासवादी समाजवाद में उसने लिखा है कि 'आधुनिक समाज प्रारम्भिक समाजों के आदर्शों से कहीं अधिक ऊँचा उठा हुआ है । ये आदर्श केवल आर्थिक तत्वों तक ही सीमित नहीं है, वरन् विज्ञान, कला तथा अन्य सामाजिक सम्बन्ध भी इन आदर्शों के क्षेत्र में आते हैं । ये विभिन्न तत्त्व आज आर्थिक तत्वों पर इतने आधारित नहीं हैं जितने कि प्राचीन काल में थे । आधुनिक आदर्शों का, विशेषकर नैतिक आदर्शों का, क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत है तथा वे आर्थिक तत्वों पर आधारित नहीं हैं। बर्नस्टीन ने बताया कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव की आर्थिक निर्देशन की शक्ति बढ़ती जाती है और इसके साथ ही प्राकृतिक आर्थिक शक्ति मनुष्य की सेविका बन जाती है । वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि व्यक्तिगत हित के विरुद्ध सामान्य हित अधिक प्रबल होता जा रहा है और व्यावसायिक आर्थिक विकास तथा अन्य सामाजिक प्रवृत्तियों के विकास में, कारण और कार्य की अन्योन्याश्रिता अधिक परोक्ष होती जा रही है, तथा परिणामस्वरूप पूर्वोक्त की उपर्युक्त के रूप में निर्धारित करने की शक्ति बहुत कम होती जा रही है ।" स्पष्ट है कि बर्नस्टीन का यह विचार मार्क्सवाद के मूल पर प्रहार करता है, क्योंकि यह ऐतिहासिक विकास में आवश्यकता के नियम से मना करता है । बर्नस्टीन की मान्यता है कि व्यक्तिगत हित के विरुद्ध सामान्य हित अधिक प्रबल होता जा रहा है, फलतः "आर्थिक शक्तियों का प्रारम्भिक नियम" खण्डित होता जा रहा है ।

बर्नस्टीन ने मार्क्स के मूल सिद्धान्त का भी खण्डन किया है और उस क्रान्ति की ओर निर्देशन किया जो "पूँजी" ग्रन्थ के तीसरे खण्ड में मार्क्स के मत परिवर्तन के कारण उत्पन्न होती है । मार्क्स ने कहा है कि किसी उत्पादित वस्तु का विनिमय मूल्य उसके उत्पादन में लगाये गये श्रम की मात्रा से निर्धारित किया जाता है। आगे उसने यह भी कहा है कि किसी वस्तु का बाजार मूल्य उसके उत्पादन की लागत के बराबर होता है जिसमें उसका औसत लाभ भी सम्मिलित है । पूर्ण उत्पादन पूर्ण मजदूरी से जितना ही अधिक होता है वह अतिरिक्त मूल्य है जो उत्पादन करने वाले श्रमिकों को नहीं दिया जाता, वरन् उद्योगपतियों की जेब में जाता है । बर्नस्टीन अतिरिक्त मूल्य के इस मार्क्सवादी विचार से सहमत नहीं

साराश रूप मे यह कहा जा सकता है कि बर्नस्टीन के अनुसार मार्क्स के वैज्ञानिक होने के दावे के होते हुए भी उसकी विचारधारा का एक बहुत बड़ा भाग वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि वह तथ्यों पर आधारित नहीं है। मार्क्स ने अपने ऐतिहासिक विकास के सिद्धान्त मे आर्थिक तत्त्व पर आवश्यकता से अधिक बल दिया तथा उसके द्वारा प्रतिपादित अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त तो पूर्णत. काल्पनिक प्रमाणित हुआ। मार्क्स की भविष्यवाणी के अनुसार न तो मध्यवर्ग ही लुप्त हुआ, न श्रमजीवी वर्ग के कष्टों मे वृद्धि हुई और न पूंजीपतियों की सख्या मे ही कमी आयी। बर्नस्टीन ने बदलती हुई परिस्थितियों मे और मार्क्स की अनेक भविष्यवाणियों के गलत हो जाने की दशा मे विकासवादी प्रक्रिया मे विश्वास करते हुए मार्क्सवाद पर पुनर्विचार करके उसमे संशोधन करने का आग्रह किया और यह घोषित किया कि क्रान्तिकारी साधन केवल वही अपनाए जाने चाहिए जहाँ सुधारवादी साधन काम न दें। सर्वोत्तम मार्ग यही है कि श्रमजीवियों को जनतन्त्र की संस्थाओं तथा औद्योगिक स्वशासन के अधिकरणों मे शिक्षण के जो सुयोग मिलते है, उनसे धीरे-धीरे आर्थिक एव राजनीतिक प्राधान्य प्राप्त करने की योग्यता पाने का प्रयत्न करके ही सन्तुष्ट रहना चाहिए। उन्हें उन समस्त लाभो से लाभान्वित होना चाहिए, जो जनतान्त्रिक सरकारों द्वारा पूंजीवादी स्वेच्छाचारिता को मर्यादित करने तथा अवस्था को सुधारने के लिए प्रदान किये जाते है। उन पूंजीपतियों के सहयोग को भी आवश्यक मानना चाहिए जो उनके साथ मिल कर पूंजीवादी शोषण को सीमित करने तथा राजनीतिक विशेषाधिकारों को उठा रखने के लिए उनसे सहयोग करने को तैयार हैं।

जीन जोरेंस

जहां बर्नस्टीन जर्मनी में संशोधनवादी आन्दोलन का महानतम नेता था, वहां जीन जोरेंस और विनाय मिलन फ्रांस में संशोधनवादी आन्दोलन के सर्वोत्तम प्रतिनिधि थे। बर्नस्टीन की भांति ही जोरेंस ने भी मार्क्सवादी भविष्यवाणियों को अस्वीकार किया। उसने मार्क्स की इस कट्टर धारणा का खण्डन किया कि पूंजीवाद का अन्त निकट आ रहा है। जोरेंस ने कहा कि आर्थिक संकट यद्यपि पूंजीवादी व्यवस्था की अव्यवस्था के प्रमाण हैं, तथापि इस व्यवस्था का अन्त करके किसी अन्य प्रणाली को जन्म नहीं दे सकते तथा श्रमजीवियों के और दरिद्र हो जाने से पूंजीपतियों को हटा कर उनका स्थान ग्रहण करने की उनकी क्षमता में वृद्धि होने के स्थान में ह्रास ही होगा। जोरेंस श्रमजीवी वर्ग की राजनीतिक क्रान्ति में विश्वास का खण्डन करता था। उसकी धारणा थी कि समाजवादी व्यवस्था का जन्म श्रमजीवी वर्ग को सचेतन और जागरूक बनाने से होगा, पूंजीवाद के पतन द्वारा नहीं। उनका कहना था कि समाजवादी लक्ष्य की प्राप्ति वर्तमान राज्य को एक साधन के रूप में प्रयोग करके ही की जानी चाहिए तथा समाजवादी आन्दोलन को जनतान्त्रिक आन्दोलन का एक अंग समझा जाना चाहिए। उसने यह घोषित किया कि जनतन्त्र समाज का केवल साधन मात्र ही नहीं है वरन् उसका सार भी है।

संशोधनवादियों के इस वर्णन से हमने यही देखा है कि बर्नस्टीन, जोरेंस एवं अन्य संशोधनवादी यह मानते हैं कि समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत ही शोषण तथा अन्याय का अन्त हो सकता है, परन्तु समाजवादी व्यवस्था पूंजीपतियों के विनाश से नहीं, अपितु सर्वहारा वर्ग को शक्तिशाली बना कर लायी जा सकती है। यह कार्य जनतान्त्रिक ढंग से होना चाहिए। सर्वहारा वर्ग के समाजवादी दल का निर्माण जनतन्त्र की दिशा में सर्वप्रथम आवश्यक पग होगा। दल को राजनीतिक क्षेत्र में अपनी शक्ति का विस्तार करने की आवश्यकता है। जहां राजनीतिक जनतन्त्र का अस्तित्व नहीं है और सम्पत्तिशाली वर्ग के हाथ में समाज का पूर्ण नियन्त्रण है, वहां क्रान्ति ही एक मात्र ऐसा साधन रह जाता है, जिसके द्वारा सम्पत्ति विहीन विशाल जनता राजनीतिक सत्ता को अपने हाथ में ले सके। संशोधनवादियों ने सामान्य हड़ताल को भी एक साधन के रूप में मान्य किया है ताकि निर्दयी पूंजीपति वर्ग को अन्यायपूर्ण दृष्टिकोण छोड़ने को विवश किया जा सके, परन्तु बर्नस्टीन का पूर्ण विश्वास था कि बिना कुछ जनतान्त्रिक परम्पराओं एवं संस्थाओं के आज का समाजवादी सिद्धान्त वास्तव

से स्थापित नहीं होगा। निस्सन्देह श्रमिक आन्दोलन तो होगा, किन्तु सामाजिक जनतन्त्र नहीं होगा।

जनतन्त्र तथा समाजवाद में परस्पर अन्तर्विरोध नहीं है, जनतन्त्र समाजवाद का केवल साधन ही नहीं, वरन् उसका सार भी है। संशोधनवादी राज्य के जनतान्त्रिक रूप को बनाये रखने तथा पूंजीवाद पर राज्य का प्रतिबन्ध रखने के पक्ष में हैं। राज्य व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकारों पर हस्तक्षेप करने या पूंजी के किसी भाग पर अपना स्वामित्व स्थापित करके पूंजीवाद के बढ़ते प्रभाव को रोक सकेगा। व्यापक वयस्क मताधिकार श्रमिकों को राज्य की सत्ता पर नियन्त्रण लगाने का अवसर मिलेगा। जनतान्त्रिक सरकार श्रमिकों के हित में अनेक सुधारों के कानून बनायेगी। समाजवादी दल श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करेंगे और जब तक वे अल्प-संख्यक बने रहेंगे वे अन्य दलों के साथ सहयोग करके सुधारों के लिए कार्य करेंगे। वे अन्य प्रगतिशील दलों के साथ तथा मन्त्रिमण्डलों के साथ भी सहयोग करेंगे। अवसर मिलने पर वे ऐसे मन्त्रिमण्डलों में सम्मिलित हो सकते हैं। संशोधनवादियों का मत है कि "हमारे समस्त सुधारों का एकमात्र क्रान्तिवादी उद्देश्य शोषित और पीड़ित मजदूरों की मुक्ति होना चाहिए। समाजवाद को तात्कालिक सुधार प्राप्त करना है, तो उसे जनतन्त्र की समस्त शक्तियों का प्रयोग करना होगा। सर्वहारा विकास की अभिवृद्धि के लिए जहाँ आवश्यक हो जनतन्त्रीय विकास से लाभ उठाने में भूल नहीं करनी चाहिए। संशोधनवादी मार्क्सवादी इस धारणा से सहमत नहीं थे कि श्रमजीवियों की कोई मातृभूमि नहीं होती। इसीलिए उन्होंने श्रमिकों के नागरिक अधिकारों की मांग करके जनतन्त्र को और अधिक व्यापक बनाने की नीति का समर्थन किया। उनके विचार से समाजवाद समस्त वर्गों—बुद्धिजीवी, कुलीन, पूंजीपति, श्रमिक आदि—के उदार व्यक्तियों से सहयोग चाहता है। इस प्रकार संशोधनवाद ने मार्क्स के क्रान्तिकारी वर्ग संघर्ष तथा लोकतन्त्री उदारवादी सुधारवाद के मध्य का मार्ग अपनाया। कोकर के अनुसार एक ओर वे यह मानते थे कि केवल राजनीतिक जनतन्त्र से वर्ग विद्वेष का अन्त नहीं होगा और दूसरी ओर वे यह भी मानते थे कि केवल वर्ग युद्ध से ही समाजवाद की स्थापना नहीं होगी। समाजवाद एक स्थिर विचारधारा नहीं है, यह समय तथा परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। इसकी कठोर सैद्धान्तिकता पर विश्वास करना ठीक नहीं है। अतएव संशोधनवाद ने समाजवाद के निमित जनतन्त्र तथा विकासवाद का मार्ग अपनाया। इसकी अभिव्यक्ति हम अन्य विकासवादी

फेबियन समाज का विकास

सन् 1884 में फेबियन सोसायटी की स्थापना हो जाने पर जार्ज बर्नार्ड शा ने इसका घोषणा पत्र तैयार किया जिससे सोसायटी का समाजवादी स्वरूप स्पष्ट होता है। यह भूमि के राष्ट्रीयकरण तथा राज्य द्वारा औद्योगिक क्षेत्र में प्रतियोगिता करने की नीति का समर्थन करता है। कालान्तर में इसकी गतिविधियों में विकास होने लगा। इसके सदस्यों ने राजनीतिक प्रचार सभाओं में भाषण देने प्रारम्भ किये। इसी के प्रोत्साहन से श्रमिक दल की स्थापना हुई और इसके बुद्धिजीवी नेताओं ने प्रचुर समाजवादी साहित्य का सर्जन किया। इस बीच ब्रिटेन में श्रमिक संघ काफी अधिक बढ़ चुका था। श्रेणी समाजवाद का भी विकास होने लगा था। फ्रान्सीसी श्रम संघवादी आन्दोलन का प्रभाव भी इस सोसाइटी के सदस्यों पर पड़ा था। सन् 1912 में इस सोसाइटी ने 'फेबियन शोध विभाग' की स्थापना की जो कालान्तर में "श्रम शोध विभाग' में परिणत हो गया। इस विभाग ने व्यापार संघवाद, समष्टिवाद, श्रमसंघ, सहकारिता आदि पर अनुशोध कार्यों के द्वारा अनेक सैद्धान्तिक विचार धाराओं का प्रतिपादन किया। इस मध्यम श्रेणी के बुद्धिजीवी संगठन ने समाजवाद के सम्बन्ध में बहुत सा साहित्य निर्मित किया, जिसे फेबियन निबन्धों के रूप में प्रकाशित किया गया था। यह साहित्य मुख्यतया समाजवादी पद्धतियों तथा साधनों की व्याख्या करता है, परन्तु इसके पीछे एक चिन्तनात्मक विचारधारा भी थी। यह मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त से सहमत नहीं थी और क्रान्ति तथा संघर्ष के स्थान पर निवर्तमान जनतन्त्री राजनीतिक संस्थाओं के माध्यम से समाजवाद की स्थापना होने पर विश्वास करती रही।

फेबियन समाजवाद के उद्देश्य

फेबियन सोसायटी ब्रिटेन के मध्य वर्गीय बुद्धिजीवी समाजवादियों का संगठन थी। फेबियन *समाजवाद का उद्देश्य प्रथमतः* समाज का पुनर्संगठन इस रूप में करना था जिसके अन्तर्गत भूमि तथा औद्योगिक पूंजी को व्यक्तिगत या वर्गगत स्वामित्व से मुक्त कराया जा सके और उन्हें सामान्य हित में समाज के स्वामित्व के अन्तर्गत रखा जाय। दूसरे यह भूमिगत सम्पत्ति की प्रथा को समाप्त करना चाहता है ताकि किराये के रूप में भूमि कर, निजी लाभ, व्यक्तिगत भूस्वामियों को प्राप्त न हो सके। तीसरे, फेबियन सोसाइटी का लक्ष्य उद्योगगत पूंजी का प्रशासन समाज के हाथ में हस्तान्तरित कर देना था। उसके मत से अतीत में उत्पादन के साधनों का एकाधिकार होने, वैज्ञानिक आविष्कारों तथा अतिरिक्त

निरन्तरवाद अथवा वैधानिक पग उठा कर क्रमशः समाजवादी विधान द्वारा पूंजीवादी व्यवस्था के प्रभावों को कम करने की दिशा में पग उठायेंगे। फेबियनवादियों की दृष्टि में इतिहास आर्थिक दृष्टि से निर्मित संघर्षरत वर्गों के युद्ध का विवरण नहीं है। प्रत्युत इतिहास यह बताता है कि समाज स्थिर नहीं है। आधुनिक इतिहास राजनीतिक कुलीन तन्त्र और आर्थिक व्यक्तिवाद दोनों की उन्नीसवीं शताब्दी की सभ्यता के साथ असंगति को सिद्ध करता है। सिडनी वेब के अनुसार इतिहास जनतन्त्र की अदम्य प्रगति तथा समाजवाद की प्रायः निरन्तर प्रगति को क्रमबद्ध प्रकट करता है।

2 आर्थिक आधार—फेबियनों की आर्थिक धारणा यह नहीं मानती कि मूल्य की सृष्टि श्रम करता है। इसके विपरीत वे समाज को मूल्य का सृष्टा मानते हैं। इस आधार पर उन्होंने भूमिगत तथा उद्योगगत किराये या उनके स्वामियों द्वारा संचय तथा उपयोग किये जाने की व्यवस्था का विरोध किया है। उनके मत से ऐसे किराये की रकमें अनर्जित आय हैं। भूमि प्रकृति की स्वतन्त्र देन है। किसी उर्वरा भूखण्ड का किराया इसलिए बढ़ता है कि जब साधारण भूमि, जो प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहती है, कृषि के कार्यों में लायी जाती है, तो उसकी उत्पादक क्षमता से उर्वरा भूमि की उत्पादक क्षमता अधिक होती है। ऐसी भूमि के स्वामी अधिक किराया वसूल करके उसे अपने निजी उपयोग में प्रयुक्त करते हैं, यह सामाजिक अन्याय है और यह उनकी अनर्जित आय है। इसी प्रकार औद्योगिक उत्पादन के साधनों, बैंकों, परिवहन आदि के स्वामी भी इनसे अन्य ऐसे औद्योगिक साधनों की तुलना में उनसे कम लाभप्रद है, अधिक लाभ अर्जित करते हैं, तो उसका कारण भी भूमि के किराये की ही भांति है। जार्ज बर्नार्ड शा ने ऐसी "अनर्जित आय" का विरोध इस आधार पर किया है कि इसका सृष्टा समाज है इसलिए इसका लाभ व्यक्तिगत को नहीं मिलना चाहिए। अपितु ऐसी सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण या समाजीकरण करके उससे होने वाले लाभ या किराये की पूंजी को सम्पूर्ण समाज के हित के कार्यों में सुनियोजित किया जाना चाहिए। इसके निमित्त भूमि तथा उद्योगों के राष्ट्रीयकरण अथवा सामाजिक स्वामित्व या समुचित कर व्यवस्था की पद्धति अपनायी जानी चाहिए। मार्क्स की भांति फेबियनवादी भी यह स्वीकार करते हैं कि किसी उद्योग में पूंजी के लगाने मात्र से उसकी आय का उचित अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता है। परन्तु फेबियनवादी यह मानते हैं कि वर्ग संघर्ष उद्योगों के स्वामियों तथा वेतनभोगी श्रमिकों के मध्य नहीं होता, वरन एक ओर

समाज तथा दूसरी ओर पूँजी लगा कर धनी बन जाने के मध्य है। फ
फेबियनवादी ऐसी पूँजी का हस्तान्तरण श्रमिक वर्ग को नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज
को करने का लक्ष्य रखते हैं। साथ ही ऐसा परिवर्तन वे धीरे-धीरे इन
वैधानिक साधनों से जनतन्त्री साधनों द्वारा करना चाहते हैं। इसका उद्देश
यही है कि समाज की अर्थ-व्यवस्था का संचालन समाज की सत्ता के द्वारा इ
प्रकार किया जाना चाहिए जिससे समाज में आर्थिक विषमता न आने पाये
अर्थात् ऐसा नहीं होना चाहिए कि समाज का एक छोटा-सा वर्ग उत्पादन के
साधनों के स्वामित्व रखने के कारण अनर्जित आय से सुख-ऐश्वर्य का जीवन
व्यतीत करे और दूसरा विशाल वर्ग जो उत्पादन में श्रम करता रहता है, सदैव
दरिद्र बना रहे और उसे आजीविका की न्यूनतम आवश्यकतायें तक प्राप्त न
हो। फेबियनवादी यह नहीं चाहते थे कि वेतनभोगी श्रमिकों का पृथक वर्ग
माना जाय और उसके हाथ में समाज के आर्थिक कार्य-कलापों तथा राजनीतिक
कार्यों का दायित्व सौंपा जाये। प्रत्युत ऐसा दायित्व वे सम्पूर्ण समाज अर्थात्
उसके प्रतिनिधि राज्य को सौंपना चाहते हैं, जो स्वयं श्रमिकों तथा जनसाधारण
के हितों का ध्यान रखेंगे। कोकर ने उनकी धारणा को उद्धृत करते हुए लिखा
है, "हमने कभी यह दावा नहीं किया कि हम देश के श्रमिक वर्ग के प्रतिनिधि
हैं।" वास्तव में फेबियनवादी समाज के समस्त उत्पादन को किसी व्यक्ति या
व्यक्ति समूह को नही देना चाहते वरन् उसे सम्पूर्ण समाज को देना चाहते हैं।
वे पूर्व के स्वामियो को नि.स्वाम्यकरण बिना प्रतिकर दिये भी नही करना
चाहते, प्रत्युत राष्ट्रीय संसद को ऐसा निर्णय करने की शक्ति देना चाहते हैं,
जैसी वह उन्हे सहायता के रूप में देना चाहे।

3. उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की नीति—फेबियनवादी यह मानते हैं कि
वर्तमान स्थिति में पूँजीपति वर्ग उद्योगों का संचालक तथा प्रशासक नही रह
गया है। अपितु यह कार्य पूँजीपतियों के हाथ से उनके द्वारा नियुक्त वेतनभोगी
प्रबन्धकों के हाथ में चला गया है। पूँजीपति उद्योग से होने वाले लाभ के
रूप में केवल किराया तथा ब्याज वसूल करने वाले रह गये हैं। यह लाभ सम्पूर्ण
समाज के द्वारा सृजित किया जाता है। पूँजीपति वर्ग को उद्योग पर एकाधिकार
स्थापित करने की सुविधा प्रदान करता है। यही स्थिति संयुक्त प्रयास कम्पनियों,
न्यासों तथा मिश्रित प्रयासों की है। इनसे जो लाभ होता है, वह लाभ के सृष्टाओं
को नही मिल पाता। अतएव इन सबका नियन्त्रण सम्पूर्ण समाज के हाथ में
रहना चाहिए और समाज अपनी सत्ता के द्वारा इनका संचालन कराये। फेबियन

फेबियनवादी राज्य को जनता का प्रतिनिधि एवं संरक्षक, जनता का अभिभावक, पथप्रदर्शक, पुरस्कर्ता, अधिक यहां तक कि उसका साहूकार भी मानते हैं। वे राज्य को एक इकाई स्वीकार करते हुए उसके शासनतन्त्र को भी शिक्षा-दीक्षा द्वारा कुशल बनाये जा सकने की धारणा व्यक्त करते हैं। साथ ही वे जनतान्त्रिक ढंग से कार्य करने वाली स्थानीय शासन संस्थाओं के माध्यम से अनेक छोटे-छोटे स्थानीय उद्योगों के संचालित किये जाने की नीति का समर्थन करते है, इस दिशा में इन्होंने श्रेणी समाजवाद को प्रभावित किया।

4. नैतिकता पर बल—फेबियनवाद हिंसा तथा क्रान्ति मे विश्वास नहीं करता है। अतः फेबियनवादियों ने नैतिकता के आधार पर समाजवाद का औचित्य प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। व्यक्तिवादियों ने नैतिकता के आधार पर व्यक्तिवाद का समर्थन करने में व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन किया था। सिडनी ओलिविर, जो एक फेबियनवादी था, समाजवाद के औचित्य को भी नैतिकता के आधार पर व्यक्त करता है। उसने पूंजीवाद की अनैतिक प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए बताया है कि श्रमिकों की गरीबी, अज्ञानता तथा असहाय स्थिति मे पनपती है जब कि श्रमिक लोग सत्य-निष्ठा तथा, सदाचरण का जीवन व्यतीत करते हुए भी गरीब बने रहते हैं। पूंजीपति वर्ग अनैतिकता, धोखेबाजी तथा चालबाजी के द्वारा जीवित रहता है। विलियम क्लार्क की धारणा थी कि आधुनिक मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की धारणायें अवश्य लोकतन्त्री सिद्धान्तों पर आधारित है, परन्तु इनके कारण आर्थिक एकाधिकार को जो बढ़ावा मिलता है वह लोकतन्त्र से संगति नहीं रख सकता। सिडनी ओलिविर ने बताने का प्रयास किया कि समाजवाद व्यक्तिवाद की ही उपज है। इसे व्यक्तिवाद का विवेकपूर्ण संगठित तथा सही मत कहा जाना चाहिए। इसका उद्देश्य भी व्यक्ति का हित है। फेबियनवादी-नैतिकता उनकी इस धारणा से प्रकट होती है कि व्यक्ति व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का लाभ समाज के अन्य सदस्यों का अहित करके तथा उनके द्वारा सृजित उत्पादन का उपभोक्ता बनकर करता है, तो उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का कोई नैतिक औचित्य नहीं हो सकता। श्रीमती ऐनी बीसेन्ट, जिन्होंने भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन का भी नेतृत्व किया था और थियोसोफिकल सोसाइटी की सदस्या थीं, फेबियन सोसाइटी की भी एक सदस्या थी। उन्होंने समाज के एक वर्ग की गरीबी की तीव्र भर्त्सना की थी कि पूंजीपति वर्ग की स्वर्ण की भूख का अन्त करना चाहती थीं। उन्होंने मानवीय नैतिकता के आधार पर पूंजीवाद की समाप्ति करने का आह्वान दिया ताकि निर्धन श्रमिक वर्ग को कम से कम जीव

की मौलिक आवश्यकतायें सुलभ हों और ये अनुभव करें कि वे संघर्ष जीवित रहने का अवसर प्राप्त करने मात्र के लिए नहीं कर रहे हैं, वरन् जीवन का सही उपभोग करने के लिए कर रहे हैं। यह तभी सम्भव है जब कि आर्थिक कार्य-कलाप उस समाज के नियन्त्रण में आ जायें, जो मूल्य का स्रष्टा है।

फेबियनवाद के साधन

समाजवाद के दो रूप हैं—विकासवादी तथा क्रान्तिवादी। यदि मार्क्सवाद तथा उस पर आधारित विचारधारायें हिंसात्मक साधनों का प्रयोग करके समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करना चाहती हैं, तो फेबियनवाद से प्रभावित समाजवादी विचारधारायें लोकतन्त्री ढंग से तथा वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करके शनैः शनैः समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना चाहती हैं। अतः फेबियनवाद विकासवादी समाजवाद का जनक है। कोकर ने कहा है कि फेबियन सोसाइटी ने सिद्धान्त क्षेत्र में उतना योगदान नहीं किया, जितना कि व्यावहारिक क्षेत्र में फेबियन सोसाइटी के कार्यकर्ताओं ने अपनी प्रतिभा तथा बुद्धिमत्ता से ब्रिटेन की आर्थिक तथा सामाजिक अवस्थाओं के सम्बन्ध में तथ्य एकत्र किये और उनकी व्याख्या की। इसके कारण ब्रिटेन की राष्ट्रीयता तथा स्थानीय सरकारों ने शनैः शनैः और सावधानी के साथ समाजवाद को एक उदार ढंग का व्यावहारिक रूप प्रदान किया। फेबियनवाद के साधनों को निम्नांकित क्रम में रखा जा सकता है—

1—प्रचार साहित्य तथा सार्वजनिक भाषणों द्वारा जनता के समस्त वर्गों में समाजवाद के सिद्धान्तों तथा व्यवस्था के सम्बन्ध में चेतना जागृत करना तथा इस पर उनकी आस्था उत्पन्न करना। यह कार्य फेबियन सोसाइटी ने प्रचुर मात्रा में किया और उसके द्वारा जनमत को जागृत किया।

2—लोकतन्त्री ढंग से निर्मित संस्थाओं को बनाये रखना तथा उनके लोकतन्त्री स्वरूप को अधिक विकसित तथा प्रभावशाली बनाना ताकि वे समाज की सत्ता, संरक्षक तथा अभिभावक के रूप में सम्पूर्ण समाज के हित में कार्य करें। इस दृष्टि से फेबियनवाद निवर्तमान राजनीतिक संस्थाओं को समाप्त करने और उनके स्थान पर एकदम नयी व्यवस्था की स्थापना करने का विरोधी है।

3—श्रमिक वर्ग के जीवन को अधिक सुखी बनाने के उद्देश्य से राष्ट्रीय संसद को विधि-निर्माण द्वारा श्रमिकों के कार्य के घण्टों में कमी करना, उन्हें बेकारी के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करने, उसके स्वास्थ्य तथा सुरक्षा की व्यवस्था

करने, न्यूनतम वेतन का निर्धारण करने, उनके बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था करने, ग्रादि का ग्राह्वान करना।

4—सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाग्रों तथा एकाधिकारों पर राष्ट्रीय सरकार तथा स्थानीय सरकारों द्वारा ग्रपना स्वाम्य स्थापित करने की संस्तुति देना। निःस्वाम्यकरण किये गये तत्वों की क्षतिपूर्ति या सहायता देने के विषय में राष्ट्रीय या स्थानीय सरकारें समुचित विधि का निर्माण करेंगे।

5—राज्य द्वारा उत्तराधिकार पर कर तथा लगी हुई पूंजी पर ग्राय-कर की व्यवस्था की जाये।

संक्षेप में फेबियनवाद सुधारवादी तथा विकासवादी है। इसकी नीति समझाने-बुझाने तथा समझौते की है, न कि ग्रातंक पैदा करने की। ईवन्स्टीन के मत से, फेबियनों की समझौतों की नीति इस धारणा पर ग्राधारित थी कि ग्राप किसी विवेकपूर्ण व्यक्ति को एक मिनट के प्रबुद्ध तर्क-वितर्क, व्याख्यान या संवेगात्मक प्रत्यावेदन से परिवर्तित नहीं कर सकते। फेबियन नीति ग्रपने श्रोताग्रों के मनों तथा भावनाग्रों पर धीमी तथा क्रमिक प्रक्रिया द्वारा, न कि एकाएक उन्हें परिवर्तित करने के उद्देश्य से, कार्य करती है। यह भी सामाजिक तथा ग्रनौपचारिक ग्रवसरों पर, न कि ग्रौपचारिक तथा सरकारी ग्रवसरों पर। "पूंजीपतियों के विनाश के लिए भी वे बलप्रयोग तथा हिंसा का प्रयोग न करके शिक्षा दीक्षा द्वारा ग्रप्रत्यक्ष रूप से हृदय परिवर्तन करने की नीति ग्रपनाते हैं। समाजवाद पर ग्रटूट विश्वास रखते हुए भी वे मार्क्सवादी नहीं थे। वे निवर्तमान राज्य को न समाप्त कर देना चाहते थे ग्रौर न वे इस बात पर विश्वास करते हैं कि समाजवाद की स्थापना हो जाने पर राज्य तिरोहित हो जायेगा ग्रौर न ही वे संक्रान्तिकाल में श्रमिकों के ग्रधिनायकवाद के ग्रौचित्य की स्थापना के ग्रौचित्य को मानते हैं। इस प्रकार फेबियनवादियों ने न केवल समाजवाद को सम्मानजनक बनाया, ग्रपितु उन्होंने इसे लगभग एक फैशन बना दिया, ग्रतः उनकी धारणा के समाजवाद पर ग्राचरण विद्रोहात्मक होने से दूर रह कर एक वास्तविकता बन गया।"

मूल्यांकन तथा ग्रालोचना

फेबियनवादी समाजवाद की धारणाग्रों पर मार्क्स के विचारों का पर्याप्त प्रभाव था, परन्तु फेबियन समाज के नेता न तो समाजवाद की मार्क्सवादी सैद्धान्तिकता को मानते थे ग्रौर न उनके साधनों पर विश्वास करते थे। वे समाज-

वाद की सैद्धान्तिक हठधर्मिता को स्वीकार नहीं करते। वे उनकी व्यावहारिकता के विषय में अधिक बल देते हैं। ब्रिटेन सदृश देश की जनता जो जनतन्त्र में वि विश्वास रखती है और जनतन्त्र को मूलतः आध्यात्मिक मानती है और उस सामना भी आध्यात्मिक स्तर पर करना चाहती है, वह आध्यात्मिकता, नैति और आदर्शवाद को समनार्थक मानती है। वह सब कुछ आध्यात्मिक, नै और आदर्श हैं जो मनुष्यों, जातियों, वर्गों और राष्ट्रों को एक दूसरे के स लाकर एक समग्र मानव-जाति के निर्माण में सहायता दे। अतः वहाँ जन का शनैः शनैः विकास हुआ है। सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था में परिव लाने के लिए क्रान्तिकारी तथा हिंसात्मक विद्रोह के साधनों को कभी भी स्वी नहीं कर सकती थी। इसे स्वयं मार्क्स तक ने स्वीकार किया था। उदारव व्यक्तिवादी के दुष्परिणाम भी प्रकट होने लगे थे। ऐसे स्थिति में फैबि वादियों ने विकासवादी तथा शान्तिपूर्ण साधनों से भी समाजवाद की स्था किये जाने के विषय में जनमत को विकसित करने में महत्वपूर्ण योगदान कि यद्यपि फैबियनवादी न तो किसी राजनीतिक दल के सदस्य थे और न उनका कोई राजनीतिक कार्यक्रम था, तथापि उनकी विचारधारा ने श्र दल के निर्माण तथा विकास को प्रोत्साहित किया और तत्कालीन उदार दल प्रायः समाप्ति हो गयी। भले ही रुढ़िवादी दल पूंजीवादी समर्थक माना जा तथापि फैबियनवाद का प्रभाव उनके ऊपर भी किसी न किसी रूप में अ पड़ा है और जब कभी वह दल सत्तारूढ़ होता है तो वह समाजवादी कार्य का पूरा विरोध नहीं कर पाता। श्रमिक दल वस्तुतः ब्रिटेन का समाजवादी ही है और उसकी नीतियों पर फैबियनवाद की स्पष्ट छाप है।

फैबियनवाद का सबसे महत्वपूर्ण योगदान यह है कि उसने विश्व के जनत प्रेमी देशों को जनतन्त्री तथा विकासवादी साधनों से समाजवाद की स्था हो सकने के विषय में आश्वस्त किया है। वर्तमान समय में विश्व के अधि देश, जो विकासवादी समाजवाद पर आस्था रखते हैं, फैबियनवादी नीतियों ही अपना रहे हैं। इस प्रकार फैबियनवाद जनतन्त्र समाजवाद या राज्य सम वाद का अग्रणी सिद्ध हुआ है। भले ही मार्क्सवाद को वैज्ञानिक समाजवाद मा वाले फैबियन पद्धति की बुद्धिमता पर सन्देह करें, तथापि मार्क्सवाद का अनुस करके जिन देशों में क्रान्ति द्वारा साम्यवादी व्यवस्थायें स्थापित की गयी हैं, का अनुभव भी यही बताता है कि वहां एकदलीय अधिनायकवाद अनिश्चित का तक बना रहेगा। इसके विपरीत फैबियनवाद पर आधारित समाजवादी

[illegible] की [illegible] का अनुसरण करने से [illegible] भी स्वतन्त्रता [illegible] पर भी बल देती रहती है। वास्तव में लोक-तन्त्रवादी समाज का आदर्श [illegible] जा रहा है। यह भी फैबियन आदर्श की देन है। इस प्रकार फैबियनवाद एक व्यक्तिवाद तथा क्रान्तिकारी समाजवाद के मध्य सामंजस्य स्थापित करके दोनों की अच्छाइयों को ग्रहण करता है।

इन गुणों के होते हुए भी फैबियनवाद की अनेक तर्कों के आधार पर आलोचना की जाती रही है। फैबियनवाद सैद्धान्तिक कम है और व्यावहारिक अधिक तथा फैबियनवाद के विरोध में जो तर्क दिये जाते हैं वे सैद्धान्तिक अधिक हैं। किसी भी आन्दोलन या कार्यक्रम का सही आधार बिना उसके पीछे किसी दार्शनिक सिद्धान्त के औचित्यपूर्ण सिद्ध नहीं होता। फैबियनवाद ऐसे किसी दार्शनिक सिद्धान्त पर निर्मित नहीं हुआ है जैसे कि मार्क्सवाद। फैबियनवाद समाज के अधिकांश सदस्य मध्यवर्गीय दृष्टिकोणी थे। वे श्रमिकों के कष्टों को गहराई से समझने और उनका स्थायी निवारण करने की आवश्यकता के प्रति उदासीन रहे। समाजवाद तथा उदारवादी व्यक्तिवाद के मध्य का मार्ग अपना कर वे समाजवादी नहीं रह पाये। प्रत्युत वे उदारवादी जनतन्त्र के समर्थक ही बने रहे जिसके अन्तर्गत जनतान्त्री संस्थाओं का अधिक प्रसार हो जाने से तथा श्रमिक वर्ग को अधिक मताधिकार प्राप्त हो जाने से उनकी समस्याओं के समाधान के लिए राष्ट्रीय संसद तथा स्थानीय संस्थाओं में कुछ वैज्ञानिक कार्यवाइयाँ की जा सकें। फैबियनवादी साधनों द्वारा पूँजीवादी शोषक वर्ग की समाप्ति सन्देहास्पद है। केवल शिक्षा-दीक्षा या जनमत के प्रभाव से उनका हृदय परिवर्तन नहीं हो सकता। शनैः शनैः वैधानिक कार्यवाइयों द्वारा भी अर्थव्यवस्था का राष्ट्रीयकरण प्रभावशाली ढंग से लागू नहीं हो सकता। वेब ने कहा था कि फैबियनवाद समाजवादी विचारों को समाज के सभी वर्गों के पास पहुँचाना चाहता है और उनके मस्तिष्क को बदलना चाहता है। लेकिन क्या समाजवादी विचारों की आवश्यकता बुर्जुआ वर्ग के लिए है? एंगेल्स ने उन्हें धार्मिक युग का उपदेशक माना है जो कि क्रान्ति से डरते हैं।

फैबियनवादी उत्पादन के साधनों के स्वामी, पूंजीपतियों, उद्योगपतियों या भूस्वामियों को, जिनका निःस्वाम्यकरण कर दिया जायेगा, क्षतिपूर्ति देने की धारणा व्यक्त करते हैं। यदि पूर्ण क्षतिपूर्ति की जाती है तो उसका निर्धारण करने की समस्या आयेगी। बाजार भाव के अनुसार उसकी धनराशि बहुत अधिक होगी, राज्य को इसके लिए बहुत कर लगाने पड़ेंगे। यदि धनी वर्ग ने समाज की सम्पत्ति को हथिया रखा था तो निःस्वाम्यकरण के निमित्त उन्हें क्षतिपूर्ति देने का प्रश्न क्यों

उठाया जाता है ? इसका अर्थ यह हुआ कि शोषकों की अचल सम्पत्ति समाज क्रय करके उन्हें चल सम्पत्ति देकर धनी बनाये रखेगा और लम्बे समय तक समाज को निर्धनता, महगाई तथा ऋणों की स्थिति का सामना करने देगा। शोषक वर्ग को ऐसी सुविधा देना समाजवाद नहीं है । यह अधिक से अधिक समाज की अर्थ व्यवस्था का कुछ लोकतन्त्रीकरण करके उसमे कुछ सुधार लाना मात्र है।

फैबियनवादी न तो समाजवाद के स्पष्ट वक्ता थे और न उनमे समाजवादी व्यवस्था लाने के प्रति सत्यनिष्ठ उत्कण्ठा थी । प्रो० बार्कर ने कहा है "फैबियन समाज समाजवादी संगठन का सबसे कम स्पष्ट व अनिश्चित सिद्धान्त है। व्यावहारिक रूप में तथा सिद्धान्त मे यह एक झूठे झण्डे के नीचे है जो अपने उद्देश्यों के विषय मे कोई सन्देह प्रकट नही करना चाहता" । फैबियन अपनी सफलता के लिए केवल चालाकी पर निर्भर करते हैं । लेकिन फिर भी समाजवादी इतिहास में इसको स्थान प्राप्त है । फैबियनवाद की देन यही है इसने समाजवाद को बौद्धिक धरातल दी और जो व्यक्तिवाद और साम्यवाद से चिढे हुए थे उन्हें समाजवाद की ओर गम्भीरता से सोचने के लिए बाध्य किया । एलेक्जेंडर ने ठीक ही कहा है कि भावी पीढ़ियो की शीतल आखें फैबियनवाद के अनेक सिद्धान्तों को मृतप्राय गाईफाक्स के कागजी पटाखो की सज्ञा देगी लेकिन यह मानना पड़ेगा कि कम से कम विक्टोरिया युग के व्यक्तियों को फैबियनों ने यह आवश्य दिखाया कि किसी भी प्रश्न की गम्भीरता समझने के लिए कुछ खोदने और तह मे जाकर कुछ प्राप्त करने की सदा सम्भावना बनी रहती है । अन्त में इस बात से भी मना नहीं किया जा सकता कि व्यावहारिक क्षेत्र मे इन्होने पर्याप्त योगदान दिया जैसा कि प्रो० कोकर ने लिखा है, कि यह कहा जा सकता है कि फैबियन सोसायटी ने सिद्धान्त क्षेत्र में उतना योगदान नही दिया, जितना कि व्यावहारिक क्षेत्र मे जिस परिश्रम और बुद्धिमत्ता के साथ उन्होने ग्रेट ब्रिटेन की आर्थिक एवं सामाजिक अवस्था के सम्बन्ध मे तथा एकत्र करके उनकी व्याख्या की है, उसी के कारण ब्रिटेन की राष्ट्रीय तथा स्थानीय सरकारें शनैःशनैः और सावधानी के साथ समाजवाद के एक नरम रूप को व्यावहारिक रूप दे सकीं ।

समष्टिवाद

समष्टिवाद विकासशील समाजवादी विचारधारा का ही एक अंग है। इसे कई नामों से सम्बोधित किया जाता है जैसे राज्य समाजवाद, सपर्यवाद, लोकतान्त्रिक समाजवाद, समाजवादी लोकतन्त्र, समूहवाद। समष्टि का अर्थ "समग्र"

होता है। अतएव समष्टिवाद का अर्थ समाज को महत्व देने वाला सिद्धान्त होगा। इस वाद में उद्देश्यों की प्राप्ति शान्तिमय, सांविधानिक तथा बिना किसी रक्तपात के धीरे-धीरे होनी है। इनसाइक्लोपिडिया ब्रिटेनिका के ग्यारहवें संस्करण में समष्टिवाद की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि समष्टिवाद वह नीति या सिद्धान्त है जिसका लक्ष्य किसी केन्द्रीय जनतान्त्रिक शक्ति की कार्यवाई द्वारा अच्छे वितरण की व्यवस्था करना है और उसी शक्ति की अधीनता में धन की उत्पत्ति की वर्तमान से अच्छी व्यवस्था करना है। इस परिभाषा के अन्तर्गत राज्य में समाजवाद के दो प्रमुख तत्वों का ज्ञान होता है। प्रथम, यह एककेन्द्रीय लोकतन्त्री सत्ता अर्थात् राज्य को अपने लक्ष्य की प्राप्ति का प्रमुख साधन मानता है और द्वितीय, यह उत्पादन तथा वितरण प्रणाली में वर्तमान की उपेक्षा सुधार चाहता है। यह द्वितीय लक्ष्य समाज की अर्थव्यवस्था से सम्बन्ध रखता है और पूंजीवादी या व्यक्तिवादी व्यवस्था के अन्तर्गत इसके दोषों को दूर करके इसे समाजवादी सिद्धान्तों के अनुरूप बनाना राज्य समाजवाद का लक्ष्य है। इस दृष्टि से यह क्रान्तिवादी समाजवादों—मार्क्सवाद, साम्यवाद, श्रम संघवाद, क्रान्तिकारी, अराजकतावाद आदि से भिन्न है क्योंकि ये व्यवस्थायें राज्य विरोधी हैं और इनका परम्परागत लोकतन्त्र में भी विश्वास नहीं है। यह विचारधारा वर्ग संघर्ष पर विश्वास नहीं करती। इसके अनुसार समाज के विभिन्न आर्थिक वर्ग एक दूसरे पर आश्रित हैं, न कि एक दूसरे के शत्रु। आवश्यकता इस बात की है कि समाज की सत्ता इनके मध्य सम्बन्धों में और अच्छा समन्वय स्थापित करे ताकि वे सम्पूर्ण समाज के हितों का ध्यान रख कर परस्पर सहयोग स्थापित करके अपना कार्य कर सकें। समष्टिवाद किसी एक वर्ग को महत्वपूर्ण मान कर तथा एक दूसरे का विनाश करके वर्गविहीन समाज के नाम पर केवल एक ही वर्ग को सब कुछ नहीं मानता। यह समाज के सभी वर्गों के हितों को ध्यान में रखते हुए उत्पादन तथा वितरण व्यवस्था का राज्य द्वारा ऐसा नियमन किया जाना चाहता है जिसके द्वारा व्यक्ति व्यक्ति के मध्य अत्यधिक आर्थिक विषमता न रहे और प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार श्रम करे और प्रत्येक को उसके श्रम के अनुसार लाभ प्राप्त हो। किसी भी स्वस्थ व्यक्ति को जो श्रम-जीवी है अपनी आजीविका के लिए दूसरे के शोषण का शिकार न बनना पड़े। केन्द्रीय राजनीतिक सत्ता लोक-कल्याणकारी राज्य का आदर्श अपना कर समाज में प्रत्येक व्यक्ति के श्रम तथा लाभ को सुनिश्चित बनाये रखे। प्रो० एली के अनुसार समष्टिवादी वह है *जो कि समाज को ऐसे राजनीय संगठन के रूप में देखता है जिस संगठन का उद्देश्य* आर्थिक वस्तुओं का और अधिकार पूर्ण वितरण तथा मानवता को ऊँचा उठाना है।

गटल के अनुसार राज्य समाजवादी समुदाय का जनतान्त्रिक आधार पर नीतिक सगठन चाहते है और राज्य को भूमि, पूजी एवं उत्पादन के साधन स्वामी बनाना चाहते हैं तथा जनहित के लिए राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार चाहते है । मारिस हिलक्विट के अनुसार राज्य समाजवाद वह व्यवस्था है सरकारी स्वामित्व का प्रयोग एक लोकतान्त्रिक पग के रूप मे लोगों के लाभ के न किया जाकर सरकार की आय को बढाने और उसकी सैन्य शक्ति को सुदृ के लिए किया जाता है। फ्रान्सीसी लेखक मिलरेण्ड के शब्दो मे, "पूजीवादी स के स्थान पर सामाजिक सम्पत्ति को आवश्यक एवं प्रगतिशील ढग से करना स वाद है।" कोकर के शब्दो में, "समष्टिवाद भी वैसा ही अस्पष्ट शब्द है जैसा स वाद । ···जिस अर्थ मे हम इस शब्द का प्रयोग करते हैं, एक ओर समाजवादियो के आर्थिक नियतिवाद, श्रम निर्मित मूल्य तथा वर्गयुद्ध के सिद्धान्तों को अस्वीका करता है कि सम्पत्ति के भेद के कारण समाज में विविध एव प्रायः विरोधी राज नीतिक दलों का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु वह वर्गों के स्पष्ट भेद को तथा उन निरन्तर शत्रुता को नही मानता ।"

समष्टिवादी चिन्तन की ऐतिहासिक पृष्ठिभूमि

19वी शताब्दी के आरम्भ के मध्य में अधिकांश व्यावसायिक अर्थशास्त्री व्यक्तिवाद के सिद्धान्त को प्राय स्वीकार करते थे । उनका कथन था कि (1) पूजी स्वाभाविक रूप मे ऐसे उद्योगो की ओर प्रवृत्त होती है जिनमे उसके सर्वा से अधिक वृद्धि हो, (2) अनियमित प्रतियोगिता के कारण कीमतें इतनी कम हो जाती हैं कि वे लगभग लागत के बराबर स्तर पर आ जाती हैं, (3) आजीवि के लिए कम से कम जितने परिश्रम की आवश्यकता है निष्कटक रूप से नहीं बा जा सकती, और (4) जब प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों की अभिवृद्धि बिना कि राजकीय अनुदान या प्रतिबन्ध के स्वय करता है तो वह अपने सार्वजनिक हि की वृद्धि सर्वोत्तम ढग से करता है । लेकिन कालान्तर मे अधिकाधिक सशय उत्प आया है ।

व्यक्तिवादी सिद्धान्तो की आलोचना 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे नैतिक अर्थशास्त्रियो के जर्मन विचारक सूजो ब्रेन्टानो कार्ल बुचर, अडाल्फ एडोल्फ वैगनर, जी० एफ० नैप, गारेंज वान स्टीन, एलबर्ट शैफल को मुख्य रू गिनाया जा सकता है । इस सम्प्रदाय के नेता गस्टव वान श्मोलर थे । प्रमुख रा नीतिक अर्थशास्त्रियों ने सामाजिक राजनीतिक संघ की स्थापना की । इस सघ

को उपहासात्मक ढंग से व्यावसायिक समाजवादी या शैक्षणिक समाजवादी भी कहा गया।

19वीं शताब्दी के इन जर्मन अर्थशास्त्रियों ने परम्परागत राजनीतिक अर्थशास्त्रियों की कटु आलोचना की और बताया कि अनुभव से दूर जाकर विचार करने की उनकी प्रवृति है। इन्होंने उनकी इस मान्यता को चुनौती दी कि प्राकृतिक नियमों को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने देने तथा वैयक्तिक हित को अनियन्त्रित छोड़ देने से सामाजिक लाभों का वितरण, व्यक्तियों की योग्यता एवं प्रयत्न का अनुरूप होता है। इन राजनीतिक अर्थशास्त्रियों ने बताया कि अर्थशास्त्र को अपने परिणाम इतिहास तथा व्यक्तिगत पर्यवेक्षण द्वारा प्राप्त तथ्यों के आधार पर निकालने चाहिए। इन राजकीय समाजवादियों ने इस बात पर जोर दिया कि सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पादन से सम्बन्धित नहीं है, वरन् समस्या के मूल में वितरण व्यवस्था है जिसके समाधान के लिए शासन का व्यापक विस्तार आवश्यक है। कोकर के अनुसार "उनके सिद्धान्त प्रणाली में यथार्थवादी होते हुए भी लक्ष्य में स्पष्टत नैतिक थे। राजनीतिक अर्थशास्त्र के, जैसा उसे वे समझते थे, व्यावहारिक तथा नैतिक लक्ष्य थे, अर्थात् यह बतलाना कि सम्पत्ति वितरण न्याय के सिद्धान्तों के अनुकूल कैसे हो सकता है और वैयक्तिक स्वार्थ को समाज के हित के अधीन किस प्रकार किया जा सकता है। उनका यह विश्वास था कि उनके आर्थिक नीतिशास्त्र का यथार्थवादी आधार था। वह यह मानते थे कि आधुनिक राज्य सांस्कृतिक नैतिक तथा आध्यात्मिक एकता की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के रूप में विकसित हुआ है, जो राष्ट्रीय समाज के विभिन्न वर्गों एवं व्यक्तियों में विद्यमान भाषा, शिष्टाचार एवं संस्थाओं की एकता में स्पष्ट है और जो उनके आर्थिक भेदों को पीछे छोड़ देती है। अत प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के स्वतन्त्र और स्वाभाविक कार्यों के विपरीत मानना या मार्क्सवादियों का अनुसरण करना जिन्होंने जनतन्त्रीय राज्य को सम्पत्ति के स्वामियों का प्रतिनिधित्व माना, मिथ्या एवं भ्रमजनक है।"

समष्टिवाद के उद्देश्य

समष्टिवाद एक शोषणविहीन और वर्गविहीन समाज की स्थापना पर बल देता है। सार रूप में इसके लक्ष्य को निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर निर्धारित किया जा सकता है। ये बिन्दु निम्नलिखित है :—

1. उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व की समाप्ति,
2. प्रमुख उद्योगों एवं सामाजिक सेवाओं पर सामाजिक नियन्त्रण।

3. उत्पादन का सामान्य आवश्यकताओं के आधार पर निर्धारण।
4. समाज में व्यक्तिगत लाभ की भावना के स्थान पर सार्वजनिक लाभ की भावना का बढ़ावा।
5. समाज-में प्रतियोगिता के स्थान पर सामूहिक सहयोग की भावना पर बल।
6. राजनीतिक और आर्थिक पक्षों की समान रूप से पुष्टि।
7. निर्धन वर्ग और विशेष तौर पर श्रमिकों की न्यूनतम दरों का निर्धारण।
8. उत्पादन के मुख्य साधनों पर केन्द्रीय जनतान्त्रिक सत्ता का नियन्त्रण।
9. उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शान्तिमय रक्तहीन और क्रमिक उपायों का आश्रय।
10. वर्ग संघर्ष के स्थान पर वर्ग सामन्जस्य पर जोर; और
11. जन तन्त्र एवं व्यक्ति की स्वतन्त्रता में अटूट विश्वास।

समष्टिवादी अपने इन उद्देश्यों के औचित्य को निम्नलिखित कारणों से सिद्ध करते हैं (1) उनका प्रबल प्रहार पूंजीवाद एवं उस पर आधारित समाज व्यवस्था पर है। उनका कथन है कि पूंजीवादी व्यवस्था भयंकर आर्थिक विषमताओं को जन्म देती है। इसके कारण एक ओर केवल वर्ग संघर्ष की ज्वाला प्रज्वलित होती है। मनुष्यों में मनोमालिन्य, घृणा, ईर्ष्या एवं विषाद् को जन्म मिलता है तथा दूसरी ओर दु:ख, दारिद्र्य, भूख, शोषण बढते जाते हैं। उनके कहने का अर्थ यह है कि समाज मे सन्तुलन समाप्त हो जाता है और मनुष्य कष्टमय जीवन व्यतीत करते है।

समष्टिवादी जनतन्त्र को पूर्ण देखना चाहते हैं और इसलिए जैसा कि प्रो० जी० डी० एच० कोल ने कहा है, "इनकी मान्यता है कि आर्थिक स्वतन्त्रता के अभाव मे राजनीतिक स्वतन्त्रता व्यर्थ ही नही, एक धोखा भी है।"

समष्टिवाद के प्रमुख सिद्धान्त

समष्टिवाद, समाजवाद का ही रूप है, अतएव उनका विकास समाजवाद एवं फैबियनवाद की भांति हुआ है। यह भी व्यक्तिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। व्यक्तिवाद द्वारा आर्थिक क्षेत्र मे असीम स्वतन्त्रता मिल जाने से पूंजीवाद तथा साम्राज्यवाद का विकास हुआ था। परिणामस्वरूप शोषण, अपव्यय, पतन, अत्या-

1 सामाजिक क्रिया कलापों के केन्द्र में राज्य

[illegible] राज्य को एक आवश्यक बुराई न मानकर राज्य को एक आवश्यक [illegible] है। इसीलिए आदर्शवादी राज्य का [illegible] नहीं करना चाहते। [illegible] पर पूर्ण विश्वास है। राज्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करता अपितु वह उसे प्रदान करता है और अधिकारों की रक्षा करता है। [illegible] के शब्दों में 'राज्य का अस्तित्व केवल अपनी शक्ति बनाए रखने के लिए नहीं होता अपितु इसलिए होता है कि उसके सभी सदस्य व समाज [illegible] हो।' [illegible] व्यवस्था में पूँजीवाद का समापन किया जाए तथा उत्पादन एवं आर्थिक व्यवस्था का संचालन राज्य के द्वारा हो। इस प्रकार राज्य समाजवाद में राज्य का क्षेत्र बढ़ जाता है और जनता के बौद्धिक, आर्थिक एवं नैतिक विकास को प्रोत्साहित किया जाता है। राज्य वे सभी कार्य करता है जिनसे जनता का भला हो। इस प्रकार राज्य का उदय जीवन की आवश्यकताओं के लिए हुआ था और उसका अस्तित्व अच्छे जीवन के लिए हुआ था और उसका अस्तित्व अच्छे जीवन के लिए विद्यमान है। अच्छे जीवन की निरन्तरता हेतु राज्य का निरन्तर बना रहना आवश्यक है। अतः [illegible]वादी राज्य के स्थायित्व में विश्वास रखते हैं और मार्क्सवादियों की भाँति कालान्तर में इसके लोप होने में विश्वास नहीं करते।

राज्य के द्वारा समाज में किये जाने वाले कार्यों तथा उसके प्रति दृष्टिकोण को बार्कर ने इन शब्दों में व्यक्त किया है कि इनके अनुसार जनतन्त्रीय राज्य अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधि होता है और वह अन्य सामाजिक

संस्थाओं की अपेक्षा आधुनिक औद्योगिक समाज के पेचीदा हितों के साथ अधिक सहानुभूतिपूर्वक तथा प्रभावकारी ढंग से व्यवहार करने में समर्थ है। जनतन्त्रीय राज्य का स्वाभाविक कार्य समूचे राष्ट्र के भौतिक हितों की अभिवृद्धि एवं परोपकारितापूर्ण एवं न्यायपूर्ण व्यवहार के राष्ट्रीय आदर्शों की रक्षा करके व्यक्तिगत कार्यों को सीमित करना तथा उनकी कमी को पूर्ति करना है। वह दुर्बलों की सहायता तथा सबलों के अन्यायों का दमन करता है और ऐसी सांस्कृतिक सुविधायें प्रदान करता है जो अकेले व्यक्तियों तथा छोटी संस्थाओं के द्वारा सम्भव नहीं है। वर्तमान राज्य सभ्य देशों में इस प्रकार के कार्य कभी से करने लगे हैं। वे आश्रितों की व्यवस्था करते हैं। महिलाओं व शिशुओं के श्रम पर मर्यादा लगाते हैं, मादक पदार्थ निषेध की व्यवस्था करते हैं। शिक्षा को व्यवस्था व संचार व यातायात का प्रबन्ध करते हैं और देश की स्वाभाविक सम्पत्ति की रक्षा करते हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत आर्थिक जीवन में जो प्रवृत्तियाँ मिलती हैं जिससे बड़े पैमाने पर उद्योगों का विकास और उसके परिणामस्वरूप औद्योगिक प्रबन्ध का केन्द्रीयकरण करते हैं। उनके कारण भविष्य में सार्वजनिक आर्थिक कार्यों का विस्तार स्वाभाविक होगा। राष्ट्रीय सरकार स्वयं उन सेवाओं के लिए प्रबन्ध करेंगी जो परमावश्यक एवं स्थायी हैं और जिनके लिए एकीभूत शासन प्रबन्ध की आवश्यकता है। सम्पत्ति के समुचित वितरण हेतु अधिकाधिक कर लगाने का प्रबन्ध किया जायगा। सैद्धान्तिक समाजवादियों ने लगान, भाड़े, ब्याज अथवा लाभ का निषेध नहीं किया और न उन्होंने वेतन प्रणाली का अन्त कर देने के लिए कहा। उनका यह विश्वास था कि समुचित अवसरों पर राज्य को लाभ पर मर्यादा लगा देनी चाहिए जिससे आय और प्रयास के मध्य समुचित सम्बन्ध स्थापित हो सके और राज्य को वेतन की कम से कम दर नियत कर देनी चाहिए, जिससे मजदूरों के जीवन की अवस्थाओं में सुधार हो। उनके विचार में यह सम्भव नहीं था कि व्यक्ति तथा राज्यों के कार्यों के मध्य में कोई स्पष्ट रेखा खींची जा सके। उन्होंने इस बात को जानने के लिए कि किस किस क्षेत्र में राजकीय हस्तक्षेप व्यक्ति के स्वयं कार्य करने की शक्ति के लिए तथा सामाजिक कल्याण के लिए हितकारी अथवा हानिकारक सिद्ध होगा अनुभव को ही पथ-प्रदर्शक माना।

(2) कल्याणकारी राज्य का आदर्श

मार्क्सवाद का विश्वास वर्ग संघर्ष में था। वे श्रमजीवी वर्ग के हित के लिए उत्पादन के साधनों पर प्रभुत्व रखना चाहते थे। समष्टिवाद में भी उत्पादन एवं

ान राज्य के हाथ मे होता है, किन्तु उसका उद्देश्य किसी विशिष्ट वर्ग का हित ोकर सम्पूर्ण समाज के हित की ओर है। समष्टिवाद मे वर्ग संघर्ष को बढ़ावा देकर वर्ग समन्वय एव परस्पर निर्भर होने के लिए कहा जाता है। यह पूजीवाद जड़ मे समाप्त करने के पक्ष मे नही है अपितु उद्योगो को धीरे-धीरे एव शान्ति- उपायो से समाज के नियंत्रण मे लेना चाहता है, मार्क्सवाद की भाति बन्दूक द्वारा नही। प्रो० कोकर ने जैसा कहा है कि समष्टिवादियो का दृष्टिकोण, क्तिवाद साम्यवाद दोनो से ही भिन्न है तथा यह राज्य को कल्याण- री संस्था मानते है जिनका लक्ष्य सार्वजनिक हित है। अत राज्य को केवल धात्मक कार्यो के स्थान पर सकारात्मक व सामाजिक सुरक्षा के कार्य करने ाहिए। स्पष्ट है कि समष्टिवाद राज्य को लोक-कल्याणकारी संस्था मानता है।

3) पूंजीवाद का विरोध

पूंजीपति बिना किसी परिश्रम के अधिकतम अर्जित करते है, श्रमिको ा शोषण करते हैं। कृषि, भूमि एव कारखानो पर अधिकार करके श्रमिको से अधिक श्रम कराते है। श्रमिको के पास धनाभाव होने से वे उत्पादन के साधनो को अपने ाथ मे नही ले सकते। अतएव उन्हें विवशता म शोषित होने के लिए तैयार रहना पड़ता है। पूजीपति केवल अपने लाभ के लिए अथवा वस्तुओं के दाम न गिर पायें, इसलिए उत्पादित वस्तुओ को जला देते हैं। वे निरीह एव निर्धन जनता के दु खो का ध्यान नही रखते। इस कारण समष्टिवादी पूजीपतियो का घोर विरोध करते हैं। जिन साधनों से पूजीपतियो को लाभ पहुँचता है उसे ही अपने हाथ मे ले लेते है। वे उत्पादन और वितरण के सभी साधनो पर राज्य एव समाज का प्रभुत्व स्थापित कर लेते है। समष्टिवादियो का कहना है कि पूंजीपतियो को राष्ट्रीय हित की चिन्ता नही होती। वे प्राकृतिक सम्पदा जैसे खनिज पदार्थ आदि का उपयोग स्वय के लाभ के लिए करते हैं। उन्हें भली भाति ज्ञात है कि यदि किसी उद्योग को कच्चा माल जैसे कोयला, लोहा आदि न मिले तो वे कार्य नहीं कर सकते। याता- यात के साधनो द्वारा वे लाभ कमाते है। इन्हीं कारणों से समष्टिवादी कच्च माल, खनिज पदार्थ आदि सभी प्राकृतिक साधनो के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे हैं। राज- नीतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ वे आर्थिक स्वतन्त्रता प्रत्येक व्यक्ति को देना चाहते है।

(4) उत्पादन तथा वितरण के साधनों का राष्ट्रीयकरण

समष्टिवादी मानते हैं कि सामाजिक समानता और आर्थिक न्याय तभी सम्भव है जब कि सभी उद्योगो का राष्ट्रीयकरण हो जाये। ये चाहते हैं कि उत्पा-

दन के सभी साधनों पर राज्य के स्वामित्व से लाभ राज्य कोष में होगा जिससे श्रमिकों को उचित वेतन मिलेगा तथा विकास की सुविधायें प्राप्त होंगी। ये वितरण व्यवस्था पर भी राज्य का नियन्त्रण चाहते हैं ताकि सारे समाज को उससे लाभ मिल सके। सारांश यह है कि उत्पादन और वितरण दोनों को ये व्यक्तियों के स्थान पर राज्य के अधीन देखना चाहते हैं।

(5) जनतन्त्र में विश्वास

जनता द्वारा निर्वाचित जनतन्त्रीय प्रणाली में समष्टिवादियों का विश्वास है। लोकप्रिय व्यक्ति निर्वाचित होने पर बहुमत के आधार पर शासन का संचालन करते हैं। ये संवैधानिक साधनों से पूंजीवाद की बुराई जनता के सामने प्रस्तुत करते हैं और जनता की इच्छा के अनुसार सर्वप्रथम भारी उद्योगों को सरकारी नियन्त्रण में लेते हैं। अपने विचार जनता तक पहुँचाने के लिए वे प्रचार के साधनों को अपनाते हैं। इसी कारण से समष्टिवाद को लोकतान्त्रिक समाजवाद भी कहा जाता है। ये जनता में पाये जाने वाले भेद-भाव को भी धीरे-धीरे समाप्त करते हैं। बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करके आय का समान वितरण करते हैं। श्रमिकों को काम करते समय सुख-सुविधा एवं सामाजिक सुरक्षा देने के पक्ष पर उनके जीवन स्तर में सुधार करने के प्रयास करते हैं।

(6) क्रान्तिकारी परिवर्तन के स्थान पर शान्तिमय साधन अपनाते जाते हैं

मार्क्सवाद की भांति समष्टिवादी भी पूंजीवाद को समाप्त करना चाहते हैं, किन्तु वे हिंसात्मक साधनों के स्थान पर संविधानिक एवं शान्तिमय साधनों को अपनाते हैं। जनतान्त्रिक उपायों द्वारा समाजवाद की स्थापना धीरे-धीरे करना चाहते है। उद्योगों को राज्य के अधीन लेने का कार्य एकदम न होकर जनमत को जाग्रत करके आवश्यक क्षतिपूर्ति देकर करते हैं। समष्टिवादियों का कार्य क्षेत्र संसद है। अतएव संसद के बहुमत द्वारा प्रस्तावित योजना को ही क्रियान्वित किया जाता है। यदि ऐसा नही किया गया तो विरोधी दल के पदारूढ होते ही वह पहले वाली सरकार के कार्यों को समाप्त कर देगा। वे सदैव स्थायी परिवर्तन में विश्वास रखते हैं। समष्टिवाद में भाषण, सगठन, एव संविधानिक कार्यों की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। जनतन्त्रीय शासन वयस्क मताधिकार के आधार पर स्थापित किया जाता है।

(7) व्यक्ति और समाज के मध्य आंगिक सम्बन्धों की स्थापना

समष्टिवादी यूनानी विचारधारा से प्रभावित है जिसके अनुसार व्यक्ति और राज्य के मध्य में किसी प्रकार का कोई संघर्ष नहीं है अर्थात् व्यक्ति का सर्वा-

[illegible] विकास राज्य के अन्तर्गत ही सम्भव है और दोनों का उद्देश्य भी एक ही है। समष्टिवादी व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों को उसी प्रकार मानते हैं जिस प्रकार हमारे अंगों का हमारे शरीर से सम्बन्ध होता है।

(8) आर्थिक क्षेत्र में राज्य के कार्यों की अभिवृद्धि

समष्टिवादी वैधानिक उपायों से पूँजीवादी व्यवस्था को परिवर्तित कर समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करना चाहते हैं, अतः वे राज्य को उसके लिए सबसे बड़ा साधन और माध्यम स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि देश के सारे साधनों को राज्य के अधीन कर उनका उपयोग सुनियोजित ढंग से सामूहिक हित में किया जाये। विशेष रूप से समाज का दुर्बल वर्ग विशेष संरक्षण प्राप्त करने का अधिकारी है। दुर्बल वर्ग के लोगों को राज्य की ओर से अधिक सुविधाएँ प्राप्त हों, काम करने के घण्टे कम हों, वेतन अधिक हो, सुविधायें अधिक प्रदान हों, यथासम्भव इन्हें कर भार से मुक्त रखा जाये या कम से कम इन पर लगाये जाँय। इसी प्रकार दूसरी ओर अधिक सम्पन्न व्यक्तियों पर उनकी सम्पन्नता के अनुपात में अधिक कर भार रखा जाये। समष्टिवादी अनुपार्जित आय पर अधिकाधिक कर लगाने के पक्ष में हैं। सार यह है कि यद्यपि समष्टिवादी न्यूनतम और अधिकतम आय के मध्य अन्तर स्पष्ट नहीं कर पाये हैं, लेकिन उनका उद्देश्य दोनों प्रकार की आयों में कम से कम अन्तर रखने का विचार अवश्य है ताकि समाज में अधिकाधिक सन्तुलन स्थापित किया जा सके। ऐसा करने के पीछे उनके मस्तिष्क में मूल विचार यह है कि समाज में जितनी अधिक आर्थिक विषमता होगी उतना ही अधिक सामाजिक और राजनीतिक असन्तुलन भी होगा।

समष्टिवादी कार्यक्रम एवं पद्धति

समष्टिवाद मार्क्सवाद की भांति एक दार्शनिक विचारधारा नहीं है अपितु यह मुख्यतया पूँजीवादी व्यवस्था से समाजवादी व्यवस्था के परिवर्तन का एक कार्यक्रम है, जिसे समष्टिवादी शान्तिपूर्ण व वैधानिक तथा लोकतन्त्री ढंग से कार्यान्वित करना चाहते हैं, समष्टिवादी साधनों तथा पद्धतियों को निम्नांकित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है —

(1) शिक्षा-दीक्षा द्वारा जनता में लोकतन्त्र तथा समाजवाद का प्रचार

फेबियन विचारकों की भांति समष्टिवादी भी जनता के समस्त वर्गों में समाजवादी व्यवस्था के लाभों का प्रचार करना चाहते हैं। इसके निमित्त वे प्रेस, मच,

स्थापित करना चाहते हैं जिसके अन्तर्गत सामाजिक वर्ग परस्पर मिल जुल कर कार्य करें। हिंसा प्रतिहिंसा को जन्म देती है। अत. यदि बल प्रयोग द्वारा पूंजीवाद की समाप्ति का कार्यक्रम अपनाया जायेगा तो उसकी प्रतिक्रिया भी हिंसात्मक होगी। ऐसी स्थिति मे शान्तिपूर्ण समाजवादी व्यवस्था स्थापित नही हो सकेगी। अत. समष्टिवादी यह मान कर चलते हैं कि विभिन्न सामाजिक वर्ग अन्योन्याश्रित है। उत्पादन प्रणाली के अन्तर्गत उद्योगपति तथा श्रमिक एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं। उनके मध्य विरोध की खायी को पाटने की आवश्यकता है ताकि एक वर्ग दूसरे का शोषण करके अनुचित लाभ अर्जित न कर सके। अत. पूंजीवाद वर्ग द्वारा शोषण के जो साधन अपनाये जाते हैं उन पर राज्य द्वारा नियन्त्रण लगाया जाना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि पूंजीपति या उद्योगपति वर्ग का उत्पादन के साधनो मे तुरन्त निस्वाम्यकरण करके ही समस्या का समाधान हो जायेगा। राज्य विधि द्वारा श्रमिको के वेतन न्यूनतम, काम की अवधि, बोनस, आदि का निर्धारण करके स्वामियो को इन्हें मान्य करने के लिए बाध्य कर सकता है। उनके लाभ को नियन्त्रित करने के लिए आय कर मे क्रमिक वृद्धि कर सकता है। यदि कोई स्वामी या उद्योगपति इन नियमो का उल्लघन करे तो राज्य ऐसे उद्योगो का राष्ट्रीयकरण कर सकता है। इस प्रकार उद्योगपति तथा श्रमिक वर्ग के मध्य विरोध तथा अन्याय को दूर करने के लिए राज्य एक पच के रूप मे रहेगा। वर्ग-विहीन-वर्ण-विहीन तथा राज्य-विहीन समाज की स्थापना का स्वप्न समष्टिवाद नही देखता है, प्रत्युत उसका उद्देश्य समाज के विभिन्न वर्गों के मध्य समरूपता स्थापित करना है और ऐसा कार्य राज्य वैधानिक व्यवस्था द्वारा करेगा।

(4) उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण

समष्टिवाद का एक उद्देश्य प्रमुख समाज-सेवी उद्योगो का राष्ट्रीयकरण करना है, जैसे रेल, यातायात, बीमा, बैंक, परिवहन, शक्ति के साधन, भूमि आदि। उत्पादन के अन्य बडे-बडे उद्योगो का भी शनैः शनैः राष्ट्रीयकरण करना समाजवादी कार्यक्रम का एक अग रहा है। इन राष्ट्रीयकृत उद्योगो का सचालन करने के लिए स्वायत्तशासी परिषदें, आयोग निगम, आदि की स्थापना राज्य द्वारा की जाती है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के अत्यधिक केन्द्रीकरण को रोकने के लिए राज्य ग्रामांचलो मे अधिकतम भूमि की सीमा तथा शहरी सम्पत्ति की अधिकतम सीमा भी कानून द्वारा निर्धारित कर देता है। उस निर्धारित सीमा से अधिक सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण करके उसे सम्पत्तिहीनो को देने की व्यवस्था की जाती है।

राष्ट्रीयकरण कर दिया जाता है उनके पूर्ववर्ती उद्योगपतियों अथवा स्वामियों को राज्य कानून द्वारा क्षतिपूर्ति की व्यवस्था भी करता है जो एक साथ या कई वर्षों में किश्तों के रूप में दी जाती है। कभी-कभी कुछ उद्योग संयुक्त प्रयास द्वारा भी चलाये जाते हैं इसे मिश्रित अर्थव्यवस्था के नाम से पुकारते हैं। इसमें व्यक्तिगत पूजी लगाने वालों को उद्योग के संचालन में पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं रह पाती है। अतः शोषण का प्रश्न नहीं उठता। छोटे-छोटे उद्योग विकेन्द्रीकृत स्वायत्त संस्थाओं अथवा व्यक्तिगत प्रयास अथवा सहकारी संघों द्वारा भी चलाये जाने की नीति समष्टिवाद को अमान्य नहीं है। राज्य ऐसे विभिन्न उद्योगों से उत्पादन शुल्क, बिक्री कर, आयकर आदि लगाती है। पूंजीपतियों तथा उद्योगपतियों के अवांछित लाभ को रोकने के लिए राज्य मूल्य निर्धारण तथा वितरण के लिए भी नियन्त्रण की व्यवस्था करता है ताकि उपभोक्ताओं से मनमाना मूल्य नहीं लिया जा सके। उत्पादक श्रमिकों को अपने संघ निर्मित करने की स्वतन्त्रता भी प्राप्त रहती है। वे अपनी संगठित शक्ति के द्वारा अपनी मांगों को स्वामियों या सरकार के समक्ष रखते हैं। इस प्रकार राज्य की अर्थ व्यवस्था पर राज्य का अधिकाधिक नियन्त्रण या स्वामित्व रहने से उत्पादन तथा वितरण का कार्य सन्तुलित रखने की नीति अपनायी जाती है। व्यापार व्यवसाय, आयात निर्यात तथा बैंक व्यवस्था को भी उन्मुक्त प्रतियोगिता के निमित्त नहीं छोड़ दिया जाता। समष्टिवाद सन्तुलित अर्थव्यवस्था का नीति पर अनुसरण करता है।

(5) राजनीतिक तथा आर्थिक विकेन्द्रीकरण

यद्यपि समष्टिवाद राज्य के माध्यम से समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना चाहता है तथापि इसका यह अर्थ नहीं है कि वह सुदृढ़ केन्द्रीकृत शासन व्यवस्था स्थापित करने और राज्य को सशक्त बनाना चाहता है। ऐसी केन्द्रीकृत व्यवस्था साम्यवादी अधिनायक तन्त्रों के अन्तर्गत पायी जाती है। समष्टिवादी इस तथ्य की उपेक्षा नहीं करते कि राज्य के कार्य क्षेत्र का अत्यधिक विस्तार होने से प्रशासनिक नौकरशाही का विस्तार स्वाभाविक है। यदि नौकरशाही शक्तिशाली हो गयी तो उससे जनतन्त्र को आघात पहुँचेगा और जन कल्याण का आदर्श नौकरशाही की कृपा पर रह जायेगा। अतः समष्टिवाद शासन की विकेन्द्रीकृत व्यवस्था की स्थापना को आवश्यक समझता है और जनसहयोग को अधिकाधिक प्रभावशाली बनाने के लिए स्थानीय स्वायत्त शासन के विकास की योजनायें बनाता है। स्थानीय

समुदाय अपने क्षेत्र के आर्थिक विकास की योजनायें स्वयं बनाती तथा कार्यान्वित करती हैं। इनके अतिरिक्त आर्थिक कार्य कलापों के संचालन के निमित्त, सहकारिता को अधिक महत्व दिया जाता रहा है। सहकारी समितियाँ अनेक छोटे-छोटे उद्योगों के संचालन का कार्य अपने हाथ में ले सकती हैं। विनम्र प्रणाली में राज्य सहकारी संस्थाओं को अधिक प्रोत्साहन देता है। विविध उद्योगों में निगमों, परिषदों तथा संघों की स्थापना तथा उनकी स्वायत्तता को सुनिश्चित करती है। ये कार्य कलाप केन्द्रीकृत राज्य की सत्ता का विकेन्द्रीकरण करने के द्योतक हैं। राजनीतिक तथा आर्थिक कार्य-कलाप स्थानीय संस्थाओं के हाथ में विकेन्द्रीकृत हो जाने से केन्द्रीय नौकरशाही स्थानीय क्षेत्रों में मनमानी नहीं कर पायेगी। आर्थिक कार्य-कलापों के विकेन्द्रीकरण से पूँजीवाद तथा व्यक्तिगत लाभ को भी अधिक प्रोत्साहन नहीं मिल पायेगा।

(6) नियोजित अर्थव्यवस्था की नीति पर अनुसरण

विकासशील देशों में समष्टिवादी नीति अपनाने वाले राज्य के आर्थिक, औद्योगिक तथा अन्यान्य क्षेत्रों में विकास कार्यों के निमित्त नियोजित विकास की योजनायें निर्मित करने के लिए कदम उठा रहे हैं। ये योजनायें पंचवर्षीय, सप्तवर्षीय, रूप की होती हैं। इन योजनाओं का सैद्धान्तिक आधार राष्ट्रीय स्तर पर स्थानीय लोकतन्त्री संस्थाओं के सहयोग से तैयार किया जाता है। उसके बाद आगामी योजनावधि के लक्ष्य निर्धारित कर लिए जाते हैं। उनकी सीमा के अन्तर्गत विभिन्न स्तरों की संस्थायें अपनी स्थानीय योजनाओं को बनाती हैं। उनके साधनों तथा उपयोगिता का पूर्व निर्धारण कर लिया जाता है। इससे उत्पादन में बरबादी नहीं होती है और समाज की आवश्यकतानुसार उत्पादन कार्य होता है। उत्पादित माल की खपत की समस्या भी नहीं आती। ब्रिटेन आर्थिक दृष्टि से एक विकसित देश था, वहाँ राष्ट्रीय विकास की निर्धारित अवधि की योजनायें बनाने का प्रश्न नहीं था, परन्तु आर्थिक क्रियाकलापों के संचालन, उत्पादन तथा वितरण को समाजवादी के निमित्त वहाँ के श्रमिक दल ने एक राष्ट्रीय नीति का नियोजन पूर्व से ही कर लिया था। प्रो० जोड के अनुसार इस नियोजित कार्यक्रम के अन्तर्गत निम्नलिखित सिद्धान्त अपनाये गये थे —

(क) राष्ट्रीय न्यूनतम वेतन को सार्वभौम रूप से लागू करना

इसके अन्तर्गत राज्य फैक्ट्री अधिनियमों में सुधार करके एक ऐसे न्यूनतम वेतन को निर्धारित करेगा जिसकी प्राप्ति द्वारा श्रमिक अपनी मौलिक आवश्यक-

हो ।

कतन्त्री नियन्त्रण

मिक दल औद्योगिक क्षेत्र मे पूजीपतियो के नियन्त्रण को कम उद्योगो के राष्ट्रीयकरण तथा छोटों को स्थानीय स्वायत ने रखने और प्रशासन के विकेन्द्रीकरण द्वारा उद्योगो के ऊपर रखने की नीति अपनायेगा ।

वस्था में क्रान्ति लाना

तु श्रमिक तथा निम्नमध्यमवर्गीय लोगों के न्यूनतम आय अधिक आय वालो के ऊपर अधिक आयकर की नीति अप-

का उपभोग जन साधारण के हित में करना

ने जो अतिरिक्त लाभ होता है वह पूजीवादी व्यवस्था के र जेब में जाता है । समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत कर राज्य को होगी उससे जन साधारण की सुख सुविधा के कार्य ा, जन स्वास्थ्य, चिकित्सा, वृद्धावस्था में पेंशन की योजना, आदि ।

ांति समष्टिवाद मे भी दोष पाये जाते हैं । अभी तक ऐसा है जो निर्दोष हो । साम्यवाद की भांति अनेक राज्यों में हुआ है । द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त अधिकतर देशों के या है । आज राज्य का उद्देश्य लोक कल्याणकारी राज्य आलोचनायें की जाती हैं वह निराधार है ।

ारो मे व्यक्तिगत प्रेरणा को कोई स्थान नहीं है, यह विचार- त संघ, जहां सभी वस्तुओं का राष्ट्रीयकरण किया गया है, नये कार्य करने की प्रेरणा मिलती है । सोवियत संघ विश्व

है । बर्टेण्ड रसेल के शब्दों
लिए तथा सार्वजनिक सेवाओं
जाती योग्यतानुसार मजूरि
में कुछ लोग ऐसे भी होते है
से करते हैं ।

सभी आवश्यक वस्तुओं
का अपहरण हो जाता है,
देशों में भले ही सही हो किन्तु
समष्टिवादी देशों मे व्यक्ति
प्रेस आलोचना, संगठन एवं
पूंजीवादी व्यवस्था के देशों में
में उसकी अवस्था दयनीय
को कार्य करने का, अपनी

समष्टिवाद की आ
कार्य क्षेत्र बढ़ जाने से भ्रष्टा
किये बिना कोई कार्य नहीं
भ्रष्टाचार, आदि वैयक्तिक
जहां भी होगा, यह भ्रष्टाचा
दूर किया जा सकता है ।
जाता । पूंजीपति तो अपना
हैं । यदि पूंजीवाद नहीं रहेगा

केन्द्रीयकरण के जो अवा
में यदि साधारण जनता का जीव
बाद में केन्द्रीयकरण नियोजित
पर आधारित व्यक्तिवादी व्यवस्
हो सकेगा । इसमें काम करने
निरन्तर अवसर मिलेगा और स

भी स्थिति में अमेरिका से पीछे नहीं है। सोवियत संघ में श्रमिकों को प्रेरणा देने के लिए विशेष पुरस्कार दिये जाते हैं। किसी भी देश में ऐसे व्यक्ति होते हैं जो पैसे के लोभ से काम नहीं करते अपितु यश, कीर्ति, सम्मान पाने की भावना उनमें रहती है। बर्टेण्ड रसेल के शब्दों में, मनुष्य में रचनात्मक भावनाओं का सन्तोष अपेक्षित तथा सार्वजनिक सेवाओं की किसी भी रूप में किसी भी योग्य मनुष्य के द्वारा अपनी योग्यतानुसार सपूर्ति वस्तुतः मनुष्य की सबसे बड़ी सफलता है। समाज में कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो देश की सेवा अपने परिवार से भी अधिक भावना से करते हैं।

सभी आवश्यक वस्तुओं का राष्ट्रीयकरण हो जाने पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण हो जाता है, यह कहना सोवियत संघ, जनवादी चीन, जैसे साम्यवादी देशों में भले ही सही हो किन्तु ब्रिटेन, अमेरिका, भारत जैसे जनतन्त्रीय देशों में नहीं। समष्टिवादी देशों में व्यक्ति को आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान की जाती है, उसे भाषण, प्रेस आलोचना, सगठन एवं विचार की राजनीतिक स्वतन्त्रता भी मिलती है। पूजीवादी व्यवस्था के देशों में व्यक्ति का शोषण होता है और व्यक्ति की निर्धनता में उसकी अवस्था दयनीय हो जाती है, वहा समष्टिवादी देशों में प्रत्येक व्यक्ति को कार्य करने का, अपनी प्रतिभा दिखाने का अवसर मिलता है।

समष्टिवाद की आलोचना का प्रमुख विषय यह है कि इसमें राज्य का कार्य क्षेत्र बढ़ जाने से भ्रष्टाचार अधिक होता है। सरकारी कर्मचारी रिश्वत प्राप्त किये बिना कोई कार्य नहीं करते। यह आरोप भी निराधार है। रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, आदि वैयक्तिक गुण हैं, अर्थात् यदि व्यक्ति में अन्य दुर्गुण हों तो वह जहा भी होगा, वह भ्रष्टाचार अवश्य करेगा। यदि प्रबन्ध ठीक हो तो यह दुर्गुण दूर किया जा सकता है। समष्टिवाद में सभी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण नहीं किया जाता। पूजीपति तो अपना काम निकालने के लिए कर्मचारियों को रिश्वत देते हैं। यदि पूजीवाद नहीं रहेगा तो भ्रष्टाचार अपने आप समाप्त हो जायेगा।

केन्द्रीयकरण के जो अवदोष बताये गये हैं वह अतिरंजित हैं। केन्द्रीयकरण में यदि साधारण जनता का जीवन स्तर ऊँचा उठता है तो यह बुरा नहीं है। समष्टिवाद में केन्द्रीयकरण नियोजित ढंग से होगा। प्रो० लास्की के शब्दों में, प्रतिस्पर्धा पर आधारित व्यक्तिवादी व्यवस्था की अपेक्षा नियोजित समाज कहीं अधिक स्वतन्त्र हो सकेगा। इसमें काम करने वालों को अपनी क्षमता को अभिव्यक्त करने का निरन्तर अवसर मिलेगा और साथ ही उन्हें काम करने की दशाओं में सम्बन्धित

नियम बनाने वाली शक्ति में भाग लेने का अवसर मिलेगा। इस प्रकार के केन्द्रीय-करण से आत्म-निर्भरता को प्रोत्साहन मिलेगा।

समष्टिवाद में कर के भय से लोग बचत नहीं करेंगे। राज्य ऐसी बचत को पूंजी के रूप में सुरक्षित रखेगा जिससे नये उद्योग खोले जायेंगे। समष्टिवाद में बिना किसी प्रतियोगिता के अभाव में शुद्ध एवं आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन होता है। लोगों को पूंजीपतियों की अपेक्षा सरकार पर अधिक विश्वास है। समष्टिवादी प्रणाली के देशों में उत्पादन घटता नहीं किन्तु जनता की रुचि के अनुसार वस्तुएँ पैदा की जाती हैं।

व्यक्तिवाद के परिणाम विश्व भुगत चुका है। उसके कारण श्रमिकों का अधिक शोषण हुआ है। व्यक्तिवाद के दोषों की प्रतिक्रिया स्वरूप ही समष्टि-वाद का जन्म हुआ है। राज्य जनता के लिए उपयोगी है। वह गला घोंट प्रतियोगिता को रोकता है। अनावश्यक वस्तुओं का उत्पादन नहीं करता। पूंजीपति व्यवस्था में जो धन विज्ञापन, प्रचार आदि पर व्यय होता है, उसे समाप्त कर जनता के लिए शुद्ध वस्तुओं का उत्पादन होता है। पूंजीपति अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने में वस्तुओं में मिलावट करते हैं किन्तु सरकारी कार्य में व्यक्तिगत लाभ न मिलने से मिलावट नहीं हो पाती। समष्टिवाद संविधानिक एवं शान्तिमय साधनों से समाजवाद लाता है। ऐसा समाजवाद बना रहता है। क्रान्ति के द्वारा लाये गये परिवर्तन स्थिर नहीं रहते। अतः समष्टिवाद एक समन्वयकारी विचारधारा है जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सामाजिक एकता से जोड़ता है। बर्नस्टीन ने इसी लिए कहा है कि यह साम्यवाद की कब्र के लिए उच्च सड़क है।

श्रमिक संघवाद

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में फ्रान्स के श्रमिक आन्दोलन के गर्भ से श्रमजीवी वर्गों के लिए एक नवीन सामाजिक सिद्धान्त का जन्म हुआ जो श्रमिक संघवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त का उद्गम आंशिक में मार्क्स और आंशिक रूप में अराजकतावादियों से हुआ, किन्तु इसमें कई विचित्र बातें हैं और सम्पूर्ण सम्मिश्रण एक विशिष्ट वाद है। यह एक क्रान्तिकारी विचारधारा है, जो शान्ति और विकासवाद दोनों सिद्धान्तों को अस्वीकार कर श्रमिकों को तुरन्त सब ... से मुक्त करना चाहती है। श्रमिकों का स्वाधीनता प्रेम ही इस ...न्ता से पनपने और प्रचलित होने का प्रधान कारण है, जो इस ... गया है कि यह आन्दोलन औद्योगिक क्षेत्र में उद्योगपतियों के

[illegible]

"सिण्डिकेलिज्म" अर्थात् 'श्रमिक संघवाद' फ्रान्सीसी शब्द "सिण्डिकेट" से निकला है जिसका अर्थ है "श्रम संघ"। जब उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दि में श्रमिक संघों के प्रमुख राष्ट्रीय संगठन के दक्षिण पन्थियों तथा वाम पन्थियों के दो विभाग हो गये तब उन दोनों की विरोधी नीतियों के लिए, क्रान्तिकारी श्रमिक-संघवाद तथा सुधारवादी श्रमिक संघवाद शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा। जब उस संगठन पर क्रान्तिकारी सिण्डिकेलिस्टों का अधिकार हो गया तब श्रमिक-संघ की नीति केवल श्रमिक संघवाद के नाम से प्रसिद्ध हुई। आगे जहां कहीं भी सिण्डिकेलिज्म या संघवाद शब्द का प्रयोग किया जायेगा तब उससे आशय क्रान्तिकारी संघवाद से ही लिया जाना चाहिए। यद्यपि आज भी फ्रान्स में संघवाद शब्द साधारण श्रमिक संघीय आन्दोलनों के लिए ही प्रयोग में आता है, किन्तु एक क्रान्तिकारी श्रमिक-संघ आन्दोलन को संघवाद कहना ही अधिक सत्य तथा उपयुक्त होगा। सामान्यतया श्रमिक संघवाद यह मानता है कि केवल श्रमिकों को ही उन स्थितियों का नियन्त्रण करना चाहिए जिनके अधीन वे कार्य करें और जीवन-निर्वाह करें, जिन सामाजिक परिवर्तनों को वे चाहते हैं, उन्हें वे केवल अपने प्रयत्नों से और अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुकूल साधनों से ही प्राप्त कर सकते हैं।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रथम महायुद्ध से पूर्व की दो दशाब्दियों में फ्रान्सीसी श्रम-आन्दोलन में इस सिद्धान्त ने कैसे प्राधान्य प्राप्त कर लिया इसके अनेक कारण बतलाये जाते हैं। कुछ विचारकों ने श्रमिक संघवाद का, जो अत्याचार के विरुद्ध श्रमिकों के प्रत्यक्ष एवं स्वाभाविक विद्रोह में विश्वास करता है, वर्गीय एकता की भावना को उभारता

है और साधारण इतिहास के [illegible] में विश्वास करता है, फ्रान्सीसी जाति की मनोवैज्ञानिक विशिष्टताओं से सम्बन्ध माना है। फ्रान्सीसी जाति के वर्तमान इतिहास में भी प्राय इसकी उत्पत्ति के कारणों की खोज की गयी है। फ्रान्सीसी क्रान्ति के समय से उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दि तक औद्योगिक तथा राजनीतिक विकास की जो वास्तविक बातें हैं और अवस्थायें रहीं उनसे यह स्पष्ट है कि फ्रान्स में आर्थिक या राजनीतिक संघर्ष के सामान्य साधन फ्रान्सीसी श्रमिकों को प्राप्त नहीं थे। अत. उन्हें बाध्य होकर नये उपाय खोजने पड़े। व्यापार संघों के साधारण उपायों से कार्य नहीं कर सकते थे। फ्रान्स में अधिक समय तक छोटे पैमाने पर उद्योग चलते रहे। अत: श्रमिक विशुद्ध रूप से औद्योगिक युद्धों का निरन्तर और सफलतापूर्वक संचालन करने के लिये आवश्यक विशाल राष्ट्रीय स्तर पर अपना संगठन स्थापित नहीं कर सके। इसके अतिरिक्त इस अवधि में फ्रान्सीसी विधि ने भी श्रमिकों के संघ बनाने तथा हड़तालों की योजना बनाने में अनेक बाधायें उपस्थित कीं। इसके साथ ही फ्रान्सीसी श्रमिकों ने यह भी अनुभव किया कि वे मार्क्स के बताये हुए कार्य-क्रम के अनुसार भी सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सके। उन्नीसवीं शताब्दी में फ्रान्सीसी वैधानिक विकास में समय-समय पर जो सहसा विच्छेद हुए, उनसे सुधार के साधन के रूप में राजनीति के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो गया। अत जब उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम भाग के औद्योगिक युग में फ्रान्सीसी श्रमिक सुदृढ़ रूप में संगठित हो गये, तब वे अपनी मुक्ति के साधन के रूप में व्यापारिक संघवाद तथा राजनीतिक समाजवाद दोनों को अस्वीकार करने के लिए और ऐसे लोगों से सहमत होने के लिए तैयार हो गये जो सामाजिक संघर्ष के अधिक उग्र और सीधे उपायों का प्रयोग करना चाहते थे। अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग से लेकर श्रमिक संघवाद के उदय तक की शताब्दी में इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की पृष्ठभूमि इस प्रकार है। इस युग के आरम्भ में हम क्रान्ति युग के विविध प्रमुख समुदायों में प्रत्येक प्रकार की संस्थाओं के प्रति अतिशय शत्रुता का भाव पाते हैं। यह भाव क्रान्ति से पूर्व के समय की विरासत थी। क्रान्ति के नेता व्यक्तिवादी तथा लोकतन्त्रवादी थे। अत आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिगत अधिकारों तथा सार्वजनिक हितों को संरक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से इनके मध्य किसी प्रकार की सामुदायिक संस्थाओं को मान्य करने के लिए अनिच्छुक थे। परिणाम स्वरूप श्रमिक संघों सदृश संस्थाओं पर प्रतिबन्ध लगे रहे। इन प्रतिबन्धों के होते हुए भी श्रमिक वर्ग में श्रम-संघों के निर्माण की प्रवृत्ति बढ़ती ही रही। सन् 1848 की क्रान्ति के कारण उन पर और अधिक

तिबन्ध लगा दिये गये। फ्रांस मे राजनीतिक अस्थिरता बनी रहती थी। अत. ब भी राजनीतिक परिवर्तन होते थे, तभी श्रमिक सगठनो पर प्रतिबन्ध लगाने थवा प्रतिबन्धो को हटाने का चक्र प्रारम्भ हो जाता था। इस क्रिया-प्रतिक्रिया कारण श्रमिको मे सगठन की चेतना निरन्तर अन्दर ही अन्दर सक्रिय बनी हती थी। तृतीय गणतन्त्र के सविधान के अन्तर्गत पुन सन् 1884 मे श्रमिको को गठन बनाने तथा हडताल करने के अधिकार प्राप्त हो गये, और 1886 में उनका क राष्ट्रीय सघ स्थापित हो गया, परन्तु फ्रान्स मे औद्योगिक प्रक्रिया विकेन्द्रीकृत होने के कारण श्रमिको के राष्ट्रीय आधार पर सगठित हो सकने तथा राजनीतिक तिविधियो को प्रभावित कर सकने की सुदृढ स्थिति प्राप्त नहीं थी। उद्योग-तियो एवं स्वामियो के द्वारा श्रमिक सघो का विरोध स्वाभाविक है और वे राज-नीतिक सत्ता को उनके विरुद्ध प्रभावित करते रहते थे। फिर भी श्रम-संघ आन्दो-लन समय का लाभ उठाने से नही चुका।

सन् 1884 मे श्रमिकों को पुन: सघ बनाने, हडताल करने आदि के अधिकार प्राप्त हो गये तो आरम्भ मे स्थानीय आधार पर श्रम विनिमय के उद्देश्य से अनेक श्रमिक सघो का निर्माण किया गया जिन्हें Bourses du Travail कहा जाता था। प्रो० जोड के शब्दो मे, बोर्ज किसी स्थान विशेष में विभिन्न व्यवसायो मे लग श्रमिको का सघ होता था, जिसका उद्देश्य अपने सदस्यो के लिए श्रम-विनिमय का कार्य करना तथा उस स्थान विशेष के अन्तर्गत श्रमिको के अधिकारो का समर्थन करना था। इनके अतिरिक्त इसी अवधि मे फ्रान्स मे लगभग 700 व्यापार सघ स्थापित हो चुके थे। इनमे वे श्रमिक सम्मिलित होते थे जो किसी एक ही उद्योग या एक ही प्रकार की औद्योगिक प्रक्रिया मे लगे होते थे। सन् 1895 मे ये व्यापार सघ एक राष्ट्रीय सगठन Confederation Generale du Travail (C.G.T) मे सगठित हो गये। सन् 1893 मे सभी बोर्ज एक सघीय बोर्ज मे सगठित हो चुके थे। सन् 1902 मे व्यापार सघों तथा बोर्ज दोनो के राष्ट्रीय संघ एक मे विलीन हो गये और यह राष्ट्रीय सघ सी० जी० टी० बना रहा। इस प्रकार बीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे फ्रान्स मे श्रम-सघो का एक सुदृढ सगठन स्थापित हो गया। यह कार्य फ्रान्स के एक महान् श्रमिक नेता पेलोलिये के प्रयासो का परिणाम था।

पेलोलिये सर्वप्रथम व्यक्ति थे जिसने इस विचार को अपनाया कि फ्रान्सीसी श्रमिको को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समस्त फ्रान्सीसी राष्ट्र से पृथक होकर प्रयत्न करना चाहिए। उसका जन्म एक पूँजीपति परिवार मे हुआ था। वह अपने राजनीतिक जीवन के आरम्भ काल मे उग्र गणतन्त्रवादी था और उसके पश्चात्

यह ज्यूस्दे के समाजवादी गुट का सदस्य बन गया। बाद में वह सामान्य हड़ताल के प्रश्न पर, जिसका उसने सन् 1892 की समाजवादी कांग्रेस में असफलतापूर्वक समर्थन किया था, उस दल से पृथक हो गया। इसके बाद यह बाकुनिन के विचारों को अपनाने लगा। श्रमिक विनिमयों को राजनीतिक समाजवादियों के नियन्त्रण से पृथक रखने के लिए ही पेलोलिये सन् 1894 में राष्ट्रीय संघ का सचिव बना दिया गया और सात वर्ष तक वह इसी पद पर मृत्युपर्यन्त बना रहा। उसकी संगठन शक्ति तथा कार्यपटुता के कारण ही इन विनिमयों को थोड़े से ही समय में बड़ी प्रगति हुई। उसके नेतृत्व में अराजकतावादी साम्यवादी लोग श्रमिक विनिमयों मे बड़ी संख्या में सम्मिलित हो गये और संघ पर उनका प्रभाव समाजवादियों के पारस्परिक मतभेद तथा औद्योगिक संघर्ष के समय में पूंजीपतियों के साथ सरकार के पक्षपात उन दोनों ही कारणों से बढ़ गया।

जब पेलोलिये फ्रान्सीसी श्रमिक आन्दोलन पर अपने इस विचार का प्रभाव डाल रहा था कि श्रमिकों को स्थानीय श्रमिक विनिमयों द्वारा कार्य करना अपने ही सहकारी उद्योगों द्वारा अपनी मुक्ति प्राप्त करना चाहिए, सोरेल सबसे प्रथम बार श्रमिकों के हित में एक विचारक के रूप में उपस्थित हुआ, और श्रम संघों को इसी कार्य को करने की प्रेरणा दी। उसने अपना विचार एक मासिक पत्र मे प्रकाशित "श्रम संघों का समाजवादी भविष्य" शीर्षक वाले लेख में प्रकट किया जिसके अन्त मे उसने इस बात का प्रतिपादन किया कि "समाजवाद का सम्पूर्ण भविष्य श्रमिकों के सिण्डिकेटो के स्वतन्त्र विकास मे है।"

समस्त सिण्डिकेटलिस्ट सिद्धान्त एवं नीति की बाद की व्याख्याओं के मूल मे पेलोलिये तथा सोरेल का यह विचार है कि सर्वहारा वर्ग जिस सामाजिक परिवर्तन को चाहता है, वह आत्मपरिवर्तन होना चाहिए, और वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का स्थान जो नयी व्यवस्था लेगी, वह उन संस्थाओं के रूप मे होगी, जो श्रमिकों द्वारा स्वयं अपने ही प्रयत्न से और सरकार के विरोध की उपेक्षा करके बनायी जायेगी। इस विचार की व्याख्या कोन्फेडरेशन के प्रसिद्ध नेताओं की पुस्तिकाओं में मिलती है। ऐसे नेताओं मे मुख्य थे पेलोलिये, विक्टर-ग्रिफ्यूल्स, एमिले-पूगे, एमिलो पतौद, तथा लियोजोहो जो सन् 1910 के कोन्फेडरेशन के सचिव रहे। इन विचारों की व्याख्या व्यावहारिक आन्दोलन के बाहर के विचारकों सोरेल, ह्यूबर्ट लागर्देल, एडवर्ड बर्थ आदि के विशद ग्रन्थों तथा कोन्फेडरेशन के प्रस्तावों और वाद-विवादों मे भी प्राप्त होती है। इन नेताओं के विचारों तथा प्रयासों के

श्रमिक-संघवाद की परिभाषा करते हुए गार्नर ने लिखा है कि "यह राजनीतिक सिद्धान्त का वह रूप है जो व्यावसायिक संघों के माध्यम से समाज के पुनर्गठन का प्रयास तथा उत्पादकों को उपकरण मानता है जिनके द्वारा नये समाज का सृजन किया जा सके। इस प्रकार गार्नर की दृष्टि से श्रमिक संघवाद राजनीतिक सिद्धान्त तथा समाज संगठन की विचारधारा एवं कार्यवाई की एक योजना है। एक कार्यवाई के रूप में यह मालिकों के वर्ग-युद्ध की योजना है और इसका उद्देश्य समाज को संघ संगठनों के रूप में संगठित करना है। प्रो० जोड के अनुसार यद्यपि संघवाद की वर्ग-युद्ध की कार्यवाई की योजना पर्याप्त स्पष्ट है तथापि सामाजिक संगठन का उद्देश्य उतना ही अस्पष्ट है। प्रोफेसर बार्कर के शब्दों में "मार्क्सवाद की भांति श्रमिक-संघवाद भी बुर्जुआ तथा पूंजीवादी राज्य का विरोधी है परन्तु जहाँ मार्क्सवाद सम्पूर्ण सर्वहारा वर्ग को बुर्जुआ राज्य का शत्रु ठहराते हुए उसके विरुद्ध सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति का आह्वान करके उसकी विजय की घोषणा करता है और उसके पश्चात् सर्वहारा वर्गीय अधिनायक-वादी राज्य की स्थापना करने का उद्देश्य रखता है, वहां श्रमिक संघवाद ने बिल्कुल दूसरी ही वर्ग की युक्तियों का सूत्रपात किया है। श्रमिक-संघवाद सर्वहारा वर्ग की धारणा को बहुत महत्व देता है और न ही क्रान्ति की सफलता के पश्चात् सर्वहारा वर्गीय अधिनायकवादी राज्य की स्थापना की धारणा को रखता है। इस विचारधारा के अन्तर्गत श्रमिक संघ ही सब कुछ है, वे ही क्रान्ति करेंगे और क्रान्ति द्वारा राज्य का विनाश कर देना इसका उद्देश्य है। श्रमिक संघ अथवा

व्यापार गण पूँजी और राज्य के शत्रु हैं। वे उद्योगों के अन्दर हड़ताल, तोड़-फोड़ आदि हिंसात्मक साधनों द्वारा इन पर अपना अधिकार कर लेंगे और राज्य की समस्त संस्थाओं के ऊपर भी अपना आधिपत्य स्थापित करेंगे और श्रमिक-संघ एक ऐसी व्यापिक संघ व्यवस्था स्थापित करेंगे जो सामाजिक संरचना का एक मात्र रूप होगी, परन्तु उसे राज्य नहीं कहा जा सकता। बार्कर के शब्दों में, "श्रम संघवाद का अर्थ है कि एक मात्र श्रमिकों को ही उन स्थितियों का नियन्त्रण करना चाहिए जिनके अन्तर्गत वे रहते हैं तथा कार्य करते हैं।" जिन सामाजिक परिवर्तनों को वे चाहते हैं, उन्हें वे केवल अपने ही प्रयत्नों से अपने हाथ के अन्दर अप्रत्यक्ष कार्यवाई से और अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं के अनुकूल साधनों से प्राप्त कर सकते हैं। श्रम-संघवाद समाज के एक ऐसे रूप को निर्मित करने का उद्देश्य रखता है जिसके अन्तर्गत सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्रों—आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि पर एकमात्र नियन्त्रण श्रमिक संघों का होगा। ऐसे उद्देश्यों की प्राप्ति तभी हो सकती है जब कि श्रमिक संगठन प्रत्यक्ष कार्यवाई करके आर्थिक क्षेत्र में श्रमिक संघों का पूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर लें और राजनीतिक संस्थाओं, पूंजीपतियों तथा उद्योग के मालिकों को नष्ट कर दें।

श्रमिक संघवाद की विशेषतायें

यद्यपि श्रमिक संघवाद एक फ्रान्सीसी श्रमिक आन्दोलन था जिसका उद्देश्य मुख्यरूप से विभिन्न उद्योगों में लगे श्रमिकों की दशा को सुधारना था, तथापि इस उद्देश्य की पूर्ति तभी सम्भव हो सकती थी जबकि श्रमिक लोग संगठित होकर प्रत्यक्ष राजनीतिक कार्यवाई करें। इसलिए इस आन्दोलन को एक राजनीतिक विचारधारा के साथ बढ़ाना आवश्यक था। एक राजनीतिक विचारधारा के रूप में इसकी प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं।

(1) यह एक सामाजिक व्यवस्था का सिद्धान्त है

इस विचारधारा के प्रमुख नेता पेलोलिये तथा सोरेल के विचारों से प्रेरित श्रमिक-संघवाद यह मानता है कि श्रमिक वर्ग जिस रूप के सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा करता है वह उसके द्वारा आत्मप्रेरित होना चाहिए अर्थात् श्रमिक वर्ग नियर्तमान सामाजिक संस्थाओं के स्थान पर जिन संस्थाओं की स्थापना करना चाहते हैं, वे संस्थायें श्रमिक वर्ग द्वारा स्वयं बिना किसी प्रकार की बाह्य सहायता प्राप्त किये अर्थात् राजनीतिक सत्ता की सहायता के बिना निर्मित की जानी चाहिए।

श्रमिक सघवादी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत यह माना जाता है कि समाज के उपभोग मे आने वाली समस्त भौतिक सम्पत्ति के मूल्य का सृजन उत्पादकों के द्वारा किया जाता है। अत समाज का पूर्ण नियन्त्रण तथा नियन्त्रण भी उन्ही के हाथ मे रहना चाहिए। यह एक ऐसे समाज की स्थापना करने का लक्ष्य रखता है जो सघात्मक आधार पर स्वायत्तशासी उद्योगो के संघो द्वारा निर्मित हो।

(2) यह एक समाजवादी विचारधारा

यद्यपि श्रमिक सघवाद राज्य समाजवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे उत्पन्न हुई विचारधारा है, तथापि यह एक क्रान्तिकारी समाजवादी विचारधारा है जिसके ऊपर मार्क्स के सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव था। अन्य समाजवादी विचारधाराओ की भांति यह भी पूजीवाद का शत्रु है और प्रूधों की भांति पूजी को चोरी कहता है। मार्क्स की भांति यह वर्ग सघर्ष पर विश्वास रखता है और इसके निमित्त श्रमिक वर्ग को पूजीपति वर्ग के विरुद्ध युद्ध करने की प्रेरणा देता है, जिससे ऐसे सघर्ष के परिणामस्वरूप उत्पादन के साधनो का स्वामित्व व्यक्तिगत पूजीपति के हाथ मे न रहकर सम्पूर्ण समाज के हाथ मे आ जाये। श्रमिक सघवादी व्यवस्था के अन्तर्गत समाज का नियन्त्रण श्रमिक सघो के हाथ मे रहेगा, इसलिए समाज के हाथ मे ऐसे स्वामित्व आने का अभिप्राय यह है कि उत्पादन के साधनो का स्वामित्व श्रमिक सघो के हाथ मे रहेगा।

(3) यह एक मार्क्सवाद की अपेक्षा अराजकतावाद से अधिक सामीप्य रखता है

प्रोफेसर जोड के शब्दो मे श्रम संघवाद को मार्क्स की अपेक्षा प्रूधो के विचारो से अधिक प्रेरणा मिली है। अत मार्क्सवादी विचारधारा के सैद्धान्तिक पक्षों को ही अपनाता है न कि कार्यक्रम तथा अन्तिम उद्देश्यो को। प्रूधो के समुदायगत साम्यवाद का प्रभाव श्रमिक संघवाद पर अत्यधिक मात्रा मे पाया जाता है। श्रमिक सघवादी आन्दोलन के अन्तर्गत श्रमिक-सघो का कार्यभाग लगभग वही होगा जैसा अराजकतावाद के अन्दर ऐच्छिक रूप मे निर्मित विभिन्न समुदायो का माना गया है। मार्क्सवाद सर्वहारा वर्गीय क्रान्ति की सफलता के पश्चात् पूंजीवाद से समाजवाद तक के सक्रमणकाल मे सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवादी राज्य को अपरिहार्य तथा आवश्यक मानता है परन्तु श्रमिक सघवाद तुरन्त राज्य जैसी सस्था को समाप्त कर देने का उद्देश्य रखता है। अत. यह अराजकतावाद से अधिक सामीप्य रखता है। इसे बहुधा सगठित अराजकता कहा जाता है।

4) श्रमिक संघवादी व्यवस्था उत्पादकों की सर्वाधिकारवादी व्यवस्था का द्योतक है

यद्यपि श्रमिक-संघवादी राज्यविरोधी विचारधारा है, तथापि इसके अ- र समाज की राजनीतिक गतिविधियों के ऊपर उत्पादकों के संगठित संघों का नियन्त्रण बना रहेगा। श्रमिक संघवाद समाज व्यवस्था का पूर्ण नियन्त्रण उत्पादकों संघों के ही हाथ में रखना चाहता है और उत्पादकों के हितों को ही सर्वोच्च स्थान देता है। श्रमिक संघवादी आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य मानव को न केवल सम्पूर्ण समाओं को मुक्त करना है, अपितु उन समस्त संस्थाओं से भी मुक्त करना जिनका प्रभाव उद्देश्य उत्पादन पर विचार करना नहीं है। श्रमिक संघवादी यह विश्वास करते थे कि उत्पादित माल के गुणात्मक तथा परिणामात्मक स्तर । उन्नत बनाने तथा उत्पादकों में कार्य-कुशलता लाने के लिए आवश्यक है कि सम्पूर्ण उत्पादन प्रक्रिया पर उनका एक-छत्र संगठित नियन्त्रण होना चाहिए। इसके अतिरिक्त वितरण व्यवस्था पर भी उन्हीं का नियन्त्रण रहना आवश्यक है। इस दृष्टि से श्रमिक-संघों का सर्वाधिकारवादी आधिपत्य समाज में ऊपर बना रहना इस विचारधारा की एक विशेषता है।

5) श्रमिक संघवाद राज्य विरोधी

श्रमिक संघवादी राज्य का विरोध अराजकतावादी तथा मार्क्सवादी की भाँति करते हैं। उनका कहना है कि राज्य सदैव पूँजीपतियों का हित करता है और पूँजीपतियों के लिए जीवित रहता है। राज्य द्वारा श्रमिकों का शोषण होता है। राज्य पूँजीपतियों के स्वार्थों को पूरा करने का साधन है। यह धनिकों तथा बुर्जुआ वर्ग को सुरक्षा एवं सुविधा प्रदान करता है। राज्य केवल आज के ही समाज में पूँजीपतियों के शोषण का साधन नहीं है, परन्तु स्वभाव से ही वह के समान रहेगा। राज्य का आधार नौकरशाही है। सरकारी नौकर जनता की भावनाओं को ठुकरा देते हैं। राज्य उपभोक्ताओं की चिन्ता न करके उत्पादकों के हितों का ध्यान रखता है। उनके अनुसार राज्य पूँजीवादी तथा मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की संस्था है जिसका उद्देश्य श्रमिकों के हित साधन नहीं है, क्योंकि बुद्धिजीवी को श्रमिकों की समस्या का थोड़ा भी ज्ञान नहीं होता। वे श्रमिकों के प्रति सहानुभूति रखना तो दूर रहा, उनसे घृणा करते हैं। राज्य सभी वर्गों को एक समझता है, जबकि विभिन्न वर्गों के हितों और स्वार्थों में अंतर होता है। राज्य की एक ओर से यह मिथ्या प्रचार किया जाता है, वह सभी वर्गों के साथ ऐसा व्यवहार करेगा।

राज्य सबल तथा शक्तिशाली व्यक्तियों के हाथ का खिलौना है, अतएव उनका वह सदैव ही पक्ष लेता है। समाज में पूजीपतियों के अतिरिक्त कई संघ होते हैं। राज्य को चाहिए कि वह अपनी सत्ता को उनको सौंप दे। श्रमिकों द्वारा जब भी आन्दोलन होता है, राज्य उन्हें निर्दयतापूर्वक कुचल देता है। फ्रान्स के इतिहास में अनेक बार ऐसा हुआ है। संघवादियों का कहना है कि फ्रान्स में कई राजनीतिक भ्रष्टाचार हुए हैं। शान्तिकाल में राज्य श्रमिकों का शोषण करता है और युद्ध के अवसर पर उन्हें देश-भक्ति का पाठ पढ़ाकर युद्ध के मैदान में भेजता है। अन्तत: पूजीपतियों की रक्षा की जाती है। राजनीतिज्ञ जनता के प्रतिनिधि भले ही होते हैं, किन्तु वे पहले दल का हित देखते हैं, उन्हें शासन समस्या का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। ऐसे राज्य को मार्क्सवादी की भांति थोड़े समय के लिए भी वे जीवित रहना नहीं चाहते। इस प्रकार संघवादी विचारधारा राज्य की समाप्ति एवं उन्मूलन चाहती है।

(6) जनतन्त्र का विरोधी

संघवादियों को राज्य की भांति जनतन्त्र पर किंचित् मात्र भी विश्वास नहीं है। जनतन्त्र द्वारा वस्तुत श्रमिकों का हित नहीं होता, अपितु उनके संघर्ष को निरस्त... हित करता है। परस्पर विरोधी दलों के विवादों को समझौते के द्वारा हल करता है। सन्धि करके उनमें समन्वय किया जाता है। इस प्रकार श्रमिकों के मूलभूत वर्ग-संघर्ष को ही समाप्त किया जाता है। संघर्ष द्वारा जिन महान गुणों का अभ्युदय होता है, उसे जनतन्त्र समाप्त करता है। जनतन्त्रीय निर्वाचन में विजय प्राप्त करने के लिए राजनीतिज्ञ मतदाताओं को मिथ्या आश्वासन देते हैं। प्रचार एवं सुन्दर आकर्षक नारों के द्वारा उन्हें प्रलोभन देता है। जनता को गुमराह किया जाता है। पूजीपति अपने धन के आधार पर सरलता से निर्वाचन जीते जाते हैं। तब जनतन्त्र स्वार्थी झूठे पूजीपतियों की संस्था बन जाती है। जोड के शब्दों में, "राज्य में प्रत्ये... कुछ वर्षों के पश्चात् तीन या चार अनुपयुक्त प्रत्याशियों में से सबसे कम अनुपयुक्त प्रत्याशियों के पक्ष में अपना मत डालने के लिए नियन्त्रित किया जाता है। न इन... में किसी का उनके द्वारा सकलन किया जाता है और न वे राष्ट्रीय संसद में उसका सच्चा प्रतिनिधित्व ही करते हैं।" श्रम-संघवादी विचारक तथा नेता सारेल का म... था कि "जनतन्त्र अनेक बुद्धिमान व्यक्तियों को वस्तु स्थितियों का यथार्थ ज्ञान कर... से रोककर लोगों के मनों में भ्रम उत्पन्न कर देने में सफलता प्राप्त कर लेता है, क्योंकि इसके अन्तर्गत ऐसे नेताओं को सक्रिय रहने का अवसर मिलता है जो वाचाल त... लोगों को सदैव भ्रम में डाले रखने की कला में निपुण होते हैं। जनतन्त्र के युग...

यह एक विशेषता रही है कि यह कहना सरल हो जाता है कि इसमें मानवता के ऊपर उच्चादर्शों का शासन नही होता, वरन् ऊँचे शब्दो का शासन होता है, विवेक का शासन नही होता, वरन् वह सूत्रों के द्वारा शासन चलाया जाता है, पर्यवेक्षण के आधार पर प्रतिपादित सिद्धान्तो के द्वारा शासन नहीं होता वरन् ऐसी हठधर्मितापूर्ण धारणाओं का शासन होता है जिनकी उत्पत्ति का ज्ञान करने का कभी भी कोई व्यक्ति स्वप्न तक नही देखता।" इस प्रकार जनतन्त्र मे यह नाटक किया जाता है कि वह जनता का प्रतिनिधि है और जनता की इच्छानुसार शासन करता है, किन्तु व्यवहार मे कुछ पूजीपति ही शासन करते है। यदि कोई नेता निर्वाचन के समय लच्छेदार भावपूर्ण भाषण देता भी है, तो संसद मे आकर वह सभी कुछ भूल जाता है। जनतन्त्र मे सभी को वाद-विवाद करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। जनतन्त्र यह भी ढोंग रचता है कि वह कोई गलत कार्य नही करेगा। सभी निर्णय बिना किसी पक्षपात के लिए जायेंगे। श्रम-सघवादियो का कथन है कि जनता के प्रतिनिधि योग्य होते हैं। उनमे कठिन समस्याओं को हल करने की क्षमता नहीं होती। वे लोगों की आवश्यकताओ और आकाक्षाओ मे अपरिचित होते है। विशेषज्ञों के परामर्श अनेक अवसरों पर मांगे जाते हैं। अतएव श्रम-सघवादियो का कहना है कि जनता के प्रतिनिधियों की अपेक्षा विशेषज्ञ द्वारा शासन चलता है तो निर्वाचन की प्रक्रिया एव जनतन्त्र मे क्या लाभ है।

(7) युद्ध विरोधी

श्रमिक सघवाद राज्य विरोधी है। अत उसके अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध को मान्यता देने या न देने का प्रश्न ही नही उठता। अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध तभी होते हैं जब राज्यो का अस्तित्व रहता है, पूजीवादी राज्यो के मध्य पारस्परिक प्रतियोगिता युद्धो का कारण है। ऐसे युद्ध से श्रमिको को कोई लाभ नही हो सकता। अन्तर्राष्ट्रीय युद्धो का उद्देश्य केवल पूजीपति वर्ग का हित साधन होता है। विश्व के श्रमिकों की अपनी मातृभूमि या पितृभूमि नही होती। स्वार्थी पूजीवादी राज्य श्रमिकों को सेना मे भर्ती करके उन्हें दूसरे राज्यो के श्रमिको के विरुद्ध लड़ाते हैं। इस प्रकार जो श्रमिक भाई-भाई हैं, उन्हें एक दूसरे को मारने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। श्रमिको को कभी भी राज्यो की सेना मे नही होना चाहिए, क्योंकि युद्धो में श्रमिक ही मारे जाते हैं, जिनके कारण उनकी सख्या घटती है। यदि राज्य की पराजय होती है तो विजयी राज्य श्रमिको का अधिक शोषण करेगा, यदि राज्य विजयी होता है तो विजय का लाभ श्रमिक को कभी नहीं मिलता, यह तो केवल राज्य।

पूँजीपति वर्ग का हित होता है। जब राज्य ही नहीं रहेंगे तो फिर राज्यों के मध्य युद्धों का प्रश्न ही समाप्त हो जायेगा।

(8) संसद विरोधी

राज्य की भाँति संसद का भी श्रमिक-संघवादी विरोध करते है। उनके अनुसार संसदीय व्यवस्था केवल एक धोखा है, जो धनवानों के मस्तिष्क की उपज है। ये छल-प्रपंच, चालाकी से श्रमिकों को पथ-भ्रष्ट करते हैं। संसदीय सरकार मे समझौता एव समन्वय होता है और कई दल सहयोग देते हैं। इनके कोई भी कानून बिना समझौते के पारित नही हो सकते। अच्छे से अच्छे क्रान्तिकारी नेता भी संसद के चुनाव मे आकर अपने उत्साह को समाप्त कर देते हैं। संसद का वातावरण ऐसा होता है कि क्रान्तिकारी विचार को प्रोत्साहन नही मिल पाता। क्रान्तिकारी नेता संसद भवन के द्वार पर पहुँचते ही सुधारवादी बन जाते हैं। ये नेता श्रमिकों के सच्चे प्रतिनिधि नही हो पाते। संघवादियों का मत है कि श्रमिक नेताओं को संसद का बहिष्कार करना चाहिए। यदि नेता संसद सदस्य न बने तो आम है, ऐसा संघवादियो की आस्था है। ब्रियां और मिलरेण्ड जो एक समय मे उग्रक्रान्तिकारी नेता थे संसद सदस्य बनते ही भीरु बन गये। ऐसा नेताओं को मन्त्री पद देकर उन्हें उदार बना दिया जाता है। संसद के निर्वाचन खर्चीला होते हैं, साधारण श्रमिक निर्वाचन मे खड़ा नही हो सकता। संसद सदस्य निर्वाचन मे धन व्यय करते है, उसे पुन प्राप्त करने के लिए भ्रष्टाचार को अपनाते है। आगामी निर्वाचन मे सम्भावित व्यय के तथा धनी बनने के लिए कुचक्र करते है। ससद के प्रभाव से व्यक्ति अनैतिक एव स्वार्थी बन जाता है। इसे प्रमाणित करने के लिए वे बोलेन्जर पनामा षडयन्त्र का उदाहरण देते है। उनके अनुसार ससद को षडयन्त्रों का उदाहरण देते है। उनके अनुसार ससद को "षडयन्त्रों का नाटक गृह" कहा है।

(9) राजनीतिक दलो का विरोधी

जनतन्त्र की भाँति श्रमिक संघवादी राजनीतिक दलो को अस्वाभाविक एव कृत्रिम संस्था मानते है। राजनीतिक दलो मे किसी वर्ग विशेष का आधिपत्य नहीं होता। वे पारस्परिक आर्थिक बन्धनों से एक हो जाते है। उनमें केवल श्रमिकों के शोषण के लिए एकरूपता आती है। श्रमिको पर जो अत्याचार एव शोषण होता है, उससे प्राय राजनीतिक दलों का कोई सम्बन्ध नही होता। राजनीतिक दलों मे वहाँ पूँजीपति तो वहाँ मध्यम वर्ग जैसे डाक्टर, प्रोफेसर, वकील, सरकारी कर्मचारी, बड़े-बड़े जमींदार और किसान एवं मजदूर आदि भी होते हैं। इनमें

सम्मिलित सभी वर्ग एक नहीं हो सकते, क्योंकि प्रत्येक की आर्थिक समस्या भिन्न है। श्रमिक संगठन की भांति कोई भी राजनीतिक दल उतने सक्रिय नहीं होते जितने कि श्रमिक संगठन। अतएव उनका राजनीतिक दलों पर विश्वास नहीं है। वे इनका बहिष्कार करने का परामर्श देते हैं।

श्रमिक संघवादी साधन तथा कार्यक्रम

श्रमिक संघवादी विचारक तथा नेता यह मानकर चलते हैं कि आर्थिक शक्ति समस्त कार्यकलापों तथा स्थितियों की कुन्जी है। वे राज्य तथा जनतन्त्र के विरोधी हैं, अतः अपने आदर्शों एवं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वे राजनीतिक कार्यवाई तथा साधनों पर विश्वास नहीं रखते थे। जोड के अनुसार फ्रान्स में बहुधा श्रमिक नेताओं के संसदों में निर्वाचित हो जाने के पश्चात् उनमें बुर्जुआ वर्ग की सी सांविधानिक विधियों को अपनाने की प्रवृत्ति बनती रही, जिसके कारण उनमें क्रान्तिकारी उत्साह नहीं रह पाया। अतः श्रमिकों को ऐसा विश्वास उत्पन्न होने लगा कि उन्हें अपनी ही शक्ति पर विश्वास रखना चाहिए। प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से निर्वाचित हुए संसद सदस्य जिन्हें श्रमिकों का समर्थन ही नहीं मिलता रहा, वरन् बहुमत श्रमिकों का ही उस क्षेत्र में था, उनके हितों का समर्थन एवं प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। अतएव प्रत्येक श्रमिक को इन प्रतिनिधियों तथा इनसे निर्मित संसद से अपनी शक्ति अर्जित करने का विश्वास नहीं रहा, और वे विश्वास करने लगे कि उन्हें अपने संगठन की शक्ति पर विश्वास करके अपने उद्देश्य पूर्ण करने चाहिए। अतः उनके विचार में यह अप्रत्यक्ष साधन है। हड़ताल, तोड़-फोड़ के द्वारा जो शीघ्रता से प्राप्त किया जाय उसे प्रत्यक्ष कार्यवाई कहते हैं। प्रो० सेवाइन के शब्दों में "प्रत्यक्ष कार्यवाई वह है जो श्रमिकों द्वारा बिना किसी मध्यस्थता के की जाती है"। यद्यपि सदैव ही इसका हिंसात्मक होना आवश्यक नहीं है, लेकिन इसके द्वारा आवश्यकतानुसार हिंसात्मक रूप ग्रहण किया जा सकता है। यह वह दबाव है जो प्रत्यक्ष रूप में उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयोग में लाया जाता है। शान्तिपूर्ण आन्दोलनों में पूंजीपतियों का कुछ नहीं बिगड़ता। यदि उनके साथ संघर्ष निरन्तर चलता रहे, निरन्तर हड़ताल होती रहे अथवा युद्धावस्था बनी रहे तो श्रमिकों को सफलता मिलती है। प्रत्यक्ष कार्यवाई के कुछ प्रकार निम्न हैं।

हड़ताल

उद्योगों के अन्तर्गत श्रमिक लोगों की प्रमुख समस्यायें उन्हें वेतन कम दिया जाना, बहुत दीर्घ अवधि तक कार्य में लगाये रखना और उद्योग के संचालन में कोई

नियन्त्रण न होना था। उद्योगपति मनचाहे ढग से इन व्यवस्थाओ को किया करते थे, अन श्रमिक वर्ग पूर्णतया स्वामियो की दासता मे बना रहता था। अतएव श्रमिक-आन्दोलन के बढने पर श्रमिको को संघ निर्माण तथा अपनी मांगो को पूरा कराने के लिए हड़तालो से प्रतिबन्ध हटाने की व्यवस्था हो चुकी थी। परिणामस्वरुप जब श्रम संघवादी आन्दोलन बढता गया तो इसके नेताओ तथा विचारको ने हड़ताल को सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन माना। हडतालें दो रुपो की मानी गयी है। प्रारम्भिक तथा सामान्यतया पूर्ण हड़ताल। प्रारम्भिक हडतालो का आह्वान समय-समय पर स्थानीय उद्योगो के अन्तर्गत श्रमिक सघ आयोजित करते रहेंगे। इसका उद्देश्य श्रमिको के वेतन को बढ़वाना, काम के घण्टो को कम करवाना, तथा सम्बद्ध उद्योग मे श्रमिक-सघ को अधिकाधिक नियन्त्रणकारी शक्ति दिलाना होगा। परन्तु ये प्रारम्भिक हड़तालें उद्योग के स्वामियो के व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर देने का उद्देश्य नहीं रख सकेंगी। इन हडतालो का एक प्रमुख उद्देश्य यह भी होगा कि ये आम हडताल के लिए पूर्वाभ्यास का कार्य करेंगी। जब श्रमिक सघो की ये प्रारम्भिक हड़तालें उनके उद्देश्यो की पूर्ति कराने में सफल हो जायेंगी तो इससे श्रमिको का उत्साह बढ़ेगा और उनमे आत्मविश्वास तथा अपनी शक्ति की प्रभावोत्पादकता पर विश्वास होने लगेगा, ताकि भविष्य मे वे फिर अपनी कठिनाइयो को दूर कराने एव अपनी समस्याओ को हल कराने मे इसका आश्रय ले सकेंगे। यदि कदाचित् ऐसी हड़तालें असफल भी हो जायँ तो भी वे श्रमिको के मध्य एकता लाने तथा उन्हें सगठित करने के मार्ग मे महत्वपूर्ण सिद्ध होगी। श्रमिक सघवाद मार्क्स द्वारा प्रतिपादित वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त पर विश्वास करता है अतएव हडतालें आर्थिक क्षेत्र मे केवल दो वर्गों के अस्तित्व को सुनिश्चित करके उनके मध्य वर्ग-सघर्ष को तीव्र करके सहायक सिद्ध होगी। इनके द्वारा श्रमिको मे वर्ग चेतना बढेगी और उनमे वर्गहित मे सामूहिक कार्यवाई करने की प्रेरणा जागृत होगी।

जहाँ तक आम हडताल का प्रश्न है, श्रमिक सघवादी नीति यह है कि आम हडताल मे सभी श्रमिको या उनके बहुसख्यको का भाग लेना आवश्यक नही है। आम हड़ताल का उद्देश्य उद्योगो को लडखडा देना और उससे पूजीपतियो के स्वामित्व को समाप्त कर देना होगा। प्रमुख उद्योगों मे लगे पर्याप्त सख्या के श्रमिक भी यह कार्य कर सकते है। ऐसे हड़ताल का क्षेत्र अब काफी सुगम हो गया है, क्योकि औद्योगिक प्रक्रिया की जटिलता के कारण विभिन्न उद्योगो के मध्य पारस्परिक अन्योन्याश्रिता बढ जाने से उनके श्रमिको मे वर्ग चेतना के विकास का अवसर भी बढ गया है। अत श्रमिको का एक अल्पसख्यक समूह भी आम हड़तालो का

आह्वान कर सकता है जिसके फलस्वरूप समूचा उद्योग लड़खड़ा जायेगा। प्रो॰ जोड के शब्दों मे, "ज्यो ही एक पर्याप्त संख्या के श्रमिक, जो कि वर्ग चेतना अल्पसंख्यक ही क्यो न हो, संघर्ष करने की आवश्यक स्थिति मे पहुँच जायें, त्यों ही आम हड़ताल की घोषणा कर दी जायेगी, और उनके द्वारा उत्पादन के समस्त उपकरण छीन लिए जायेंगे। इससे पूंजीवाद का अन्त निश्चित हो जायेगा। श्रम संघवादी मार्क्स की इस धारणा से सहमत नही है कि शोषण क्रिया जारी रहना सर्वहारा वर्ग की संख्या तथा चेतना को बढ़ायेगा और फिर वे अपने शोषको के विरुद्ध क्रान्ति के लिए तैयार हो जायेंगे। इसके विरुद्ध श्रम संघवादियो की धारणा यह थी कि पूंजीपति वर्ग कभी भी सर्वहारा वर्ग के विरुद्ध सघर्ष के लिए सहमत नही होगा। प्रत्युत वह शनैः शनैः श्रमिकों के साथ समझौता करके तुष्टिकरण की नीति अपनायेगा, जिसका परिणाम यह होगा कि श्रमिक वर्ग का क्रान्तिकारी उत्साह मद पड़ जायेगा। अतः श्रमिको को निरन्तर क्रान्तिकारी तथा विध्वंसक कार्यवाहियो का प्रयोग करते रहना चाहिए, ताकि उनके तथा उनके शोषक वर्ग के मध्य निरन्तर संघर्ष की स्थिति बनी रहे और उसकी परिणति आम हडताल में हो। आम हडताल के द्वारा पूंजीवाद को ही पूर्णतया समाप्त कर दिया जाना श्रमिक संगठनो का प्रधान लक्ष्य होना चाहिए।

हड़ताल के सम्बन्ध में सोरेल का सिद्धान्त

श्रमिक सघवादी हड़तालो तथा आम हड़ताल को अपने उद्देश्य की प्राप्ति का सबसे प्रमुख तथा प्रभावशाली साधन मानते हैं, परन्तु उनका हड़ताल का सिद्धान्त इतना ही अस्पष्ट है जितना कि उनका भावी समाज के स्वरूप का चित्रण। हड़ताल के सिद्धान्त का प्रतिपादन फ्रान्सीसी श्रमिक सघवादी विचारक सोरेल ने किया था। इसके प्रतिपादन में उसने राजनीतिक तथा दर्शन का और तत्व मीमांसा एवं मनोवैज्ञानिक समस्याओ का एक विचित्र सम्मिश्रण प्रस्तुत किया है। साथ ही उसने बर्गसां के अन्तर्प्रेरणा के सिद्धान्त को तोड-मरोड कर हड़ताल के साथ जोड़ा है। प्रो॰ जोड के मतानुसार इस सिद्धान्त को सोरेल ने इस रूप में प्रस्तुत किया है कि सम्भवत ही कोई श्रमिक सघवादी इसे समझ सके और जहा तक इसके द्वारा किसी कार्यवाई के औचित्य को दर्शाया गया है स्वय बर्गसां उसे अमान्य करने वाला प्रथम व्यक्ति सिद्ध होता है। बर्गसां के सिद्धान्त की मान्यता यह थी कि "हमारे कार्य-कलापो के साध्य का निर्धारण हमारा विवेक नही करता, वरन् हमारी अन्तःप्रेरणा करती है। हमारी बुद्धि हमे बताती है कि जो कुछ हम करना चाहते हैं, उसे हम कैसे करें, परन्तु हम वास्तव मे क्या करना चाहते हैं इसका निर्धारण करने में

बुद्धि का कोई हाथ नहीं रहता। इस प्रकार बर्गसाँ के सिद्धान्त के अनुसार मानव की अन्तर्प्रेरणा ही उसे विश्व के स्वरूप अपने सत्य आदि को समझने में सहायता देती है। यह अन्तर्प्रेरणा क्या है, इसे समुचित शब्दावली में बता सकना कठिन है। यह धार्मिक विश्वास की भांति है जिसका अनुमान वह लोग लगा सकते है जो इसके अनुसार आचरण करते है। सोरेल ने इस सिद्धान्त को हड़तालों के साथ लागू करते हुए बताया कि हड़ताल क्यों की जा रही है और इसकी सफलता हो जाने पर समाज का भावी रूप क्या होगा। प्रस्तुत ये सब बातें श्रमिकों के लिए अन्तर्प्रेरणा उत्पन्न होनी चाहिए। संक्षेप में हड़तालें तथा आम हड़ताल की कार्यवाई श्रमिकों के के लिए अन्ध श्रद्धा के रूप में होनी चाहिए कि जिससे उनका उत्साह तथा मनोबल उच्चतम हो सके। यदि वे इस प्रश्न पर अपने विवेक का प्रयोग करने लगेंगे तो वे पथभ्रष्ट हो जायेंगे। अतः हड़ताल के सम्बन्ध में श्रमिकों के मध्य विचार विनिमय करने, उसके गुणदोषों, उद्देश्य, विधि आदि पर वाद-विवाद करने का कोई अवसर नहीं मिलना चाहिए।

अन्य साधन

यद्यपि श्रमिक संघवादी आन्दोलन-कारियों का मुख्य उद्देश्य पूंजीवाद को समाप्त करने के लिए विविध श्रमिक-संघों द्वारा समय-समय पर अपनी मांगें मनवाने के लिए उद्योगों में हड़तालों का आह्वान कराना है और अन्त में आम हड़ताल के द्वारा वे पूंजीवादी उद्योगों के स्वामित्व को समाप्त कर देना चाहते हैं तथापि वे आम हड़ताल से पूर्व उद्योगों के अन्तर्गत श्रमिक संघों को अनेक अन्य साधन अपनाते रहने के परामर्श भी देते है। इन सबका उद्देश्य उद्योगों के अन्दर उत्पादन को अवरुद्ध करना है क्योंकि पूंजीवादी औद्योगिक व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन में होने वाला लाभ पूंजीपति को ही मिलता है। इन अन्य साधनों में से कुछ नैतिक तथा कुछ अनैतिक प्रकृति के है, कुछ अहिंसात्मक है तो कुछ हिंसात्मक भी है। परन्तु श्रमिक संघवादी धारणा नैतिक-अनैतिक अथवा हिंसात्मक अहिंसात्मक की चिन्ता किये बिना अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें औचित्यपूर्ण मानती हैं। ये साधन निम्नांकित है।

तोड़-फोड़

इसका अभिप्राय यह है कि श्रमिक कार्य करता रहेगा, परन्तु कार्य का गुणात्मक स्वरूप अच्छा नहीं होगा और उत्पादित माल खराब होगा। कभी-कभी श्रमिकों को यह प्रेरणा दी जायेगी कि वे मशीन को काम करते-करते खराब कर दें। स्वामी

तो मशीनरी का विशेषज्ञ होगा नहीं । कारखाने की मशीन के पुर्जों को नष्ट करने से उत्पादन अवरुद्ध हो जायेगा । कभी-कभी वे मशीनों में दुर्घटना कर कर कारखाने के संचालन को अवरुद्ध कर देंगे । कभी वे ऐसा भी कर देंगे कि जो कार्य सम्पन्न हो चुका है उसे खराब कर दें । उदाहरणार्थ, कारखाने में कपड़े का उत्पादन हुआ है तो कपड़े के थानों के अन्दर तेजाब की बूंदें डालकर कपड़े को खराब कर देना आदि । तोड़-फोड का एक रूप यह भी हो सकता है कि श्रमिक लोग स्वामी के आदेशो का पालन शब्दशः करें, न की उनकी भावना के अनुसार। उदाहरण के लिए यदि काम की अवधि 10 बजे से 6 बजे तक की है तो ज्यों ही 6 बजते हैं, त्यों ही घण्टे की चोट पर काम बन्द कर दें, भले ही 5 मिनट और काम करके वे अस्त-व्यस्त माल या मशीन के उपकरणो को संभाल देते तो बहुत कुछ क्षति बचायी जा सकती थी । परन्तु इसकी परवाह उन्हें नही रहेगी क्योंकि उनका श्रम समय समाप्त हो चुका है। ऐसे साधनों का उद्देश्य उद्योग के समुचित सचालन को अवरुद्ध करना है।

बहिष्कार

जब स्वामी अपने सेवको को कम वेतन देते हैं, तब बहिष्कार करके श्रमिक उन वस्तुओं का प्रयोग न करके पूजीपतियो को क्षति पहुँचा सकते हैं । यदि उनके दिन वस्तुओ की खपत कम हो जाय तो पूजीपतियो का दीवाला निकल जायेगा।

छाप (लेबल)

लेबल का एक रूप श्रमिकों द्वारा यह व्यक्त किया जाना है कि उद्योग में जो कुछ कार्य उनके द्वारा किया जा रहा है, वह व्यापार संघ की शर्तों के अनुसार किया जा रहा है, न उससे कम और न अधिक । दूसरा रूप यह भी है कि उत्पादित माल में यदि लेबल नहीं लगा है तो श्रमिक उसके उपयोग का बहिष्कार करें। बहुधा स्वामी अपने करो से बचाने के लिए या अधिक लाभ के लालच में उत्पादित माल के कुछ अंश को लेबल लगाये बिना बिक्री के लिए छोड़ देता है । श्रमिक इसे जानते हैं, अतः वे मालिक के इस अतिरिक्त लाभ को अवरुद्ध करने के लिए उसके उपयोग का बहिष्कार करेंगे ।

कंजूसी

यह एक ऐसा साधन है जिसके अनुसार श्रमिकों को यह सुझाव दिया जाता है कि वे न्यूनतम मात्रा में कार्य करें, न कि अपनी पूरी क्षमता तथा कुशलता के साथ

और इसे भी अत्यन्त सावधानी से करें, यह न दर्शायें कि वे कार्य को मन लगाकर नहीं कर रहे है या उसमें अपनी पूरी कुशलता का प्रदर्शन नहीं कर रहे है। इसका एक रूप यह भी हो सकता है कि माना एक बड़ी दुकान में कई श्रमिक बिक्री के काम में लगाये गये है। स्वामी उन्हें समुचित वेतन नहीं देता, परन्तु अत्यधिक कार्य उनसे कराता है।

ये श्रमिक कैंची की युक्ति प्रयुक्त करेंगे कि ग्राहकों को माल के यथार्थ मूल्य का आभास करा देंगे अर्थात् उसके दोषों से ग्राहकों को अवगत करा देंगे ताकि वह माल बिक्री न हो सके और स्वामी अर्थात् उद्योगपति को क्षति पहुँचे।

श्रमिक संघवादी साधनों की समीक्षा

श्रमिक संघवादी निःसन्देह एक समाजवादी विचारधारा है, परन्तु वह अन्य समाजवादी विचारधाराओं, व्यवस्थाओं तथा कार्यक्रमों से भिन्न अपने ही नमूने की है। यद्यपि यह मार्क्सवाद से प्रभावित थी, तथापि इसके साथ मार्क्सवादी न होकर अराजकतावादी अधिक है। परन्तु हड़ताल पर श्रमिक संघवादियों की सर्वाधिक आस्था उन्हें मार्क्सवाद तथा अराजकतावाद दोनों से बहुत दूर रख देती है। श्रमिक-संघवादी नेता तथा दार्शनिक सोरेल के अनुसार हिंसा तथा बलप्रयोग के मध्य भारी विभेद है। हिंसा को हिंसात्मक क्रान्ति के रूप में लेता है। बल-प्रयोग से उनका अभिप्राय ऐसी शक्ति से है, जिसका प्रयोग एक अल्प संख्यक वर्ग द्वारा शासित समाज में किसी सामाजिक व्यवस्था को बलात लादने के उद्देश्य से किया जाता है। इसके विपरीत हिंसात्मक क्रांति का उद्देश्य ऐसी व्यवस्था को नष्ट करना होता है। सोरेल के मत से आधुनिक युग के आरम्भ से ही मध्यम वर्ग ने बलप्रयोग का आश्रय लिया है और उसके द्वारा राज्य की सत्ता को बनाये रखा है। अब सर्वहारा वर्ग को इसकी प्रतिक्रिया के रूप में मध्यवर्ग तथा राज्य दोनों का अन्त करने के लिए विद्रोह करना आवश्यक हो गया है। बल-प्रयोग, भ्रष्टता, तथा विधि विहीनता का द्योतक है, जबकि विद्रोह नम्रता का, क्योंकि इसका प्रयोग श्रमिक वर्ग भ्रष्ट तथा अन्यायी राज्य को नष्ट करने के लिए करता है। अत श्रमिक वर्ग के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह हिंसात्मक क्रान्ति के आदर्शों तथा साधनों को अपनाता रहे।

कोकर के शब्दों में सोरेल आम हड़ताल को तत्वत. मार्क्सवादी साधन मानता है। यद्यपि मार्क्सवादी साधनों के अन्तर्गत इसका उल्लेख नहीं मिलता, तथापि वह उसकी वर्ग-संघर्ष की भावना को अन्य साधनों की तुलना में सर्वाधिक स्पष्टता प्रदान करता है। यह क्रान्ति की भावना को तीव्र करती है और सर्वहारा वर्ग की चेतना

कोकर ने यह भी लिखा है कि श्रमिक संघवादी राजनीतिक सत्ता तथा बल-प्रयोग के विरोधी तो है, परन्तु उनकी व्यवस्था के अन्तर्गत प्रभुसत्ता की धारणा बनी रहेगी जो श्रमिक संघों में निहित होगी। उसमें राज, कुलीन वर्ग तथा जनता प्रभुसत्ता धारण करने वाले नहीं रहेंगे, न कि प्रादेशिक या राष्ट्रीय आधार पर निर्मित राज्य सध्य कोई संस्था। यही संघ अपने अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत अनुशासन तथा व्यवस्था को बनाये रखने के लिए आवश्यकता मात्रा में दमनकारी शक्ति का प्रयोग भी करेंगे। संक्षेप में जैसा कोकर का विचार है कि क्रान्तिकारी श्रमिक संघवाद अराजकतावाद से दो रूपों में कम सत्ता विरोधी है। वह कुछ मात्रा तक राजनीतिक संस्थाओं के उद्योग को स्वीकार करता है, साथ ही कुछ संगठित दमन के लिए भी स्थान देता है। परन्तु अराजकतावाद इन दोनों का विरोधी है। इस दृष्टि से श्रमिक संघवादी व्यवस्था बहुलवादियों की प्रभुसत्ता की धारणा से मिलती-जुलती है।

सोरेल सिद्धान्त में विवाह प्रथा की भी आलोचना मिलती है। वह विवाह को हितों का समझौता कहता है। उसने बताया कि इस प्रकार से शादी-विवाह की संस्था टूट रही है जिसका उदाहरण यह है कि पूंजीवादी देशों में सम्बन्ध-विच्छेद की संख्या बढ़ती ही जा रही है।

यह कहा जा सकता है कि सोरेल का सिद्धान्त एकपक्षीय है, जो केवल सर्वहारा की ओर झुका हुआ है। इस बात को मेयर ने कहा है "औद्योगिक श्रमिकों में जो सामाजिक भिन्नतायें हैं, उसका उसने कम मूल्य आंका है। उसने उस नवीन स्तर का विश्लेषण नहीं किया जो बुर्जुआ और श्रमिक के मध्य में उत्पन्न हुआ है, और जिसने आधुनिक समाज के ढांचे और सतुलन में परिवर्तन ला दिये हैं"।

पेलोतिये

पेलोतिये सम्भवतः सर्वप्रथम व्यक्ति था जिसने श्रमिक-संघवाद के विचार को अपनाया कि फ्रान्सीसी श्रमिकों को अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये समस्त फ्रान्सीसी राष्ट्र से पृथक होकर प्रयत्न करना चाहिए। उसका जन्म एक पूंजीपति परिवार में हुआ था। वह अपने राजनीतिक जीवन के आरम्भ काल में उग्र गणतन्त्रवादी था और उसके पश्चात वह ड्यूरर्दे के समाजवादी गुट का सदस्य बन गया। बाद में सामान्य हड़ताल के प्रश्न पर उस दल से पृथक हो गया। इसके पश्चात् वह अराजकतावादी बाकुनिन के विचारों को अपनाने लगा। श्रमिक विनिमयों को राजनीतिक समाजवादियों के नियंत्रण से पृथक रखने के लिए ही पेलोतिये सन् 1894 में राष्ट्रीय-

संघ के सचिव बना दिये गये और सात वर्ष तक वह पद पर बने रहे। उनके [illegible] वत् कार्यशैली एवं लगन से दल की आशातीत प्रगति हुई। समस्त श्रमिक [illegible] की नीति एवं सिद्धान्त की व्याख्याओं के मूल में यह विचार है कि सर्वहारा वर्ग [illegible] सामाजिक परिवर्तन को चाहता है वह आत्म-परिवर्तन होना चाहिए और [illegible] सामाजिक व्यवस्था का स्थान जो नयी व्यवस्था लेगी, वह उन संस्थाओं के [illegible] होगी जो श्रमिकों द्वारा स्वयं अपने ही प्रयत्न से और सरकार के विरोध की [illegible] करके बनायी जायेगी। इस प्रकार उसने वर्गविहीन एवं राज्य-विहीन समाज [illegible] का चित्र प्रस्तुत किया। वह राज्य को पूंजीपतियों की संस्था मानता है और [illegible] उन्मूलन आवश्यक समझता है। वह उद्योगों के स्वामित्व व्यक्तिगत [illegible] श्रमिकों संघों के हाथ में देना चाहता है। वह उत्पादन और वितरण की [illegible] संघों के हाथ में ही देना चाहता था।

लागेर्ड

लागेर्ड एक अन्य प्रसिद्ध श्रमिकसंघवादी था। वह भी अन्य श्रमिक संघवादियों के समान मार्क्स से प्रभावित था, यद्यपि वह मार्क्स को पूर्ण स्वीकार नहीं [illegible] था। उसने बताया कि मार्क्स श्रमिकों की एकता और सुदृढ़ता के लिए श्रमिक [illegible] ठनों को उचित मानता था और बुर्जआजी और सर्वहारा वर्ग के मध्य संघर्ष [illegible] श्रमिकों की मुक्ति का मार्ग स्वतः प्रशस्त होगा। लेकिन वह मार्क्स के [illegible] द्वारा अंगीकृत आर्थिक और राजनीतिक नियतिवाद को अस्वीकार करता [illegible] वह मार्क्सवादियों की इस मान्यता का खंडन करता था कि उद्योगों और पूंजी [illegible] करण, मध्यवर्ग की घटौती एवं श्रमिकों की आशातीत वृद्धि से स्वतः पूंजीवाद [illegible] विनाश होगा एवं श्रमिकों का समाज पर वर्चस्व आच्छादित हो जायेगा। [illegible] लिए मार्क्सवादियों के अनुसार केवल राज्य को अपने हाथ में लेने की [illegible] है। लागेर्ड इससे सहमत नहीं था। उसका मत था कि समाजवाद को लाने के [illegible] केवल राजनीतिक सत्ता का अधिग्रहण पर्याप्त नहीं है। उसने इतना [illegible] किया कि [illegible] ध्येय प्राप्ति की दशा में एक महत्त्वपूर्ण [illegible] है।

राज्य के सम्बन्ध में लागेर्ड का स्पष्ट मत यह था कि [illegible] है और इसका कोई उपयोग नहीं है। लेकिन इसका उन्मूलन केवल तभी सम्भव है [illegible] इसका स्थान श्रमिक संगठन ले। इसका अर्थ यह निकला कि लागेर्ड के [illegible] [illegible] के पूर्व राजनीतिक [illegible] की कुछ समय के लिए [illegible] है। [illegible] एवं [illegible] श्रमिक संघवादी [illegible]

की रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की, लेकिन फिर भी दाखो तथा पूगे द्वारा लिखित पुस्तको
में भावी संघवादी समाज की एक झांकी मिलती है। समाज की पूर्ण व्यवस्था श्रमिक
संगठनों के हाथो में होगी। उद्योगों के प्रबन्ध के लिए स्थानीय श्रमिक संघ होंगे
समाज की पूर्ण व्यवस्था श्रमिक संगठनों के हाथों में होगी। उद्योगों के प्रबन्ध के
लिये स्थानीय श्रमिक संघ होंगे। समाज की सब से छोटी इकाई के सभी श्रमिक
कर्मचारी सदस्य होंगे।

लेडलर के अनुसार श्रमिक संघवादियों द्वारा जिस नूतन समाज की कल्पना
की गई है उसमें केन्द्रीय राजनीतिक पद्धति का कोई स्थान नहीं होगा तथा उद्योगों
में केन्द्रीकरण की दूषित प्रवृत्तियाँ दूर हो जायेंगी। कोकर के श्रमिक संघवादियों
द्वारा निर्मित समाज की एक झांकी प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि इसमें मुनाफा
खोरों का बहिष्कार किया जायेगा और आलसी व्यक्तियों तथा समाज की नई
व्यवस्था का विरोध करने वालों को निर्वासित कर दिया जायेगा। अपने किसी
सदस्य के मानव विरोधी कार्यों के सम्बन्ध में स्थानीय संघ को अपना निर्णय देने का
अधिकार होगा। वह नैतिक दण्ड की आज्ञा दे सकेगा। वह बहिष्कार के रूप में हो
सकेगी। कुछ विशेष विषयों में अपराधी श्रमिक संघों की सामान्य सभा में प्रस्तुत
किये जा सकेंगे। इसमें निर्वासन दण्ड दिया जा सकता है। किन्तु अभियुक्त को
राष्ट्रीय श्रमिक संघ समक्ष और अंत में जनरल ट्रेड यूनियन कांग्रेस की केन्द्रीय समिति
के समक्ष अपील करने का अधिकार होगा। कुछ घोर अपराधों का निर्णय प्रत्यक्ष
साथियों द्वारा किये गये तात्कालिक न्याय द्वारा किया जाएगा। बंदीगृह, न्यायालय
समाप्त कर दिये जायेंगे क्योंकि अपराध इस कारण बहुत कम हो जायेंगे
दरिद्रता, असमानता तथा पूँजीवाद के दुष्कर्मों से उत्पन्न समाज विरोधी कार्यों
के लिए कोई अवसर नहीं मिलेगा। सामाजिक वातावरण के श्रेष्ठ बन जाने
ऐसे अपराध भी बहुत कम हो जायेंगे जो प्रायः मनोवैज्ञानिक दोषों तथा मानसिक
रोगों के कारण होते हैं।

समाप्त हो जाय और श्रमिकों को उद्योगों में स्वशासन के अधिकार मिल जायें। उसने यह प्रतिपादित किया कि मध्ययुगीन शिल्पकला को पुनर्जीवित किया जाय। यद्यपि आधुनिक उद्योगवाद के दोषों से मना नहीं किया जा सकता था, तथापि पेन्टी द्वारा प्रस्तावित दस्तकारी की योजना को न सम्भव समझा गया और न वाछनीय ही। वह आधुनिक स्थितियों के अनुकूल नहीं थी। पेन्टी के विचारों की ओर ब्रिटेन की जनता आकर्षित अवश्य हुई किन्तु आदर्शात्मक अधिक होने के कारण उसके विचार लोकप्रियता अर्जित न कर सके। पेन्टी के विचार प्रो० जोड के अनुसार श्रेणी समाजवादी प्रचार की कोरी आदर्शवादी अवस्था का प्रतिनिधित्व करते है। वास्तव में यह स्वाभाविक था कि श्रेणी की धारणा को जब तक एक व्यवहारिक रूप नहीं दिया जाता तब तक उसे कार्यान्वित करने की दिशा में कोई पग नहीं उठाये जा सकते थे।

पेन्टी के विचारों को आधुनिक राजनीतिक एवं आर्थिक स्थितियों के अनुकूल बनाने का श्रेय ओरेज के साथ-साथ हाब्सन ने प्राप्त किया। ओरेज व हाब्सन ने नवयुग (New Age) नामक पत्रिका में सन् 1912 में प्रकाशित लेखों में आधुनिक पूंजीवाद व अपने समय के राजकीय समाजवाद के केन्द्रीकरण का विरोध किया और राष्ट्रीय श्रेणियों की विस्तृत योजना प्रस्तुत की, जो कि आधुनिक काल की राजनीतिक और आर्थिक दशाओं के अनुसार निर्मित की गयी। नवयुग में जो लेख-माला प्रकाशित की गयी थी वह आगे चलकर 'राष्ट्रीय श्रेणियाँ—भृत पद्धति तथा इससे मुक्ति पाने के विषय में की जाने वाली गवेषणा' (National Guilds—An Enquiry into the Wage System and the Way Out) नामक पुस्तक के रूप में सन् 1914 में प्रकाशित हुई। श्रेणी सिद्धान्त का एक क्रमबद्ध प्रतिपादन सर्वप्रथम उसी पुस्तक में किया गया और वह पेन्टी की रचना के मध्ययुगीन विचारों से मुक्त थी।

इस आन्दोलन का समर्थन करने के लिए शीघ्र ही अनेक सुयोग्य व्यक्ति सामने आ गये जिसमें सबसे अधिक कर्मठ आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के नवीन स्नातक और ऑक्सफोर्ड के मेगडेलन कालेज के फैलो जी० डी० एच० कोल थे। कोल ने अपनी एक दर्जन पुस्तक-पुस्तिकाओं में श्रेणी समाजवाद के आलोचनात्मक और रचनात्मक विचारों का विस्तृत विवेचन किया और वह श्रेणी समाजवादी आन्दोलन में सबसे प्रसिद्ध तथा प्रभावशाली बन गये। प्रो० आर० एच० टानी, बर्ट्रेंड रसेल और आर० डी० मेजर ने साध्याधिकार के व्यवसायपालक आधार के सिद्धान्त का

प्रतिपादन किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि सम्पत्ति का [illegible] तभी है और उसकी सामाजिक रक्षा का उसी समय तक उचित अधिकार है [illegible] तक वह किसी सामाजिक सेवा से सम्बन्धित है। यह सिद्धान्त हॉब्सन [illegible] के बाद के सिद्धान्तों का मुख्य सिद्धान्त बन गया।

सन् 1915 तक श्रेणी अथवा श्रेणी आन्दोलन ने कोई संगठित [illegible] नहीं किया। इस समय तक प्रचार करने एवं श्रेणियों को संगठित करने के [illegible] स्थायी संस्था नहीं थी। इसका एक प्रमुख कारण यह था कि ओरेज किसी भी [illegible] की संस्था स्थापित करने का विरोधी था। वह यह चाहता था कि श्रेणियों [illegible] धारणा का प्रसार शनैः शनैः उसके साप्ताहिक पत्र के माध्यम से ही हो, किन्तु [illegible] विरोध को अन्ततः परास्त किया गया और ऑक्सफोर्ड के दो विद्वान् [illegible] तथा मॉरिस रेकिट ने जिन्होंने कोल के साथ सन् 1915 में श्रेणी समाजवादी [illegible] धारा को अपनाया था तथा अन्य व्यक्तियों ने एक राष्ट्रीय-श्रेणी-संघ [illegible] किया जो श्रेणी समाजवादी प्रचार का एक मुख्य केन्द्र बन गया। इस [illegible] संघ के लक्ष्य ये थे—(1) मजदूरी पद्धति का उन्मूलन, (2) राज्य के [illegible] करते हुए उद्योगों में श्रेणियों द्वारा स्वशासन की स्थापना। प्रारम्भ में [illegible] तन्त्रात्मक राज्य में विश्वास था, किन्तु सन् 1920 में 'राज्य' को हटाकर [illegible] पर 'देश' में नये जनतन्त्रात्मक व्यावसायिक संगठन की स्थापना का ध्येय [illegible] इस संघ के सदस्य तो अल्पसंख्या में थे लेकिन अपने 6 वर्षों के [illegible] में भी यह बड़ा कार्यशील एवं प्रभावशाली रहा। इसके सदस्यों में [illegible] प्रतिभाशाली लेखकों और व्यक्तियों की थी जिनमें प्रमुख हैं—टॉनी, [illegible] फार्ड, जार्ज लांसबरी और कोल तथा उनके दो मित्र मेलॉर तथा मॉरिस [illegible] इस संघ ने अनेक उच्च कोटि की पुस्तक-पुस्तिकायें प्रकाशित की और [illegible] 'श्रेणी मनुष्य' (Guilds Man) नामक एक मासिक पत्र [illegible] नाम बाद में 'श्रेणी समाजवाद' हो गया। युद्ध काल और उसके बाद [illegible] श्रेणी समाजवादी विचारों के प्रसार के लिए बड़ा उपयुक्त सिद्ध हुआ।

सन् 1919 में [illegible] औद्योगिक अवस्थाओं को देखकर [illegible]

बाद में राष्ट्रीय सरकार ने किये थे वे पर्याप्त सिद्ध नहीं हुए। ऐसी स्थिति में भवन-निर्माण करने वाले श्रमिकों ने कहा कि यदि उन्हें स्थायी रोजगार और नियमित वेतन का आश्वासन दे दिया जाय तो वे बहुत सस्ते और सुदृढ़ मकान कम वेतन पर बना सकते हैं। अतः सन् 1920 के आरम्भ में मैनचेस्टर जिले के अनेक भवन-निर्माण सम्बन्धी श्रमिक संघों ने एक भवन निर्माणकारी संघ स्थापित किया। हाब्सन इस श्रेणी अथवा संघ का सचिव बना। इन श्रेणियों ने लगभग 22 नगरों में अधिकारियों से ठेके लिये और दस हजार मकानों का निर्माण हुआ। ये मकान लागत में उन मकानों से सस्ते थे जो व्यक्तिगत ठेकेदारों से बनवाये जाते थे और सभी लोग उन्हें अच्छा समझते थे लेकिन शीघ्र ही किसी कारण सरकार ने आर्थिक सहायता देना बन्द कर दिया जिससे इस आन्दोलन को बड़ा आघात लगा। मजदूरी में कमी और बेकारी में वृद्धि होने से 6 महीने में ही भवन-निर्माण संघ समाप्त हो गया तथा श्रेणी समाजवाद के सम्पूर्ण संगठित आन्दोलन का अन्त हो गया। राष्ट्रीय श्रेणी संघ सन् 1925 में भंग कर दिया गया और कोल भी श्रेणी समाजवाद की अपेक्षा अन्य बातों की ओर अधिक ध्यान देने लगा। दूसरे लोग भी अन्य कार्यों में लग गये। सोवियत संघ की क्रान्ति के एक मतभेद तथा अन्य बातों ने भी श्रेणी समाजवादी आन्दोलन के विघटन में पर्याप्त योगदान दिया। सन् 1925 के बाद से लन्दन में कोई श्रेणी समाजवादी आन्दोलन नहीं हुआ है। यद्यपि इसकी कुछ धारणाओं, जैसे कि समाजवाद की बहुलवादी धारणा और व्यावसायिक जनतन्त्र का सिद्धान्त, को आज भी ब्रिटिश सामाजिक चिन्तन में समर्थन प्राप्त हो जाता है।

श्रेणी समाजवादियों द्वारा वर्तमान समाज की आलोचना

श्रेणी समाजवादियों ने जिन आधारों पर वर्तमान समाज की आलोचना की है, वे निम्नलिखित हैं जो कि परम्परागत समाजवादियों के समान ही हैं।

आर्थिक दृष्टिकोण से वर्तमान समाज की आलोचना करते हुए श्रेणी समाजवादी यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि वस्तुओं का मूल्य प्रधानतया श्रेणी पर निर्भर है, जबकि श्रमिक का वेतन उसके भरण-पोषण के व्यय पर निर्भर करता है और मूल्यों का अधिक भाग, जिसे वह उत्पन्न करता है, भूस्वामियों, उद्योगपतियों तथा पूंजीपतियों की जेबों में जाता है। अतः यह उचित है कि या तो वर्तमान वेतन प्रणाली को समाप्त कर दिया जाय अथवा वेतन, लाभ, ब्याज और क्रिया का विभाजन किसी भिन्न सिद्धान्त के आधार पर किया जाय। श्रेणी समाजवाद की मान्यता है कि शिक्षा और अनुभव ने श्रमिकों में यह ज्ञान जागृत कर दिया है कि उनकी जीविका

पूंजीपतियों के लिए अपरमित लाभ अर्जन करने पर आवश्यक एवं स्थायी रूप से निर्भर नहीं है। परिणामस्वरूप श्रमिकों में एक ओर तो उत्पादन के लिए प्रोत्साहन कम हो जाता है, तो दूसरी ओर हड़तालें होती हैं, परिश्रम एवं लगन में कमी होने लगती है और उत्पादन निरन्तर संदिग्ध बना रहता है।

श्रेणी समाजवाद की आलोचना आर्थिक दृष्टिकोण की अपेक्षा नैतिक एवं मनोवैज्ञानिक तर्कों में विशिष्टता लिए हुए है। उनका मत है कि पूंजीवादी प्रणाली में श्रमिकों के व्यक्तित्व, उनकी भावनाओं और उनकी कलात्मकता का कोई ध्यान नहीं रखाजाता है। आधुनिक औद्योगिक प्रणाली उनके मानवीय गुणों को नष्ट कर देती है और उनका अमानवीयकरण कर देती है। एक ही प्रकार का कार्य करते करते उनका जीवन नीरसता से भर उठता है। वास्तव में निर्बलता मुख्यतया इस बात में मानते हैं कि उसके आर्थिक जीवन का संपूर्ण सगठन कार्य सम्पादन के सिद्धान्त पर आधारित न होकर सम्पत्ति के प्राप्ति के सिद्धान्त पर आश्रित है। श्रेणी समाजवाद के लिए प्रमुख आर्थिक समस्या कला या कारीगरी की भावना के पुनर्स्थापन का मार्ग खोज निकालने की है तथा एक ऐसी प्रणाली स्थापित करने की है जिससे श्रमिकों में केवल दक्षता का ही विकास न हो, वरन् उन्हें अपने कार्य के गौरव का भी अनुभव हो और केवल अपने उपार्जित धन की राशि में ही रुचि न हो, वरन् अपने उत्पादन के रूप और गुण में भी रुचि हो। यह उल्लेखनीय है कि रस्किन, टामस, कारलाइल तथा विलियम मौरिस जैसे लेखक औद्योगिक प्रणाली की पहले से ही इस आधार पर भर्त्सना कर चुके थे कि मशीन द्वारा उत्पादन में नीरसता और भद्दापन होता है। आधुनिक औद्योगिक प्रणाली की श्रेणी समाजवादियों द्वारा निन्दा में उनका प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

उद्योग के राज्य द्वारा प्रबन्ध तथा नियन्त्रण पर भी श्रेणी समाजवादियों की आस्था नहीं है और वे इस पर प्रहार करते हैं। इस प्रहार का आधार इस भय में कहीं अधिक गहरा है कि हो सकता है कि एक सरकारी कर्मचारी के आधीन श्रमिकों की दशा उससे श्रेष्ठतर नहीं हो, जैसी कि उसकी व्यक्तिगत पूंजीपतियों की आधीनता में होती है। उद्योग पर राज्य द्वारा प्रबन्ध में अनास्था का श्रोत समाज के वर्तमान राजनीतिक ढांचे में अविश्वास है। श्रेणी समाजवाद आर्थिक समानता के अभाव में राजनीतिक जनतंत्र को केवल एक धोखा समझता है। इस मार्क्सवादी सिद्धान्त में विश्वास करते हुए कि आर्थिक नीति राजनीति से पहले आती है वे उद्योग पर राज्य के नियन्त्रण का विरोध और श्रमिकों के नियंत्रण का समर्थन करते हैं।

श्रेणी समाजवादी राजनीतिक जनतंत्र को धोखा इसलिए समझते हैं, क्योंकि राजनीतिक जनतंत्र सारे मनुष्यों को स्वयं अपने शासन करने की सुरक्षा प्रदान नहीं करता। वह केवल इस बात की सुरक्षा देती है कि अपने शासकों को निर्वाचित कर सकें और वह भी केवल राजनीतिक क्षेत्र में। लेकिन इस सीमित क्षेत्र में भी प्रतिनिधि निर्वाचन की प्रणाली अजनतान्त्रिक है। प्रतिनिधियों का निर्वाचन अनेक प्रकार के विभिन्न उद्देश्यों के प्रतिनिधित्व की दृष्टि से किया जाता है, जबकि वास्तविकता यह होती है कि वे केवल कुछ ही उद्देश्यों का प्रतिनिधित्व करने योग्य होते हैं। कोई भी व्यक्ति किसी भौगोलिक प्रदेश में रहने वाले बहुत से व्यक्तियों के सारे हितों का सच्चा प्रतिनिधि नहीं हो सकता। वे इस बात को केवल ऊपरी दिखावा तथा धोखा समझते हैं कि एक स्थान का रहने वाला व्यक्ति अपने प्रदेश के रहने वाले सब व्यक्तियों के सब प्रकार के हितों को पहिचान सकता है और संसद में उनकी रक्षा कर सकता है। प्रादेशिक आधार पर निर्वाचित प्रतिनिधियों को ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्नों के निर्णय का अधिकार दे दिया जाता है, जिनका प्रादेशिक प्रश्नों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ, वे उत्पादनकर्ताओं और उपभोक्ताओं, सामन्तों और कृषकों, उद्योगपतियों और श्रमिकों के वाद-विवाद का ही निर्णय करते हैं, जबकि किसी भी दिशा में यह वर्ग भिन्न भिन्न प्रदेशों में विभक्त नहीं है। मताधिकार तथा मनोनीत करने की पद्धति कितनी ही जनतान्त्रिक क्यों न हो, जहाँ तक हमारे राजनीतिक शासक हमारे उन हितों की व्याख्या करते हैं, जो प्रादेशिक न हों, वहाँ तक हमारा राजनीतिक विधान अजनतांत्रिक है। श्रेणी समाजवादियों का मत है कि सच्चा प्रतिनिधित्व सदैव विशिष्ट और व्यावसायिक हो सकता है। वह सामान्य क्षेत्रीय तथा वर्ग समावेशिक कभी नहीं हो सकता। उनके अनुसार गलत प्रतिनिधित्व करने का सबसे स्पष्ट उदाहरण सर्वशक्तिमान ब्रिटिश संसद में मिलता है, जो समस्त नागरिकों का समस्त बातों में प्रतिनिधित्व करने का दावा करती है, लेकिन परिणामस्वरूप किसी भी व्यक्ति का किसी भी विषय में प्रतिनिधित्व नहीं कर पाती। श्रेणी समाजवादी इस आधार पर आधुनिक राजनीतिक जनतन्त्र की कटु आलोचना करते हैं कि श्रमिकों को उनके कार्य की अवस्थाओं का निर्णय करना कार्य में भाग दिलवाने की सुरक्षा का दावा नहीं करता, वरन् वह तो इसके सर्वथा विपरीत कार्य करता है। परम्परागत सामाजिक अधिकारों की सुरक्षा देकर यह उस स्वेच्छापूर्ण नियन्त्रण की रक्षा करता है, जो मशीन के स्वामी उन अवस्थाओं पर रखते, जिनमें श्रमिक उनका प्रयोग कर सकते हैं या जो भूमि के स्वामी उन अवस्थाओं पर रखते हैं जिनमें

किसी भी भाँति निर्वाचकों का सही प्रतिनिधित्व नहीं कर सकते। अतएव राष्ट्रीय संसद में प्रतिनिधित्व का स्वरूप व्यवसायगत होना चाहिए, न कि प्रादेशिक। इस व्यावसायिक ढंग से निर्वाचित विविध प्रकार के संघों के सहयोग से औद्योगिक श्रेणियाँ, आर्थिक कार्यकलापों का संचालन करेंगी। समाज के संचालन में विविध व्यक्तियों तथा संघों द्वारा जो सेवायें अर्जित की जाती हैं, उनकी शक्ति तथा उनके उत्तरदायित्व का भाग भी उनके द्वारा सम्पन्न की गयी सेवाओं का समानुपाती होना चाहिए।

व्यावसायिक प्रतिनिधित्व

वर्तमान समाज के राजनीतिक संगठन की श्रेणी समाजवादियों ने कटु आलोचना की है। आज विश्व में सर्वाधिक लोकप्रिय राजनीतिक संगठन है जनतंत्र। इसे श्रेणी समाजवादी धोखा कहते हैं, क्योंकि जनतंत्र सम्पूर्ण मनुष्यों का शासन करने का कोई आश्वासन नहीं देता। इसमें मनुष्यों के विभिन्न हितों का ठीक ठीक प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। प्रतिनिधियों का निर्वाचन प्रादेशिक आधार पर होता है। कोई भी व्यक्ति किसी भौगोलिक प्रदेश में रहने वाले बहुत से व्यक्तियों का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। एक क्षेत्र में कई लाख मतदाता रहते हैं। इनमें श्रमिक, कृषक, वकील, जुलाहे, कारीगर अभियन्ता, डाक्टर, अध्यापक, विद्यार्थी, व्यापारी आदि होते हैं। इन सबका तथा विभिन्न प्रकार के व्यवसाय करने वालों का एक ही व्यक्ति प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ मोहन एक डाक्टर है, मोहन एक वकील है, तो मोहन डाक्टरी व्यवसाय का अच्छा प्रतिनिधित्व कर सकता है, किन्तु उसे कहा जाय कि वकील, अध्यापक कृषक आदि का प्रतिनिधित्व करे, तो यह एक उपहास है। आज के जनतंत्र में यही होता है। कानपुर के एक निर्वाचन क्षेत्र में, जहाँ श्रमिकों का बाहुल्य है, एक पूँजीपति निर्वाचित हो जाता है। क्या हम उससे यह अपेक्षा कर सकते हैं कि संसद में वह पूँजीपतियों के विरुद्ध मत देगा। स्पष्ट है कि पहले वह अपने हितों तथा व्यवसाय की ओर ध्यान देगा और बाद में जहाँ से वह चुना गया है, वहाँ के लोगों का। श्रेणी समाजवादियों का कहना है कि जब एक व्यक्ति दूसरों के हितों से परिचित नहीं है और न उनकी समस्याओं को जानता है, तब हम यह कैसे अपेक्षा कर सकते हैं कि वह उस क्षेत्र में रहने वाले लाखों व्यक्तियों की इच्छाओं का सही-सही प्रतिनिधित्व करेगा। अतएव मताधिकार प्रणाली उचित नहीं है। श्रेणी समाजवादियों के मतानुसार सच्चा प्रतिनिधित्व सदैव विशिष्ट और व्यावसायिक ही हो सकता है, न कि क्षेत्रीय या प्रादेशिक। श्रेणी समाजवादियों का कथन है

कि प्रादेशिक या भौगोलिक प्रतिनिधित्व के स्थान पर विभिन्न व्यवसायों और उद्योगों जैसे व्यापार, कृषि, मशीन, उद्योग आदि का प्रतिनिधित्व हो। सच्चा जनतंत्र तभी स्थापित हो सकता है, जब संसद में विभिन्न व्यवसायों का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति पहुँच जाये। इसके लिए समाज को व्यावसायिक आधार पर संगठित करना चाहिए और सामान्य हितों वाले प्रत्येक समूह विशेष के लिए एक अलग प्रतिनिधि संस्था होनी चाहिए। प्रो० जोड के शब्दों में एक जनतंत्रीय समाज व्यावसायिक प्रतिनिधि संस्थाओं का एक सामञ्जस्य-बद्ध संगठन है, जिसमें से प्रत्येक अपने सदस्यों के सामान्य उद्देश्यों और इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करता है। इसे व्यावसायिक जनतन्त्र कहा जा सकता है। इस प्रकार व्यावसायिक जनतन्त्र वह है जिसमें राजनीतिक समाज के प्रतिनिधित्व का रूप विभिन्न व्यवसायों के आधार पर हो।

व्यावसायिक जनतन्त्र की संरचना

व्यावसायिक जनतन्त्र की व्यवस्था के अन्तर्गत सदस्यों के हितों को श्रेणी समाजवादी विचारक तीन वर्गों में रखते हैं:—प्रथम, सभी व्यक्तियों के कुछ राजनीतिक हित होते हैं जो उनके एक ही देश के निवासी होने के नाते सबके लिए समान हैं, यथा कानून, कर-व्यवस्था, वैदेशिक आक्रमणों के विरुद्ध प्रतिरक्षा, शिक्षा का एक निश्चित मानदण्ड बनाये रखना, आदि। उन्हें सम्पूर्ण जनता के राष्ट्रीय महत्व के विषय कहा जा सकता है, क्योंकि इनके सम्बन्ध में किसी निश्चित प्रदेश में एक राष्ट्र के रूप में निवास करने वाले सभी व्यक्तियों के हित एक से होते हैं। इनका प्रतिनिधित्व आधुनिक ढंग की राष्ट्रीय संसदें कर सकती हैं। द्वितीय, राष्ट्र के विभिन्न स्थानीय क्षेत्रों में निवास करने वाली जनता की कुछ सामूहिक हित या आवश्यकतायें होती हैं, यथा गैस तथा जल की आपूर्ति, स्वास्थ्य, रक्षा तथा स्वच्छता बनाये रखने के लिए पुलिस, अन्य स्थानीय सुविधायें आदि। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्थानीय निकायें समुचित सिद्ध हो सकते है। तृतीय, उत्पादन की समस्या है। इस विषय पर श्रेणी समाजवादी निवर्तमान प्रणाली के विरोधी हैं और उत्पादन प्रणाली के अतर्गत भी प्रतिनिधित्व के स्वरूप को परिवर्तित करना चाहते हैं। उत्पादन का सम्बन्ध उत्पादको तथा उपभोक्ताओ दोनो के साथ होता है, अत उत्पादन सस्थाओ में दोनों वर्गों के हितों का समुचित प्रतिनिधित्व होना आवश्यक है। उद्योगों मे कार्य करने वाले विविध प्रकार के श्रमिकों की स्थिति, श्रम की परिस्थितियाँ, श्रम की अवधि, पारिश्रमिक, उत्पादन के गुणात्मक तथा परिमाणात्मक स्वरूप के निर्धारण सम्बन्धी समस्याओ का प्रतिनिधित्व, कारखाने

हितों का सम्पादन करने में पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त रहे। ऐसा समाज विविध स्वायत्तशासी निकायों का श्रेणियों का जाल बन जायेगा, जिसके अंतर्गत व्यक्तियों के विविध हितों को उनकी इच्छा के अनुसार सम्पादित करने के लिए नाना प्रकार के प्रतिनिध्यात्मक निकाय होंगे। ये निकाय स्थानीय, क्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न स्तरों पर पृथक तथा उच्चस्तरीय क्रम से भी निर्मित हो सकते हैं। इस दृष्टि से श्रेणी समाजवाद विकेन्द्रीकरण की धारणा का पोषक है। श्रेणी समाजवादियों की धारणा यह है कि सर्व प्रथम व्यावसायिक जनतंत्र की पद्धति को अधिक क्षेत्रों में क्रियान्वित किया जाना चाहिए अर्थात् उद्योगों में जब यह सफल सिद्ध हो जायेगा, तो सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में भी यह सुगमता के साथ सम्भव हो सकेगी।

उद्योग के क्षेत्र में श्रेणी समाजवादी व्यवस्था

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में मार्क्स के विचारों से प्रभावित होकर समष्टिवादियों ने राज्य की सत्ता के माध्यम से समाजवाद की स्थापना किये जाने और जनतंत्रों तथा वैधानिक साधनों से समाजवादी कार्यक्रम क्रियान्वित करने के विचार रखे थे। दूसरी ओर श्रमिक संघवादी राज्य विरोधी थे और वे समाज की सम्पूर्ण सत्ता को विभिन्न व्यावसायिक संघों को प्रदान करना चाहते थे क्योंकि वे आर्थिक उत्पादन में लगे श्रमिकों को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान करते थे। इसके निमित्त उन्होंने पूंजीवाद तथा राज्य के विनाश के लिए हिंसात्मक साधनों का समर्थन किया था। उनका कार्यक्रम यह स्पष्ट करता है कि वे एक ऐसी संगठित अराजकतावादी व्यवस्था की कल्पना करते थे जिसके अन्तर्गत विभिन्न उद्योगों से सम्बद्ध व्यावसायिक संघ अपने अपने क्षेत्रों में पूर्ण स्वतंत्र रहें। समष्टिवाद और श्रमिक संघवाद दोनों ही पूंजीवाद के विरोधी हैं, परन्तु दोनों के साधनों में विभेद है। समष्टिवाद राज्य को आवश्यक मानता है, तो श्रमिक संघवाद उसका विनाश चाहता है। श्रेणी समाजवाद इन दोनों के मध्य की स्थिति बनाये रखने का आकांक्षी है। इसका मत है कि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व राज्य के हाथ में रहना चाहिए परन्तु उत्पादन के कार्य का नियन्त्रण श्रेणी के द्वारा किया जाना चाहिए। श्रमिक संघवादियों की भांति श्रेणी समाजवादी भी उद्योगों का पूर्ण नियन्त्रण सम्बद्ध उद्योगों में लगे श्रमिकों की श्रेणी के हाथ में रखना चाहते हैं, न कि उद्योग के साधनों के स्वामियों के हाथ में, परन्तु समष्टिवाद की भांति वे वितरण व्यवस्था में समाज का सहचर भी आवश्यक मानते हैं। श्रेणी समाजवाद दोनों के मध्य का मार्ग निम

व्यक्तियो के समूह को किसी नेता या अधिकारी के संरक्षण के अधीन कार्य करना पडता है, उस व्यक्ति समूह को उस अधिकारी व नेता का चयन करने का अधिकार हो और प्रत्येक समिति की नियुक्ति उन कर्मचारियो द्वारा की जाये जो इसके आधीन कार्य करें। अपनी रचना "उद्योग में स्वायत्तता" मे उन्होने लिखा है कि प्रत्येक कारखाने के लिए एक समिति होगी जिसका निर्वाचन दुकान अथवा कारखाने के सभी कर्मचारी करेंगे। समिति का कार्य नियम बनाने और उस पर होने वाले अमल का निरीक्षण करने मे दुकान की क्षमता और उसके हितो की देख-रेख करना होगा। एक ही प्रकार के कारखानो के लिए प्रत्येक स्थान मे एक कारखाना समिति होगी जिसमे कुछ तो प्रत्येक कारखाने के प्रतिनिध होंगे जिनका निर्वाचन कारखाना समितिया करेंगी और कुछ प्रत्येक दस्तकारी के प्रतिनिधि होंगे, जिनका निर्वाचन उस जिले के विविध शिल्पो मे भाग लेने वाले करेंगे। इसका कार्य उस जिले मे उन पारस्परिक सम्बन्धो का निर्णय करना, और स्थानीय सार्वजनिक अधिकारियो से सम्बन्ध स्थापित करना होगा। प्रत्येक उद्योग मे दो राष्ट्रीय श्रेणी संस्थायें होगी। एक सभी प्रतिनिधियो की साधारण सभा, जो श्रेणी की सामान्य नीति का निर्धारण करेगी, और एक कार्यकारिणी समिति होगी, जो श्रेणी के महासचिव को मनोनीत करेगी और इसका कार्य माग तथा पूर्ति मे उचित सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आवश्यक आंकडे सम्बन्धी होगा। अत मे कारखाना समिति द्वारा नियुक्त कारखाना विशेषज्ञ होगा, जिला समिति द्वारा नियुक्त जिला विशेषज्ञ और राष्ट्रीय समिति द्वारा नियुक्त राष्ट्रीय और भ्रमणशील विशेषज्ञ होंगे।

समाज मे प्रत्येक आवश्यक सेवा को एक राष्ट्रीय श्रेणी के रूप मे सगठित किया जायेगा। इस राष्ट्रीय श्रेणी के विधान मे उस सेवा मे भाग लेने वाले श्रमिको के आवश्यक हित निहित होंगे। लेकिन विविध राष्ट्रीय श्रेणियो के लिए निर्मित यह योजना विभिन्न आर्थिक समुदायो की अन्योन्याश्रितता अपना पारस्परिक निर्भरता जनित समस्याओ के समाधान के लिए कोई योजना प्रस्तुत नही करती। रेल तथा अन्य निर्माण करने वाले उद्योग प्रत्यक्ष ही लोहा, इस्पात और कोयला साधनो पर निर्भर होते है। इस पारस्परिक निर्भरता के कारण सामन्जस्य की कठिन समस्याएं उत्पन्न हो जाती है। इनके श्रेणी दूतो के आदान प्रदान, विशेष सम्मिलित समितियो की स्थापना और अत मे समस्त राष्ट्रीय श्रेणियो का प्रतिनिधित्व करने वाले राष्ट्रीय औद्योगिक श्रेणी के द्वारा सुलझाया जायगा। कोल के शब्दो मे यह सस्था श्रेणी प्रणाली की उसके औद्योगिक पक्ष मे अन्तिम प्रतिनिधि होगी और उसका प्रमुख कार्य श्रेणी सगठन तथा व्यवहार के आवश्यक सिद्धान्तो का निश्चय करना

कारण श्रेणी समाजवादी श्रमिक संघीय नीति के विरोधी हैं। श्रमिक-संघों का सगठन भी उद्योगों में लगे समस्त श्रमिकों के द्वारा होता है। परन्तु श्रमिक संघ मुख्यतया श्रमिकों की वेतनवृद्धि, काम के घंटों का कम करना, तथा उद्योग के सचालन में संघ के अधिकाधिक नियंत्रण की माग पर ही जोर देते हैं। इस प्रकार श्रमिक संघों को उद्योग में प्रशासनिक नियंत्रण का भाग अधिकाधिक प्राप्त हो जायेगा। परन्तु उद्योग में श्रमिकों को नियुक्त करने वाले उद्योगपतियों के रहते हुए श्रमिक संघ के नियंत्रण का स्वरूप निषेधात्मक ही बना रहेगा। प्रो० जोड ने इसके स्वरूप के विषय में कहा है कि यह इस प्रकार से व्यक्त होगा रहेगा कि अमुक कार्य न किया जाये या यह कार्य अमुक ढग से न किया जायेगा। इसके विपरीत श्रेणी समाजवादी व्यवस्था के अंतर्गत उद्योग का नियंत्रण श्रेणियों के हाथ में रखने का उद्देश्य यह है कि श्रेणियाँ केवल मात्र उनके सदस्यों के वेतन वृद्धि या अन्य मांगों तक ही अपना आन्दोलन सीमित नहीं रखेंगी। उनका प्रमुख उद्देश्य उद्योग का सुधार करना होगा, जिसके निमित्त वे स्वयं उद्योग के अंतर्गत श्रमिकों तथा अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति, उत्पादन की नीतियों के निर्माण, उद्योग के प्रशासन आदि सभी कार्यों को करेंगी। अतः उनका नियंत्रण विध्यात्मक प्रवृत्ति का होगा। अतः संघों का संगठन संघर्ष के उद्देश्य से एक संघर्षरत समाज के रूप में होता है, जबकि श्रेणी का संगठन एक मित्रतापूर्ण समाज में शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए किया जाता है।

श्रेणी संगठन

कोल और हाब्सन ने श्रेणियों की आन्तरिक रचना के विषय में विस्तारपूर्वक लिखा है और दिखाया है कि श्रेणियों का संगठन आंतरिक क्षेत्र में जनतंत्रात्मक होगा तथा बाह्य क्षेत्र में स्वाधीन। प्रत्येक श्रेणी सभा का सगठन इस भांति होगा कि एक ओर तो राष्ट्रीय स्तर पर उत्पादन का आवश्यक एकीकरण और समन्वय हो सके और दूसरी ओर विविध स्थानों और व्यवसायों में उचित भेद हों, उनकी रक्षा हो सके तथा व्यक्तिगत पहलू के लिए और आत्म अभिव्यक्ति के लिए प्रोत्साहन मिल सके। अधिकांश विचारकों के अनुसार श्रेणी स्वयं ही सदस्यता की शर्तें निश्चित करेगी, अधिकारियों का चयन करेगी और विभिन्न पदों के अधिकारों का निर्धारण करेगी। कोई भी सदस्य अकारण निकाला नहीं जायगा और इसका निर्णय भी बहुमत से होगा। स्थानीय श्रेणियों के निर्णयों के विरुद्ध राष्ट्रीय श्रेणियों के सामने अपीलें जा सकेंगी। प्रो० कोल का यह मत है कि जहाँ कहीं कुछ

व्यक्तियो के समूह को किसी नेता या अधिकारी के संरक्षण के आधीन कार्य करना पड़ता है, उस व्यक्ति समूह को उस अधिकारी व नेता का चयन करने का अधिकार हो और प्रत्येक समिति की नियुक्ति उन कर्मचारियो द्वारा की जाये जो इसके आधीन कार्य करें। अपनी रचना "उद्योग में स्वायत्तता" मे उन्होने लिखा है कि प्रत्येक कारखाने के लिए एक समिति होगी जिसका निर्वाचन दुकान अथवा कारखाने के सभी कर्मचारी करेंगे। समिति का कार्य नियम बनाने और उस पर होने वाले अमल का निरीक्षण करने मे दुकान की क्षमता और उसके हितो की देख-रेख करना होगा। एक ही प्रकार के कारखानो के लिए प्रत्येक स्थान मे एक कारखाना समित होगी जिसमे कुछ तो प्रत्येक कारखाने के प्रतिनिध होंगे जिनका निर्वाचन कारखाना समितिया करेंगी और कुछ प्रत्येक दस्तकारी के प्रतिनिधि होगे, जिनका निर्वाचन उस जिले के विविध शिल्पो मे भाग लेने वाले करेंगे। इसका कार्य उस जिले मे उस पारस्परिक सम्बन्धो का निर्णय करना, और स्थानीय सार्वजनिक अधिकारियो से सम्बन्ध स्थापित करना होगा। प्रत्येक उद्योग में दो राष्ट्रीय श्रेणी संस्थायें होंगी। एक सभी प्रतिनिधियो की साधारण सभा, जो श्रेणी की सामान्य नीति का निर्धारण करेगी, और एक कार्यकारिणी समिति होगी, जो श्रेणी के महासचिव को मनोनीत करेगी और इसका कार्य माग तथा पूर्ति मे उचित सम्बन्ध स्थापित करने के लिए आवश्यक आँकडे सम्बन्धी होगा। अत मे कारखाना समिति द्वारा नियुक्त कारखाना विशेषज्ञ होगा, जिला समिति द्वारा नियुक्त जिला विशेषज्ञ और राष्ट्रीय समिति द्वारा नियुक्त राष्ट्रीय और भ्रमणशील विशेषज्ञ होगे।

समाज मे प्रत्येक आवश्यक सेवा को एक राष्ट्रीय श्रेणी के रूप मे संगठित किया जायेगा। इस राष्ट्रीय श्रेणी के विधान मे उस सेवा मे भाग लेने वाले श्रमिको के आवश्यक हित निमित होगे। लेकिन विविध राष्ट्रीय श्रेणियो के लिए निमित यह योजना विभिन्न आर्थिक समुदायो की अन्योन्याश्रितता अथवा पारस्परिक निर्भरता जनित समस्याओ के समाधान के लिए कोई योजना प्रस्तुत नही करती। रेल तथा अन्य निर्माण करने वाले उद्योग प्रत्यक्ष ही लोहा, इस्पात और कोयला साधनो पर निर्भर होते है। इस पारस्परिक निर्भरता के कारण सामन्जस्य की कठिन समस्याएं उत्पन्न हो जाती है। इनके श्रेणी दूतो के आदान प्रदान, विशेष सम्मिलित समितियो की स्थापना और अत मे समस्त राष्ट्रीय श्रेणियो का प्रतिनिधित्व करने वाले राष्ट्रीय औद्योगिक श्रेणी के द्वारा सुलझाया जायगा। कोल के शब्दो मे यह सदस्य श्रेणी प्रणाली की उसके औद्योगिक पक्ष मे अन्तिम प्रतिनिधि होगी और उसका प्रमुख कार्य श्रेणी संगठन तथा व्यवहार के आवश्यक सिद्धान्तो का निश्चय करना

और उनकी व्यवस्था करना होगा। जिन विषयों में केन्द्रीय समन्वय की आवश्यकता होगी, उनमें यह मामलों में श्रेणी निष्पादिका का कार्य करेगी और वह स्वयं अन्य किसी संस्था के द्वारा विशुद्ध श्रेणी सम्बन्धी प्रश्नों के निर्णय के लिए अंतिम अपील का न्यायालय होगी। अपने बाह्य सम्बन्धों में यह समस्त श्रेणी के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करेगी। उसका एक कार्य श्रेणियों की पारस्परिक कठिनाइयों एवं विवादों के सम्बन्ध में निर्णय करना होगा। स्थानीय श्रेणी परिषदें ऐसे प्रश्नों के सम्बन्ध में प्रथम न्यायालय होंगी। किन्तु उसका सबसे महत्वपूर्ण आन्तरिक कार्य सामान्य सिद्धान्तों का निर्माण करना होगा जिसके अनुसार प्रत्येक श्रेणी को कार्य करना होगा। यह श्रेणियों के सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति में होने वाले व्यय के लिए विभिन्न श्रेणियों पर कर लगायेगी और समस्त समाज के लिए महत्वपूर्ण विषयों में यह उपभोक्ताओं के दृष्टिकोण के प्रतिनिधियों से वार्ता करते समय उत्पादनकर्ताओं के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करेगी।

श्रेणी समाजवादी भावी समाज के उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करने के लिए सहकारी समितियाँ भी होंगी और उनका सृजन भी श्रेणियों की भांति ही स्थानीय, प्रादेशिक और राष्ट्रीय आधार पर होगा। स्थानीय उपभोक्ता समितियाँ खाद्य सामग्री, कागज, जूता, तेल आदि का नियन्त्रण करेंगी। प्रादेशिक उपभोक्ता समितियों का निर्माण स्थानीय उपभोक्ता समितियों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा होगा और इनका नियंत्रण कार्य प्रकाश, शिक्षा तथा यातायात सचार आदि पर होगा। उत्पादक श्रेणी के समान राष्ट्रीय उपभोक्ता समिति का निर्माण प्रादेशिक उपभोक्ता समितियों के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों से होगा। राष्ट्रीय समिति का नियत्रण कार्य शिक्षा, यातायात आदि से सम्बन्धित होगा।

मजदूरी और कीमत

मजदूरी और कीमत इन दो महत्वपूर्ण विषयों के प्रति श्रेणी समाजवादी सुनिश्चित नहीं है। मजदूरी रूपी दासता का अंत करना श्रेणी समाजवाद का मूल सिद्धान्त है, किन्तु फिर भी उसके दर्शन में इस बात का कोई स्पष्ट संकेत नहीं है कि मजदूरों को अपनी मेहनत का प्रतिफल मिलने का क्या ढंग होगा। केवल एक बात एकदम असंदिग्ध है और वह यह है कि मजदूरों को प्रतिफल मिलेगा, मजदूरी नहीं। पूंजीपतियों अथवा राज्यरूपी स्वामियों द्वारा श्रमिकों रूपी दासों को दी जाने वाली मजदूरी श्रेणी समाजवादियों की दृष्टि में अत्यन्त अपमानजनक है। वे यह बात कहते नहीं अघाते कि ऐसे मजदूरी की तुलना में श्रेणी द्वारा दिया जाने

वाला प्रतिफल अनिश्चित सम्मानप्रद है। लेकिन यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो प्रतिफल और मजदूरी का यह अंतर केवल भावुकतापूर्ण है और इसमे कोई मौलिक अंतर नही प्रतीत होता। श्रेणी समाजवादी यह भी स्पष्ट नही करते कि मजदूरो को प्रतिफल किस आधार पर मिलेगा समानता के आधार पर अथवा योग्यता या उत्पादन के आधार पर। कोल का मत है कि प्रतिफल समान नही हो सकता। इसको समानता एक असभव आदर्श है। आंदोलन की प्रारम्भिक अवस्थाओ मे तो इसे प्राप्त ही नही किया जा सकता और जब कभी यह आयेगा भी तो यह प्रतिफल की समता के प्रमादपूर्ण रूप मे नही आयेगा, वरन् उसका रूप यह होगा कि सम्पादित कार्य के लिए प्रतिफल की सम्पूर्ण धारणा को नष्ट कर दिया जायगा और यह समझ लिया जायगा कि आर्थिक समस्या यह है कि राष्ट्रीय आय को समाज के घटको मे इस बात का विचार किये बिना ही विभक्त किया जाय कि अमुक व्यक्ति ने कितना कार्य किया है।

मूल्य निर्धारण के विषय मे अधिकाश श्रेणी समाजवादियो का विचार यह यह था कि सामान्यतया निर्मित माल के मूल्य का तत्सम्बन्धित राष्ट्रीय श्रेणी द्वारा निर्धारित होनी चाहिए। लेकिन ऐसा करने से मूल्य निर्धारण मे उपभोक्ताओं की कोई आवाज नहीं होगी। अत कोल ने कहा कि मूल्य निर्धारण मे कम्यून का भी परामर्श लेना चाहिए। अन्य श्रेणी समाजवादियो ने यह स्वीकार किया कि मूल्य निर्धारण मे वर्कशाप और कारखानो की उत्पादक समितियो को उपभोक्ता-समिति मे परामर्श करना चाहिए। एक अन्य सुझाव यह भी रखा गया कि एक उच्चतम सयुक्त-समिति मूल्य निर्धारण करे। इस सयुक्त-समिति मे उपभोक्ताओ एव उत्पादको के बराबर-बराबर प्रतिनिधि हो और उसका काम वस्तुओ का मूल्य निर्धारित करने के अतिरिक्त कर निर्धारित करना और यह निर्णय करना होगा कि किसी श्रेणी ने अपने निक्षेप का उल्लघन तो नही किया है। इस सयुक्त-समिति के द्वारा उपभोक्ता उन विषयों के सम्बन्ध म अपने विचार प्रकट कर सकेंगे, जिनसे सम्बन्ध है। श्रेणी समाजवाद में इस प्रकार की व्यवस्था का होना संघवाद की अपेक्षा एक नवीन वस्तु है। सघवादी योजनाओ मे जो भारी कमी है वह श्रेणी समाजवादी योजना मे नही है। यह श्रेणी समाजवाद की महत्वपूर्ण विशेषता है जो सघवाद से भिन्न करती है।

श्रेणी व्यवस्था तथा राज्य

अपने उद्देश्यो मे श्रेणी समाजवाद प्रधानत एक ऐसी विचारधारा है जो औद्योगिक व्यवस्था मे अधिक सम्बद्ध है। इसमे सदेह नही कि वह उद्योगो को राज्य

के आधिपत्य से मुक्त करवाना चाहती है किन्तु वह राज्य की विरोधी नहीं है। वह यह आवश्यक मानती है कि राजकीय हस्तक्षेप शरारतपूर्ण है। और इस कारण श्रेणियों को समाज में अधिक महत्व मिलना चाहिये, किन्तु साथ ही साथ संघवाद की भांति वह न राज्य पर भयंकर आक्रमण ही करती है और न उसका अस्तित्व ही मिटाना चाहती है। श्रेणी समाजवाद के अंतर्गत राज्य एक प्रादेशिक संस्था के रूप में जीवित रहेगा और उत्पादक श्रेणियों द्वारा न किये जाने वाले राजनीतिक कार्य इसके द्वारा किये जायेंगे। श्रेणी समाजवाद उत्पादनकर्ताओ के विशिष्ट हितों के संघवादी विचार और सार्वजनिक हितों के राजनीतिक विचार म सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयास है। वह समाज मे न प्रादेशिक समुदायो को पूर्ण मानता है और न व्यावसायिक समुदायों को ही। कुछ सामान्य आवश्यकतायें पहली से और कुछ दूसरी से पूरी होती हैं। इस प्रकार राज्य समाज का एक अनिवार्य संस्था बन जाता है। यद्यपि सार्वजनिक कार्य के ऐसे अनेक रूप भी हैं जिनमे राज्य का कोई भाग नहीं होता।

श्रेणी समाजवाद राज्य को इतना अधिक महत्वपूर्ण नहीं मानता, किन्तु श्रेणी समाजवादी समाज मे राज्य किस रूप मे जीवित रहेगा तथा इसके कर्तव्य क्या होगे, इस विषय मे विचारक स्वयं एकमत नहीं है। कुछ विचारकों का मत है कि श्रेणी समाजवाद की आर्थिक व्यवस्था के साथ-साथ राजनीतिक संस्था के रूप में कार्य करें और इसके कार्य केवल निम्नलिखित क्षेत्रों तक ही सीमित कर दिये जायें।

(1) राज्य केवल उन्हीं विषयो पर अपना अधिकार रखे जो आर्थिक नहीं है जैसे आंतरिक नीति, वैदेशिक नीति आदि।

(2) राज्य उपभोक्ताओ के हितों की रक्षा करे।

(3) राज्य कही-कही थोड़ा बहुत उत्पादक संघो के अनियमित कार्यों को भी रोके।

प्रो० जोड का कथन है कि राष्ट्रीय श्रेणी संघ का राज्य के प्रति दृष्टिकोण शत्रुता का है। यह मार्क्सवाद के अनुसार राज्य को पूंजीवादी वर्ग के मामलों का प्रबन्ध करने वाली कार्यपालिका समझती है। श्रेणी समाजवादी राज्य के महत्व को अत्यधिक गिराते हैं और वास्तव मे उपभोक्ताओ के संघ के रूप में स्वीकार करते हैं।

[illegible] का विश्वास था कि कुछ ऐसी सामाजिक [illegible] हैं जिनकी पूर्ति [illegible] के कार्यों के बिना नहीं हो सकती [illegible] के [illegible] हों। वह यह भी [illegible] था कि इस [illegible] औद्योगिक [illegible] से मुक्त करना पड़ेगा जिसके कारण [illegible] प्रवृत्ति [illegible] है [illegible] है। राज्य की [illegible] का कितना [illegible] इस सम्बन्ध में श्रेणी समाजवादियों में मतभेद था। इस सम्बन्ध में हॉब्सन और कोल के विचारों में भिन्नता है। श्रेणी समाजवादी व्यवस्था में राज्य का ठीक स्थान क्या रहेगा, इस पर दो विभिन्न विचारों का प्रतिनिधित्व श्रेणी समाजवाद के दो महारथी ही करते हैं।

हॉब्सन का मत

हॉब्सन राज्य की सम्प्रभुता को बनाये रखना चाहते हैं। उनके मत में राज्य सम्पूर्ण जनता का प्रतिनिधित्व करने वाला होने के नाते समाज में अन्तिम निर्णायक के रूप में बना रहेगा। औद्योगिक श्रेणियाँ केवल आर्थिक कार्यकलापों का तथा राज्य नागरिक मामलों का प्रबन्ध करेगा। हॉब्सन राज्य की सम्प्रभुता सत्ता को तो स्वीकार करता है, किन्तु उससे यह भी अपेक्षा करता है कि वह आर्थिक श्रेणियों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। वह सार्वजनिक नीतियों के निर्धारण, वैदेशिक श्रमिकों को उपलब्ध कराने तथा अन्य नागरिक हितों सम्बन्धी कार्यों में श्रेणियों के कार्य में हस्तक्षेप कर सकेगा। इस प्रकार हॉब्सन की दृष्टि में राज्य उत्पादित माल के उपभोक्ता वर्ग का प्रतिनिधि मात्र नहीं रहेगा, प्रत्युत सम्पूर्ण जनता को नागरिक सुविधाओं को उपलब्ध कराने का दायित्व उसके ऊपर होगा। उपभोक्ताओं के हितों का संरक्षण तो स्वयं उत्पादकों की श्रेणी कर सकती है। इस कार्य में माल के मुद्रा व्यापार में लगे श्रमिक उत्पादक श्रेणियों के साथ उपभोक्ताओं की मांगों तथा आवश्यकताओं के सम्बन्ध में विचार विनिमय कर सकते हैं। राज्य का प्रमुख कार्य सार्वजनिक नीतियों का निर्माण करना होगा और उन नीतियों का कार्यान्वयन विविध प्रकार की श्रेणियां करेंगी। राज्य विविध प्रकार की नागरिक सुविधायें उपलब्ध कराने के लिए उत्पादकों की श्रेणियों के ऊपर करारोपण करेगा। वह विभिन्न समुदायों को अपने नागरिक कार्य सौंप सकता है, परन्तु सत्ता का मूल स्रोत वही रहेगा विवादों में यदि विवाद केवल औद्योगिक श्रेणियों के कार्यकलापों किया से सम्बद्ध होंगे, तो राष्ट्रीय श्रेणी कांग्रेस अन्तिम निर्णायक होगी। परन्तु यदि

विवाद सार्वजनिक नीतियों से सम्बद्ध होंगे तो राज्य अंतिम निर्णायक होगा। श्रेणियों के मध्य विवादों में भी राष्ट्रीय श्रेणी कांग्रेस के निर्णयों के विरुद्ध राज्य अंतिम अपीलीय न्यायाधिकरण के रूप में होगा। इस प्रकार राज्य मात्र उत्पादकों या उपभोक्ताओं, उत्पादकों या उपभोक्ताओं का प्रतिनिधि न होकर सम्पूर्ण नागरिकों के प्रतिनिधि के रूप में रहेगा।

हाब्सन की धारणा है कि औद्योगिक क्षेत्र में स्वायत्तशासी श्रेणी व्यवस्था लागू हो जाने पर जब श्रेणी समाजवादी समाज की स्थापना हो जायेगी, तो राज्य के कार्यक्षेत्र में पर्याप्त कमी आ जायेगी। परन्तु फिर भी अनेक ऐसी सेवायें हैं जिन्हें राज्य सदृश संस्था ही सम्पन्न कर सकती हैं। उदाहरणार्थ, यद्यपि श्रेणी समाजवादी राज्य का दूसरे राज्य पर आक्रमण करने का कोई विचार नहीं रहेगा, तथापि उसके ऊपर बाह्य आक्रमण की संभावना को उपेक्षित नहीं रखा जा सकता। इस राज्य को प्रतिरक्षा की व्यवस्था करनी पड़ेगी। विदेशों के साथ आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए राज्य ही सक्षम सिद्ध हो सकता है, क्योंकि श्रेणी समाजवादी उत्पादन व्यवस्था के अंतर्गत ऐसे सम्बन्ध पर्याप्त जटिल हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त दण्ड तथा व्यवहार कानून का निर्माण तथा उसके परिपालन कराने का दायित्व भी राज्य ही ले सकता है। भले ही श्रेणी समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत व्यवहार संहिता को जटिल बनाने की समस्या नहीं रहेगी तथापि किसी न किसी रूप में व्यवहार तथा दण्ड संहिता आवश्यक होगी। कोकर के शब्दों में हाब्सन इतना स्वप्नदर्शी नहीं था कि वह यह मान लेता कि अपराधों की प्रवृत्ति पूर्णतया समाप्त हो जायेगी या श्रेणियों के व्यक्तिगत सदस्यों के अधिकारों के संरक्षण के निमित्त किसी प्रकार की कानूनी अनुशास्तियां अनावश्यक हो जायेंगी। इस प्रकार हाब्सन की दृष्टि में प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य अपरिहार्य है। हाब्सन के शब्दों में हम सब समाजवादी हैं। इसका यह अभिप्राय है कि हाब्सन समष्टिवादी विचारधारा का, जिसके अन्तर्गत राज्य के माध्यम से समाजवाद लाने की धारणा मान्य की गई थी, विरोध नहीं करता, वरन् श्रेणी समाजवाद के अंतर्गत भी राज्य को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान कराता है। श्रेणी समाजवादी विचारक जो हाब्सन के समर्थक हैं, ए० डी० लिंडसे के इस कथन को मानते हैं कि प्रत्येक समाज के लिए राजनीतिक संगठन आवश्यक है, क्योंकि तथ्य यह है कि लोगों के स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करते हुए भी उनके कार्यों का प्रभाव दूसरों के ऊपर पड़ता है अतः दूसरे कारण जो अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है, उसे ठीक करने के लिए सामूहिक कार्यवाही आवश्यक होती है। श्रेणी समाजवादी व्यवस्था के अंतर्गत भी विभिन्न श्रेणियों के माध्यम का व्यक्तियों के मध्य

श्रेणियों तथा व्यक्तियों के मध्य विवाद उत्पन्न हो सकते हैं। अतः उनका निप- टारा करने के लिए सामूहिक शक्ति के संघ में राज्य आवश्यक होगा।

कोल का मत

कोल कुछ अधिक उग्रवादी विचारक थे और कम से कम अपने व्यक्त विचार में अधिक बहुलवादी थे। अपनी आरम्भ की रचनाओं में वह राज्य का विरोध नहीं करता परन्तु राज्य की सम्प्रभुसत्ता का विरोध करता है। उसकी दृष्टि में राज्य अन्य सवासों तथा श्रेणियों की भांति एक सवास है। अन्य सवासों की भांति वह भी समाज में एक निर्दिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त निर्मित सवास है। उसकी सत्ता अन्य सवासों की परिपूरक है न कि उनसे उच्चतर। कोल के विचार में राज्य का क्षेत्राधिकार प्रादेशिक होने के कारण वह उपभोक्ता के रूप में नागरिकों का प्रतिनिधित्व करता है। उसका मूल्य निर्धारण उपभोक्ताओं की मांग तथा आवश्यकता की पूर्ति करवाना होगा। राज्य के कुछ राजनीतिक कार्य भी होंगे, जैसे प्रतिरक्षा, व्यवहार महिला की व्यवस्था, बच्चों की शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी कार्य, अपराधों की रोकथाम तथा दण्ड व्यवस्था आदि। परन्तु इन कार्यों तथा दायित्वों के आधार पर राज्य अपनी प्रभुता का दावा नहीं कर सकता। राज्य के सर्वोच्च स्तर पर कोल दो प्रतिनिधियात्मक संस्थाओं की स्थापना को आवश्यक समझता है। उनके मत से समाज के शीर्ष पर जो संसद होगी, वह उपभोक्ताओं के हितों का और राष्ट्रीय श्रेणी कांग्रेस समस्त राष्ट्रीय श्रेणियों के हितों का प्रति- निधित्व करेगी। इन दोनों में से कोई भी अपनी सम्प्रभुसत्ता का दावा नहीं कर सकेगी। एक सर्वोच्च प्रादेशिक समुदाय होगी, तो दूसरी सर्वोच्च व्यवसायगत समुदाय के रूप में होगी। यदि इन दोनों के मध्य विवाद का गतिरोध उत्पन्न हो तो उसका निर्णय समस्त उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों की सगठित प्रतिनिध्यात्मक संस्था करेगी। ऐसी संस्था को कोल ने व्यावसायिक न्याय की धारणा को सामाजिक संगठन से पृथक करती है। साथ ही राज्य तथा सम्प्रभु दोनों को बनाये भी रखती है। इसके अंतर्गत प्रभुसत्ता राज्य में उच्चतर संस्था को प्राप्त होगी।

श्रेणी समाजवाद पर लिखी गयी अपनी बाद की रचना "श्रेणी समाजवाद" की पुनर्परिभाषित में कोल ने राज्य से सम्बन्धित धारणा को एक भिन्न दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। वह हाब्सन के इस दृष्टिकोण का, कि सामाजिक संरचना के अंतर्गत राज्य सर्वोच्च सामंजस्यकारी निकाय है, विरोध करने के साथ-साथ स्वयं अपनी इस आरंभिक धारणा के भी विरुद्ध हो जाता है कि राज्य उप-

विवाद सार्वजनिक नीतियों से सम्बद्ध होंगे तो राज्य अंतिम निर्णायक होगा। श्रेणियों के मध्य विवादों में भी राष्ट्रीय श्रेणी कांग्रेस के निर्णयों के विरुद्ध राज्य अंतिम अपीलीय न्यायाधिकरण के रूप में होगा। इस प्रकार राज्य मात्र उत्पादकों या उपभोक्ताओं, उत्पादकों या उपभोक्ताओं का प्रतिनिधि न होकर सम्पूर्ण नागरिकों के प्रतिनिधि के रूप में रहेगा।

हाब्सन की धारणा है कि औद्योगिक क्षेत्र में स्वायत्तगामी श्रेणी व्यवस्था लागू हो जाने पर जब श्रेणी समाजवादी समाज की स्थापना हो जायेगी, तो राज्य के कार्यक्षेत्र में पर्याप्त कमी आ जायेगी। परन्तु फिर भी अनेक ऐसी सेवायें हैं जिन्हें राज्य सदृश संस्था ही सम्पन्न कर सकती है। उदाहरणार्थ, यद्यपि श्रेणी समाजवादी राज्य का दूसरे राज्य पर आक्रमण करने का कोई विचार नहीं रहेगा, तथापि उसके ऊपर बाह्य आक्रमण की सम्भावना को उपेक्षित नहीं रखा जा सकता। अतः राज्य को प्रतिरक्षा की व्यवस्था करनी पड़ेगी। विदेशों के साथ आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए राज्य ही सक्षम सिद्ध हो सकता है, क्योंकि श्रेणी समाजवादी उत्पादन व्यवस्था के अंतर्गत ऐसे सम्बन्ध पर्याप्त जटिल हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त दण्ड तथा व्यवहार कानून का निर्माण तथा उसके परिपालन कराने का दायित्व भी राज्य ही ले सकता है। भले ही श्रेणी समाजवादी व्यवस्था के अंतर्गत व्यवहार संहिता को जटिल बनाने की समस्या नहीं रहेगी तथापि किसी न किसी रूप में व्यवहार तथा दण्ड संहिता आवश्यक होगी। कोकर के शब्दों में हाब्सन इतना स्वप्नदर्शी नहीं था कि वह यह मान लेता कि अपराधों की प्रवृत्ति पूर्णतया समाप्त हो जायेगी या श्रेणियों के व्यक्तिगत सदस्यों के अधिकारों के संरक्षण के निमित्त किसी प्रकार की कानूनी अनुशक्तियां अनावश्यक हो जायेंगी। इस प्रकार हाब्सन की दृष्टि में प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य अपरिहार्य है। हाब्सन के शब्दों में हम सब समाजवादी हैं। इसका यह अभिप्राय है कि हाब्सन समष्टिवादी विचारधारा का, जिसके अंतर्गत राज्य के माध्यम से समाजवाद लाने की धारणा मान्य की गई थी, विरोध नहीं करता, वरन् श्रेणी समाजवाद के अंतर्गत भी राज्य को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान कराता है। श्रेणी समाजवादी विचारक जो हाब्सन के समर्थक हैं, ए० डी० लिंडसे के इस कथन को मानते हैं कि प्रत्येक समाज के लिए राजनीतिक संगठन आवश्यक है, क्योंकि तथ्य यह है कि लोगों के स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करते हुए भी उनके कार्यों का प्रभाव दूसरों के ऊपर पड़ता है अतः दूसरे कारण जो अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है, उसे ठीक करने के लिए सामूहिक कार्यवाही आवश्यक होती है। श्रेणी

या श्रेणियों तथा व्यक्तियों के मध्य विवाद उत्पन्न हो सकते हैं। अतः उनका निपटारा करने के लिए सामूहिक शक्ति के संघ में राज्य आवश्यक होगा।

कोल का मत

कोल कुछ अधिक उग्रवादी विचारक थे और कम से कम अपने व्यक्त विचार में अधिक बहुलवादी थे। अपनी आरम्भ की रचनाओं में वह राज्य का विरोध तो नहीं करता परन्तु राज्य की सम्प्रभुसत्ता का विरोध करता है। उसकी दृष्टि में राज्य अन्य सवासों तथा श्रेणियों की भांति एक सवास है। अन्य सवासों की की भांति वह भी समाज में एक निर्दिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त निर्मित सवास है। उसकी सत्ता अन्य सवासों की परिपूरक है न कि उनसे उच्चतर। कोल के विचार में राज्य का क्षेत्राधिकार प्रादेशिक होने के कारण वह उपभोक्ता के रूप में नागरिकों का प्रतिनिधित्व करता है। उसका मूल्य निर्धारण उपभोक्ताओं की माग तथा आवश्यकता की पूर्ति करवाना होगा। राज्य के कुछ राजनीतिक कार्य भी होंगे, यथा प्रतिरक्षा, व्यवहार महिता की व्यवस्था, बच्चों की शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी कार्य, अपराधों की रोकथाम तथा दण्ड व्यवस्था आदि। परन्तु इन कार्यों तथा दायित्वों के आधार पर राज्य अपनी प्रभुता का दावा नहीं कर सकता। राज्य के सर्वोच्च स्तर पर कोल दो प्रतिनिधियात्मक सस्थाओं की स्थापना को आवश्यक समझता है। उनके मत से समाज के शीर्ष पर जो ससद होगी, वह उपभोक्ताओं के हितों का और राष्ट्रीय श्रेणी कांग्रेस समस्त राष्ट्रीय श्रेणियों के हितों का प्रतिनिधित्व करेगी। इन दोनों में से कोई भी अपनी सम्प्रभुसत्ता का दावा नहीं कर सकेगी। एक सर्वोच्च प्रादेशिक समुदाय होगी, तो दूसरी सर्वोच्च व्यवसायगत समुदाय के रूप में होगी। यदि इन दोनों के मध्य विवाद का गतिरोध उत्पन्न हो तो उसका निर्णय समस्त उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों की सगठित प्रतिनिध्यात्मक सस्था करेगी। ऐसी सस्था को कोल ने व्यावसायिक न्याय की धारणा को सामाजिक सगठन से पृथक करती है। साथ ही राज्य तथा सम्प्रभु दोनों को बनाये भी रखती है। इसके अतर्गत प्रभुसत्ता राज्य से उच्चतर सस्था को प्राप्त होगी।

श्रेणी समाजवाद पर लिखी गयी अपनी बाद की रचना "श्रेणी समाजवाद" की पुनर्परिमापित में कोल ने राज्य से सम्बन्धित धारणा को एक भिन्न दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। वह हाब्सन के इस दृष्टिकोण का, कि सामाजिक सरचना के अतर्गत राज्य सर्वोच्च सामजस्यकारी निकाय है, विरोध करने के साथ-साथ स्वय अपनी इस आरभिक धारणा के भी विरुद्ध हो जाता है कि राज्य उप-

कम्यून के विभिन्न कार्यों के अंतर्गत उत्पादित माल के मूल्य निर्धारित करने के उचित निर्णय देना सम्मिलित है। सामान्यतया उत्पादित वस्तुओं के मूल्य का निर्धारण उत्पादकों तथा वितरकों की श्रेणियों के सहकार से किया जायेगा परन्तु उनके मध्य मतैक्य न होने पर सम्बद्ध क्षेत्र की कम्यून अपना अन्तिम निर्णय देगी। मूल्य निर्धारण करने के निमित्त वस्तुओं के उत्पादन में लगी लागत तथा वितरण के व्यय का ध्यान रखा जायेगा। अन्य वित्तीय कार्यों के अन्तर्गत विभिन्न श्रेणियों को वित्तीय-साधन उपलब्ध कराना, उनके वित्तीय बजटों को अनुस्वीकृति दान करना, विभिन्न श्रेणियों के ऊपर कर-रोपण करना जो कि कम्यून के अन्य सार्वजनिक कार्यों के निमित्त साधन प्रदान कर सकें, बैंकों से श्रेणियों के लिए ऋण की व्यवस्था करना आदि-आदि सम्मिलित हैं। यदि विभिन्न श्रेणी अपनी काँग्रेसों के माध्यम से नीतियों सम्बन्धी पारस्परिक विवादों को हल कर सकने में असमर्थ सिद्ध हों तो सम्बद्ध क्षेत्र की कम्यून उन पर निर्णय देगी। सार्वजनिक नीतियों, श्रेणी पद्धति एवं न्याय व्यवस्था आदि के विषय में कम्यून अपनी सांविधानिक शक्ति का प्रयोग करेंगे और ऐसे संविधानिक कानूनों के निर्माण, उनके निर्वचन तथा उन्हें लागू करने के विषय में अन्तिम निर्णय देने का अधिकार कम्यूनों को प्राप्त रहेगा। अन्य सार्वजनिक कार्य जो श्रेणियों के अधिकार क्षेत्र में नहीं आते, उनको सम्पादित करना कानूनों का दायित्व रहेगा। इसके अतिरिक्त युद्ध तथा शांति की घोषणा करना, वैदेशिक सम्बन्ध, विविध स्थानीय निकायों के क्षेत्राधिकार की व्यवस्था करना, व्यक्तिगत सम्पत्ति से सम्बद्ध विषयों में निर्णय देना सम्मिलित है। अतः कम्यून सार्वजनिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए बलप्रवर्ती शक्ति का प्रयोग करके सभी संस्थाओं तथा व्यक्तियों से कानून का अनुपालन कराने की व्यवस्था भी करेगा। इसके निमित्त परम्परागत न्याय-व्यवस्था स्थापित की जायगी। कोल के विचार से श्रेणी समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत बलप्रवर्ती शक्ति के प्रयोग के अवसर बहुत कम रह जायेंगे, क्योंकि ऐसे समाज में विभिन्न श्रेणियां सहकार की भावना से कार्य करेंगी। फिर भी बल प्रयोग अन्तिम साधन के रूप में किया जायगा। उससे पूर्व विवाद-ग्रस्त पक्ष, पारस्परिक समझौते से अपने विवाद निबटाने का प्रयास करेंगे, जिनमें कम्यून तथा श्रेणी सहायता देंगे।

कोकर का विचार है कि कोल की विचारधारा का कम्यून तथा हाब्सन की धारणा का राज्य दोनों ही परम्परागत राज्य की तुलना में किसी भांति कम प्रभुत्व-सम्पन्न नहीं लगते हैं। परन्तु दोनों के विचार से श्रेणी समाजवादी व्यवस्था के राज्य में बल-प्रयोग, दमन स्वेच्छाचारिता तथा पूर्ण राजनीतिक सत्ता धारण करने की

प्रभुत्व नहीं रहेगा। ऐसे समाज में राजनीतिक सत्ता स्थानीय, क्षेत्रीय एवं व्यावसायिक श्रेणियों के मध्य विकेन्द्रीकृत रहने से राज्य की केन्द्रीकृत सत्ता से प्रभुत्व होने तथा उसमें नौकरशाहिता तथा दल-प्रणाली की प्रवृत्ति आने के अवसर नहीं रहेंगे। जनता के अधिकारों तथा दायित्वों का विभाजन इस रूप में किया जाता रहेगा जिससे जनता को आत्माभिव्यक्ति के पर्याप्त अवसर मिलते रहेंगे और समाज को अपनी सर्वोच्च सत्ता प्रयुक्त करने के अवसर कम होंगे।

श्रेणी समाजवाद के साधन और कार्यक्रम

श्रेणी समाजवादी विकासवादी साधनों से परिवर्तन में विश्वास रखते हैं और चाहते हैं कि संवैधानिक उपायों से पूरी सत्ता अपने हाथ में लेकर समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया को पूरा करें। जी० कोल ने लिखा है कि शीघ्रता से क्रांति लाना हमारा उद्देश्य नहीं है। हमारा उद्देश्य है कि विकासवाद के मार्ग द्वारा उन सब शक्तियों को दृढ़ करना जिससे आने वाली क्रांति एक वर्ग युद्ध न होकर समाज में क्रियाशील वृत्तियों का एक अंतिम परिणाम व प्राप्त तथ्य भी मालूम हो। जिन विकासवादी साधनों को श्रेणी समाजवादी प्रयोग में लाना चाहते है वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं।

(1) शान्तिपूर्ण साधनों का अपनाना :—शान्तिपूर्ण और अहिंसक साधनों से वे वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को बदलना चाहते थे। जनता में लोकप्रिय बनकर स्वयं की सरकार बनाना चाहते थे। पूंजीपतियों को एकदम नष्ट करके धीरे-धीरे उन्हें सम्पत्ति से वंचित करना चाहते थे। उन्होंने तोड़-फोड़, हड़ताल आदि का पथ नहीं लिया।

(2) आर्थिक कार्यक्रम पर विशेष जोर :—राजनीतिक आधार को प्राप्त करने के लिए उनका संसद से अधिक श्रमिकों पर विश्वास था। संसदीय पद्धति में परिवर्तन शनैः शनैः होता है। सुधारवादी कानून बनाने में कई वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। पूंजीवाद में श्रमिकों द्वारा अपनी सरकार बनाना सम्भव नहीं है, क्योंकि पूंजीपति श्रमिकों के सभी प्रयत्नों को असफल करने का प्रयत्न करेंगे। अतएव श्रमिकों को संगठित होकर शान्तिमय क्रांति करनी चाहिये। श्रमिक संगठन में लिपिक, टैक्नीशियन, प्रबन्धक, कार्यकर्त्ता, चपरासी, चौकीदार आदि सभी कर्मचारी सम्मिलित होंगे।

(3) क्रमशः अधिकार जमाने की नीति :—सामाजिक ढांचे के कार्य-कलाप में श्रमिक संघों को उपयोगी बनाने के लिए उनके संगठन में आमूल-चूल

परिवर्तन किये जाने चाहिए। उनका संगठन शिल्पकला की अपेक्षा उद्योग के आध
पर होना चाहिए और उनकी सदस्यता का पर्याप्त विस्तरण होना चाहिये, ता
उनमें अधिकांश असंगठित और अकुशल श्रमिक, लिपिक, टैक्नीशियन, कर्मचा
और प्रबन्धकगण सभी सम्मिलित हो सकें। इसके अतिरिक्त समस्त श्रमिक-ग
को एक निकाय में संगठित करना चाहिए, जिसमें कि विविध उद्योगों और सेवा
के लिए आंतरिक रूप से स्वतन्त्र संस्थायें हों। साथ ही श्रमिक संघों का विस्त
इस सीमा तक किया जाना चाहिए कि श्रम बाजार पर उनका एक प्रकार का अ
कार स्थापित हो जाये। श्रेणी समाजवादियों का यह मत है कि अपने संगठन
शक्तिशाली बनाकर श्रमिकों में क्रमिक नियंत्रण की नीति का अनुसरण करना चाहि
श्रेणी व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक उद्योग के सब कर्मचारियों की, चाहे वे श्रमजी
हों और चाहे बुद्धिजीवी हों, एक श्रेणी होगी जिसमें चपरासी से लेकर प्रबंधक त
सभी सम्मिलित होंगे। चूंकि इस प्रकार इन समितियों का संगठन वर्तमान श्रमि
से अधिक व्यापक होगा, अत पूंजीपति सरलता से इनकी मांगों को ठुकरा न सकें
पूरे संगठन की शक्ति के सहारे श्रेणियां उद्योगों के प्रबन्ध में अधिकाधिक अधिक
जमाने की नीति के द्वारा छोटी-छोटी श्रेणी उद्योग के प्रबन्ध व संचालन सम्बन
सभी अधिकार अपने हाथ में ले लेंगी और उद्योग पर श्रमिकों का स्वाशासन स्थ
पित हो जायेगा। प्रो० कोकर के शब्दों में शनै शनै नियंत्रण की इस पद्धति का
स्वामियों से अधिकार को छीन कर श्रमिकों के हाथ में समर्पित कर देने से है।

(4) *सामूहिक ठेका :—उपर्युक्त पद्धति से मिलती-जुलती पद्धति सामूहि*
ठेके की है। श्रेणी समाजवादियों का यह साधन भी शान्तिप्रिय है। इसका उद्दे
पहले उद्योगपतियों से सामूहिक ठेके के रूप में काम ले लेना है और फिर शीघ्र
के साथ अल्प समय में कार्य समाप्त करके उद्योगपतियों से पूरे पैसे ले लेना।
सामूहिक ठेके व्यावसायिक श्रेणियों द्वारा लिये जायेंगे। इस पद्धति का एक उ
लाभ यह है कि श्रमिक स्वयं अपना प्रबन्ध करेंगे और उद्योगपतियों के अनु
हस्तक्षेप से भी दूर रह सकेगा। वस्तुओं के उत्पादन में भी समय की बचत हो
तथा पूंजीपतियों से व्यर्थ का संघर्ष भी नहीं हो पायेगा।

(5) **प्रचार पर विश्वास** —जनता में अपने उद्देश्यों एव लक्ष्य को बन
के लिए प्रचार का सहारा लिया जायगा। इससे श्रमिकों की योजना सर्वप्रिय
जायेगी और जनता उन्हें समर्थन भी देगी। पूंजीपति साहस नहीं करेंगे कि वे श्रमि
की योजना को नष्ट-भ्रष्ट कर दें।

(6) **औद्योगिक प्रतियोगिता:**—औद्योगिक प्रतियोगिता के विषय में श्रेणी समाजवादियों का कहना है कि श्रमिक-संघ सामूहिक सहयोग के आधार पर पूँजीपतियों की प्रतियोगिता में स्वयं उद्योगों की स्थापना करें तथा स्वयं श्रेणी संगठन ऐसे उद्योगों का प्रबन्ध और संचालन करें। इन श्रेणियों के संगठन द्वारा श्रमिक उद्योगपतियों को अपने समक्ष झुकाने में समर्थ हो सकेंगे। अतएव वे प्रारम्भ में मकान बनाने जैसे छोटे उद्योगों को हाथ में लेंगे। धीरे-धीरे पूँजी संचित होने पर बड़े उद्योगों पर अधिकार करने का प्रयत्न करेंगे।

आलोचना एवं मूल्यांकन

श्रेणी समाजवादियों पर सबसे बड़ा आरोप यह लगाया जाता है कि उनको अपने इस विचार की प्रेरणा मध्ययुगीन यूरोप की श्रेणी व्यवस्था से मिली, जो कि आधुनिक वैज्ञानिक युग में खरी नहीं उतर सकती। प्रत्येक युग की अपनी-अपनी समस्याएँ होती हैं, जिनका समाधान राज्य को ढूँढना पड़ता है। आधुनिक समय में हाथ करघे का काम तो हो सकता है कि श्रेणियों को सौंप दिया जाये, लेकिन आधुनिक अस्त्र-शस्त्र और राष्ट्र की सुरक्षा के लिए विशाल सेना का संचालन क्या श्रेणी और कम्यून कर सकते हैं।

यह भी कहा जाता है कि मध्ययुगीन श्रेणियाँ भी उनके दोषों से युक्त थीं। पेंटी ने मध्ययुगीन श्रेणियों की प्रशंसा में जो कुछ लिखा है वास्तविक कम है, काल्पनिक अधिक है। यह कहा जा सकता है कि यदि वे वास्तव में इतनी आदर्श थीं तो उनका पतन क्यों हुआ। लेडलर का यही विचार है कि वर्तमान औद्योगिक प्रणाली और मध्ययुगीन समय की श्रेणी-पद्धति आज दोनों साथ-साथ नहीं चल सकतीं। उनका विचार है कि मध्य युग में पारस्परिक विवादों के कारण जब वे समाप्त हो गयीं तो वे आज कैसे एक भिन्न वातावरण में पुनर्जीवित की जा सकती हैं। अब इन दोनों में किसी प्रकार का स्वरूप अथवा भावना में साम्य नहीं है।

यह भी कहा जा सकता है कि या तो कम्यून व्यवस्था गठन ही नहीं होगी और यदि गठन भी हुई तो उसका स्वरूप राज्य जैसा हो जायेगा। यदि कम्यून ने राज्य का रूप धारण कर लिया तो फिर वर्तमान राज्य ने क्या बिगाड़ा उसे [illegible] दिया जाये। इसलिए कारपेन्टर ने ठीक कहा है कि विभिन्न श्रेणियों के मध्य संघर्ष की स्थिति में यदि कम्यून किसी श्रेणी को दबा सकती है तो फिर राज्य और कम्यून में विभेद ही क्या रहा? कारपेन्टर का मत है कि यह ठीक है कि वर्तमान राज्य जो कार्य करता है वह अच्छा नहीं होता, पर वह कार्य तो है। पर कम्

पृथक समूहों द्वारा किये जाने वाले सम्भावित कार्यों की अपेक्षा तो अधिक ही होगा।

लेडर का श्रेणी-समाजवाद पर एक आरोप यह भी है कि यह उत्पादन पर अधिक जोर देता है और इसकी तुलना मे श्रमिक का हित गौण हो जाता है।

श्रेणी समाजवाद को मान लेने पर सिडनी वेब तथा अन्य आलोचको का यह मत है कि अनेक भिन्न प्रकार की समस्याएँ सामने आ जायेंगी। श्रेणी समाजवादियो का कहना है कि फोरमैन या कारखानो के निरीक्षक श्रमिको के द्वारा चुना जाना चाहिए और उनकी इच्छा के विरुद्ध काम करने पर उसे हटा देना चाहिये, तो व्यवहार मे निरीक्षक और श्रमिक के अधीन हो जायेगा और फिर वह उसका निरीक्षण नही कर पायेगा। श्रेणी समाजवाद के अन्तर्गत एक प्रकार से दो ससदो की व्यवस्था भी निहित है, जो अव्यावहारिक एव सघातक हो सकती है। इसमे एक राजनीतिक ससद कही जा सकती है और दूसरी आर्थिक। जिसमे एक का सगठन प्रादेशिक आधार पर और दूसरे का व्यावसायिक आधार पर होगा। यह बडा आश्चर्यजनक और अटपटा लगता है कि राजनीतिक ससद राज्य का अग होगी जबकि आर्थिक ससद श्रेणियो और कम्यूनो का अग होगी। इन दोनो के मध्य सघर्ष होने पर कौन निर्णायक निर्णय देगा, यह अस्पष्ट है।

श्रेणी समाजवाद की एक आलोचना यह भी कही जा सकती है कि यह एक ओर राज्य पर प्रहार करता है लेकिन दूसरी ओर इसके बिना यह रह भी नही सकता। यह बडी अजीब स्थिति है। प्रो० बार्कर ने इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि श्रेणी चाहे जितने अधिकारो का दावा करे या उन्हें चाहे प्राप्त भी कर ले, फिर भी एक-एक आवश्यक सामजस्य बनाये रखने वाली सत्ता बनी रहेगी और इसकी भी सभावना है कि यदि समुदायो के पास अधिक सत्ता आती है तो राज्य को लाभ ही होगा, हानि नहीं, क्योंकि उसे अधिक गभीर तथा महत्वपूर्ण समस्याओ का समाधान करना होगा। अन्त मे प्रो० लास्की के शब्दो मे भी राज्य की महत्ता सबसे महत्वपूर्ण है। इस बात को धार्मिक राज्यो के समर्थको को छोड कोई भी अस्वीकार नही करता।

अलेक्जेण्डर ग्रे ने एक अलग दृष्टि से श्रेणी समाजवाद पर आरोप लगाया है। उसने लिखा है कि श्रेणी समाजवाद ने समाजवाद की धारणा को और भी धूमिल और अस्पष्ट कर दिया है। इनसे राजनीतिक समाजवाद के पुराने विचारो को बड़े प्रभावशाली ढग से समाप्त कर दिया। लेकिन इसको समाप्त कर यह कोई सक्रिय एव रचनात्मक विकल्प समाजवाद की दिशा मे देने में असमर्थ रहे।

श्रेणी समाजवादियों का मूल्यांकन करते हुए यह स्वीकार किया जाता है कि यह एक महत्वपूर्ण विचारधारा है जिसने राज्य समाजवाद में केन्द्रीकरण के खतरों को बड़े तर्कसंगत ढंग से स्पष्ट किया। इतना ही नहीं उद्योगों के प्रबन्ध में श्रमिकों की साझेदारी और व्यवसायात्मक जनतंत्र के सिद्धान्तों को भी बड़े अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया।

वैचारिक स्तर पर प्रो० कोकर के शब्दों में श्रेणी समाजवाद के प्रभाव को रखा जा सकता है। उन्होंने लिखा है कि श्रेणी समाजवादियों ने प्रत्यक्ष रूप से कुछ सिद्धान्तों को प्रभावित किया है। विशेष रूप से बहुलतावादियों के इस सिद्धान्त को सुझाकर या उसका समर्थन करके कि वर्तमान उद्योग की आलोचनाओं के अनुरूप स्वतन्त्रता तथा समानता की प्राप्ति अभिजाततन्त्र अथवा धनिकतन्त्र के स्थान पर समाज के स्वतंत्र शासन के रूप में समष्टिवादी जनतन्त्रीय व्यवस्था स्थापित करने से नहीं, वरन् केवल श्रमिकों के स्वायत्तशासी समुदायों में, जो समाज सेवा के लिए विशिष्ट आर्थिक या सांस्कृतिक कार्य के लिए संगठित हो, सत्ता का विभाजन करने से ही होता है।

अराजकतावाद

जब से राज्य की स्थापना हुई है, तभी से उसकी सत्ता को भंग करने के विचारों का जन्म हुआ था। प्राचीन यूनान में राज्य को संदेह की दृष्टि से स्टोइकों ने देखा था। जीनों ने कहा था कि सच्चा जीवन राज्य के द्वारा नहीं मिल सकता, अपितु ऐसे समाज में मिलता है जिसमें व्यक्ति स्वतंत्र होते हैं। सरकारी शासन निम्नकोटि के व्यक्तियों के द्वारा होता है। बुद्धिजीवियों को ऐसे राज्य में कोई अच्छा कार्य नहीं करने देते। नवी शताब्दी में आरमोनियन और पन्द्रहवीं शताब्दी में अनावापटिस्ट ने कहा था कि धार्मिक संस्थाओं के आधीन रहकर ही व्यक्ति सच्चे जीवन को प्राप्त कर सकता है। राज्य के नियंत्रण में यह संभव नहीं है। चीन के च्वांग सू ने भी व्यक्ति के व्यक्ति पर शासन का विरोध किया था। मध्य युग में ईसाई तथा अन्य धार्मिक नेताओं ने राज्य को निरंकुश संस्था बताया था। रेबले ने व्यक्ति पर किसी का प्रतिबंध स्वीकार नहीं किया था। स्वीनम तथा दीनों के विचारों में अराजकतावाद की झलक दिखाई देती है। 18 वीं शताब्दी में व्यक्ति की स्वतन्त्रता और प्राकृतिक अधिकारों पर जोर दिया गया। इसके बाद व्यक्तिवादी विचारधारा का जन्म हुआ, जिसमें राज्य को आवश्यक बुराई कहा गया। आधुनिक युग में मार्क्सवादियों ने इस विचारधारा को प्रबल किया।

20 वीं शताब्दी में अराजकतावाद एक नवीन दर्शन के रूप में सामने आया ।

अराजकतावाद का अर्थ

अराजकता शब्द की उत्पत्ति ग्रीक शब्द अनार्किया (Anarchia) से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ "शासन का अभाव"। आज अराजकतावाद का अर्थ होता है ऐसी विचारधारा जिसमें राज्य और शासन का अन्त करके एक राज्य-हीन और वर्गहीन समाज की स्थापना करना है। डिकिंसन के शब्दों में अराजकतावाद का अर्थ शान्तिव्यवस्था के अभाव से नहीं, प्रत्युत शक्ति के अभाव से है। शासन का अभिप्राय है विवशता, पृथकता, विभ्रम तथा भिन्नता, जबकि अराजकतावाद का अर्थ है स्वतन्त्रता, एकता और प्रेम। हक्सले के अनुसार अराजकतावाद समाज की वह स्थिति है जिसमें केवल व्यक्ति के स्वयं पर शासन को ही न्यायोचित रूप में मान्यता प्राप्त होगी। क्रापटकिन के अनुसार अराजकतावाद जीवन का वह सिद्धांत और आचरण है, जिसके अंतर्गत समाज का संचालन बिना सरकार के किया जाता है। ऐसे समाज में सामंजस्य कानून के प्रति समर्पण करके अथवा किसी सत्ता के आदेशों का पालन करके नहीं प्राप्त किया जाता, अपितु अनेक प्रकार के भौगोलिक, व्यावसायिक समूहों के मध्य उत्पादन और उपयोग के लिए तथा एक सुसभ्य जाति की प्रेरणास्वरूप अनन्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए स्वतंत्रतापूर्वक किये गये समझौतों के आधार पर किया जाता है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने कहा है कि अराजकतावाद वह सिद्धांत है जो प्रत्येक प्रकार की शासन व्यवस्था का विरोधी है। यह राज्य का विरोध इसलिए करता है कि राज्य की सरकार तथा उसके द्वारा स्थापित संस्थायें तथा पुलिस, कानून आदि बलप्रयोग की द्योतक हैं। अराजकतावादी सिद्धान्त का अंतिम उद्देश्य स्वतंत्रता है और इसकी प्राप्ति का सीधा मार्ग यही है कि समाज द्वारा व्यक्ति के ऊपर आरोपित किये जाने वाले समस्त बलप्रवर्ती नियंत्रणों का अंत कर दिया जाय। कोकर के शब्दों में अराजकतावादी सिद्धांत किसी भी रूप में राजनीतिक सत्ता को अनावश्यक तथा अवांछनीय मानता है। आधुनिक अराजकतावाद के अंतर्गत राज्य के प्रति सैद्धांतिक विरोध साधारणतया व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्था एवं संगठित धर्मसत्ता के प्रति बैर भाव के साथ ही जुड़ा हुआ है।

अराजकतावाद का कोई निश्चित सिद्धांत नहीं है। यह राज्य की बुराई करता है और एक आदर्श समाज की कल्पना करता है, जिसमें वैज्ञानिकता का

अभाव पाया जाता है। यह राज्य की कमियों को प्रदर्शित करता है और राज्य-विहीन समाज का समर्थन करता है।

अराजकतावाद का उद्देश्य

अराजकतावादी चिंतक व्यक्तिगत स्वतंत्रता को अत्यधिक महत्व देते हैं। उनकी दृष्टि में स्वतंत्रता विशुद्ध, निरपेक्ष तथा अमर्यादित होनी चाहिये। इनके मत से वास्तविक स्वतंत्रता किसी भी प्रकार के प्रतिबंधों का अभाव है। सामाजिक जीवन में जो भी संस्था व्यक्ति की स्वतंत्रता को मर्यादित या प्रतिबंधित करती है, उसकी समाप्ति करना अराजकतावादियों का प्रमुख उद्देश्य रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के अराजकतावादियों ने सामाजिक जीवन में मानव को तीन क्षमताओं में माना है। सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक। सामाजिक के अंतर्गत आर्थिक जीवन भी सम्मिलित है। समाज में रहते हुए व्यक्ति अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ न कुछ उत्पादन करता है, परन्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा ने सम्पत्ति का केन्द्रीकरण थोड़े से लोगों के हाथ में करके उन्हें पूंजीपति बना दिया है। समाज का विशाल वर्ग सम्पत्ति विहीन होने के कारण पूंजीपतियों के द्वारा उसका शोषण किया जाता रहा है। अतएव एक उत्पादक के रूप में व्यक्ति परतंत्र है। अतः अराजकतावाद मानव को एक उत्पादक के रूप में पूंजीपति के बंधन से मुक्त करने का उद्देश्य रखता है। एक राजनीतिक प्राणी के नाते मानव राज्य का नागरिक होता है, परंतु राज्य की संस्थायें, सरकार—कानून, पुलिस न्याय-व्यवस्था आदि पग-पग पर उसकी स्वतंत्रता के ऊपर प्रतिबन्ध लगाती रहती हैं। अतः एक नागरिक के रूप में व्यक्ति को राज्य के बंधन से मुक्त करना अराजकतावाद का दूसरा उद्देश्य है। मानव जिस धर्म पर विश्वास करता है, उस धर्म का संगठन भी उसे विश्वास की स्वतंत्रता में सचित रखता है। अतएव एक व्यक्ति के रूप में धार्मिक, नैतिक तथा ईश्वर पर विश्वास करने के लिए धर्म की सत्ता उसकी स्वतंत्रता पर मर्यादा लगाती है। अराजकतावाद का तीसरा उद्देश्य एक व्यक्ति के रूप मे मानव को धर्म की सत्ता, धार्मिक नैतिकता, तथा ईश्वर पर विश्वास करने के बंधन से मुक्त करना है। संक्षेप में अराजकतावाद व्यक्ति को राज्य, पूंजी तथा इन तीनों के बंधन से मुक्त रखना चाहता है।

अराजकतावाद का विकास

अराजकतावादी चिंतन परंपरा अत्यंत प्राचीन काल से चली आयी है। पाश्चात्य देशों में अरस्तू के पश्चात् के काल में इपीक्यूरियन, सिनिक

स्टोइक दार्शनिकों ने राजनीतिक समाज की व्यवस्था को व्यक्ति स्व विकास तथा जीवन के लिए अनुचित बताया था। इपीक्यूरियन दार्शनिक व्यक्तिवादी थे। वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के हित में वे किसी प्रकार के सामाजिक बन्धनों को अनुचित कहते थे। स्टोइक दार्शनिकों प्राकृतिक कानून की धारणा की व्याख्या करते हुए मानव को केवल उन्हीं कानूनों के अनुसार चलने की शिक्षा दी थी। उनके मत से समाज की आधारभूत धारणा मानव विवेक व नैसर्गिक प्रवृत्ति का होना है। मानव विवेक इन्हीं नैसर्गिक प्रवृत्तियों तथा नियमों के अनुसार समाज के सञ्चालन की कामना करता है। राजनीतिक सत्ता इन नियमों के विरुद्ध मानवों के ऊपर अपनी सत्ता थोपकर उनकी स्वतन्त्रता को मर्यादित करती है अतः राज्य अनुचित है। स्टोइकों की प्राकृतिक कानून की धारणा विश्वबन्धुत्व तथा मानवीय समानता के आधार पर प्राकृतिक कानूनों पर आधारित विश्व राज्य की धारणा को मानती थी। मध्ययुग में ईसाई धर्म प्रचारकों ने भी ईसाई धर्म शिक्षा द्वारा निर्देशित तथा संचालित सार्वभौम ईसाई राज्य की धारणा व्यक्त की थी, जो परम्परागत राज्य सत्ता को सीधी चुनौती थी। प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों के अन्तर्गत भी राजक व्यवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। समय-समय पर अनेक व्यक्तियों, दार्शनिकों तथा साहित्यकारों की कल्पनाओं में भी राज्य सत्ता के विरोध की भावनाएं व्यक्त की जाती रही हैं, क्योंकि ऐसी सत्ताओं ने मानव व्यक्तित्व के अधिकारों का अतिक्रमण किया और उनके कारण मानव नैसर्गिक विवेक तथा सामाजिकता का अनुगमन करते हुए उत्तम तथा सुखी सामाजिक जीवन के लाभों से वंचित हो गया।

परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में विकसित अराजकतावादी विचारधारा के मूल अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी के व्यक्तिवादी तथा समाजवादी विचारधाराएं तथा इन विचारधाराओं को प्रेरणा देने वाले सिद्धान्त थे। प्राकृतिक अधिकारों की धारणाओं ने राज्य की सत्ता को मर्यादित करने की सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। प्रकृति अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप को अप्राकृतिक कहा था। मूल्य के श्रमसिद्धान्त के आधार पर समाजवादियों ने शोषणक्रिया को समझाने का प्रयत्न किया। अराजकतावादियों ने व्यक्तिवाद तथा समाजवाद दोनों के उद्देश्यों को अतिवादी दृष्टिकोण से व्यक्त किया और व्यक्ति को प्रत्येक प्रकार की सामाजिक सत्ता के बंधनों से मुक्त करने के सम्बध में विचार रखे। सभी अराजकतावादियों की धारणायें एक रूप नहीं हैं। इन्हें सामान्यतया

तीन वर्गों में रखा जाता है। प्रथम वर्ग के अंतर्गत, आरंभिक व्यक्तिवादी अराजकतावादी चिन्तक गाडविन, हाजस्किन, प्रूधों आदि आते हैं, दूसरे वर्ग में सभी क्रांतिकारी अराजकतावादी—बाकुनिन तथा क्रोपोटकिन आते हैं। वास्तव में यही दो विचारक ऐसे हैं जिन्होंने अराजकतावादी विचारधारा को क्रमबद्ध दर्शन का रूप दिया और अराजक व्यवस्था की स्थापना का कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया, और तीसरे वर्ग में काउण्ट लुई टालस्टाय आदि सदृश विचारक आते हैं, जो दार्शनिक अराजकतावादी कहे जाते हैं।

अराजकतावाद की विशेषतायें

1. आर्थिक स्वतंत्रता का समर्थन—अराजकतावाद पूंजीवाद का विरोध करता है। यह दृष्टिकोण समाजवादी विचारधाराओं के तुल्य है। अतएव पूंजीवाद का विनाश करके अराजकतावाद एक प्रकार के सार्वभौम साम्यवाद की व्यवस्था पर विश्वास करता है। क्रोपाटाकिन ने कहा है कि विश्व में प्रत्येक वस्तु प्रत्येक की है और यदि प्रत्येक पुरुष तथा महिला आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में अपना भाग अर्पित करते हैं, तो उनमें से प्रत्येक को उत्पादित वस्तुओं में अपने भाग का दावा रखने का अधिकार है। अराजकतावादियों की दृष्टि में वर्तमान राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्थायें प्रत्येक स्त्री-पुरुष को उत्पादन कार्य में तो उसके भाग पर लगाती हैं, परन्तु उत्पादित वस्तुओं से प्राप्त लाभ उनके वितरण तथा उपयोग पर उत्पादकों का भाग सुनिश्चित नहीं रहता। इसके विपरीत पूंजीपति वर्ग जिन्हें राजनीतिक सत्ता का पूर्ण संरक्षण प्राप्त रहता है, उत्पादन तथा वितरण दोनों के ऊपर अपना नियंत्रण बनाये रखते हैं। अतः व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा तथा उसके कारण उत्पन्न होने वाली पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त कर देना चाहिये, तभी समस्त चीजों पर सबके अधिकार को सुनिश्चित किया जा सकेगा। साथ ही उत्पादन से प्राप्त वस्तुओं के ऊपर भी सबके दावों को मान्य किया जा सकेगा। वर्तमान व्यवस्थाओं के अंतर्गत उत्पादित वस्तुओं के ऊपर उत्पादकों के भाग को अन्यायपूर्ण ढंग से मान्यता मिलती है। यह व्यवस्था आर्थिक स्वतंत्रता नहीं है। इसके स्थान पर अराजकतावादी चिंतक आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति को पूर्णतया स्वतंत्र छोड़ देना चाहते हैं। प्राकृतिक साधनों पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं होगा। परन्तु ऐसी अवस्था में अव्यवस्था तथा संघर्ष उत्पन्न होंगे। उन्हें दूर करने के लिए राज्य, कानून, पुलिस, सरकार आदि व्यक्ति के हित में न्यायोचित नहीं होंगे, क्योंकि वे शक्ति पर आधारित हैं। अतः अर्थ-व्यवस्था का नियमन तथा संचा-

रही है। राजतंत्रों तथा धनतंत्रों के अंतर्गत तो जिन लोगों के हाथ सत्ता रहती है, वे कभी भी समाज की सम्पत्ति का समान वितरण कर ही नहीं सकते। उनके अन्तर्गत सत्ताधारी अधिकाधिक लाभ प्राप्त करते हैं, परन्तु प्रतिनिध्यात्मक सरकार भी व्यक्तियों के समान भाग को सुनिश्चित करने में असफल रही है। इसमें बहुसंख्यकों के हाथ में सत्ता रहने से अल्पसंख्यकों के समुचित भाग की सुरक्षा नहीं हो सकती। अतः अराजकतावादी यह मानकर चलते हैं कि वर्तमान राज्य व्यवस्थायें चाहे किसी भी रूप की सरकार निर्मित करें, वे कभी भी इस कार्य को समुचित ढंग से सम्पन्न नहीं कर सकतीं, क्योंकि सरकारों का आधार शक्ति होता है। सत्ताधारी शक्ति का प्रयोग अपने स्वार्थ साधन के लिये करते हैं, वे दूसरों को बलप्रयोग द्वारा दबाते हैं और सरकारें उन सबकी अपेक्षा करती हैं जिनके लिए उनका अस्तित्व है।

अराजकतावादी प्रतिनिध्यात्मक सरकार तक को अवांछनीय मानते है, भले ही इनके अंतर्गत शासन का संचालन जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथ मे रहता है। उनका तर्क यह है कि कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता, जनसमूह का प्रतिनिधित्व करने की बात तो दूर रही। प्रतिनिधियो का ज्ञान इतना सीमित होता है कि वे अपने विविध दायित्वों को सम्पन्न करने की क्षमता रख ही नही सकते। प्रो० जोड के शब्दो मे अराजकतावादी यह मानते है कि प्रतिनिधयात्मक सरकार ऐसे व्यक्तियो की सरकार है, जो प्रत्येक बात के विषय मे इतना ही जानते हैं कि वे उन्हें किस प्रकार बुरे ढंग से करते हैं और वे किसी बात के विषय मे उसे अच्छी प्रकार से करने के बारे मे कुछ नही जानते। इसका परिणाम यह होता है कि सत्ता

थोड़े से विशेषज्ञों के हाथ में चली जाती है जो कुशल राजनेता होते हैं और अपनी चतुराई का पूरा लाभ समाज के अहित में उठाते हैं।

प्रतिनिधित्यात्मक सरकारें इसलिए भी अनावश्यक हैं कि उनके अंतर्गत जन-इच्छा की सही अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। विविध समस्याओं के सम्बंध मे जन-इच्छा का ज्ञान प्रतिनिधियों को नहीं हो सकता। यदि वे समय-समय पर आने वाली समस्याओं के सम्बंध में जन-इच्छा का ज्ञान करने के लिए जन सभायें आयोजित करें, तो स्वयं उनकी उपयोगिता ही नष्ट हो जाती है। अतः एव प्रतिनिधित्यात्मक सरकारें भी आवश्यक हैं। अराजकतावादी राज्य सरकार का विरोध केवल इसी आधार पर करते हैं कि वे शक्ति पर आधारित हैं। सरकार के अभिकरणों में नियुक्त व्यक्ति अपने सत्ता के बल पर अन्य लोगों के ऊपर शासन करते हैं, जिससे सत्ता भ्रष्ट होती है। वह एक सच्चे ईमानदार तथा सज्जन व्यक्ति को भी भ्रष्ट कर देती है। जोड ने लिखा है कि एक राजनेता दुष्ट इसलिए नहीं होता कि उसका स्वभाव ही ऐसा है, वरन इसलिए होता है कि वह एक शासक की स्थिति में है, इसलिए नहीं कि वह मनुष्य है, वरन इस लिए कि वह एक राजनेता है। इसी तर्क को प्रिंस क्रोपोटकिन के शब्दों में व्यक्त करते हुए जोड ने लिखा है कि यह या वह घृणित मंत्री सर्वोत्तम व्यक्ति रहा होता, यदि उसके हाथ मे सत्ता नही होती। सत्ता का मोह शासकों को भ्रष्ट करता है। सरकार का अस्तित्व ही सत्ता का द्योतक है। सत्ताधारी अपने मित्रों तक को भूल जाते हैं। उनके हृदय में प्रेम तथा भ्रातृत्व के स्थान पर घृणा तथा शत्रुत्व की भावनाएं उत्पन्न होती हैं। लोवेस डिकिन्सन ने अराजकतावादियों की धारणा को व्यक्त करते हुए कहा है कि सरकार का अर्थ बाध्यता, वर्जनशीलता, असंतोष तथा पार्थक्य। इसके विपरीत अराजकता का अर्थ है स्वतंत्रता, ऐक्य तथा प्रेम। सरकार का आधार आत्मप्रशंसा तथा भय है। अराजकता का आधार भ्रातृत्व है। इन्ही सब तर्कों के आधार पर अराजकतावादी विचारक सरकार के विरोधी हैं।

3. राज्य एक आवश्यक बुराई है—अराजकतावादियों के अनुसार राज्य जिस रूप मे अपना अस्तित्व बनाये हुए है, उस रूप मे वह अपने अस्तित्व का कोई औचित्य नहीं रखता। वर्तमान राज्य वर्ग राज्य है। उनका उद्देश्य सत्ताधारी वर्ग तथा उसका पोषण करने वाले पूंजीपति अथवा सपत्ति के स्वामी वर्ग का हित साधन करना है। राज्य के समस्त कार्यकलाप तथा प्रतिरक्षा, आंतरिक सुरक्षा, व्यापार व्यवसाय, यातायात, संचार, शिक्षा, कानून, न्याय आदि

...ी व्यवस्थायें सभी की उन्नति के लिए संचालित नहीं हैं। प्रत्युत उन व्यवस्थाओं को वर्ग के हितों का साधन बनाया गया है। उत्पादन के ऊपर इन वर्गों का स्वत्व केवल नियन्त्रणकारी रहा है। जिन औद्योगिक के मजदूर राज्य के प्रतिरोधात्मक कार्य को कोई औचित्य नहीं रखते। राज्य की स्थायी सेनाओं को अनेक साम्राज्यवादियों ने नष्ट किया है। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि ऐसे साम्राज्यवादियों को केवल जनता ने पराजित एवं स्वयं ही विजय करने में समर्थ हुआ है न कि राज्यों के द्वारा संगठित सेनायें। राज्य आन्तरिक सुरक्षा तथा शान्ति को अपराधियों के विरुद्ध संरक्षण देने में भी असफल रहे हैं। आधुनिक राज्यों का दृष्टिकोण यह रहा है कि वे पहले असामञ्जस्यपूर्ण अर्थ व्यवस्था की सृष्टि करते हैं और उसके पश्चात् स्वयं अपने द्वारा सृजित कुव्यवस्था के परिणामस्वरूप अपराधों की सृष्टि करके लोगों को कारागार में भेजते हैं। अराजकतावादियों की दृष्टि में अपराधों के होने का दायित्व पूर्णतया राज्य पर है और राज्यों द्वारा स्थापित न्याय पुलिस, दण्ड आदि की व्यवस्थायें अपराधों को रोकने में समर्थ नहीं हुई हैं। प्रत्युत उनके कारण अव्यवस्था तथा अपराध बढ़ते रहते हैं। अराजकतावादी विचारक शिक्षा तक के लिए राज्य को अनावश्यक समझते हैं। उनके मत में नागरिकों को पर्याप्त अवकाश मिले तो उनमें से जो ज्ञान प्राप्ति के इच्छुक होंगे तथा जो शिक्षा प्रदान करने के इच्छुक होंगे, वे परस्पर सहयोग से अनेक ऐच्छिक शिक्षा संस्थाओं की स्थापना कर लेंगे और उनके द्वारा शिक्षार्थी मनचाही शिक्षा प्राप्त कर लेंगे। यही बात ज्ञान-विज्ञान, कला, संस्कृति आदि के विषय में भी सत्य सिद्ध हो सकती है। इन तर्कों के आधार पर अराजकतावादी विचारक राज्य को किसी भी दृष्टि से आवश्यक नहीं मानते। राज्य अनावश्यक तो है ही, वह एक बुराई भी है। बुराई इस अर्थ में है कि राज्य जितनं व्यवस्थाओं को करते रहे हैं उनके कारण व्यक्ति तथा समाज दोनों का सभी क्षेत्रों में अहित हुआ है। उनके कार्य कलापों ने बुराइयों उत्पन्न की हैं। प्रतिरक्षात्मक कार्यवाहियों से राज्यों के मध्य युद्ध होते हैं। आर्थिक क्षेत्र में जो राज्य कार्य करते हैं उनसे शोषण प्रथा को प्रोत्साहन मिलता है। आन्तरिक व्यवस्थायें अपराधों तथा अन्याय को बढ़ावा देती हैं। शिक्षा तथा संस्कृति के निमित्त जो व्यवस्थायें राज्यों के द्वारा की जाती हैं, वे इन क्षेत्रों में स्वतन्त्र विकास को अवरुद्ध करती हैं। अतः राज्य न केवल आवश्यक है, प्रत्युत बुराई भी है। राज्य की ऐसी अनिवार्यता

तथा बल प्रयर्ती नियमन की व्यवस्था के स्थान पर अराजकतावादी स्वतंत्र सहयोग तथा ऐच्छिक सहकार को स्थानापन्न करना चाहते हैं। वे राज्य को अन्याय तथा पशुबल पर आधारित व्यवस्था कहते हैं, जिसमें से थोड़े से सत्ताधारी व्यक्ति उन समस्त वस्तुओं के ऊपर, जो न्यायोचित ढंग से सम्पूर्ण समाज की ही है, अपना अन्यायपूर्ण एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं।

(4) धर्म का विरोध—साम्यवाद तो पूर्णतया भौतिकवादी दर्शन है ही, परन्तु अराजकतावाद उससे भी एकदम आगे बढ़कर धर्म की समाप्ति को अपने विरोध-त्रयी राज्य, पूँजी, धर्म में से एक मानता है। धर्म के प्रति हमारे विरोध का आधार यह है कि धर्म मनुष्य को भाग्यवादी तथा अन्धविश्वासी बना देता है। इसके कारण उसमें अकर्मण्यता आ जाती है। वह सामाजिक अन्याय को भाग्यवाद के नाम पर चुपचाप सहने लगता है। बहुधा व्यक्तिगत तथा सामाजिक नैतिकता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने में धर्म की प्रमाणिकता दी जाती है। राज्यों के शासक धर्म के नाम पर पशुबल का प्रयोग तथा अन्याय और शोषण के औचित्य को पुष्ट करते हैं। इस प्रकार अन्यायपूर्ण अर्थ व्यवस्था तथा सामाजिक अर्थ-व्यवस्था का समर्थन करने मे धर्म भी सहायक बन जाता है। अराजकतावादी धर्म का विरोध करने के कारण धार्मिक नैतिकता को अनुचित मानते हैं। परन्तु वे नैतिकता को धार्मिक रूढ़िवादियता का दास नही बनने देना चाहते हैं। इनकी दृष्टि मे नैतिकता मानव स्वभाव, समाजिकता को नैसर्गिक मानव प्रवृत्ति तथा सामाजिक न्याय की विवेकपूर्णता में अन्तर्निहित है। व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास में धर्म बाधा डालता है। इसलिए ऐसे धर्म को अराजकतावादी समाप्त कर देना चाहते हैं।

(5) सहयोग तथा साहचर्य पर आधारित विकेन्द्रीकृत सामाजिक व्यवस्था का समर्थन—यद्यपि अराजकतावाद राज्य तथा सरकार सदृश संस्थाओं का विरोध करके उनकी पूर्णतया समाप्ति कर देना चाहता है, तथापि अराजकतावादी विचारक इनके अभाव मे भी ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करते हैं जो अनगिनत समुदायों से निर्मित रहेगी। ये समुदाय प्रादेशिक एवं व्यावसायिक दोनों प्रकार के होगे। इनके निर्माण, नियमन तथा नियंत्रण के निमित्त राज्य या सरकार सदृश किसी केन्द्रीकृत सत्ता की आवश्यकता नही पड़ेगी। प्रत्युत प्रादेशिक एवं व्यावसयिक आधार पर आवश्यकतानुसार लोग स्वेच्छा से अपनी विविध समस्याओं के लिए समुदायों का निर्माण करते रहेंगे। विविध समुदाय परस्पर अपने सम्बन्धों को बनाये रखेंगे, उद्देश्य पूर्ण हो जाने पर वे स्वमेव समाप्त होते रहेंगे। उन

समुदायों के माध्यम से व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहेंगे। अतएव सामाजिक व्यवस्था का आधार राज्य का बल-प्रवर्ती-कानून नहीं होगा, वरन् ऐच्छिक सहयोग तथा सहचार होगा, जिसके अनुसार व्यक्ति व्यक्ति के मध्य तथा व्यक्ति और समाज के मध्य, एवं विविध समुदायों के मध्य परस्पर सहचारपूर्ण सम्बन्ध स्वेच्छा से निर्मित होते रहेंगे। सामाजिक जीवन में स्वतन्त्रता तथा समानता को नियन्त्रित तथा नियमित करने वाली राजनीतिक या कानूनी सत्ता के अभाव में तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति और पूँजीवादी व्यवस्था के अभाव में व्यक्ति व्यक्ति या व्यक्ति एवं समुदायों के मध्य प्रतियोगिता का प्रश्न नहीं रहेगा जहाँ प्रतियोगिता या स्वार्थहित को सम्पन्न करने की प्रवृत्ति का अभाव होता है वहाँ अपराध दण्ड या न्याय प्रश्न भी नहीं उठेगा। फिर भी अराजकतावादी यह मानते हैं कि पारस्परिक विवाद उत्पन्न होंगे। उन्हें हल करने के लिए जनता स्थान-स्थान पर पंच न्यायालयों को बना लेगी। केन्द्रीय सत्ता के अभाव में विभिन्न स्थानीय एवं व्यावसायिक स्तरों पर स्वेच्छा से निर्मित ऐसे समुदायों का जाल बिछा रहेगा जो पूर्णतया स्वायत्तशाली रहेंगे। अराजकतावाद प्रादेशिक एवं व्यावसायिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकृत व्यवस्था का समर्थन करने वाली सर्वप्रथम तथा सर्वोत्तम विचारधारा है।

डिकिन्सन ने अराजकतावादियों की कल्पना की सामाजिक व्यवस्था के विषय में कहा है कि समुदायों का एक जटिल जाल जिसमें व्यवस्था सर्वत्र बनी रहेगी, परन्तु बाध्यता नहीं होगी, ऐसी सामग्री का निर्माण करता है, जिससे अराजक समाज की रचना होगी, क्योंकि अराजकता व्यवस्था का अभाव नहीं है, प्रत्युत प्रतिबन्धों का अभाव है। अराजकतावादी चिन्तकों की कल्पना के समाज में राज्य, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा धर्म का विरोध इसी आधार पर किया गया है कि ये संस्थायें मानव जीवन के स्वतन्त्र सचालन में अपनी सत्ता के प्रयोग के निमित्त शक्ति का आश्रय लेकर प्रतिबन्ध लगाती रहती है। अतः मानव अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का स्वतन्त्र विकास करने में असमर्थ रहता है। इन संस्थाओं द्वारा शक्ति का प्रयोग सामाजिक जीवन के नैसर्गिक मूल्यों की उपेक्षा करता है। यदि ये न रहें तो व्यक्ति परस्पर सहयोग तथा साहचर्य से अपने सामाजिक जीवन की विविध समस्याओं को स्वमेव हल करते रहेंगे। मतभेदों तथा संघर्षों का निराकरण भी विविध समुदाय ऐच्छिक सहचार द्वारा करेंगे। अराजकतावादी समाज का रूप संघात्मक होगा, जिसमें स्थानीय समुदाय वृहत्त सामाजिक जीवन की इकाइयों के रूप में होंगे और प्रादेशिक तथा व्यावसायिक आधार पर वे उत्थोत्त-

सामुदायिक जीवन प्रतियोगिता से
मे बड़े समुदायों का निर्माण करेंगे । सामुदायिक जीवन प्रतियोगिता से ... व्यक्तिगत
हित होगा। समाज का आधार भ्रातृत्व का होगा, नाकि द्वेष का। व्यक्तिगत
सम्पत्ति तथा पूजीवाद का विराध करके अराजकतावादी ऐसे ही राज्यविहीन तथा
वर्गविहीन समाज की स्थापना का उद्देश्य रखते हैं, जिसकी कल्पना कार्लमार्क्स ने
की है। उस समाज में सहयोग तथा सहकारिता के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति अपनी
शक्ति के अनुसार कार्य करेगा और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार
लाभ प्राप्त होगा । अराजकतावाद सर्वहारा वर्ग की कल्पना नही करता, प्रत्युत
उसके अनुसार क्रान्ति व्यक्तिगत तथा सामाजिक होगी, जो राज्य, धर्म तथा पूंजी
वाद को तुरन्त समाप्त कर देगी और इनकी समाप्ति के साथ-साथ अराजक समाज
की स्थापना होती जायेगी । प्रश्न यह है कि ऐसे समाज की स्थापना के मार्ग में
जो सामंजस्यीकरण तथा संघर्षों को मिटाने की समस्या आयेगी, उसे कैसे हल
किया जायेगा । इसका उत्तर फॉरियर के शब्दों में, इस प्रकार है, "एक बक्से में
कुछ रोडे पत्थरो को लीजिए, उन्हें हिलाइये, वे स्वमेव इतनी अच्छी तरतीब से
लग जायेंगे । यदि किसी विशेषज्ञ को यह कार्य सौंपा जाये तो वह भी इन्हे इतने
सुन्दर ढंग से लगा सकने मे सफल नही हो सकता" । इस दृष्टांत को समाज में सा
करते हुए अराजतावादी यह मानते हैं कि क्रान्तिकाल मे व्यक्ति समूहों के मध्
संघर्ष होगा । कालांतर में सम्पूर्ण समाज स्वय व्यवस्थित हो जायगा । उसके लि
कानून या राज्य सदृश किसी बाहरी कलाकार की आवश्यकता नही पड़ेगी ।

(6) हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा अराजक व्यवस्था की स्थापना पर विश्वास
अराजकतावादी सामाजिक व्यवस्था एक स्वप्नलोकी विचार लगता है । ...
कम जबकि उन्नीसवी शताब्दी में जबकि राज्य सामाजिक जीवन के नियन्त्र
में न केवल शक्तिशाली साधन सिद्ध हो चुका था, अपितु राज्यविहीन समा
धारणा भी कल्पनातीत थी । ऐसी व्यवस्था निश्चय ही स्वप्नलोकी थी । ...
निवर्तमान राज्य सत्ता पूंजीवादी व्यवस्था तथा धर्म संस्थाओं की बल
द्वारा होने वाले सामाजिक अन्याय को नष्ट करने के लिए स्वयं उन्हीं को
कर देने का विचार रखते थे । यह एक उग्र वामपन्थी विचार, कार्य
आन्दोलन था । इसकी उपलब्धि वैज्ञानिक या शान्तिपूर्ण साधनों मे
सकती थी । इन संस्थाओं की जड़ें सामाजिक जीवन में इतनी गहरी ज
कि बिना हिंसात्मक क्रान्ति के उन्हे उखाड़ सकना असंभव था । अ
...ों की प्राप्ति के लिए अराजकतावादियों ने अहिंसात्मक क्रांतियों

परन्तु अराजकतावादी चिंतक क्रांतिकारी संगठन के निमित्त ऐसी कोई ठोस व्यवस्था तथा कार्यक्रम प्रस्तुत नहीं कर पाये, जैसी कि लेनिन ने साम्यवादी क्रांति के निमित्त प्रस्तुत की थी। उसने दल के निर्माण को महत्व दिया था। इसके विपरीत अराजक क्रांति के समर्थकों ने विभिन्न प्रादेशिक स्तरों पर ऐच्छिक समुदाय तथा संघों के निर्मित हो जाने तथा उनके द्वारा राज्य, धर्म तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्थाओं पर हिंसात्मक क्रांति द्वारा अपना आधिपत्य प्राप्त कर लेने की धारणा व्यक्त की है। क्रांति के लिए नेतृत्व परमावश्यक है। इन समुदायों तथा संघों को संगठित नेतृत्व कौन प्रदान करेगा। इसे अराजकतावादी चिन्तक स्पष्ट करने में असफल रहे हैं। प्रिंस क्रोपोटकिन की धारणा यह थी कि ऐतिहासिक विकासक्रम इस प्रकार चल रहा है कि राज्य के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के संघ तथा समुदाय बनते जा रहे हैं और वे अपनी सत्ता तथा कार्यक्षेत्र को बढ़ाते जा रहे हैं। राज्य की सत्ता का प्रभाव उनके ऊपर न्यूनातिन्यून होता जा रहा है। कालान्तर में ये समुदाय इतने सशक्त हो जायेंगे कि वे राज्य का अंत कर देंगे। परन्तु क्रोपोटकिन ने इसे बहुत मन्थर गति से चलने वाली प्रक्रिया मानकर तुरंत कार्यवाही का आह्वान किया है। उनके मत से इन संस्थाओं को तुरन्त राज्य की सत्ता समाप्त करने के लिए अग्रसर होना पड़ेगा। राज्य अपनी शक्ति का प्रयोग करके इनकी क्रांति का दमन करेगा। अतः इन्हें भी हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा राज्य के प्रतिरोध का सामना करना पड़ेगा। क्रांति पहले एक देश में प्रारम्भ होगी। फिर शीघ्र ही यह अन्यत्र फैलेगी। क्रान्ति की सफलता के द्वारा राज्यों का अन्त कर दिये जाने पर विश्व में राज्य जैसी संस्था नहीं रहेगी। इस प्रकार अराजकतावादी विचारधारा हिंसात्मक क्रान्ति की समर्थक है।

अराजकतावादी चिन्तक

(विलियम गाडविन 1756–1836)

विलियम गाडविन, जो एक काल्विन पंथी का पुत्र था और स्वयं पादरी था और कई उपन्यासों, नाटकों तथा बाल-कथाओं व सामाजिक सिद्धान्त के अनेक ग्रंथों का लेखक था, सर्वप्रथम आधुनिक अराजतावादी माने जाते हैं। उनने ही अराजकतावाद का सर्वप्रथम वैज्ञानिक आधार पर प्रतिपादन किया। उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनीतिक ग्रंथ राजनीतिक न्याय सन् 1795 में प्रकाशित हुआ। गाडविन के दर्शन के आधार पर प्रमुख ये विचार हैं।

(1) जब मनुष्य जन्म लेता है तो वे न अच्छे और न बुरे ही होते हैं अथवा न सदाचारी ही और न दुराचारी ही। इस दशा में उन पर बाह्य

यतियों और दशाओं का प्रभाव पड़ता है। परिस्थितियाँ ही उन्हें
ांचे में ढालती हैं। गाडविन के इस विचार का महत्वपूर्ण परिणाम यह
लता है कि अपने दोषों अथवा अपनी बुराइयों के लिए उत्तरदायी व्यक्ति नहीं
रन् समाज है। अतः समाज सुधारक के द्वारा ही व्यक्ति का सुधार हो सकता
वह उद्धार और पूर्णतया की ओर अग्रसर हो सकता है। मनुष्य के वर्तमान
ट और उसकी पूर्णता के मार्ग में दो बुराइयाँ उत्तरदायी हैं और वे हैं सरकार
या सम्पत्ति। अतः मानवहित की दृष्टि से यह आवश्यक है कि मानव हित की
त्रु इन दोनों बुराइयों, अर्थात् सरकार या सम्पत्ति, का उन्मूलन किया जाय।

(2) मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। उसमें बुद्धित्व पाया जाता है।
यदि वह किसी कार्य को विवेकपूर्ण समझ लेता है तो उसे करने के लिए उसको
और अधिक समझाने बुझाने की कोई आवश्यकता नहीं होती। अपनी इस धारणा
से गाडविन यही परिणाम निकालता है कि मनुष्य अथवा वर्तमान पतित समाज
क्रांति और शक्ति की अपेक्षा सार्वभौमिक ज्ञान से ही अपना उद्धार कर सकता है।
यदि मनुष्य को पूर्ण विश्वास हो जाये कि सरकार तथा सम्पत्ति अभिशाप है, तो
हिंसात्मक साधनों के बिना ही वह उनको नष्ट कर दे। उसे इस बात की
आवश्यकता न हो कि तलवार म्यान से निकाली जाये अथवा उंगली उठायी जा

गाडविन वह सर्वप्रथम अराजकतावादी विचारक था जो कि सरकार
शक्ति और हिंसा से उत्पन्न बुराई मानता है। लेकिन समाज को उपयोगी
समझता है। उसका कहना है कि सरकार हिंसा और शक्ति पर आधारित है
क्योंकि वह मनुष्य को अपने अधिकार की जंजीरों में जकड़ देती है। वह शासन
को मानव जाति के व्यक्तिगत निर्णय और व्यक्तिगत अंतःकरण पर वादी
पुकारता है। शासन का मूल हमारी बुराइयों में है, जबकि समाज का मूल हमारी
आवश्यकताओं में। कानून, न्यायालय, शासन ये सब हमारे पूर्वजों की
ईर्ष्या तथा महत्वाकांक्षाओं की उत्पत्ति है, अतः इनका अंत कर देना चाहिये।

गाडविन ने राज्यसत्ता के विरोध के साथ साथ वैयक्तिक सम्पत्ति का
विरोध किया। उसका विचार था कि साधारण मनुष्य न्यायपूर्वक तथा सम
ढंग से उसी समय कार्य करते हैं, जबकि आत्मगति व्यक्ति के लिए
स्वाभाविक आकांक्षायें उन अनुचित आर्थिक अवस्थाओं द्वारा विरत न
जाती, जो राज्य के हिंसात्मक हस्तक्षेप से कायम रखी जाती हैं। किन्तु उ
भी स्वीकार किया कि यदि सभी सर्वाधिक, स्वाभाविक एवं न्यायपूर्ण ग

सम्बन्ध स्थापित कर दिये जायें, तो भी एक दीर्घकाल तक कुछ व्यक्ति ऐसे अवश्य होंगे, जिन पर नियन्त्रण अवश्य होगा। इस कारण दमनकारी शक्तिशाली राज्य के अवशेष उस समय तक बने रहेंगे जब तक कि न्यायशील तथा प्रबुद्ध मानव के प्रयत्नों से इन अभागे अल्पमत की विकृत प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति सामान्य ढंग से नहीं होने लगती। इस प्रकार गाडविन का सिद्धांत पूर्णरूप से अराजकतावादी नहीं था और न उसने उसे ऐसा नाम ही दिया। इसके सैद्धांतिक ग्रंथों के अधिकांश में उन सामाजिक तथा नैतिक दूषणों का विश्लेषण किया गया है जो शासन तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति से उत्पन्न होते हैं और जिन्हे वह एक दूसरे का पोषक मानता था। उसकी यह मान्यता थी कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा से दरिद्रों में हीनता एवं अनैतिकता और धनवानों में मिथ्याभिमान एवं पतन आता है अतः इसका उन्मूलन कर देना चाहिए। गाडविन राज्य तथा सरकार, कानून तथा न्यायालय, और सम्पत्ति एवं परिवार, का उन्मूलन चाहता है और इन सिद्धांतों को अत्यंत ओजपूर्ण भाषा में व्यक्त करते हैं। अतः ग्रे ने लिखा है, वह पूर्ण अराजकतावादी है और जब बुद्धि तथा न्याय की अपनी हंसिया से वह मानव मिथ्याचार को काट डालता है, तो प्रायः कुछ भी शेष नहीं रह जाता। यद्यपि वह एक सर्वनाशक है किन्तु विनाश का यह कार्य उच्चतम उद्देश्यों से उत्प्रेरित है।

टामस हाजस्किन (1787-1869)

हाजस्किन भी गाडविन की भांति एक सैद्धांतिक अथवा स्वपनलोकी अराजकतावादी था। उसके ऊपर आदम स्मिथ का प्रभाव होने के कारण वह एक उग्र व्यक्तिवादी था। वह यह मानता है कि विश्व का संचालन तथा नियमन कुछ निश्चित प्राकृतिक नियमों के अनुसार हुआ करता है। मानव भी इसी सार्वभौम व्यवस्था का एक अंग है। अतएव उसकी गतिविधियों तथा कार्यकलापों का नियमन मानवकृत नियमों द्वारा किया जाना अस्वाभाविक अथवा अवांछनीय है। उसका संचालन उसी प्रकार होना चाहिये, जिस प्रकार विश्व प्रकृति में वनस्पति तथा ग्रह और नक्षत्रों की गति चलती रहती है। राज्य तथा सरकार कृत्रिम संस्थायें हैं। इनके द्वारा बनाये गये नियमों तथा कानूनों के द्वारा मानव समाज का संचालन कोई औचित्य नहीं रखता। इसके विपरीत पूर्व निर्धारित प्राकृतिक नियमों द्वारा यदि मानव अपने जीवन का संचालन करते हैं, तो उनके सामाजिक जीवन के लक्ष्य स्वमेव प्राप्त होते रहेंगे। हाजस्किन सरकार को समाप्त कर देने की दलील तो नहीं देता, परन्तु उसके क्षेत्र को अत्याधिक मर्यादित रखना चाहता

सकी दृष्टि मे कोकर ने लिखा है, नये कानूनों का निर्माण करना
है। यदि किसी प्रकार का विधायन आवश्यक ही हो तो उसका रूप यही
कता कि वह वर्तमान कानूनों को धीरे-धीरे निरस्त करता जाय।

हाजस्किन नैसर्गिक सम्बन्धी अधिकार को अमान्य नही करता, परन्तु उनका
विरोध राज्य द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार की मान्यता से था।
के मत से प्रत्येक व्यक्ति को श्रम द्वारा उत्पादित समस्त माल पर समुचित
ग मिलना चाहिये। निवर्तमान राज्य व्यवस्थाओं के अतर्गत व्यक्ति के इस
भोचित सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता प्राप्त नही है। श्रमिक का पूंजी-
तियो द्वारा शोपण किया जाता है। अतः जब निवर्तमान कानूनों को निरस्त कर
दिया जायेगा, तो व्यक्ति को नैसर्गिक सम्पत्तिगत अधिकार स्वयं मिलने लग जायेंगे
और उत्पादन से प्रत्येक व्यक्ति को उसके द्वारा उत्पादन मे किये गये श्रम का प्रा
प्राप्त हो सकेगा। हाजस्किन ने सरकार को समाप्त कर देने की धारणा व्यक्त की
है, परन्तु व्यक्तिवादियों की भांति वह राज्य के कार्यक्षेत्र को प्रतिरक्षा तथा शान्ति
व्यवस्था तक ही सीमित कर देना चाहता है। आर्थिक क्षेत्र में वह व्यक्तिवादियों
से इसलिए भिन्न दृष्टिकोण रखता है कि राज्य द्वारा व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा
किये जाने को धारणा उसे अमान्य है। हाजस्किन के विचारों का प्रभाव ब्रिटेन
के चार्टिस्ट आन्दोलन में तथा स्पेन्सर के विचारो में पाया जाता है। इस दृष्टि से
हाजस्किन को व्यक्तिवादी अराजकतावाद का समर्थक मानना उचित है।

पीयरे जोजेफ प्रूधों (1809–1865)

पियरे जोजेफ प्रूधों का जन्म फ्रांस के बेसनकाल नामक ग्राम में एक अत्यं
दरिद्र परिवार मे हुआ। माता-पिता की निर्धनता के होते हुए भी उसके कठि
परिश्रम करने पर उसे विद्यालय की शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो गया
उसने अपने अध्ययन के उज्जवल प्रमाण स्थापित किये। 19 वर्ष की आयु में
एक मुद्रणालय में प्रूफरीडर हो गया। बेसनकाल अकादमी में उसने 3 वर्ष की
साहचर्य छात्रवृत्ति की प्रतियोगिता मे भाग लिया तथा अपना अनुसंधान कार्य
किया। इसी समय उसका उग्र समाजवादियो से घनिष्ट सम्पर्क हुआ। इसका
मानस पर गहरा प्रभाव पड़ा। इस अनुसधान के पश्चात् अपनी रचना "
क्या है ?" मे ये सम्मिलित कर दिये गये। इस पुस्तक मे अभिव्यक्त
विचारों के कारण उसे न्यायालय के सामने प्रस्तुत किया गया, किन्तु उसने
गौरवपूर्ण ढंग से अपना बचाव पक्ष प्रस्तुत किया और वह मुक्त हो गया। इस

फ्रांस में फरवरी क्रान्ति के पश्चात् जब द्वितीय गणतंत्र की स्थापना हुई, तो प्रूधो प्रधान निर्माण परिषद का सदस्य निर्वाचित हुआ। बाद में नेपोलियन तृतीय का विरोध करने के अपराध में उसे जेल में डाल दिया गया और उस पर अपमानपूर्ण लेख लिखने का अभियोग लगाया गया। कुछ समयोपरांत सन् 1858 में 'चर्च और क्रान्ति में न्याय' नामक, रचना के लिखने के अपराध में पुनः बंदी बना लिये गये। यह रचना काफी विवादास्पद थी। किसी प्रकार प्रूधो बन्दीगृह से निकल भागने में सफल हो गये। प्रूधो के निम्नलिखित मुख्य ग्रंथ हैं —

1—What is Property (सम्पत्ति क्या है)।

2—Philosophy of Poverty (दरिद्रता का दर्शन)।

3—The Solution of the Social Problem (सामाजिक समस्याओं का हल)।

4—Idea of Justice in Revolution and the Church (चर्च और क्रान्ति में न्याय का विचार)।

5—Political Capacity of the working class (श्रमजीवी वर्ग की राजनैतिक क्षमता)।

उसमें अन्य ग्रंथों की भी रचना की जो उसकी मृत्यु पर्यन्त अप्रकाशित रहे। वह जीवन के अंतिम स्वास तक लिखता ही रहा लेकिन अपने पीछे कोई शिष्य परम्परा नहीं छोड़ गया, जिसको वह चाहता भी नहीं था।

प्रूधो अपने किस्म का एक अद्भुत व्यक्ति था। जिन विचारकों को समाजवाद की विचारधारा के निर्माण से सम्बद्ध किया गया है, उनमें से अधिक विचित्र एवं अस्पष्ट स्थान अन्य किसी का नहीं है। प्रूधो एक विचित्र अकेलेपन में रहना पसंद करता था, लेकिन उसके समझने में इस बात से सहायता मिलेगी कि वह अनिवार्यतः जनता का आदमी था। उसने सर्वसाधारण के शारीरिक, नैतिक एवं बौद्धिक विकास हेतु कार्य करने का संकल्प लिया था। वह यह बात बड़े गर्व से कहता था कि उसे सर्वसाधारण में से एक व्यक्ति होने का अवसर मिला है।

अलेक्जेंडर ग्रे ने प्रूधो को स्वभावतः एक विध्वंसक तथा आलोचक कहा है। अपने जीवन के संध्याकाल में उसके इस दृष्टिकोण में नमनीयता आ गयी थी लेकिन फिर भी उसके विरुद्ध यह आरोप बना ही रहा। उसने यह सिद्ध करने

का प्रयास किया कि चिन्तन के विकास में उसने ठोस योगदान दिया है, लेकिन वह अपने समकालीन व्यक्तियों को इस बात से आश्वस्त नहीं कर पाया। प्रूधों जीवन पर्यन्त एक भड़के हुए साँड़ की भांति समकालीन समाजवादियों को अपने सींगों से मारता रहा और आलोचक उसके द्वारा व्यक्त की गई टिप्पणियों का रसास्वादन करते रहे। जैसे उसने लुई ब्लां को स्वतन्त्रता का कट्टर शत्रु बताया वैसे ही उसने कैबे, रूसो एवं अन्य व्यक्तियों पर भी कड़ा प्रहार किया।

प्रूधों के विचार

अलेक्जेण्डर ग्रे के अनुसार प्रूधों के मूल में उसका न्याय का विचार है। न्याय की उसकी अपनी परिभाषा है। उसके अनुसार न्याय सबसे आवश्यक है, जो सबको मिलनी चाहिये। उसने न्याय की प्रशंसा में अनेक बातें कही हैं। उसने इसको सम्पत्ति के विचार से जोड़ा है। सम्पत्ति के कारण आय के साधन अन्याय पर आधारित हो सकते हैं और पूंजी चोरी है। यदि सम्पत्ति का उपयोग भली प्रकार से किया जावे और इसको ठीक प्रकार से विभाजित किया जाये तो इसका घातक प्रभाव समाप्त हो जाता है और यही सम्पत्ति स्वतंत्रता है और इससे समाज को मुक्ति मिलती है। न्याय में ही हमें मुक्ति मिलती है। उसने फिर न्याय को समानता के साथ जोड़ा और बड़े ही व्यापक अर्थ में न्याय का सम्बन्ध स्वतंत्रता और समानता से बताया है।

प्रूधों ने न्याय की परभाषा देते हुए कहा कि न्याय वह सम्मान है जो हमारे द्वारा ही अनुभव और पारस्परिक रूप में गारंटी किया जाता है। यह वह मानव गरिमा है जो किसी भी मनुष्य अथवा किन्हीं परिस्थितियों में और किसी भी मूल्य पर रखी जा सकती है।

प्रूधों ने बताया कि न्याय का पहला तत्व तो यही है कि उन वर्गों का उन्मूलन कर दिया जावे जो इस पर सबसे बड़े भार हैं। ब्याज की राशि इतनी कम हो जावे कि वह लगभग नहीं के बराबर रह जावे और यही मानवता के लिए कल्याणकारी वस्तु रहेगी। प्रूधों को यह बात बहुत प्रिय थी कि न्याय तभी संभव है जबकि ऐसे बैंकों का निर्माण किया जावे जो बिना ब्याज के ऋण दें और इसके लिए सारे प्रयास किये जाने चाहिये। समाज में न्याय की स्थापना हो उसके लिए उपर्युक्त बातें मौलिक हैं।

सत्ता पर प्रहार

प्रूधों एक उग्र व्यक्तिवादी था और उसके इन विचारों में कोई परिवर्तन नहीं उत्पन्न हुई। उसका प्रत्येक प्रकार का सत्ता से विरोध था। बहुत से

स्वतंत्रता का अपहरण करने वाली सत्तात्मक संस्थायें राज्य और चर्च है और इन दोनों का प्रूधो ने जमकर विरोध किया। इतना ही नहीं उसने बडी पैनी दृष्टि से इस चीज का अनुभव किया कि उसके समय में समाजवाद की प्रचलित सभी धारायें उतनी ही अधिनायकवादी हैं जितना कि एक अधिनायकवादी राज्य। उसका विचार था कि समाजवाद इतना ही अत्याचारी हो सकता है जितना कि वर्तमान राज्य जिसके अन्दर सब लोग पिसते हैं। यही कारण था कि उसने साम्यवादियो के विरुद्ध अपना संघर्ष निरंतर जारी रखा और विशेष रूप से उसने लुई ब्लाँ और क्रैबे का इस आधार पर जमकर विरोध किया कि वे अधिनायकवादी समाजवाद का प्रतिनिधित्व करते है, जिन्हे वे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कहने का अर्थ यह है कि न्याय, जिसको समानता के रूप में देखा गया, और स्वतंत्रता, जिस पर कोई नियंत्रण नहीं है—ये दो उग्र व्यक्तिवादी स्वतंत्रता प्रतिनिधित्व करने वाले ऐसे सिद्धांत हैं जिनके प्रति प्रूधो की अविच्छिन्न आस्था थी। यद्यपि फ्रांस में क्रान्ति के उपरांत स्वतंत्रता और समानता के दो महान आदर्श रहे है लेकिन प्रूधो के स्वतंत्रता और समानता सम्बन्धी विचार ऐसे हैं जिन्हें मूर्तरूप नहीं दिया जा सकता। प्रूधो के सम्पत्ति सम्बन्धी विचार भी बहुत महत्वपूर्ण हैं और इन विचारों मे कोई असंगति भी नहीं है। सम्पत्ति के सम्बन्ध में उसके पूर्ववर्ती विचारको ने जो विचार दिये हैं उन्हे वह अपूर्ण समझता था। उसने बताया कि अब तक सम्पत्ति का आधार या तो उसका स्वामित्व के कारण माना जाता रहा है या यह अधिकार श्रम पर आधारित रहा है जिसका अर्थ यह है कि श्रम करने वाले का ही उस वस्तु पर अधिकार होना चाहिये।

व्यक्तिगत सम्पत्ति पर प्रहार

जहाँ तक किसी वस्तु के स्वामित्व के आधार पर निर्मित अधिकार है, यह कहा जाता है कि आने वाली पीढियों के विरुद्ध इस प्रकार का कोई अधिकार पैदा नहीं किया जाता। प्रूधो का कहना है कि जिसने जिस चीज को हड़प लिया, जो किसी वस्तु का स्वामी बन बैठा, वह उसकी सम्पत्ति नही मानी जा सकती। सम्पत्ति सब की है और यह सबके उपयोग की वस्तु है। स्वामित्व के आधार पर सम्पत्ति देना समानता के सिद्धांत की हत्या करना है और समानता के सिद्धात को स्वीकार कर लेने पर प्रचलित अर्थ की सम्पत्ति सम्बंधी संस्था टूट जाती है। प्रूधों, लॉक और मिल के श्रम पर आधारित सम्पत्ति के विचार से भी सहमत नहीं था। वह लॉक के इस विचार से सहमत नही था कि श्रमिक को उसके द्वारा निर्मित वस्तु पर अधिकार होना

चाहिये, क्योंकि वह अपने श्रम को प्रकृति द्वारा प्रदत्त कौशल के साथ मिलाता है। प्रूधों का मत है कि प्रकृति द्वारा दिये हुए गुणों को भी अभी ठीक प्रकार से उपलब्ध नहीं कराया गया है और श्रमिक यहां पर भी घाटे में रहता है। उसके सम्पत्ति सम्बंधी विचारों का सार बताते हुए यह कहा जा सकता है कि सम्पत्ति न उत्तराधिकार के आधार पर मिलनी चाहिये और न श्रम पर आधारित होनी चाहिये। वह व्यक्ति की सम्पत्ति मानने के पक्ष में नहीं था। उसकी मान्यता है कि धन को सामूहिक रूप से और सामाजिक स्तर पर पैदा किया जाता है। उसका तर्क कि श्रमिकों की जितनी अधिक संख्या होगी, उतना ही प्रत्येक को कम काम करना होगा और इस प्रकार मनुष्य शक्ति की प्राकृतिक सीमायें एक विस्तृत समाज में स्वतः कम हो जायेंगी। वह इस बात से सहमत नहीं था कि अधिक योग्य व्यक्तियों को अधिक वेतन दिया जाये। उसका कथन है कि समाज ने अपनी आंतरिक अव्यवस्था के कारण तथाकथित अयोग्य व्यक्तियों को विकसित होने का अवसर ही कहां दिया। उसके कहने का अर्थ यह है कि यह समाज है न कि व्यक्ति जो अधिक उत्तरदायी संस्थाओं का निर्माण करता है और मनुष्यों में समता पैदा करता है। उसका कथन है कि उत्पादन में पारस्परिक आत्मनिर्भरता रहती है। कोई यह नहीं कह सकता कि वह अपने साथियों का ऋणी नहीं क्योंकि कोई अपनी योग्यता का दम नहीं भर सकता। किसी एक व्यक्ति का कार्य पृथक नहीं किया जा सकता। इन सब बातों से वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि समाज का विकास समानता की दिशा में हो रहा है।

उसने यह घोषणा की कि पूंजी चोरी है और राज्य पर उसका यह आरोप था कि इसका विकास व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रणाली से हुआ है और उसके द्वारा इस प्रणाली के अन्यायों को संरक्षण मिला है। प्रो० कोकर ने लिखा है कि प्रूधों ने इस व्यापक आधार पर राजनीतिक सत्ता की भी निन्दा की कि यह मान, विवेक तथा ज्ञान पर मनोवेग का आधिपत्य स्थापित करती है। अपनी पुस्तकों में उसने समझाया है कि सम्पत्ति की निन्दा करने में उसका मुख्य उद्देश्य सम्पत्ति के उस रूप से था जो लाभ, भाड़े और ब्याज के द्वारा संगृहीत है और उसके विशिष्ट आर्थिक प्रस्तावों का उद्देश्य व्यक्तिगत सम्पत्ति का विनाश नहीं वरन् उसके एकाधिकारात्मक एवं शोषणात्मक रूप का विनाश करना था। उसने जनता के बैंक की एक योजना प्रस्तुत की, जिसका काम श्रम नोट जारी करना था जिनके काम के समय से निर्धारित श्रम की इकाई प्रकट होगी और जो बिना ब्याज के उन लोगों को ऋण पर दिये जा सकेंगे जो अपनी योग्यता और

करने की स्वीकृत व्यवस्था के रूप में दे सकेंगे। प्रूधों के अपने सम्बन्धी सिद्धान्त पारस्परिकतावाद की प्रणाली के रूप में है, जिसके अनुसार व्यक्ति तथा ऐच्छिक समुदाय सहकारी बैंकों के द्वारा ब्याजरहित ऋण द्वारा उत्पादन कार्य कर सकें। उसका यह विश्वास था कि उसकी बैंक सम्बन्धी योजना से समस्त व्यक्तिगत पूंजी का अन्त हो जायेगा क्योंकि वह इससे ब्याज नहीं कमा सकेगी और इस योजना से ऐच्छिक सहयोग को इतनी सुविधा और प्रोत्साहन मिलेगा कि किसी प्रकार का भी दमनकारी राजनीतिक संगठन अनावश्यक हो जायेगा।

प्रूधों के ये विचार बहुत ही प्रसिद्ध बने। सन् 1860 से सन् 1880 तक फ्रांस के श्रमिक आन्दोलन पर उन लोगों का प्रभाव रहा, जो उसके विचारों से सहमत थे। यूरोपीय प्रवासी उन इन विचारों को अमरीका ले गये और वहां उन पर प्रयोग भी किये गये। प्रूधों के अमेरिकन अनुयायियों में विलियम ग्रीन प्रसिद्ध हुआ है, जिसने प्रूधों के विचारों को अपने ग्रन्थों में समाविष्ट किया. लेकिन यह भी सच है कि प्रूधों के शिष्य उसके अराजकतावाद के सिद्धान्त को उस सीमा तक ले जाने के लिये आवश्यक और कटिबद्ध नहीं थे, जितना कि वह चाहता था।

अन्य विचार

प्रूधों को उग्र व्यक्तिवादी और अराजकतावादी कहना उचित होगा वह सब प्रकार की सरकारों के विरुद्ध था। उसने स्पष्ट घोषणा की कि हम जिस प्रकार मनुष्य के द्वारा मनुष्य पर शोषण स्वीकार नहीं करते, ठीक उसी प्रकार मनुष्य द्वारा मनुष्य पर शोषण को स्वीकार नहीं कर सकते। उसने विभिन्न रूप से यही बात कही कि व्यक्ति जो मुझे शोषण करने के लिए कहता है वह शोषक और अत्याचारी है और मैं उसे अपना शत्रु घोषित करता हूं। वह कहता है कि मेरे लिये राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है और न मैं उसे किसी कार्य के लिए कहता हूं। यहां तक कि उसको मैं अपने सेवक के रूप में भी स्वीकार नहीं करता। यही विचार उसके कानून के विषय में है। वह कहता है कि कानून की कोई आवश्यकता नहीं है और यदि उसकी कोई आवश्यकता है तो भी मैं ही इसका विधायक हूं। वह तो यहां तक मानता है कि जिस कानून के निर्माण में मैंने अपनी सहमति व्यक्त नहीं की, न इसके लिए मत दिया और न इस पर हस्ताक्षर किये तो मैं इसको मानने के लिये किस प्रकार बाध्य हूं। मेरे लिये तो इसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। वह राज्य को एक राक्षस मानता था। जो

है जिसमे न बुद्धि है, न मनोवेग और न नैतिकता। क्या इसी को हम राज
है ?

प्रूधों को केवल अराजकतावादी ही कहकर नही टाला जा सकता। उसके
में एक महत्वपूर्ण बात छिपी है। वह साम्यवादियो और समाजवादियों
टु आलोचक था, क्योकि वह राज्य को किसी भी प्रकार की क्रांति के अनु-
मानता था। प्रूधो ने इसी आधार पर लुई बलां की ओर आलोचना की
वह राज्य को एक परिवर्तन के शस्त्र के रूप मे स्वीकार करता था। प्रूधों क
न था कि जैसे आप एक शैतान को दूसरे शैतान से समाप्त नहीं कर सक
क उसी प्रकार आप राज्य के माध्यम से क्रांति नहीं ला सकते। प्रूधों ने दुःख
र आश्चर्य प्रकट किया कि उसके समकालीन साम्यवादी और समाजवा
वतक इस बात को नही समझ पाये।

प्रूधों ने जनता पर भी निर्मम प्रहार किया। उसने कहा कि जनतांत्रिक रा
अपने मे अन्तर्विरोध लिये हुए है। उसने मत-पत्र की उपादेयता पर संदेह प्र
किया और कहा कि क्या इसे वंश या परंपरा की तुलना मे अधिक प्रामा
माना जा सकता है। उसने केवल संख्या की उपादेयता पर भी सदेह
और कहा कि इसमें मस्तिस्क वाले व्यक्तियो का अपमान होता है। बुद्धि
को जनतंत्र में कौन पूछता है और इस प्रकार जनतंत्र भीड़तंत्र है,
मस्तिष्क नही होता।

प्रूधो ने व्यक्ति को चर्च के अधिकार से भी मुक्त रखने का प्रयास किया।
धर्म को वह प्रगति तथा विज्ञान के मार्ग का रोड़ा समझता था और ईसाई धर्म
के इस विचार को कि मनुष्य मूलतः पाप है, वह मनुष्य के गौरव के विरु
समझता था।

आलोचना एवं मूल्यांकन

प्रूधो को कई विचारकों ने कभी गंभीरता से नहीं लिया। उसको प
विध्वंसकारी, अव्यवहारिक, व्यक्तिवादी एवं अराजकतावादी कहकर टाल
गया। यद्यपि उसने कहा कि मैं निर्माण के लिए विध्वंस करना चाहता हूँ
एक नये समाज की रूपरेखा होगी इसका उसने कोई स्पष्ट चित्र हमारे
नही रखा। सत्य यह है कि उसे विध्वंस करने में अधिक आनंद आता था,
में नहीं। उनकी रचनाओं को पढ़ने से ऐसा लगता है कि वह आवरण हुए
उसका विकल्प बताये केवल आलोचना के लिए आलोचना करता है। वह
और इसकी झलक उसकी समस्त कृतियों में मिलती है।

उसके स्वतन्त्रता, समानता और न्याय संबंधी विचारो को भी धरातल पर नही लाया जा सकता। वे काल्पनिक, अव्यावहारिक और कही-कही स्वप्नलोकीय प्रतीत होते हैं। स्वतन्त्रता और समानता पूर्णरूप से तब तक सभव नही है जब तक मनुष्य समान न हो जायें। प्रकृति ने मनुष्यो को समान नही बनाया। प्रूधो के स्वतन्त्रता और समानता सम्बन्धी विचारो मे कोई तालमेल नही है, क्योकि अंतिम स्वतन्त्रता और समानता की सुरक्षा कौन देगा। प्रूधो के इन विचारो को स्वीकार कर लेने पर हमे समाज मे असमानता को भी स्वीकार करना पड़ेगा। अलेक्जेण्डर का मत है कि यह एक समस्या है जिसको प्रूधो कभी नही सुलझा पाया और से वह विवाद का विषय बन गया। प्रूधो का मूल्यांकन करते हुए यह कहा सकता है कि इन असंगतियो, भ्रांतियो एव असम्बद्धताओं के होते हुए भी का अराजकतावादियो के इतिहास मे स्थान सुरक्षित है। उसकी मार्क्सवाद र समाजवाद की आलोचना भी महत्वपूर्ण है और विशेष रूप मे उनका विचार राज्य क्रान्ति का माध्यम नही बन सकता, स्वय मे अनूठा है। उसका फ्रास श्रमिक आन्दोलन पर जो प्रभाव रहा उसको नही भुलाया जा सकता। चाहे ह वर्तमान समस्याओ का विकल्प न रख पाया हो, लेकिन उसने सम्पत्ति, व्यक्ति ी स्वतन्त्रता, समानता, न्याय, राज्य और शासन आदि के सम्बन्ध मे जो विचार खे उनमे काफी वजन है।

मरीकी अराजकतावादी चिन्तक

उन्नीसवी शताब्दी के मध्य भाग मे संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्दर दास-था की समाप्ति तथा औद्योगिक विकास आन्दोलन काफी जोर से बढ़ रहे थे। श्रमिक समस्या भी जटिल होती जा रही थी। कुछ विचारक ऐसा सोचने लगे थे कि शासन मात्र हिंसा पर आधारित होता है। कुछ इसके विपरीत सोचते थे और उनका विश्वास था कि मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति अच्छाई की होती है अतः कानून की अपेक्षा मनुष्य की अन्तरात्मा को श्रेष्ठता प्रदान की जानी चाहिये। हेनरी डेविड थोरो ने कहा था कि अतीत काल मे सरकार ने जो कार्य किये है, उनकी अच्छाई का दावा करना सरकार को शोभा नही देता। सरकार ने न अतीत मे अच्छे कार्य किये है, न भविष्य मे उससे ऐसी आशा की जानी चाहिए। अत शासन का न होना ही सर्वोत्तम शासन है। उन्नीसवी शताब्दी के अन्य प्रमुख अमरीकी अराजकतावादियो मे जोसिया वारेन, स्टीफेन, पर्ल, एण्ड्रूज तथा बेंजामिन टकर प्रमुख थे।

जोसिया वारेन (1797-1876)

यह अमेरिकी प्रथम अराजकतावादी था। यह कहता था कि समाज में बुराइयाँ पायी जाती हैं, अतः राज्य की आवश्यकता होती है। यह बुराइयाँ आज भी न होकर हमारे पूर्वजों के द्वारा किये गये भूलों के कारण पैदा हुई है। इन्हीं भूलों के कारण निजी सम्पत्ति तथा राज्य का जन्म हुआ। उसका कहना था कि श्रमिक राजनीतिक कार्यों में रुचि लेना त्याग दें तो निर्धनता समाप्त हो जायगी और लाभ किसी विशेष व्यक्ति अथवा राज्य को नहीं मिलेगा।

वारेन ने जनता की बैंक स्थापित करने का परामर्श दिया था, किन्तु वह श्रम नोटों के मूल्य निर्धारण में श्रम का समय तथा अरुचि का ध्यान रखता था। उसने 'टाइम स्टोर' का संचालन दो वर्ष तक किया था, जिसमें वस्तुओं का मूल्य उपर्युक्त दो बातों पर निर्धारित किया था। उसने मल्लजीवी उपनिवेश स्थापित किये थे जिनमें निवास करने वाले छोटी मात्रा में कृषि करते थे और व्यापार करते थे। श्रम-नोटों के द्वारा वस्तुओं का विनिमय किया जाता था। अपने सामाजिक सिद्धान्त को आत्मरक्षण के सर्वभौम स्वाभाविक नियम पर आधारित करते हुए उसने कहा कि राज्य की ओर से रक्षा की आवश्यकता मनुष्य को अपने स्वभाव के कारण नहीं, वरन् उन दूषणों के कारण होती है, जो उनके पूर्वजों ने व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा दमनकारी शासन की स्थापना करके उत्पन्न किये। समाज के कार्यों की सामान्य व्यवस्था के लिए वह विशेषज्ञों की एक समिति को ही पर्याप्त समझता था, जिसके निर्णयों का महत्व केवल उतना ही हो सकता था, जितना कि समझाने बुझाने से उन्हें दिया जा सकता था। उसने श्रमिकों को परामर्श दिया कि वे राजनीतिक कार्यों में कोई रुचि न लें और सभी कार्य स्वेच्छापूर्ण सहयोग से करें। इस प्रकार के कार्यों से समाज मे निर्धनता का अन्त हो जायगा और लाभ अर्जित करने का साधन भी समाप्त हो जायेगा तब शासन की कोई आवश्यकता ही नही रहेगी।

बेंजामिन टकर

टकर के विचारो का आधार व्यक्ति का स्वार्थ हित था। उसके मत से स्वतंत्रता का अभिप्राय अधिकारों का उपयोग है। अधिकार उन व्यावहारिक मर्यादाओ को कहा जाता है जिन्हे शक्ति के ऊपर स्वार्थहित आरोपित करते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए समुदायों का निर्माण करते है। व्यक्ति द्वारा व्यक्ति

की स्वतंत्रता पर किसी भी रूप में बाधा डालना अतिक्रमण है। ऐसे अतिक्रमण विभिन्न रूपों के हो सकते हैं तथा एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति के ऊपर या एक व्यक्ति द्वारा अनेकों के ऊपर अथवा अनेकों के द्वारा एक के ऊपर। इस तर्क के द्वारा टकर राजतंत्र, जनतंत्र या अभिजाततंत्र, किसी भी रूप को शासन प्रणाली को व्यक्ति की स्वतन्त्रता के ऊपर अतिक्रमणकारी बनाता है। सरकार का अर्थ है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता के ऊपर बाह्य इच्छा का आधिपत्य। टकर के मत से राज्य द्वारा प्रतिरक्षात्मक व्यवस्था करना, कर व्यवस्था, व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा आदि सब ऐसे कार्य हैं, जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता के विरुद्ध आक्रामक हैं। सरकार करों को वसूल करके ऐसी सेवाओं की व्यवस्था करती है जिनकी अधिकांश व्यक्तियों को कोई आवश्यकता नहीं है। व्यक्तिगत सम्पत्ति की रक्षा की व्यवस्था इस तथ्य की द्योतक है कि जो लोग श्रम नहीं करते, उन्हें ब्याज, किराया, लाभ आदि के रूप में श्रमिकों द्वारा अर्जित अतिरिक्त मूल्य का आवंटन किया जाता है। प्रतिरक्षा तथा न्याय की आवश्यकता पुलिस राज्य की धारणा पर आधारित राज्य में हो सकती है, अतः इसका व्यापार उन्हीं को उठाना चाहिए, जिन्हें इसकी आवश्यकता है। जनसाधारण के लिये तो आक्रामक ही सिद्ध होती है।

ऐसे राज्य के स्थान पर टकर स्वेच्छा से निर्मित विविध प्रकार के समुदायों की व्यवस्था को स्थापित करने की धारणा व्यक्त करता है। ये समुदाय संविदागत होंगे और इनकी सदस्यता इच्छिक होगी। ये प्रतिरक्षात्मक व्यवस्था, कर-निर्धारण आदि का कार्य भी स्वयं करेंगे और उसका उपयोग समुदायों के सदस्यों की नैसर्गिक स्वतंत्रता का अतिक्रमण करने वाले तत्वों के विरुद्ध समुदाय स्वयं करेंगे। किसी आक्रामक व्यक्ति को अधीनता में रखना शासन का द्योतक नहीं है, प्रत्युत यह सरकार का प्रतिरोध तथा उससे संरक्षण है। टकर की दृष्टि में बल प्रवर्ती सरकार ही समस्त बुराइयों की जड़ है। वह एक विषम अर्थ व्यवस्था का सृजन करके अन्याय तथा अपराधों को जन्म देती है और फिर उनको दबाने के लिए बल-प्रयोग का आश्रय लेती है। अतएव जब ऐसी सरकार का अन्त हो जायेगा तो अपराध भी स्वयं समाप्त हो जायेंगे।

इनका विचार था कि वे शनैः शनैः शिक्षा-दीक्षा तथा शान्तिपूर्ण आन्दोलन द्वारा जनता में ऐसी चेतना जाग्रत करना चाहते हैं, जिससे कि वह शासन संगठन की अवांछनीयता को समझे और साहचर्य तथा सहयोग पर आधारित समुदाय

व्यवस्था को क्रियान्वित करे। उनकी दृष्टि से इस विधि से अराजक व्यवस्था ला जा सकेगी।

अमेरिकी अराजकतावादियों ने अवश्य अराजकतावादी विचारधारा को अधिक स्पष्टता प्रदान की है और उसके निमित्त कुछ ठोस सुझाव भी दिये हैं। अराजक समाज किस रूप का होना चाहिये परन्तु ऐसी व्यवस्था की स्थापना से पूर्व क्या कार्यवाई की जाये और किस प्रकार विद्यमान शासन संगठनों का अन्त किया जाये, आदि कार्यक्रमों का उल्लेख ये विचारक स्पष्टतया नहीं कर पाये हैं।

रूसी अराजकतावादी चिन्तक

आधुनिक अराजकतावादी विचारधारा के मुख्य प्रणेताओं में रूसी विचारक माईकेल बैकुनिन, प्रिंस क्रोपाटकिन, काउण्ट लो टालस्टॉय की विचारधाराओं का सर्वाधिक महत्व है। इन तीनों विचारकों ने अव्यवस्थित तथा वैज्ञानिक ढंग से इस विचारधारा को व्यक्त किया है। साथ ही उन्होंने अराजक सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के निमित्त एक क्रमबद्ध कार्यक्रम भी प्रस्तुत किया है। अतएव अराजकतावाद का समुचित ज्ञान करने के लिए इन विचारकों का अध्ययन सर्वाधिक महत्व रखता है।

माइकेल बैकुनिन (1814-1876)

माइकेल बैकुनिन अराजकतावादी था। वह अभिजात्य तंत्रीय परिवार के कूटनीतिज्ञ का पुत्र था। सेंटपीटर्सबर्ग तथा मास्को के विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी। उसने तोपखाने के अधिकारी के रूप में शिक्षा प्राप्त की थी। उसने तोपखाने के अधिकारी के रूप में अपना जीवनक्रम आरंभ किया। सन् 1835 में वह मास्को गया ताकि दर्शनशास्त्र का अध्ययन कर सके। सन् 1841 में वह बर्लिन गया। ए० रौडन के प्रभाव के कारण वह एक साम्यवादी बन गया। सन् 1843 में वह पेरिस गया, वह प्रूधों के सम्पर्क में आया। 4 वर्ष बाद वह फ्रांस से इसलिए निष्कासित कर दिया गया, क्योंकि उसने तत्कालीन रूसी सरकार की आलोचना की। सन् 1849 में उसने ड्रेसडेन में होने वाली क्रांति के नेताओं में से एक नेता के रूप में भाग लिया। उसे गिरफ्तार कर लिया गया और मृत्युदण्ड का आदेश दे दिया गया। किन्तु बाद में उसकी हत्या करने की अपेक्षा उसे आस्ट्रिया वालों को सौंप दिया गया, क्योंकि उसने स्लेव जाति को आस्ट्रिया के विरुद्ध भड़काने का असफल प्रयास किया। आस्ट्रियावासियों ने भी उसे मृत्युदण्ड का आदेश

दिया, किन्तु बाद में इसे मृत्युदण्ड को आजीवन कारावास में परिवर्तित कर [illegible]
गया। दो वर्ष तक आस्ट्रिया की एक जेल में रहने के पश्चात् बैकुनिन को
के साइबेरिया प्रदेश में बंदी गृह में डाल दिया गया, जहां से किसी प्रकार
सन् 1861 में बच निकला। अपना शेष जीवन उसने पश्चिमी यूरोप में [illegible]
किया। वह अंतर्राष्ट्रीय संगठन में मार्क्स और एंगेल्स के प्रभाव में सम्मि[illegible]
हुआ। किंतु शीघ्र ही उनसे मतभेद हो गये। प्रथम अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन
बैकुनिन का मार्क्स के साथ कटु संघर्ष हुआ। दोनों में मुख्य भेद इस बात प[illegible]
कि जहाँ मार्क्स के अनुसार पूर्ण समाजवाद पर पहुँचने के लिए संक्रमणका[illegible]
अवस्था में एक स्थायी सर्वहारा के अधिनायकत्व की स्थापना आवश्यक थी,
वह संक्रमणकालीन अवस्था में भी किसी प्रकार के अधिनायकत्व का विरोधी
मार्क्स से अपने कटु संघर्ष के कारण बैकुनिन ने सन् 1869 में जनता में [illegible]
विचारों के प्रचार के लिए 'सामाजिक जनतांत्रिक संगठन' की स्थापना
दुर्भाग्यवश बैकुनिन का स्वास्थ्य बिगड़ता गया और अंत में सन् 1871 में
क्रांतिकारी क्रियाओं से निवृत्त होने को विवश हो गया और 1876 में उ[illegible]
देहावसान हो गया।

बैकुनिन को 19 वीं शताब्दी के अंतिम चरण में यूरोप के सर्वहारा व[illegible]
अराजकतावाद के व्यापक आन्दोलन का जन्मदाता माना जाता है। उ[illegible]
चेष्टाएँ और उसके कार्य प्रमुखतः व्यवहारिक आंदोलन तथा संगठन के क्षेत्र में
यद्यपि उसकी लेखन शैली कम प्रभावोत्पादक और ओजस्वी नहीं थी, त[illegible]
उसका प्रभाव मुख्यतः उसके उद्योग, साहस, लगन, गुप्त समितियों के संगठन
उन संगठनों के षड्यंत्रों के निर्देशन की कुशलता के कारण था।

अलेक्जेण्डर ग्रे ने माइकिल बैकुनिन के विषय में बताया है कि वह जीव[illegible]
प्रत्येक क्षेत्र में अस्त-व्यस्त रहा। यह अस्त व्यस्तता उसके जीवन में उसके [illegible]
उसके लेखन सभी में मिलती है। ग्रे ने उसे अव्यवहारिक साधारण ज्ञान से
और यथार्थ को कल्पना से जोड़ देने वाला भी बताया है।

स्वतंत्रता

बाकुनिन के सामाजिक विचारों का केन्द्र उसका स्वतंत्रता के प्रति [illegible]
प्रेम है। वह केवल एक चिन्तक मात्र न होकर एक सक्रिय कार्यकर्ता भी [illegible]
अपने विचारों को कार्यरूप प्रदान करने के लिए उसने बड़े उत्साह के
संगठन बनाये और विशेष रूप से गुप्त संगठनों तथा आतंकवादी कार्यक्रमों

समर्थन किया। वह अपने अराजकतावादी विचारों को वैज्ञानिक आधार पर सिद्ध मानता था। उसके मत से मानव इतिहास यह दर्शाता है कि मानव जब विकसित होते-होते मानव बन जाता है, तो उसकी प्रारंभिक प्रवृत्तियों का निषेध ही मानवता है। राजनीतिक सत्ता, व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा धर्म मानव की निम्नतम स्थिति की संस्थायें हैं। इनका आधार भौतिक गुण तथा भय है। ये एक दूसरी का संरक्षण तथा पोषण करती हैं। अब जब मानव विकसित होकर उन्नतर स्थिति में पहुँच चुका है, तो इन संस्थाओं का भी अंत हो जाना चाहिये। ये संस्थायें मानव के स्वतंत्र विकास के मार्ग की सबसे बड़ी बाधायें हैं। प्रो० जी० डी० एच० कोल के अनुसार बाकुनिन स्वतंत्रता को जीवन का सर्वोच्च सिद्धांत घोषित करता था और निश्चय ही कोई भी थोड़े से धन से, जो उसका अपना है, अधिक स्वतंत्रतापूर्वक नहीं रह सकता। बाकुनिन की व्यक्तिगत स्वतंत्रता की धारणा उन व्यक्तिवादियों की सी नहीं है, जो कि एक बुर्जुआ पुलिस राज्य की धारणा को मानते थे और व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा व्यक्ति के मध्य आर्थिक प्रतियोगिता का विरोधी है, परन्तु वह इस अर्थ में स्वतंत्रतावादी भी है क्योंकि वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए राज्य सरकार या किसी भी बाह्य सत्ता को अवांछनीय मानता है।

राज्य

उसे राज्य के प्रति घृणा थी। अतएव राज्य को समाप्त करने के लिये उसने हिंसात्मक साधनों को उपयुक्त माना था। उसका कहना था कि कोई भी सरकार भले ही वह जनतांत्रिक क्यों न हो, जनता का भला नहीं कर सकती। इतिहास इस बात का साक्षी है कि राज्य सदैव कुछ सुविधा-प्राप्त व्यक्तियों के हाथ का खिलौना रहा है। ये ही वर्ग इसे जीवित रखने के पक्ष में थे। नैतिक दृष्टिकोण से भी राज्य पतनकारी है। जो इस सत्ता का प्रयोग करते हैं और जिन पर इसका प्रयोग किया जाता है, दोनों ही पतनकारी हैं। राज्य सभ्य समाज के लिये बुरा है। राज्य का प्रत्येक कार्य बुरा होता है, क्योंकि राज्य नागरिक की इच्छा से कार्य न करके सार्वजनिक अधिकारी के आदेश से कार्य करता है। मानव व्यवहार में नैतिकता एवं बुद्धिमत्ता केवल ऐसे ही कार्यों से होती है, जो मनुष्य के लिये बुद्धि सगत हो। जो कार्य दूसरों के आदेश या निर्देश द्वारा होता है उसमे नैतिक या बौद्धिक गुणों का अभाव होता है। अतः राज्य के कार्य मनुष्य के नैतिक तथा बौद्धिक स्तर को गिराते हैं। राजसत्ता को प्राप्त करने से मनुष्य घमंडी हो जाता है और अपनी वास्तविकता खो देता है। बैकुनिन का कहना है

कि कभी [illegible] उत्पन्न नहीं होगा, किन्तु राज्य उसे बुरा बना देता है। राज्य के शोषण के कारण मनुष्य का पतन हो जाता है तथा बंधुत्व एवं सहयोग की भावना लुप्त हो जाती है। बैकुनिन का मत है कि राज्य को [illegible] एवं दोषों से [illegible] । निःसन्देह सरकार इसके द्वारा जनता का [illegible] करती है किन्तु [illegible] पर घोर अत्याचार करती है। विश्व के इतिहास को देखने से यही पता चलता है कि राज्य ने स्वयं [illegible] का [illegible] निर्दोष व्यक्तियों की निर्मम हत्याएँ की हैं। कहीं ईश्वर के नाम पर तो कभी देशभक्ति के, तो कभी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता [illegible], का सारा [illegible] लाखों मनुष्यों का बलिदान कराती है। अतः इस राज्य की क्रूरता का अन्त करने के लिए राज्य को समाप्त कर देना चाहिये।....हम क्रान्तिकारी अराजकतावादी किसी भी रूप की राज्य व्यवस्था या राजनीतिक संगठनों के शत्रु हैं हमारा विश्वास है कि जनता को स्वतन्त्रता तथा सुख की प्राप्ति तभी हो सकती है, जबकि वह स्वनिर्मित स्वतन्त्र तथा स्वायत्तशासी समुदायों का निर्माण निम्नतम स्तर से करे और उनका संचालन करने वाली कोई उच्चतर सत्ता न हो।

व्यक्तिगत सम्पत्ति

जनता अज्ञानी अशिक्षित होती है। वे पूँजीपतियों के षड्यन्त्रों को नहीं समझ पाती। शक्तिशाली धार्मिक वर्ग अपने लाभ के लिए तथा अपने हित के राजनीतिक यंत्र को अपने पक्ष में इस प्रकार कर लेते हैं कि राज्य सदैव ही उनके स्वार्थों की पूर्ति करता रहे। भूमिपति तथा पूँजीपति के लाभ के लिए राज्य श्रमिकों का शोषण करता है। समाज में जो निर्धनता पाई जाती है उसका मुख्य कारण व्यक्तिगत सम्पत्ति और पूँजीवाद है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण ही राज्य का जन्म होता है। पूँजीपतियों के कारण ही समाज में बुराइयां फैलती हैं और श्रमिक वर्ग के लिए आर्थिक दृष्टिकोण से पराधीन हो जाते हैं और उनका सम्पूर्ण जीवन अधिक परिश्रम करने में व्यतीत होता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के कारण अधिकांश जनता अज्ञान एवं अंधकार में भटकती है। कुछ धनी लोग ही श्रमिकों के शोषण से प्राप्त धन से भोग-विलास में लग जाते हैं और नाना प्रकार के भोग-विलास, सुख-साम ग्री तथा शारीरिक सुख को प्राप्त करते हैं। अतएव व्यक्तिगत सम्पत्ति के रक्षक राज्य को समाप्त कर देना नहीं चाहते।

धर्म

बैकुनिन के अनुसार धर्म भी एक बुराई है। धर्म मानवता को महत्त्वपूर्ण कार्यों से विमुख कर उसमें कल्पना, अंधविश्वास तथा श्रद्धालुता उत्पन्न कर देती

बैकुनिन के शब्दों में उसने ईश्वर को अत्याचारी जार कहा है और जार निरंकुश अत्याचारी ईश्वर से सम्बोधित किया है। बैकुनिन के अनुसार धर्म छोटा भाई राज्य है। इन दोनों का जन्म एक ही कारण से हुआ है। अत- दोनों ही अत्याचारी हैं। व्यक्ति को चाहिए कि वह न तो धर्म का और न ज्य का आदेश पालन करे। धर्म मनुष्य को उसके भाग्य पर रहने के लिए हकर उसमें कल्पना तथा अंधविश्वास जगाता है। पूंजीपति इस धर्म का प्रयोग पने नाम से करके श्रमिकों को जो कुछ मिलता है उसी में संतोष करने के सा कहते हैं। बैकुनिन ने कहा था, धर्मान्धों का शासन सबसे बुरा होता है क्योंकि ये ईश्वर के वैभव के नाम पर जीवित एवं दुखी मनुष्यों की पीड़ा एवं कष्टों का ध्यान नहीं रखते। धर्म के नाम पर उन्हें संतोष एवं भाग्य का पाठ पढ़ाया जाता है और अत्याचार को शान्तिपूर्वक सहन करने के लिए कहा जाता है। वह कहता है कि एक ईसाई भले ही वह साधु, पैगम्बर, उपदेशक अथवा राज्य क्यों न हो, उन्हें हम मनुष्य नहीं कह सकते, क्योंकि वह मानव की प्रतिष्ठा नहीं करता। इस प्रकार नास्तिकता का समर्थन करके बैकुनिन ने अराजकतावाद का समर्थन किया। अतएव राज्य, सम्पत्ति तथा धर्म तीनों का अन्त होना चाहिए।

हिंसात्मक क्रान्ति की अनिवार्यता

अराजकतावाद की प्राप्ति के लिए बैकुनिन के अनुसार राज्य को समाप्त करना होगा। पूंजीपति इसका विरोध करेंगे और वे कई प्रकार की बाधायें डालेंगे। विद्रोह करने के लिए जनता को प्रशिक्षण देना चाहिये। धार्मिक विश्वासों के स्थान पर विज्ञान की शिक्षा दी जानी चाहिए। राज्य को प्रचार, मतदान या समझाने बुझाने से समाप्त नहीं किया जा सकता है, अतएव राज्य को केवल क्रान्ति के द्वारा नष्ट करना पड़ेगा। इसमें कुछ रक्तपात भी होगा, क्योंकि कुछ लोग ऐसे भी मिलेंगे जो राज्य को जीवित रखना चाहते हैं। गिरजों, न्यायालयों, पुलिस, सेना, शासकीय कार्यालय, विधान-सभा आदि को बलपूर्वक नष्ट करना होगा। इस प्रकार की क्रांतिके लिए बहुत से लोगों को संगठित करना होगा। उनकी एक समिति बनायी जायगी, जो यह निश्चय करेगी कि कब क्रान्ति होगी।

सामाजिक संरचना

राज्य तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति का अंत करके समाज का रूप तथा संगठ प्रकार का होगा इस विषय पर बैकुनिन ने विस्तृत विवेचन नहीं किया है

प्राप्ति के लिए विकासवादी तथा क्रान्तिकारी दोनों प्रकार के साधनों के प्रयोग पर बल देता था। उसका विश्वास था कि घटनाक्रम तीव्र धारा की भांति अराजकता की दिशा में बढ़ रहा है। अराजकतावादी कार्यकर्ताओं को इस धारा के प्रवाह में अराजकता के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निराकरण करना है। सर्वप्रथम उन्हें सामाजिक विकास के प्राकृतिक नियमों के अज्ञान को मिटाना है और दूसरे इस विकासक्रम में हस्तक्षेप करने वाली संस्थाओं को विनष्ट करना है। इस दूसरे कार्य में हिंसा का प्रयोग करना पड़ सकता है, क्योंकि जो व्यक्ति इन संस्थाओं की सत्ता धारण किये हुए बल प्रयोग द्वारा उन्हें बनाये रखने के लिए प्रतिरोध करेंगे। अतः गुप्त अराजक संगठनों को आंतकपूर्ण कार्यवाई करनी पड़ेगी। इन संगठनों का सामञ्जस्यीकरण किसी केन्द्रीकृत संस्था द्वारा करना पड़ेगा, परन्तु बैकुनिन साम्यवादियों की भांति संक्रमणकाल में सर्वहारावर्गीय अधिनायकवाद जैसी धारणा का समर्थन नहीं करता। उसके विचार से सेना, चर्च, अदालत, पुलिस, विधायिका, सम्पत्ति आदि को तुरंत समाप्त करके उसके पुनः संचालित हो सकने की सम्भावना को ही विनष्ट कर देना पड़ेगा। सम्पत्तिवानों से सम्पत्ति छीन कर तुरन्त असम्पत्तिहीनों में विभक्त कर देनी पड़ेगी, जिन्हें उनकी अत्यंत आवश्यकता है। उत्पादनवाली सम्पत्ति को सहकारी संस्थाओं के सुपुर्द कर दिया जायेगा। क्रांति का प्रसार राष्ट्रीय आधार पर एक-एक कोने में करना पड़ेगा। इसी के साथ-साथ क्रान्तिकारियों को शिक्षा-दीक्षा भी देनी पड़ेगी। वे लोग जनता में अराजक शिक्षा देने का कार्य भी करेंगे।

इस प्रकार बैकुनिन ने अराजकतावादी विचारों, आंदोलन तथा कार्यक्रम को क्रमबद्ध विचारधारा का रूप प्रदान किया। बैकुनिन के विचारों का प्रभाव सोवियत-संघ के दूसरे क्रान्तिकारी चिन्तक प्रिंस कोपाटकिन पर पड़ा।

प्रिंस क्रोपाटकिन (1842–1921)

अराजकता का अत्यंत स्पष्ट और सम्भवतः सर्वाधिक व्यवस्थित रूप क्रोपाटकिन की सजीव, सहानुभूतिपूर्ण एवं वैज्ञानिक कृतियों में मिलता है। क्रोपाटकिन का जन्म रूस के उच्चतम कुलीन घराने में हुआ था। क्रोपाटकिन को जो प्रारंभिक शिक्षा दी गयी उसका उद्देश्य उसे उच्च सैनिक अधिकारी बनाना था। रूस की तत्कालीन उच्च नौकरशाही के साथ उसका घनिष्ट सम्पर्क था। उसे साइबेरिया में कोसेक रेजामेंट में सेवा करने का अवसर

गया था। वहाँ उसने जीव-विज्ञान, मानवशास्त्र, भूगोल आदि विषयों का अध्ययन करने के साथ साथ, कृषक, जनता, स्वतंत्र-विचारकों तथा देश निष्कासन का दण्ड भोगने वाले अपराधियों के साथ सम्पर्क स्थापित किया। इससे उसे यह विश्वास होने लगा कि साधारण जन का व्यक्ति भी नौकरशाही की तुलना में सार्वजनिक विषयों का प्रबन्ध करने की क्षमता भली-भांति रखता है। अतएव राजकीय नौकरशाही का सुधार तथा पुनर्गठन किया जाना चाहिये। उसने यह भी अनुभव किया कि जीवन-संघर्ष में राज्य का भाग महत्वहीन एवं प्रभावहीन है। इसके कुछ समय पश्चात् ही सेना की नौकरी छोड़ दी और सन् 1871 में रूस के क्रान्तिकारी आन्दोलन में भाग लिया। तत्पश्चात् सन् 1872 में वह पश्चिमी देशों में गया और उसका अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघों के सदस्यों से सम्पर्क हुआ। सन् 1872 में ही स्विट्जरलैंड में वह बैकुनिन से मिला और उसके प्रभाव में आकर अराजकतावादी बन गया। रूस वापस आने पर वह गुप्तवादी आन्दोलन में सम्मिलित हो गया। उसके क्रान्तिकारी विचारों तथा गतिविधियों के कारण उसे सन् 1874 में जेलयात्रा करनी पड़ी जहाँ से वह भाग निकला और फिर फ्रान्स, स्विट्जरलैण्ड आदि देशों होता हुआ इंगलैंड पहुँचा। लगभग 30 वर्ष तक (1917) तक वह इंगलैंड में रहा जहाँ उसने अपना लेखन कार्य जारी रखा। सन् 1917 में रूस में क्रान्ति हुई और तब वह पुनः स्वदेश लौट आया। श्रमजीवी अधिनायकवाद के विरुद्ध होने के कारण रूस में लौटकर भी उसने क्रान्तिकारी क्रियाओं में कोई भाग नहीं लिया और लेखनकार्य में लगे रहे।

क्रोपाटकिन अपने अंतिम समय तक अराजकतावादी विचारों का धनी रहा। सन् 1921 उसकी मृत्यु हो गयी।

रचनायें

क्रोपाटकिन की रचनायें साम्यवादी अराजकतावाद की विचारधारा का मुख्य स्रोत बनी और उनका अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ। उसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण पुस्तकें निम्नलिखित हैं :—

1—The Conquest of Bread (रोटी का सवाल)।

2—Anarchism—Its Philosophy and Ideal, 1896।
अराजकतावाद—दर्शन एवं सिद्धान्त, सन् 1896।

3—The State—Its Part in History, 1899।
राज्य—इतिहास में उसकी भूमिका, सन् 1899।

4—Fields, Factories and Workshop, 1899 ।

भूमि, कारखाने और कर्मशाला, सन् 1899 ।

5—Mutual aid—A factor of Evolution, 1902 ।

पारस्परिक सहायता—विकास का एक तत्व, सन् 1902 ।

6—Modern Science and Anarchism, 1903 ।

आधुनिक विज्ञान और अराजकतावाद, सन् 1903 ।

7—Memoirs of Revolutionist.

'क्रांतिकारी के संस्मरण' ।

विकासवाद

प्रिंस क्रोपाटकिन की धारणा यह थी कि मानव और समाज दोनों के सम्बन्ध मे नैसर्गिक विकासक्रम शनैः शनैः चलता है, परन्तु कभी-कभी वह एका-एक परिवर्तन भी लाता है। इसका कारण यह है कि जब सामान्य नैसर्गिक विकास क्रम की महत्वपूर्ण शक्तियो के मार्ग मे मानवीय इच्छायें प्रतिरोध के रूप मे प्रकट होती हैं, तो वे कुछ समय तक सामान्य विकासक्रम को अवरुद्ध करती हैं। उनका प्रतिरोध तब तक बना रहता है, जब तक कि स्वयं उनका प्रतिरोध करने वाली शक्तियां प्रकट नही हो जाती। यह प्रक्रिया एक प्रकार मे जैविक रोग के तुल्य है। अवरोध तथा प्रतिरोध का उद्देश्य नैसर्गिक विकासक्रम को पुनः अपनी सामान्य स्थिति मे लाना है। यही बात सामाजिक-जीवन के विकासक्रम मे भी होती है। जब कुछ स्वार्थी तथा भ्रामक तत्व समाज की नैसर्गिक विकास प्रगति के मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं, तो ऐसी घटनाओं की आवश्यकता पड़ती है जो ऐतिहासिक विकासक्रम को सही मार्ग पर पुनर्स्थापित करें। इन धारणा के द्वारा प्रिंस क्रोपाटकिन क्रान्ति के औचित्य को दर्शाता है। विकासक्रम का दूसरा सिद्धांत क्रोपाटकिन का यह है कि सामाजिक विकास का नियम संघर्ष नहीं है, वरन् सहयोग है। जो व्यक्ति तथा समाज संघर्ष की शक्तियों का उपयोग करते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं, इनके विपरीत जो पारस्परिक सहयोग के नियम का अनुसरण करते हैं, वे जीवित रहते हैं। सामाजिक जीवन में सहयोग [illegible] नियम समानता, न्याय तथा सामाजिक ऐक्य का द्योतक है। यह स्वर्णिम नि[illegible] है। इसका उद्देश्य है दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि तुम [illegible] [illegible] किया जाना चाहते हो। प्राणी जितना श्रेष्ठ होगा उतनी ही सहयोग[illegible]

प्रवृत्तियाँ उनमें अधिक विकसित होंगी। क्रोपाटकिन ने इस सिद्धांत के प्रतिपादन हेतु एक पूरे ग्रंथ "पारस्परिक सहायता" की रचना कर डाली।

क्रोपाटकिन मानव और समाज की स्वाभाविक प्रगति के मार्ग में तीन मूल बाधाएं बताता है, जिनका विनाश किये बिना विकास सम्भव नहीं है। ये बाधायें तीन हैं—राज्य, व्यक्तिगत सम्पत्ति और धार्मिक सत्ता। अराजकतावादियों की भांति क्रोपाटकिन भी इनका निराकरण करना चाहता है।

राज्य का विरोध

क्रोपाटकिन राज्य की बहुत ही अधिक निन्दा करता था। उसके शब्दों में राज्य एक अनावश्यक, हानिकारक तथा निरर्थक संस्था है। राज्य का कोई स्वाभाविक औचित्य नहीं है। वह मनुष्य की स्वाभाविक सहयोगी मूल प्रकृति के विरुद्ध है। राज्य 16 वीं शताब्दी में विकसित हुआ है। राज्य मानव विकास एवं स्वतंत्रता का बड़ा शत्रु रहा है। इतिहास के अध्ययन से यह बात सिद्ध हो जाती है कि राज्य ने सदैव ही श्रमिकों का शोषण कर उन्हें कष्ट दिया और पूंजीपति, भूमिपतियों का पोषण कर उन्हें अधिक धनाढ्य बनाया है। राज्य ने भूखे लोगों को न तो भोजन दिया है और न बेकारों को काम। श्रमिकों ने जब जब कभी शोषण के विरुद्ध आवाज उठायी, तब उन्हें पूंजीपतियों के लाभ के लिये कुचल दिया। गरीबों का अधिक शोषण करने के लिये धनिकों को प्रत्येक संभव सुविधायें दीं। राज्य की परिभाषा करते हुए वह कहता है कि राज्य भूमिपतियों न्यायाधीशों, धर्म-पुरोहितों और आगे चलकर पूंजीपतियों के मध्य परस्पर सहायता के हेतु निर्मित एक ऐसी संस्था है, जो उन्होंने एक दूसरे के प्रभुत्व को बनाये रखने के लिए और जनता का शोषण करने, तथा स्वयं धनाढ्य बनने लिए बनाया है। राज्य सदैव से ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोधी रहा है। राज्य ने जब कभी भाषण, प्रेस, समुदाय आदि बनाने की स्वाधीनता जनता को दी है, तो उसकी एक सीमा निर्धारित कर दी और प्रतिबन्ध लगाया कि इस स्वतन्त्रता का उपयोग धनाढ्य वर्ग के विरुद्ध नहीं किया जायगा। राज्य का उद्देश्य धनाढ्यों को इस प्रकार से सुविधा देना है जिससे उनके पास पूंजी का संचय हो सके। राज्य की सेनाओं ने रक्षा तो नहीं की है, किन्तु वे पराजित अवश्य हुई हैं। क्रोपाटकिन के शब्दों में स्थायी सेनायें सदैव ही आक्रान्ताओं द्वारा परास्त होती रही हैं और इतिहास की दृष्टि से उन्हें देश के बाहर निष्कासित करने में जनक्रान्तियां अधिक सफल हुई हैं।

मनुष्य सत्ता प्राप्त करने के बाद बुरे बन जाते हैं

क्रोपाटकिन का मत है कि मनुष्य बुरे नहीं होते, अपितु राज्य उन्हें दुष्ट
बना देता है। शासन की परिस्थितियाँ ही ऐसी होती हैं कि स्वयं को जीवित
रखने के लिए बलप्रयोग, शोषण, हत्या तथा घृणा का सहारा लेता है। क्रोपा-
टकिन आगे कहता है कि वह मंत्री श्रेष्ठ मनुष्य होता, यदि उसे सत्ता नहीं दी
गयी होती, अर्थात् सत्ता के प्राप्त होने से मनुष्य का स्वभाव बदल जाता है। व
मानव न रहकर दानव बन जाता है। राज्य की यह कमियाँ प्रत्येक प्रकार
राज्य व्यवस्थाओं के अंतर्गत पायी जाती हैं, चाहे वे राजतंत्रात्मक हो या कुलीन
तंत्रात्मक अथवा प्रतिनिधियात्मक लोक तंत्र ही क्यों न हो। प्रतिनिधियात्मक
लोकतंत्र के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि उन्होंने अपना उद्देश्य पूरा
कर लिया है और सार्वजनिक विषयों में सार्वजनिक अभिरुचि को जागृत कर
दिया है, परन्तु इसे जारी रखना भारी भूल होगी। प्रत्येक सरकार अपने स्वा-
भाविक स्वरूप में भ्रष्ट होती है। अतः राज्य तथा उसकी सत्ता को बिलकुल
समाप्त करके ही समाज अपने नैसर्गिक स्वरूप को प्राप्त कर सकेगा।

इस प्रकार मनुष्य का नैतिक विकास न तो प्रतिनिधियात्मक लोकतंत्र में
हो सकता है और न कुलीनतन्त्रात्मक अथवा राजतन्त्रात्मक शासन में हो सक
है। उसके लिए सभी शासन घातक हैं। प्रतिनिधियात्मक शासन की तो क्रो
टकिन ने बहुत बुराई की है। वह कहता है कि जनता के प्रतिनिधियों को
समस्याओं को समझने की योग्यता नहीं रहती है, जिनकी उनसे आशा की जा
है। क्रोपाटकिन के शब्दों में प्रतिनिध्यात्मक शासन ने अपना ध्येय पूरा
लिया, उसने दरबार शासन पर घातक प्रहार किया और अपने वाद-विवादों
विचार-विनिमय द्वारा जनता में सार्वजनिक प्रश्नों के प्रति रुचि जागृत की
किन्तु प्रतिनिध्यात्मक शासन को भावी समाजवादी समाज के उपयुक्त
समझना भयंकर भूल होगी।

व्यक्तिगत सम्पत्ति का विरोध

क्रोपाटकिन की दृष्टि में व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा सामाजिक अ
द्योतक है। अतीत से वर्तमान तक समाज के विशाल भाग ने जितनी स
सम्पत्ति अर्जित की है, उसके स्वामी मुट्ठी भर अल्पसंख्यक बने हुए
व्यवस्था के निमित्त अतीत से लेकर वर्तमान तक सहस्त्रों पीढ़ियों ने
और वर्तमान औद्योगिक युग मे विज्ञान, तकनीकी, कच्चे माल

सभी सम्पत्ति के अर्जन आदि में समाज के विभिन्न वर्ग साथ-साथ शारीरिक तथा मानसिक श्रम करते रहे हैं। इस समाज की सम्पूर्ण भौतिक सम्पत्ति का उत्पादन अतीत की अनेक पीढ़ियों से लेकर आज तक सम्पूर्ण समाज के सतत परिश्रम का फल है। यह एक भारी विडम्बना है कि थोड़े से व्यक्ति, जिन्होंने इसमें किसी भी प्रकार का योगदान नहीं किया है, यह कहते हैं कि यह मेरा है तुम्हारा नहीं। उनके इस दम्भपूर्ण दावे को कैसे स्वीकार किया जा सकता है? ऐतिहासिक दृष्टि से राज्य तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की संस्थायें एक साथ उत्पन्न हुई हैं। दोनों एक दूसरे के पोषक हैं। उन्होंने स्वतंत्र समाज के जीवन को विनष्ट करने का कार्य किया है। अब यह स्थिति है कि समाज सम्पत्तिवान तथा सम्पत्तिविहीन दो वर्गों में विभक्त किया गया है। सम्पत्तिशाली धनसम्पन्न, राज्य उनका साथी है। इस वर्ग के लोग विलासी, आलस्य, सुख, भोग आदि का जीवन व्यतीत करते हैं। दूसरा वर्ग उन दीनों का है जो सम्पत्ति के अर्जन में पूरा परिश्रम करते हैं। वे बेकारी, भुखमरी, कर्जदारी, अशिक्षा, शारीरिक दुर्बलता आदि से पीड़ित हैं। इस विशाल वर्ग का सम्पत्तिशाली वर्ग के द्वारा निरंतर शोषण किया जाता रहा है। इसको राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि विभिन्न क्षेत्रों में दमन का सामना करना पड़ता है। राज्य का प्रमुख उद्देश्य सम्पत्तिशाली वर्ग को संरक्षण प्रदान करना रहता है, जिसके निमित्त वह सम्पत्तिहीन विशाल वर्ग का दमन करता है। इस प्रकार इतिहास इसका साक्षी है कि शोषण करने के लिये ही राज्य का प्रादुर्भाव हुआ है। यह मजदूरी पद्धति को समाप्त करना चाहता है तथा वस्तुओं का वितरण प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार के सिद्धांत के आधार पर करना चाहता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के समाप्त होते ही सभी बुराइयां अपने आप समाप्त हो जायेंगी।

धर्म का विरोध

अन्य अराजकतावादी विचारकों की भाँति क्रोपाटकिन की परम्परागत प्रथा औपचारिक धर्म का विरोध करता है। उसके मत से ऐसे धर्मों के अन्तर्गत न कोई आध्यात्मिकता है और न उसका कोई वैज्ञानिक आधार है। उसके मत से धर्म या तो सृष्टि की मीमांसा का आदिमकालीन सिद्धान्त है या प्रकृति को समझने का एक भद्दा प्रयास है, अथवा यह एक ऐसी नैतिक व्यवस्था है जिसके द्वारा लोगों का अज्ञान तथा अन्धविश्वास का लाभ उठाकर उन्हें निर्वतमान राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों के अन्तर्गत उनके ऊपर किये जाने वाले अन्याय को सहन करने की प्रेरणा दी जाती है। क्रोपाटकिन को धर्म शब्द से

ई आपत्ति नहीं है। धर्म को वह मानवीय तथा सामाजिक नैतिकता के नैतिक
द्धान्तों के रूप में सहर्ष स्वीकार करने को राजी है। समाज के सुचारु रूप से
चालित होने के निमित्त वह ऐसे नियमों के अस्तित्व को अपरिहार्य मानता है।
उसका विचार है कि कोई भी समाज अपना अस्तित्व तभी बनाये रख सकता है
जबकि उसके सदस्यों में एक दूसरे के प्रति सम्मान तथा अपने वचनों को पूरा करने
की प्रवृत्ति विद्यमान रहती है। ऐसी नैतिकता परम्परागत धर्म के नियमों से
बिलकुल भिन्न रूप की है। समाज का कल्याण सदस्यों के पारस्परिक सहयोग
तथा सद्भावना पर निर्भर करता है। सामाजिक नैतिकता के स्वाभाविक
नियम ही वास्तविक धर्म हैं और यह तभी प्रभावी हो सकते हैं जबकि रूढ़िगत
धर्म का अन्त हो जाय। इस प्रकार क्रोपाटकिन जनता मे अपने आप विकसित
होने वाले सामाजिक नैतिकता को धर्म का नाम देने को तैयार था।

भावी समाज

राजसत्ता एवं व्यक्तिगत सम्पत्ति के समाप्त होने पर भावी समाज
होगा, इसका जो चित्र क्रोपाटकिन ने चित्रित किया है, वह लगभग बैकुनिन
भांति ही था। मनुष्य परस्पर मिलकर रहेंगे, परन्तु वह ऐसा राजसत्ता के
से न कर स्वेच्छा से करेंगे। स्वतन्त्र सहयोग के आधार पर एक संघ या
बनाया जायगा और ये छोटे सघ आपस में मिलकर बड़े सघों का निर्माण
संघो का संगठन आवश्यकतानुसार बनाया जायगा जैसे विद्यालय को
मकान बनाने, सड़क का निर्माण करने, मशीन आदि बनाने के लिए समुदाय
जायंगें। सभी संघ मनुष्यों के स्वेच्छापूर्ण समझौते से बनेंगे। इन समझौतों
पालन लोग आवश्यकता के कारण करेंगे। यदि कोई विवाद हो जाता है तो
निर्णय स्वेच्छा से स्थापित पंच न्यायालयों द्वारा होगा। समाज विरोधी का
सामान्यतः नैतिक प्रभाव तथा सहानुभूतिपूर्ण हस्तक्षेप के द्वारा उसका दमन
जायेगा। यदि इसमे भी सफलता नहीं मिली, तो वहां समुदायों से नि
भय अथवा जन प्रयत्न के द्वारा बलपूर्वक हस्तक्षेप से आवश्यक प्रतिका
जायेगा। यह एक नयी साम्यवादी व्यवस्था होगी। जहां तक स्वामित्व का
उत्पादित की गयी वस्तुओं तथा उपभोग की वस्तुओं मे कोई भेद नहीं
प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी समुदाय में सम्मिलित होने के लिए
से बाध्य नहीं किया जायेगा। सदस्य जब चाहें अपना संगठन छोड़ सकते
संगठन के निश्चित नियम होंगे। इन नियमों का पालन करना सब
जायेगा। यदि कोई सदस्य इन नियमों को नहीं मानते हैं या

का पालन नहीं करते हैं, तो उन्हे संगठन से निकाल दिया जायेगा। ये संगठन स्वशासित होंगे। प्रत्येक व्यक्ति को चार या पाँच घंटे प्रतिदिन उत्पादन का कार्य करना होगा। विभिन्न प्रकार के समुदायों द्वारा उत्पादित वस्तुओं में सबकी सम्पत्ति कहलायेगी और उन्हें जनता में आवश्यकता के अनुसार वितरण की व्यवस्था की जायेगी। समझौते के आधार पर संघ व्यक्तियों को सभी सुविधायें प्रदान करेगा।

संघ निम्न प्रकार के समझौते के आधार पर बनेंगे। हम आपको इस प्रकार आश्वासन देते हैं कि आप हमारे मकानों, भण्डरों, राजपथों, यातायात एवं परिवहन के साधनों, विद्यालयों तथा संग्रहालयों का इस शर्त पर प्रयोग कर सकेंगे कि आप चौबीस वर्ष की आयु तक प्रतिदिन चार पंच घंटे ऐसे काम का सम्पादन करने में लगायें जो जीवनोपयोगी समझा जाय। आप स्वयं यह निर्णय कर लें कि आप कौन से समुदाय में प्रविष्ट होना चाहते हैं अथवा आप कोई नया समुदाय संगठित करना चाहते हैं। किन्तु उसे किसी आवश्यक सेवा कार्य को स्वीकार करना होगा। शेष समय में आप मनोरंजन, विज्ञान या कला के उद्देश्य से अपनी रुचि के अनुसार चाहें जिसके साथ अपना सम्पर्क रखें। हम आपसे केवल यह चाहते हैं कि आप एक वर्ष में 1200 से 1500 घंटे किसी भी ऐसे समुदाय में कार्य करें जो खाद्यान्न, वस्त्र या आश्रय स्थान करने अथवा सार्वजनिक स्वास्थ्य, परिवहन आदि की सुरक्षा देते हैं, जो हमारे संघ उत्पन्न करते है।

इस प्रकार उत्पादन तथा वितरण किया जायगा जिससे सभी लोग सुख से रह सकेंगे। पूँजीवादी व्यवस्था में श्रम व्यर्थ जाता था, उसका उत्पादन की वृद्धि में उपयोग किया जायेगा। यहाँ कोई वेतन प्रणाली नहीं होगी, प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार दिया जायेगा। यह कहा जा सकता है कि मनुष्य काम ही नहीं करेगा, किन्तु क्रोपाटकिन का कहना है कि मनुष्य कामचोर नहीं होता, वह काम करने को सदैव प्रस्तुत रहता है। कोई भी मनुष्य अधिक काम नहीं करेगा। सामान्यतया जनसंख्या की तुलना में उत्पादन अधिक होता है। परन्तु पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत वेतन की दासता काम करती है। इसके परिणामस्वरूप उत्पादन के गुणात्मक तथा मात्रात्मक स्वरूपों का बुरा प्रभाव पड़ता है।

क्रोपाटकिन का कहना है कि आज का विश्व अराजकता की ओर अग्रसर हो रहा है। आधुनिक युग में लाखों व्यक्ति बिना सरकारी हस्तक्षेप से कार्य कर रहे है। सभी लोग समझौतों का पालन सत्यनिष्ठा से कर रहे हैं। समझौते का आदर दण्ड के भय से न करके स्वेच्छा से करते है। वचन पालन करने

वाभाविक प्रवृत्ति के कारण कोई समझौतों के आधार पर उत्पादन का का
रही है। सांस्कृतिक तथा परोपकारी कार्य छोटे-छोटे संघों के द्वारा हो रहे
मनुष्य की सहकारी प्रवृत्तियों के कारण सरकारी कार्य का महत्व घटता जा
हा है। आज शासकीय वाचनालयों, अजायबघरों, पुस्तकालयों, उद्यानों तथा
ड़कों का प्रयोग सभी लोग बिना कुछ किये कर रहे हैं। अधिकार देशों में
शिक्षा निःशुल्क दी जा रही है। इस प्रकार दिन प्रतिदिन सरकारी हस्तक्षेप घटता
जा रहा है।

साधन

क्रोपाटकिन द्वारा प्रस्तुत अराजक समाज का ऊपर वर्णित भिन्न भिन्न
प्रकार व्यावहारिक रूप प्राप्त कर सकेगा, इसे वह दो रूपों में व्यक्त करता
है :—

(1) उसका विश्वास था कि ऐतिहासिक विकासक्रम स्वयं इस बात को
रहा है कि शासन सत्ता का क्षेत्र संकुचित होता जा रहा है। समाज में कार्य
स्वायत्तशासी तथा स्वेच्छा से निर्मित समुदायों के द्वारा संचालित हो रहे हैं।
संचालन तथा नियमन में शासन सत्ता के हस्तक्षेप की कोई आवश्यकता
नहीं की जा रही है। शिक्षा, संस्कृति, स्वास्थ्य, पारस्परिक लेन-देन आदि
क्षेत्रों में स्वेच्छा से निर्मित समुदाय कार्य कर रहे हैं। यहाँ तक कि शासन
भी अनेक प्रकार के लोककल्याणकारी कृत्य किये जा रहे हैं और उनमें
जनता का ऐच्छिक सहयोग प्राप्त करने में सचेष्ट प्रतीत होती है, न कि
प्रयोग द्वारा अपनी इच्छा जनता पर थोपने की प्रवृत्ति प्रकट हो रही है
यह विश्वास अत्यंत मन्थर गति का है जो अराजकतावादी उद्देश्यों की प्राप्ति
सफल साधन नहीं है।

(2) इसलिए क्रोपोटकिन क्रांति द्वारा तुरन्त अराजक व्यवस्था
सुझाव देता है। उसका विश्वास था कि देश की ऐसी क्रांति शीघ्र ही
में फैल जायगी। प्रारंभ में यह हिंसात्मक होगी। उसका उद्देश्य
संस्थाओं को समाप्त करना तथा उनके स्थान पर पारस्परिक सहयोग की
को जागृत करना होगा। इस संगठन को विकसित करने के लिए
सामान्यों में प्राण फूँकने के लिए और भावना के लिए से शिक्षा,
आत्म-त्याग की भावना का प्रचार करने के लिए, जिसके प्रभाव से
... हो रहा है, एक भयानक तूफान की आवश्यक

तूफान अराजक क्रांति के रूप में होगा। राज्य की समस्त संस्थाओं को क्रांति द्वारा नष्ट कर देने के साथ-साथ क्रांतिकारी व्यक्तिगत सम्पत्ति को भी छीनेंगे। भूस्वामियों से भूमि छीनकर कृषकों के समुदायों को दे दी जायेगी। मकानों को छीनकर उनमें मकान विहीन लोगों को बसाया जायेगा। कारखानों के स्वामित्व से पूंजीपतियों को निकालकर उनमें श्रमिकों के समुदायों का स्वामित्व हो जायेगा। इस कार्यक्रम में किसी प्रकार के बाह्य दवाव या सहायता अथवा अधिनायकवादी व्यवस्था की आवश्यकता नहीं है। प्रत्युत ऐसी क्रांति का आह्वान सर्वत्र ऐच्छिक समुदायों के द्वारा किया जायेगा।

अराजकतावाद के आलोचकों को उत्तर देते हुए क्रापोटकिन ने कहा है कि अराजकता व्यवस्था का अभाव नहीं है और यह बात भी सत्य नहीं है कि जहाँ शासन नहीं होता वहाँ अव्यवस्था रहती है। अराजकता प्रतिबंधों का अभाव है। राज्य तथा उसकी संस्थायें स्वतंत्रतापूर्वक व्यक्तियों की सामाजिक गतिविधियों का संचालन करने की प्रक्रिया पर प्रतिबंध लगाती है। अतः उनके अराजकवाद का विरोध है। जो लोग यह मानते हैं कि राजसत्ता के अभाव में लोग संविदाओं को भंग करेंगे, काम से जी चुरायेंगे, या समाज विरोधी कार्य करेंगे, वे भ्रम में हैं। संविदायें दो प्रकार की होती हैं (1) दबाव जन्य तथा (2) ऐच्छिक। किसी आर्थिक, राजनीतिक या नैतिक दबाव तथा विवशता के के कारण की गयी संविदा लागू करने के लिए राजसत्ता की आवश्यकता हो सकती है, परन्तु स्वेच्छा से की गयी संविदा सहयोग तथा न्याय पर आधारित होती है। अत. उसे भंग करने का प्रश्न ही नहीं उठेगा। अराजकतावादी समाज ऐसी ही संविदाओं की आकांक्षा करता है। काम करने की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक होती है। परन्तु वह ऐसा ही काम पसंद करता है और उसे पूरी दक्षता से करता है जो उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति तथा योग्यता के अनुकूल हो। जिस कार्य से श्रम के बराबर लाभ न मिले या जिसे अमानवीय परिस्थितियों में करना पड़े, उनसे व्यक्ति जी चुरा सकता है। अराजकतावादी समाज काम का चयन करके उसे श्रम का पूरा लाभ देने की नीति पर चलता है। अत ऐसे समाज में समाजविरोधी तत्वों तथा अपराधों की सम्भावना नहीं रह सकती। अपराध ऐसे समाज में होते हैं जो अन्याय, शोषण तथा व्यक्ति के मध्य असमानता का द्योतक होता है। उसमें निवर्तमान राज्य व्यवस्था पहले अन्यायपूर्ण व्यवस्था लाती है। फिर उसी के लिए दूसरों को दोषी ठहराकर दण्ड देती है। ऐसा दण्ड अपराधों का निवारण नहीं कर सकता। संक्षेप में क्रोपोटकिन के विचार

क्रान्तिकारी तथा स्वप्नलोकी दोनों प्रकार के है। कोल के शब्दों में उसके विश्वास का आधार मानव में सहकारिता तथा पारस्परिक सहचार की प्राकृतिक प्रवृत्ति का होना था, न कि अहं तथा शक्ति की चाह का होना। वह इसी शक्ति का दमनकारी सत्ताओं से मुक्त करना चाहता था। इसका उपचार उसने दमनकारी शक्तियों को विनिष्ट करने में ही पाया। अत उसने राज्य, उसकी सरकार, राज्य द्वारा पोषित धर्म तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की सस्था का विरोध किया था। वह मानव के सामाजिक दायित्व, उसमें भ्रातृत्व की भावना तथा उत्पादन क्रिया में उसके स्वतंत्र तथा सम्पन्न व्यक्तियों से मुक्त हो सके और उसमें अन्याय, शोषण तथा दमन का विनाश हो जाय।

काउन्ट ली टालस्टाय (1828–1910)

टालस्टाय का जन्म रूस के एक संभ्रांत सामंती घराने मे हुआ था। विश्वविद्यालय से स्नातक की उपाधि प्राप्त करने के उपरांत वह 5 वर्ष सेना मे रहा और उसने क्रीमिया के युद्ध में एक सैनिक अधिकारी के रूप मे भाग लिया। अपने सैनिक अनुभव का उसने अपनी अनेक पुस्तकों मे बड़ा ही सजीव स्वार्थवादी और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया। अतः एक लेखक के रूप में भी ख्याति प्राप्त की। टालस्टाय को वास्तव में 19 वी शताब्दी के अंतिम भाग का सबसे प्रसिद्ध रूसी विद्वान और आधुनिक युग का एक महान् साहित्यकार माना जाता है। उसने अपनी अनेक पुस्तकों मे किसान और भूमिपतियों के जीवनों को चित्रित किया तथा भूमिपतियों के जीवन की कृत्रिमता और शून्यता का दर्शन कराया। जीवन के अंतिम भाग में उसकी कृतियों और लेखों ने सामान्यतया सामाजिक, दार्शनिक रूप ले लिया। अपनी सभी रचनाओं में टालस्टाय ने निश्कपट, श्रम और सरल जीवन की प्रशंसा करते हुए विलासी जीवन, कृत्रिमता, अन्याय क्रांन्ति के विरुद्ध आवाज उठायी है।

50 वर्ष की आयु तक टालस्टाय ने एक ऐसा जीवन व्यतीत किया जो कि एक विद्वान भूमिपति की शान के अनुकूल था। किंतु तत्पश्चात् उसके जीवन का मार्ग एक तपस्वी जीवन की ओर ढल गया। सन् 1870 के लगभग टालस्टाय आध्यात्मिक संकट से गुजरा। उसने ईसाई धर्म की परंपरागत मान्यताओं, अर्थात् त्रिदेव तथा ईसामसीह की दैविकता, में विश्वास को ठुकरा दिया और ईसाई धर्म के बुद्धि प्रधान रूप को अंगीकार कर लिया, जिसके आधारभूत सिद्धांत हैं भ्रातृत्व भावना, प्रेमभावना तथा बुराई का अवरोध। टालस्टाय के जीवन का

टालस्टाय ने यह विचार प्रस्तुत किया कि युद्ध, अत्याचार, दमन और शोषण पर आधारित वर्तमान समाज को बदलने के लिए नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति की आवश्यकता है। उसने राज्य और सम्पत्ति का विरोध प्रधानतः नैतिक आधार पर किया। उसके अनुसार वे महात्मा प्रभु ईसा की शिक्षाओं के विरुद्ध थी। ईसा ने सबसे प्रेम करने तथा बुराई का शक्ति से विरोध न करने का उपदेश दिया था। राज्य शक्ति पर आधारित है और वह लोगों से अपनी आज्ञाओं का पालन प्रेम के स्थान पर पुलिस एवं सैनिक शक्ति के बल पर कराता है। एक स्थान पर राज्य और राजकीय नियन्त्रण की भर्त्सना करता हुआ वह लिखता है, मैं अपने श्रम से अपने पिता की सहायता करना चाहता हूँ, मैं विवाह करना भी चाहता हूँ किन्तु मुझे राज्य द्वारा 6 वर्ष के लिए सैनिक बनाकर कजान भेज दिया जाता है—मैं अपनी सम्पत्ति को बचाता हूँ और उसे अपने बच्चों को देना चाहता हूँ, किन्तु एक पुलिस वाला आकर मुझसे मेरी सारी बचत राज्य कर के नाम पर छीन ले जाता है—मेरी सारी आवश्यकतायें राज्य के अधीन हैं—मैं अनुभव करता हूँ कि मेरी तथा मेरी साथियों की स्थिति में सुधार राज्य से मुक्ति पाने पर ही होगा। किन्तु मुझसे कहा जाता है कि मेरे इस तर्क का कारण मेरी अज्ञानता है। राज्य को पशुबल पर आधारित दुष्टों का शासन और लुटेरों से भी अधिक भयावह मानते हुए टालस्टाय ने कहा कि राज्य के साथ सहयोग मत करो, कर देने, सैनिक कर्तव्यों को पूरा करने, न्यायिक तथा प्रशासकीय कार्य करने से मना

में रसेल को अध्ययन हेतु केम्ब्रिज भेजा गया जहाँ पर वह सीनियर रेंलर बन गया और उसने विशिष्टतापूर्ण प्रथम श्रेणी प्राप्त की। रसेल को गणित और दर्शन में बाल्यावस्था से ही गहरी रुचि थी। जब सन् 1900 में वह पेरिस में गणितशास्त्र सम्मेलन में भाग लेने गये तो गणितशास्त्र के प्रति उसकी रुचि में विशेष रूप से अभिवृद्धि हो गयी। सन् 1903 में उन्होंने अपना प्रथम महत्वपूर्ण ग्रंथ 'दी प्रिन्सिपिल ग्राफ मेथेमेटिक्स' लिखी। सन् 1910 में वह केम्ब्रिज विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त हो गये। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के समय उन्हें पदच्युत कर दिया गया क्योंकि उन्हें कुछ विरोधी रचनाओं के कारण न्यायालय से दण्डित होना पड़ा था। रसेल को संयुक्त राज्य अमेरिका के हारवर्ड विश्वविद्यालय मे नियुक्ति का आमत्रण मिला, किंतु ब्रिटिश सरकार ने उसे वहां जाने के लिए पासपोर्ट तक नही दिया। सन् 1918 में प्रकाशित अपने एक शान्तिवादी किंतु महत्वपूर्ण साहसपूर्ण स्पष्ट शैली में लिखे गये लेख के कारण रसेल को 6 मास का कारावास भी भोगना पड़ा। कारावास मे ही उसने अपना ग्रंथ "इन्ट्रोडक्शन टू मेथेमेटिकल फिलोस्फी" लिखा। कारावास से मुक्त होने के पश्चात् रसेल ने लंदन मे कुछ भाषण दिये जिन्हे पेंकिंग में पुनः दोहराया गया। इस व्याख्यान का सार उसकी पुस्तक "ऐनेलिसिस ग्राफ माइन्ड" में पाया जाता है। सन् 1920 में रूस के दौरान उसने जो कुछ देखा और अनुभव किया, वह उसकी रचना में उपलब्ध है, जो काफी विवाद का विषय बनी। उसने सन् 1920-24 मे श्रमिक दल की ओर से ब्रिटिश संसद का चुनाव भी लड़ा, लेकिन वह पराजित हो गये। सन् 1949 में उसे इंगलैंड के सम्राट की ओर से 'ग्रार्डर ग्राफ मेरिट' का पुरस्कार मिला। सन् 1950 में उसे विश्वविख्यात नोबल प्राइज से सम्मानित किया गया। सन् 1950 में ही उसे आस्ट्रेलिया में भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया गया। रसेल ने चार बार विवाह किया और प्रत्येक बार उसकी पत्नियों ने सम्बध विच्छेद कर दिये। उसका अंतिम विवाह जब हुआ तब वह काफी वृद्ध हो चुका था। उसके दाम्पत्य जीवन के असफल होने का सब से बड़ा कारण रसेल का मनमौजी स्वभाव होने के अतिरिक्त व्यस्त जीवन भी था। सन् 1970 में उसके दीर्घ जीवन का अंत हुआ और इस समय तक वह विश्व के सर्वाधिक जाने-माने विद्वानों और विचारकों की श्रेणी में आ चुके थे। रसेल की प्रमुखतम और अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण रचनायें निम्नलिखित हैं :—

1. German Social Democracy (1896)
2. The Principles of Mathematics (1903)

3. A Critical Exposition of the Philosophy of Liberty (1909)
4. Principia Mathematical With A. N. Whathead, 1910-12
5. The Problem of Philosophy (1912)
6. War, the offspring of Fued (1915)
7. The Principles of Social Reconstruction (1916)
8. Mystic and Logic and other Essays (1918)
9. Road to Freedom (1918)
10. Introduction to Mathematical Philosophy (1919)
11. The Practice and Theory of Bolshevism (1920)
12. The Analysis of Mind (1921)
13. The A B C of Atoms (1923)
14. The Problems of China (1922)
15. The A B C of Relativity (1925)
16. Marriage and Morals (19[illegible])
17. The Conquest of Happiness (1930)
18. Freedom and Organisation (19[illegible])
19. Power—A New Social Analysis ([illegible])
20. A History of Western Philosophy (1945)
21. Authority and the Individual (1949)
22. Unpopular Essays (1951)
23. Impact of Science and Society (1952)
24. Commons and Nuclear War (1958)
25. Wisdom of the West (1959)

रसेल के प्रमुख विचार

में रसेल को अध्ययन हेतु केम्ब्रिज भेजा गया जहाँ पर वह सीनियर रेलर बन गया और उसने विशिष्टतापूर्ण प्रथम श्रेणी प्राप्त की। रसेल को गणित और दर्शन में बाल्यावस्था से ही गहरी रुचि थी। जब सन् 1900 में वह पेरिस में गणितशास्त्र सम्मेलन में भाग लेने गये तो गणितशास्त्र के प्रति उसकी रुचि में विशेष रूप से अभिवृद्धि हो गयी। सन् 1903 में उन्होंने अपना प्रथम महत्वपूर्ण ग्रंथ 'दी प्रिन्सिपिल आफ मेथेमेटिक्स' लिखी। सन् 1910 में वह केम्ब्रिज विश्व-विद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त हो गये। किन्तु प्रथम विश्वयुद्ध के समय उन्हें पदच्युत कर दिया गया क्योंकि उन्हें कुछ विरोधी रचनाओं के कारण न्यायालय से दण्डित होना पड़ा था। रसेल को संयुक्त राज्य अमेरिका के हारवर्ड विश्व विद्यालय में नियुक्ति का आमंत्रण मिला, किंतु ब्रिटिश सरकार ने उसे वहां जाने के लिए पासपोर्ट तक नहीं दिया। सन् 1918 में प्रकाशित अपने एक शान्तिवादी किंतु महत्वपूर्ण साहसपूर्ण स्पष्ट शैली में लिखे गये लेख के कारण रसेल को 6 मास का कारावास भी भोगना पड़ा। कारावास में ही उसने अपना ग्रंथ "इण्ट्रो-डक्शन टू मेथेमेटिकल फिलोस्फी" लिखा। कारावास से मुक्त होने के पश्चात् रसेल ने लंदन में कुछ भाषण दिये जिन्हें पेकिंग में पुनः दोहराया गया। इस व्याख्यानों का सार उसकी पुस्तक "ऐनेलिसिस आफ माइन्ड" में पाया जाता है। सन् 1920 में रूस के दौरान उसने जो कुछ देखा और अनुभव किया, वह उसकी रचना में उपलब्ध है, जो काफी विवाद का विषय बनी। उसने सन् 1920-24 में श्रमिक दल की ओर से ब्रिटिश संसद का चुनाव भी लड़ा, लेकिन वह पराजित हो गये। सन् 1949 में उसे इंगलैंड के सम्राट की ओर से 'आर्डर आफ मेरिट' का पुरस्कार मिला। सन् 1950 में उसे विश्वविख्यात नोबल प्राइज से सम्मानित किया गया। सन् 1950 में ही उसे आस्ट्रेलिया में भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया गया। रसेल ने चार बार विवाह किया और प्रत्येक बार उसकी पत्नियों ने सम्बंध विच्छेद कर दिये। उसका अंतिम विवाह जब हुआ तब वह काफी वृद्ध हो चुका था। उसके दाम्पत्य जीवन के असफल होने का सब से बड़ा कारण रसेल का मनमौजी स्वभाव होने के अतिरिक्त व्यस्त जीवन भी था। सन् 1970 में उसके दीर्घ जीवन का अंत हुआ और इस समय तक वह विश्व के सर्वाधिक जाने-माने विद्वानों और विचारकों की श्रेणी में आ चुके थे। रसेल की प्रमुखतम और अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण रचनायें निम्नलिखित हैं :—

1. German Social Democracy (1896)
2. The Principles of Mathematics (1903)

3. A Critical Exposition of the Philosophy of Liberty (1909)
4. Principia Mathematical With A. N. Whathead, 1910-12
5. The Problem of Philosophy (1912)
6. War, the offspring of Fued (1915)
7. The Principles of Social Reconstruction (1916)
8. Mystic and Logic and other Essays (1918)
9. Road to Freedom (1918)
10. Introduction to Mathematical Philosophy (1919)
11. The Practice and Theory of Bolshevism (1920)
12. The Analysis of Mind (1921)
13. The A B C of Atoms (1923)
14. The Problems of China (1922)
15. The A B C of Relativity (1925)
16. Marriage and Morals (1929)
17. The Conquest of Happiness (1930)
18. Freedom and Organisations (1934)
19. Power—A New Social Analysis (1938)
20. A History of Western Philosophy (1945)
21. Authority and the Individual (1949)
22. Unpopular Essays (1951)
23. Impact of Science and Society (1952)
24. Commons and Nuclear War (1958)
25. Wisdom of the West (1959)

रसेल के प्रमुख विचार

रसेल का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति मे एक सृजनात्मक प्रवृत्ति होती है जिसके द्वारा वह मानव विकास को समृद्ध करता है और अपनी परिणति को प्राप्त

करता है। यह सृजनात्मक प्रवृत्ति उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व को भी व्यक्त करती है। रसेल का कहना है कि समाज और राज्य अपने वर्तमान परिवेश में इस सृजनात्मक शक्ति को कुंठित कर देते हैं, अतः आवश्यक है कि समाज और राज्य दोनों की संरचना इस प्रकार हो कि यह सृजनात्मक शक्ति कुंठित न हो सके। रसेल ने बताया कि इस विश्व में स्वतन्त्रता और सत्ता के बीच निरन्तर संघर्ष चलते रहते हैं। व्यवस्था और कानून पर जोर देने वाले वे लोग हैं जो इस भय से त्रस्त हैं कि मनुष्य इनके बिना जीवन नहीं चला सकेगा और मृत्यु व्यवस्था को प्राप्त हो जायेगा। लेकिन दूसरी ओर व्यक्ति की स्वतन्त्रता में विश्वास रखने वाले ऐसा मानते हैं कि वह स्वतन्त्रता एक अधिक उत्कृष्ट मानव सभ्यता को जन्म देगी।

रसेल के अनुसार आवेश दो प्रकार के होते हैं—संग्रहकारी और सृजनकारी। सभी मानव संस्थायें इन आवेगों से सम्बद्ध हैं जिन्हे या तो संग्रहकारी संस्थायें कहा जा सकता है या अन्य संस्थाओं को सृजनकारी कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ, सम्पत्ति एक संग्रहकारी वस्तु है जबकि विज्ञान, कला, संगीत में सृजनकारी है। संग्रहकारी आवेग मनुष्य को अधिक से अधिक संग्रह करने की दिशा में प्रवृत्त करता है, लेकिन चूंकि भौतिक पदार्थ सीमित है अतः एक मनुष्य जब अपने लिए अधिक संग्रह करता है तो वह ऐसा दूसरो को इन उपलब्धियो से ही वंचित करके करता है। इस प्रकार अधिक संग्रह की प्रवृत्तियाँ संघर्ष को जन्म देती है। संघर्ष सत्ता लोलुपता को जन्म देती है और अनन्तोगत्वा यह युद्ध की ओर प्रवृत्त करती है। राज्य और सम्पत्ति दो संग्रहकारी संस्थायें हैं और जिनकी परिणति केवल युद्ध में ही होती है। किसी वस्तु पर एकमात्र आधिपत्य की भावना सदैव संग्रह मे ही परिणत होती है और यह संग्रह युद्ध को जन्म देता है।

रसेल के अनुसार संग्रह या तो सुरक्षात्मक होता है या आक्रमणात्मक। लेकिन दोनो ही बातो से एक दुर्भाग्यपूर्ण वस्तु पैदा होती है। वह दुर्भावना ही राज्य को हस्तक्षेप का निमंत्रण देती है और जहाँ राज्य का हस्तक्षेप बढ जाता है वहाँ अन्य बुराइयां आ जाती है। रसेल संग्रहकारी प्रवृत्तियों को समस्त बुराइयों की जड़ मानता है। व्यक्ति चीजों को प्राप्त करने के साथ ही वह यह भी मानता है कि कुछ और ऐसी वस्तुएँ है जैसे विवाह, व्यवसाय की रुचि, आवेग, विश्राम, मनोरंजन आदि जिनकी व्यक्तियो को अपनी पसंद है और उन पर राज्य का कोई भी नियन्त्रण नही होना चाहिये। रसेल के शब्दों में एक कलाकार का मनोवेग व्यक्ति के लिए और बहुधा संसार के लिए एक अमूल्य चीज हुआ करती है। अतएव इस चीज का

उसके जीवन का 10 भागों में से 9 भागों का निर्माण कराता है। मनुष्य सदैव दूसरे के लिए शक्ति का प्रयोग करता है, लेकिन विश्व की सारी चीजें शक्ति से प्राप्त नहीं हो सकतीं। जैसे महिला पर शक्ति के द्वारा अधिकार प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन इस शक्ति से आपको उसका प्रेम नहीं मिल सकता। रसेल इसलिये शक्ति या बल के स्थान पर शान्ति पर जोर देता है। दूसरी मान्यता है कि संसार की सभी वस्तुएं शान्ति द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं, अतएव भौतिक क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नियन्त्रित की जानी चाहिये। यह इसलिए आवश्यक है कि ऐसा नहीं किये जाने पर शक्तिशाली धनी हो जायेंगे और अन्य लोग निर्धन।

रसेल सृजनात्मक मनोवेगों को श्रेष्ठ मानता है जिनमें विशिष्ट व्यक्तियों का निर्माण करने की शक्ति होती है एवं जिनकी परिभाषा करना कठिन हो जाता है। जैसे वर्षा में बगुलों का समूह चलता है तो उनके चलने में एक विशिष्टता का बोध होता है। वह विशिष्टता आनन्द देने वाली होती है, लेकिन इसकी परिभाषा नहीं की जा सकती। जब मनुष्य अपने सृजनात्मक आवेग द्वारा प्रेरित होकर कोई भी कलात्मक, साहित्यिक, संगीत सम्बन्धी कार्य करता है, तो वह एक विशिष्ट व्यक्तित्व का निर्माण करता है और उसका यह सृजनात्मक आवेग विश्व को सुन्दर एवं आकर्षक बनाता है।

वैसे तो प्रत्येक मनुष्य में एक सृजनात्मक शक्ति होती है, लेकिन वह समाज जिसमें वह रहता है, जो आगे बढ़ने से रोक देता है। मनुष्य पिसी-पीटी परम्पराओं, अन्धविश्वासों और कुरीतियों से इतना बंधा हुआ रहता है कि परम्पराओं के अनुसार चलने के अतिरिक्त उसके पास कोई दूसरा उपाय ही नहीं रह पाता। उससे उसकी सारी शक्ति कुंठित हो जाती है। अतः रसेल इस निर्णय पर पहुँचता है कि इस शक्ति का निर्माण करने वाले मनोवेगों को बढ़ाना और उन्हें सुरक्षित रखना राजनीतिक संस्थाओं का सबसे बड़ा प्रधान उद्देश्य होना चाहिये। रसेल का मन्तव्य था कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन के एक भाग का समाज और राजनीतिक संस्थाओं द्वारा नियन्त्रण होता है। दूसरा व्यक्तिगत क्रियाशीलता या रचनात्मक प्रवृत्तियों द्वारा नियन्त्रण होता है। वह मानता है कि मनुष्य में व्यक्तिगत क्रियाशीलता या रचनात्मक प्रवृति को विकसित करने का जितना *अवसर दिया जायेगा* उतना ही व्यक्ति महान होगा।

महान व्यक्ति द्वारा किया गया कार्य सबके लिए आनन्द का विषय बनेगा। इनका कार्य किसी के लि...

कारी कार्यों को बढ़ावा देता है । रसेल के शब्दों में एक वैज्ञानिक या क
कार्य या रचनायें दूसरों को भी समृद्ध करती हैं और स्वयं को भी समृद्ध कर
धन का वर्द्धन या इच्छा उन सभी के लिए लाभकारी है जो उनसे प्र
होते है, न कि केवल उनके लिए ही जो उनके पात्र है। वे जो जीवन का
प्राप्त करते हैं वे दूसरों के लिये स्वयं आनन्द बन जाते है अपने लिये तो
हो हैं। बल प्रयोग इस प्रकार की चीज का निर्माण नहीं कर सकता, यद्यपि
इन चीजों का विनाश कर सकता है।

रसेल के कहने का अर्थ यह है कि प्रत्येक मनुष्य को अपनी सृजन
शक्ति को अधिकाधिक विकसित करने और अभिव्यक्ति करने का अवसर मि
चाहिये। समाज और सभी संस्थाओं को चाहिये कि उसे यह सारे अवसर उ
कराये। वैचारिक क्षेत्र में किसी भी प्रकार का नियन्त्रण उसके लिए घातक
सकता है। वर्तमान युग मे राजनीतिक और आर्थिक विशाल संगठन बन ग
जिनमें मनुष्य खो जाता है। मनुष्य जैसी कोई चीज रह नहीं पाती। वह
समाज रूपी विशाल मशीन का एक तुच्छ पुर्जा बनकर रह जाता है। रसेल मा
है कि आधुनिक समाज की सबसे बड़ी समस्या यही है कि इन बढ़ते हुए संग
और व्यक्तियों की रचना शक्ति के बीच किसी प्रकार का ताल-मेल बैठाया जा
जब तक यह ताल-मेल नहीं बैठ पाता, तब तक मनुष्य की सही उन्नति नही
सकती।

मनुष्य और समाज

व्यक्ति और समाज के बीच सम्बंधों को स्पष्ट करते हुए रसेल ने लिख
है कि मनुष्य समुदाय मे रहना अधिक लाभकारी मानता है, परंतु उसकी इच्छा
छत्तों में रहने वाली मधुमक्खियों की तरह न होकर अधिकाधिक रूप में व्यक्ति
गत होती है। इसलिए सामाजिक जीवन मे कठिनाइयां पैदा होती हैं, और एक
सरकार की आवश्यकता होती है क्योंकि एक ओर तो सरकार आवश्यक हो जाती
है, लेकिन दूसरी ओर सरकार मे शक्ति की असमानता होती है और जिनके
हाथ मे अधिक शक्ति संचित होती है सामान्य नागरिक के हित के विरुद्ध अपनी
ही आकांक्षाओं को पूरा करने में उसका दुरुपयोग करते हैं। इसीलिये अराजकता
और निरकुंशता समान रूप से विनाशकारी हैं और यदि मनुष्य जाति को सुखी
रहना है तो इन दोनों के बीच किसी न किसी प्रकार का समझौता आवश्यक
है।

रसेल का कहना है कि सभी प्रकार के समुदाय मनुष्य को दो प्रकार से वित करते हैं। एक तो व्यक्ति के हितों को रोकने पर और दूसरे उसके पर दूसरों के द्वारा किये जाने वाले कुठाराघातों को रोकने के रूप में। न इन दोनो के मध्य अंतर स्पष्ट नही हुआ करता। व्यक्ति अपने जीवन विभिन्नताओं के कारण अनेक प्रकार की सत्ताओं के सम्पर्क में रहता है जिनमे कम सत्ता ऐसी होती हैं, जो उसकी रुचि के अनुकूल हों तथा उसके मनो- को सतुष्ट कर सकें। सच तो यह है कि सत्ता व्यवसायी होती है और मनुष्य उसमे बंधना पड़ता है, जिसके कारण उसकी इच्छायें दब जाती हैं। इन परि- तियो में स्वतंत्रता की रक्षा कहाँ हो पाती है।

तंत्रता सम्बंधी विचार

रसेल इंगलैण्डवासी होने के नाते स्वभाव से ही स्वतन्त्रता का प्रेमी है। सके राजनीतिक विचारों में स्वतंत्रता केन्द्रीय स्थान रखती है। यह कहने मे ई अत्युक्ति नही होगी कि स्वतंत्रता उसका सर्वाधिक अभीष्ट राजनीतिक दर्श है। चूंकि मानव प्रगति के मार्ग मे अनेक रूढ़ि अन्धविश्वासपूर्ण त्ता सदैव सबसे बड़ी बाधक रही है और आज भी है, अतः वैयक्तिक स्वतंत्रता ी सुरक्षा मानव जाति के लिए एक महानतम आवश्यकता है। साम्यवाद ौर फाशीवाद इसीलिये उपेक्षणीय हैं, क्योंकि वे वैयक्तिक स्वतत्रा को कोई ान्यता नही देते। रसेल के विचारानुसार लोकतंत्र स्वतंत्रता के अस्तित्व के लिए और उसके विकास के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। चूंकि लोकतंत्र और समाजवाद दोनो साथ साथ चल सकते है, अतः रसेल के दोनो ही प्रिय हैं। फिर भी यदि दोनो मे से एक को चयन करने का प्रश्न उपस्थित हो जाय तो रसेल ा मतदान समाजवाद की अपेक्षा लोकतन्त्र के समर्थन में होगा।

रसेल का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। स्वतन्त्रता वह सर्वोच्च अच्छाई है जिनके बिना व्यक्ति का विकास असभव है। आधुनिक जीवन और ज्ञान में इतनी अधिक जटिलता आ गई है कि केवल स्वतन्त्र तर्कों के द्वारा ही जीवन के दुखों का समाधान किया जा सकता है। रसेल का विचार है कि स्वतन्त्र तर्कों एवं वाद- विवाद के अभाव मे सत्यता की ओर नही पहुँचा जा सकता। व्यक्तियों को यह स्वतंत्रता अनिवार्य होनी चाहिये कि वे स्वयं के विचारों की भिन्नताओं और शंकाओं को वाद-विवाद द्वारा मिटा सकें। समय के परिवर्तन के साथ-साथ

मनुष्य की आवश्यकतायें बढ़ती जा रही हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्य अधिकाधिक होते जा रहे हैं, त्यों-त्यों उनके पारस्परिक कार्यों में और सामाजिक आवश्यकताओं में काफी अन्तर उत्पन्न होते जा रहे हैं। इस परिस्थितियों में मनुष्य को अधिकार होना चाहिये कि वह आवश्यकतानुसार और अपनी इच्छानुसार सामाजिक प्रथाओं तथा परंपराओं के विरुद्ध भी आचरण कर सके। स्वतन्त्र चिंतन और स्वतन्त्र अभिव्यक्ति समाज की प्रगति की प्रमुखतम शर्त है। रसेल का विश्वास है कि समाज की कलात्मक, नैतिक, बौद्धिक आदि सम्पूर्ण प्रगति असाधारण प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों पर निर्भर करती है। ऐसे व्यक्तियों के कार्य असाधारण एवं प्रगति के सूचक होते हैं। किंतु दुर्भाग्य की बात यह है कि एक अविकसित समाज प्रायः ऐसे व्यक्तियों के मार्ग में बाधक बनता है। वर्तमान समाज का संगठन भी इसी प्रकार का है। वह वैयक्तिक स्वतंत्रता के विरुद्ध एक षड्यंत्र है। ऐसे समाज का उत्कर्ष सही रूप में तभी संभव है, जबकि प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियों को अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्रदान करने की प्रवृत्ति विकासशील बने। रसेल इस बात से अपरिचित नहीं है कि स्वतन्त्रता यदि एक अत्यंत उपयोगी आविष्कार को जन्म दे सकती है तो वही एक अपराधी की भी जननी हो सकती है। किंतु फिर भी स्वतंत्रता मानव जाति के लिये उपयोगी वस्तु है। चंगेज खां, रुज़वेल्ट, लेनिन आदि व्यक्ति चाहे अच्छे रहे हों या बुरे, किन्तु उनमें स्फूर्ति का, स्वतन्त्र निर्णय करने का, आगे बढ़ने की शक्ति का, मस्तिष्क की स्वाधीनता का, तथा कल्पनाशील आदर्श का, एक ऐसा महान गुण विद्यमान था जिसका इस संसार में लुप्त होना बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण होगा और यह गुण स्वतन्त्रता से ही जन्म पाता है।

रसेल के शब्दों में स्वतन्त्रता का अर्थ है 'रचनात्मक कार्य करने की क्षमता।' उसकी स्वतन्त्रता की धारणा है 'मौलिक कलाकार की परम्पराओं और [illegible] से स्वतन्त्रता।' यदि कोई व्यक्ति अपने अंतःकरण के आदेश पर सेना में भर्ती होने से मना करता है तो रसेल उस स्वतंत्रता का पक्षपाती है। उसके अनुसार स्वतन्त्रता' एक ऐसी परिस्थिति है, जिसमें भूख, भय, दमन तथा शोषण नहीं होता। अतः वह एक ऐसी व्यवस्था चाहता है, जिसमें ये सब बातें न हों, क्योंकि केवल ऐसे वातावरण में ही वास्तविक स्वतंत्रता हो सकती है। जहां व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा शोषण होता है, जिसमें एक वर्ग भोजन करता हो तथा अधिकांश जनसमूह भूखा मरता हो, ऐसे राज्य में कोरी स्वतंत्रता से काम नहीं चल सकता। रसेल ने प्रश्न किया कि यदि एक हाथ में रोटी दिया जाय और दूसरे में स्वतंत्रता और यह भी कहा जाय कि इनमें से एक वस्तु का चयन कर लो तो

व्यक्ति स्वतन्त्रता नहीं ले लेता। अतः राज्य का यह उत्तरदायित्व है कि वह राज्य में धन का न्यायोचित वितरण करे, तभी व्यक्ति को स्वतंत्रता प्राप्त हो सकती है।

आज अधिकांश मनुष्य स्वतन्त्रता का आशय लेते हैं, अज्ञान के बंधनों से स्वतंत्रता, क्षुधा और अरक्षा से स्वतन्त्रता आदि। वे ये मानते हैं कि ये स्वतंत्रतायें एक कुशल शासन संगठन में ही सम्भव हैं और ऐसा संगठन राज्य के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं हो सकता। रसेल के सामने यह भी समस्या विद्यमान थी। जिस प्रकार रूसो के सामने व्यक्ति की स्वतन्त्रता और राजनीतिक सत्ता के मध्य सामंजस्य स्थापित करने की समस्या उदित हुई थी उसी प्रकार की समस्या से रसेल भी ग्रस्त है। वह यह विश्वास करता है कि आधुनिक राज्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिये उपयुक्त संगठन नहीं है। आधुनिक राज्य का आधार पशुबल है और यह मानव प्रकृति की संग्रहात्मक भावनाओं का साकार रूप है। यदि स्वतंत्रता की रक्षा करना है, व्यक्ति नैतिकता को बनाये रखना है, समाज के जीवन का मूल्य समझना है, तो राज्य के वर्तमान सगठन में क्रांतिकारी परिवर्तन का होना अत्यन्त आवश्यक है। रसेल शान्तिमय एवं वैध साधनों द्वारा स्वतन्त्रता की उपलब्धि में विश्वास करता है। स्वतन्त्रता के लिए वह शिक्षा को आवश्यक मानता है और इसीलिये सच्ची शिक्षा के मार्ग में आने वाली समस्त बाधा और कठिनाइयों के निवारण का समर्थन करता है।

राज्य सम्बंधी विचार

रसेल ने राज्य तथा सरकार के स्वरूप, उत्पत्ति, विकास आदि के विषय में कोई शास्त्रीय विवेचन नहीं किया है। इसके विषय में उनका विवेचन इनके कार्यक्षेत्र तक सीमित है। वह निवर्तमान राज्य व्यवस्थाओं की स्थिति को अपने राजनीतिक आदर्शों के सदर्भ में व्यक्त करता है। अराजकतावादी, साम्यवादी तथा श्रमिक सघवादी विचारक राज्य को शोषण करने वाली या शोषकों का समर्थन करने वाली संस्था मानते थे परन्तु रसेल उसे एक आवश्यक सस्था मानता है क्योंकि उसके मत से भले ही आधुनिक राज्य संग्रहात्मक प्रवृत्ति के आधार पर बनते रहे हैं, जिनका आधार शक्ति है, तथापि कुछ कार्यों के लिए आवश्यक हैं चाहे उन्हे एक निर्दय आवश्यकता ही क्यों न कहा जाय। मानवो की संग्रहात्मक प्रवृत्ति जो समाज मे अव्यवस्था तथा अशान्ति उत्पन्न करती है उसे नियन्त्रित करने, शान्ति तथा युद्ध, अणुअस्त्रों की व्यवस्था, शिक्षा, स्वास्थ,

स्वच्छता, न्याय, अर्थव्यवस्था का नियमन, आदि कई ऐसे कार्य हैं जिनके संपादन के लिए एक केन्द्रीकृत सरकार अत्यावश्यक है। परन्तु रसेल व्यक्तिगत स्वतंत्रता के हित में राज्य के कार्यों का बहुत अधिक विस्तार किया जाना अवांछनीय मानता है। राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बध में रसेल का दृष्टिकोण बहुत कुछ अश में व्यक्तिवादी है, जो राज्य को एक आवश्यक बुराई मानता है।

रसेल के मत में राज्य का मूलभूत तत्व शक्ति होता है। राज्य शक्ति का प्रयोग आन्तरिक तथा बाह्य दोनों क्षेत्रों में करता है। यदि इन दोनो क्षेत्रों मे विधि का शासन बनाये रखा जाये तो राज्य अपने उद्देश्य को सही ढग से सम्पन्न कर सकेगा। जहाँ तक राज्य के आन्तरिक कार्यक्षेत्र का सम्बन्ध है, इसमे विधि के शासन को बनाये रखना सम्भव है, परन्तु कठिनाई यह है कि आधुनिक राज्यों का आकार बहुत विशाल है और उनके कार्यक्षेत्रों का विस्तार होता जा रहा है। परिणाम स्वरूप उसमे विधि के शासन के स्थान पर एक निकृष्टतम रूप की नौकरशाही का विस्तार हो जाता है जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को बनाये रखने के मार्ग की बड़ी बाधा है। इसे दूर करने के निमित्त राज्य की केन्द्रीयकृत सत्ता को मर्यादित करने की आवश्यकता है। रसेल ने इसके लिए बहुलवादी तथा श्रेणी समाजवादी व्यवस्था को उचित समझा है, क्योंकि वे समाजवाद, लोकतंत्र तथा सघवाद के समिश्रण है। उसके अनुसार इसका एक भाग भाय समूहो की व्यवस्था है, जो अपने विशेषाधिकारो तथा स्वायत्तता को बनाये रखने के आकांक्षी है। भले ही ऐसा करने में उन्हे राज्य के ऐसे कानूनों का प्रतिरोध करना पड़ जाय जो कि सार्वजनिक हितों के अहित में उनके आतरिक विषयो मे हस्तक्षेप रखते है। रसेल का मत है कि हमे राज्य की सेवा नहीं करनी है, वरन् समाज की सेवा करनी है, और उस विश्वव्यापी मानव समाज की सेवा करनी है जो हमारे समक्ष वर्तमान मे है और भविष्य में भी रहेगा। यह तभी संभव है जबकि सामाजिक संरचना तथा उसकी कार्यविधि का निर्माण तथा संचालन इस प्रकार किया जाय, जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अपनी सृजनात्मक शक्तियो का पूर्ण विकास करने की क्षमता प्राप्त हो सके। जहां तक राज्य के बाह्य कार्यक्षेत्र का सम्बन्ध है, रसेल की धारणा थी कि उसमें विधि का शासन सभव नहीं हो पाया है क्योकि अंतर्राष्ट्रीय विधि निश्चित नही हो सकी है। वर्तमान राज्य का आधार संग्रहात्मक प्रवृत्ति होने के कारण शक्ति है। अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह प्रवृत्ति राष्ट्रीय समुदायों के मध्य युद्धों को प्रोत्साहित करती है और युद्ध मानव सभ्यता के विनाश का कारण बनते हैं। अतः आन्तरिक क्षेत्र में राज्य

र शक्ति का प्रयोग बहुत विनाशकारी भले ही न हों, परन्तु बाह्य क्षेत्र में बहुत नाशकारी है।

रसेल मार्क्सवाद, अराजकतावाद तथा श्रमिक संघवाद की इन शिक्षाओं ो स्वीकार नहीं करता कि क्रान्ति द्वारा सामाजिक व्यवस्था का ऐसा पुनर्निर्माण र लिये जाने पर जिसमें शोषण तथा सामाजिक अन्याय के कोई साधन शेष नहीं ह जायेंगे। राज्य अावश्यक हो जायेगा या स्वयं तिरोहित हो जायेगा। उसकी ारणा यह है कि मानव में से कभी भी अपराधी प्रवृत्तियां उत्पन्न हो सकती हैं ौर समाज के अंतर्गत व्यक्ति एवं समूचे अर्थ में समाज के लिये अनेक सुविधाओं ो सुनिश्चित करने के लिये कानून तथा व्यवस्था आवश्यकता है। अतएव राज्य ी आवश्यकता को अमान्य नहीं किया जा सकता। फिर भी हमें यह स्वीकार करना ाहिये कि राज्य की शक्तियों को वहीं तक विस्तृत रखना पड़ेगा, जहाँ तक कि ः बिलकुल ही अपरिहार्य हों। इस प्रकार रसेल राज्य साध्य नहीं, वरन् साधन ात्र मानता है। वह एक ऐसा साधन है जिसका उपयोग उन विशिष्ट परि-स्थितियों पर, वह भी अत्यन्त सावधानी के साथ किया जाना चाहिये, जबकि वह नकल्याण की भावना से कार्य करें। समाज की उत्तमता उसका निर्माण करने ाले व्यक्तियों की उत्तमता पर निर्भर करती है। अतः स्वस्थ समाज का निर्माण रने के लिए राजनीतिक सत्ता का सर्वोच्च उद्देश्य व्यक्ति को सृजनात्मक प्रवृत्तियों ो स्वतंत्र विकास का अवसर देना तथा उसकी समाजविरोधी संग्रहात्मक प्रवृत्तियों ा नियंत्रण करना होना चाहिये। राज्य की शक्तियों का अनावश्यक विस्तार ोका जाना चाहिये, क्योंकि वह व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कुचलने का साधन सिद्ध होगा।

सम्पत्ति विषयक विचार

रसेल का विचार है कि आधुनिक युग में सम्पत्ति व्यक्ति के लिये अभि-शाप बन गयी है। सम्पत्ति मानव की प्रगति में रोड़ा अटकाती है, अतः इसका अन्त कर दिया जाना चाहिये। एक आदर्श विश्व व्यवस्था की स्थापना करनी है तो व्यक्तिगत सम्पत्ति का उन्मूलन करना ही होगा। सम्पत्ति से मनुष्य आदर्श को भूलकर नितान्त भौतिकवादी हो जाता है। धन का पुजारी रचनात्मक कार्यों में आनंद ग्रहण नहीं करता। केवल मात्र बाह्य संसार में सुख प्राप्त सुखों का निष्क्रिय उपभोग ही उसके लिए आनन्द है। धन का उपासक जीवन के सभी मूल्यों को धन से ही आंकता है। धन ही उसके जीवन में सफलता की अन्तिम

कसौटी होती है। जिसका हृदय एवं मस्तिष्क धन मे रंग जाता है, उनके लिए जीवन मे नैतिक मूल्यों का कोई महत्व नही होता। रसेल का कहना है कि ब्रिटेन और अमेरिका के लोग धन के पीछे पागल हो गये हैं और उन्होंने सभ्यता तथा संस्कृति की ओर से मुख ही मोड़ लिया है। रसेल ने उन व्यक्तियों को अच्छा माना है जिनके जीवन मे कुछ आदर्श होते हैं और जिन्हें प्राप्त करने मे वे संलग्न रहते है। जिन व्यक्तियों के लिए धन ही राम है उनके हृदय मे सदैव सबसे बड़ा भय यह विद्यमान रहता है कि कहीं उसका धन जाता न रहे। उनके हृदय एव मस्तिष्क मे सदैव बना रहने वाला यह भय उनके आनन्द की शक्ति को समाप्त कर देता है।

धन से सम्बन्धित औद्योगिक व्यवस्था है। कोई औद्योगिक व्यवस्था अच्छी है अथवा बुरी, यह कुछ बातों से निश्चित किया जा सकता है। इन मूल्यों की परख के लिए रसेल हमारे समक्ष निम्नलिखित चार कसौटियां प्रस्तुत करते है:—

1—क्या इसमें अधिक उत्पादन होता है ?

2—क्या उत्पादित धन समान रूप से वितरित किया जाता है ?

3—क्या यह श्रमिकों के लिए कार्य करने की दशाओं को सहन करने योग्य बनाता है ?

4—क्या कार्य की स्वतंत्रता और जीवन शक्ति प्राप्त करने के अधिकतम अवसर विद्यमान हैं ?

रसेल के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था का लक्ष्य केवल प्रथम उद्देश्य को प्राप्त करना है। समाजवादी व्यवस्था दूसरे और तीसरे उद्देश्य को प्राप्त करना चाहती है, लेकिन अंतिम उद्देश्य की अवहेलना करती है। रसेल को ऐसी कोई भी व्यवस्था अमान्य है जिसमें व्यक्ति को कार्य करने की स्वतंत्रता न हो। जिसमे उसकी जीवन शक्ति तथा प्रगति को प्रस्फुरण न मिले।

रसेल भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व और सम्पत्ति की उत्तराधिकार प्रथा का भी विरोधी है। उसके अनुसार पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का कोई अधिकार नहीं होना चाहिये। उत्तराधिकार का नियम बिना कमायी अर्थात् अनर्जित धन का सबसे बड़ा स्रोत है। जिस सम्पत्ति को निजी परिश्रम द्वारा न कमाया गया हो, उस पर उत्तराधिकार द्वारा स्वामित्व प्राप्त कर लेने का कोई न्यायोचित आधार नहीं हो सकता। आधुनिक वितरण प्रणाली का भी रसेल कटु आलोचक

। आधुनिक वितरण प्रणाली अत्यन्त ही दोषपूर्ण है, क्योंकि इसके द्वारा आर्थिक विषमता फैलती है, जो प्रत्येक अवस्था मे हानिकारक है। इसलिये वह न्यायोचित वितरण का समर्थन करता है। उसके मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम इतना वेतन मिलना ही चाहिये कि वह अपना तथा अपने परिवार के सदस्य का भली प्रकार पालन-पोषण कर सके। यह समान वितरण का यह अर्थ नही लगाता कि सबको समान रूप से वेतन मिले। उसकी मांग तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके जीवन स्तर के अनुसार जीविका चलाने के समुचित साधन दिये जायें।

यह उल्लेखनीय है कि रसेल के सम्पति विषयक विचार अधिक उग्र नही है। व्यक्तिगत सम्पत्ति की आलोचना करते हुए भी पूंजीवाद का पूर्णत उन्मूलन करने को नहीं कहता। उसका कहना है कि यदि पूंजीवाद का प्रभाव क्षेत्र सीमित कर दिया जाये, तो उसके उन्मूलन की आवश्यकता नही पडेगी। वास्तव में रसेल उन व्यक्तियो मे से है जो किसी भी कठोर व्यवस्था को पसन्द नही करता, प्रत्युत जीवन मे कुछ लचीलापन चाहता है।

युद्ध सम्बन्धी विचार

रसेल को बीसवीं शताब्दी का महानतम अन्तर्राष्ट्रीयतावादी चिंतक माना जाता है। उसने अपने जीवन में दो महायुद्धों को देखा था और द्वितीय विश्वयुद्ध के भयावह परिणामो के होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का कम न होना और तृतीय विश्वयुद्ध की आशका उसके मन में बनी रही थी। रसेल के मन से यदि कदाचित तृतीय विश्वयुद्ध छिड गया तो वह सम्पूर्ण मानवता तथा मानव सभ्यता के विनाश का कारण बनेगा। अतः यह आवश्यक है कि विश्व समाज का संगठन तथा नियमन इस रूप मे किया जाना चाहिये, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय युद्धो की सम्भावना को नष्ट कर दिया जाय। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा राष्ट्रीय संप्रभुता की धारणा है। रसेल राष्ट्रीयता को भावना को बुरी नही मानता। उसके मत से विभिन्न जन समूह, भाषा, जाति, धर्म, परम्पराओ, संस्कृति आदि की समानता के कारण भावात्मक एकता से विभिन्न राष्ट्रों के रूप मे संगठित रहते हैं। ऐसी एकता अच्छी चीज है क्योंकि इसके कारण वे अनेक प्रकार की उत्तम उपलब्धियां करने में समर्थ होते है। परन्तु यदि ऐसी एकता से युक्त जनसमूह दूसरे जनसमूह को घृणा या दुर्भावना की दृष्टि से देखने लगता है, और उसके विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करता है, तो इससे राष्ट्रों के मध्य उच्छृंखलता की प्रवृत्ति बढ़ती है। राष्ट्रीय सभ्यता की धारणा प्रत्येक राष्ट्रीय जन

समूह में दूसरों के प्रति विद्वेष की ओर अपने स्वार्थ सिद्धि के निमित्त संघर्षकारी आचरण करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। ऐसी सामूहिक स्वार्थी चेतना मानवता के विरुद्ध होती है। प्रत्येक सम्प्रभु राष्ट्र राज्य अपने आन्तरिक विषयों तथा अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों के कार्यान्वयन में स्वेच्छाचारी ढंग से कार्य करता है। यह स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय तनाव उत्पन्न करती है। राष्ट्रीय स्वार्थों से निर्देशित होकर विभिन्न राष्ट्रीय राज्य युद्धों में उलझ जाते हैं। फिर भी वे मानवीय नैतिकता को भूलकर युद्धों में लिप्त हो जाते हैं।

अतएव रसेल का विचार है कि मानवता की रक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों को रोकने का उपाय यही है कि विभिन्न राष्ट्रों के मध्य वैसे ही सम्बन्धों का निरूपण किया जाना चाहिये, जैसे राष्ट्र की सीमा के अन्तर्गत विभिन्न समुदायों मध्य हुआ करते हैं। राज्य भी उसी प्रकार विभिन्न समुदायों के मध्य सामञ्जस्य स्थापित करता है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी एक शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन होना चाहिये। यह संस्था निवर्तमान संयुक्त राष्ट्र संघ की भांति अशक्त संस्था न हो जो कि अपने निर्णयों से सम्प्रभु राज्यों को बाध्य न कर सके। प्रत्युत अन्तर्राष्ट्रीय संगठन विविध राष्ट्रीय राज्यों का प्रतिनिधिक संगठन होना चाहिये। उसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि का निर्माण करने, उसे लागू करने तथा बल प्रयोग द्वारा उसके परिपालन करा सकने की शक्ति प्राप्त रहनी चाहिये। इसके निमित्त अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की अपनी सेना तथा नौसेना भी होनी चाहिये जो कि राष्ट्रों के मध्य परस्पर युद्ध की स्थिति आने पर समुचित सैनिक कार्यवाई द्वारा उसे रोक सके। रसेल ने यहाँ तक माना है कि राष्ट्र राज्यों को सैनिक शक्ति रखने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी, क्योंकि राष्ट्रीय प्रतिरक्षा का दायित्व अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के हाथ में रहेगा। राष्ट्र आंतरिक शान्ति व व्यवस्था के लिये केवल पुलिस की व्यवस्था करेंगे। रसेल के अनुसार जब तक लोग अपनी आदिम प्रवृत्तियों में बने रहने के लिये स्वतन्त्र हैं तब तक कुछ लोग या उनके समूह इस स्वतन्त्रता का दमन और डकैती करने के लिए आवश्यक लाभ उठाते रहेंगे। अतः उनकी इस प्रवृत्ति का दमन करने के लिए सेना तथा पुलिस की व्यवस्था आवश्यक है। रसेल के मस्तिष्क में विश्वशान्ति तथा मानवता की सुरक्षा के निमित्त विश्व राज्य तथा विश्व सरकार की धारणा है जो विश्व के विविध राष्ट्रों का एक प्रभुत्व सम्पन्न संगठन होगा। उसका सचलन अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार होगा।

रसेल बीसवी शताब्दी का एक महानतम युद्ध विरोधी विचारक है। उसके मत से मानव जाति के ऊपर सबसे महान बुराई युद्ध की है। युद्ध मानव की

समूहात्मक मनोवृत्ति का परिणाम है जिसका आधार शक्ति है। यदि राज्य आंतरिक शान्ति तथा सुरक्षा के लिये बल प्रयोग करे तो वह वैधानिक दृष्टि से उतना बुरा नहीं माना जायेगा। परन्तु शक्ति का प्रयोग करके एक राष्ट्र द्वारा दूसरे के ऊपर आक्रमक युद्ध मानवीय नैतिकता का विरोधी होने के साथ-साथ किसी प्रकार का कानूनी औचित्य भी नहीं रखता। बल प्रयोग द्वारा अंतर्राष्ट्रीय सम्बधो का संचालन अतर्राष्ट्रीय विधि का घोर विरोध है। सभ्य मानव कभी युद्ध का समर्थन नही करते। युद्ध कुछ थोड़े से स्वार्थी तथा महत्वाकांक्षी नेताओं के पागलपन से प्रेरित होते हैं। जिन राष्ट्र नेताओं को किसी हठधर्मी, सिद्धान्तवादिता से प्रेरणा मिलती है, वे मानवता को भूल जाते हैं, और अहंभाव से प्रेरित होकर वे इसी प्रकार के दूसरे नेता के शत्रु हो जाते हैं। इन दोनो के मध्य अपने को सही और दूसरे को गलत मानने की प्रतियोगिता चलती है। परिणमस्वरूप दोनो युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाते है। रसेल ने हिटलर तथा स्तालिन का दृष्टांत देते हुए बताया है कि उनमें से एक अपने लिये कहता है कि मैं बूटान हूँ तो दूसरा अपने को कहता है कि मैं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हूँ। दोनो युद्धप्रेमी नेता विशाल सेनाओं, जेट विमानो, विषैली गैसो से समर्थन प्राप्त करते है। अतः दोनों के पागलपन की कोई सीमा नहीं है। रसेल ने स्वयं इगलैण्ड की युद्ध समर्थन नीति का घोर विरोध किया था। उसने अमेरिका के वियतनाम-युद्ध में प्रवेश का भी तीव्र विरोध किया था और इंगलैण्ड की सरकार की इसलिये आलोचना की कि वह युद्ध लिप्सु अमेरिका का समर्थन करती है। आणविक सहार से मुक्त करने की दिशा मे उसने जो कार्य किया, उसके लिए उसे 97 वर्ष की अवस्था मे भी जेल की यात्रा करनी पड़ी। अन्त तक युद्ध का विरोध किया।

रसेल ने कहा है कि आश्चर्य की बात तो यह है कि विश्व के सभी सभ्य राष्ट्र तथा महापुरुष युद्ध की निन्दा करते हैं। परन्तु उनकी यह धारणा युद्धों को रोकने में समर्थ नही हो पायी। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि विश्व का एक विशाल बहुमत युद्ध की बुराइयो को सहन करता रहा है, परन्तु वह एक युद्धप्रेमी राष्ट्र के ऐसे कार्यों को विधिसम्मत मानता है जो कि ऐसे नागरिको को, जो कलात्मक कार्यों में अपनी सृजनात्मक शक्तियो का प्रयोग करने में लीन रहते है, सेना में प्रविष्ट होने को बाध्य करता है। इसका परिणाम यह होता है कि युद्ध में या तो उन्हे अपने प्राणो की आहुति देनी पड़ती है या वे अन्य राज्यो के अपने ही समान मानवों की हत्या करते हैं। आधुनिक युग में युद्ध और भी दानवी हो गये हैं क्योकि इनमे जिन अस्त्र-शस्त्रो का प्रयोग किया जाता है,

समूह में दूसरों के प्रति विद्वेष की और अपनी स्वार्थ सिद्धि के निमित्त स्वेच्छाचारी आचरण करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। ऐसी सामूहिक स्वार्थी चेतना मानवता के विरुद्ध होती है। प्रत्येक सम्प्रभु राष्ट्र राज्य अपने आंतरिक विषयों तथा अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों के कार्यान्वयन में स्वेच्छाचारी ढंग से कार्य करता है। यह स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय तनाव उत्पन्न करती है। राष्ट्रीय स्वार्थों से निर्देशित होकर विभिन्न राष्ट्रीय राज्य गुटबंदी में उलझ जाते हैं। फिर भी वे मानवीय नैतिकता को भूलकर युद्धों में लिप्त हो जाते हैं।

अतएव रसेल का विचार है कि मानवता की रक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों को रोकने का उपाय यही है कि विभिन्न राष्ट्रों के मध्य वैसे ही सम्बन्धों का निरूपण किया जाना चाहिये, जैसे राष्ट्र की सीमा के अन्तर्गत विभिन्न समुदायों मध्य हुआ करते हैं। राज्य की सत्ता विभिन्न समुदायों के मध्य सामञ्जस्य स्थापित करती है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी एक शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन होना चाहिये। यह संस्था निवर्तमान संयुक्त राष्ट्र संघ की भाँति अशक्त संस्था न हो जो कि अपने निर्णयों से सम्प्रभु राज्यों को बाध्य न कर सके। प्रत्युत अन्तर्राष्ट्रीय संगठन विविध राष्ट्रीय राज्यों का प्रतिनिधिक संगठन होना चाहिये। उसे अन्तराष्ट्रीय विधि का निर्माण करने, उसे लागू करने तथा बल प्रयोग द्वारा उसके परिपालन करा सकने की शक्ति प्राप्त रहनी चाहिये। इसके निमित्त अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की अपनी सेना तथा नौसेना भी होनी चाहिये जो कि राष्ट्रों के मध्य परस्पर युद्ध की स्थिति आने पर समुचित सैनिक कार्यवाई द्वारा उसे रोक सके। रसेल ने यहाँ तक माना है कि राष्ट्र राज्यों को सैनिक शक्ति रखने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी, क्योंकि राष्ट्रीय प्रतिरक्षा का दायित्व अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के हाथ में रहेगा। राष्ट्र आंतरिक शान्ति व व्यवस्था के लिये केवल पुलिस की व्यवस्था करेंगे। रसेल के अनुसार जब तक लोग अपनी आदिम प्रवृत्तियों में बने रहने के लिये स्वतन्त्र हैं तब तक कुछ लोग या उनके समूह इस स्वतन्त्रता का दमन और डकैती करने के लिए आवश्यक लाभ उठाते रहेंगे। अतः उनकी इस प्रवृत्ति का दमन करने के लिए सेना तथा पुलिस की व्यवस्था आवश्यक है। रसेल के मस्तिष्क मे विश्वशान्ति तथा मानवता की सुरक्षा के निमित्त विश्व राज्य तथा विश्व सरकार की धारणा है जो विश्व के विविध राष्ट्रों का एक प्रभुत्व सम्पन्न संगठन होगा। उसका संचलन अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार होगा।

रसेल बीसवीं शताब्दी का एक महानतम युद्ध विरोधी विचारक है। उसके मत मे मानव जाति के ऊपर सबसे महान बुराई युद्ध की है। युद्ध मानव की

स्वहानात्मक मनोवृत्ति का परिणाम है जिसका आधार शक्ति है। यदि राज्य आंत-रिक शान्ति तथा सुरक्षा के लिए बल प्रयोग करे तो वह नैतिक दृष्टि से उतना बुरा नहीं माना जायगा। परन्तु शक्ति का प्रयोग करके एक राष्ट्र द्वारा दूसरे के ऊपर आक्रमण युद्ध मानवीय नैतिकता का विरोधी होने के साथ-साथ किसी प्रकार का कानूनी औचित्य भी नहीं रखता। बल प्रयोग द्वारा अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का संचालन अन्तर्राष्ट्रीय विधि का घोर विरोध है। सभ्य मानव कभी युद्ध का समर्थन नहीं करता। युद्ध कुछ थोड़े से स्वार्थी तथा महत्वाकांक्षी नेताओं के पागलपन से प्रेरित होते हैं। जिन राष्ट्र नेताओं को किसी हठधर्मी, सिद्धान्त-वादिता से प्रेरणा मिलती है, वे मानवता को भूल जाते हैं, और अहंभाव से प्रेरित होकर वे इसी प्रकार के दूसरे नेता के शत्रु हो जाते हैं। इन दोनों में सदा अपने को सही और दूसरे को गलत मानने की प्रतियोगिता चलती है। परिणामस्वरूप दोनों युद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। रसेल ने हिटलर तथा स्तालिन का दृष्टांत देते हुए बताया है कि उनमें से एक अपने लिये कहता है कि मैं बूटान हूं तो दूसरा अपने को कहता है कि मैं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हूं। दोनों युद्धप्रेमी नेता विघातक सेनाओं, जेट विमानों, विदेशी मेलों से समर्थन प्राप्त करते हैं। अतः दोनों के पागलपन की कोई सीमा नहीं है। रसेल ने स्वयं इंगलैण्ड की युद्ध समर्थन नीति का घोर विरोध किया था। उसने अमेरिका के वियतनाम-युद्ध में प्रवेश का भी तीव्र विरोध किया था और इंगलैण्ड की सरकार की इसलिये आलोचना की कि वह युद्ध लिप्सु अमेरिका का समर्थन करती है। आणविक संहार से मुक्त करने की दिशा में उसने जो कार्य किया, उसके लिए उसे 97 वर्ष की अवस्था में भी जेल की यात्रा करनी पड़ी। अंत तक युद्ध का विरोध किया।

रसेल ने कहा है कि आश्चर्य की बात तो यह है कि विश्व के सभी सभ्य राष्ट्र तथा महापुरुष युद्ध की निन्दा करते हैं। परन्तु उनकी यह धारणा युद्धों को रोकने में समर्थ नहीं हो पायी। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि विश्व का एक विशाल बहुमत युद्ध की बुराइयों को सहन करता रहा है, परन्तु वह एक युद्धप्रेमी राष्ट्र के ऐसे कार्यों को विधिसम्मत मानता है जो कि ऐसे नाग-रिकों को, जो कलात्मक कार्यों में अपनी सृजनात्मक शक्तियों का प्रयोग करने में लीन रहते हैं, सेना में प्रविष्ट होने को बाध्य करता है। इसका परिणाम यह होता है कि युद्ध में या तो उन्हें अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ती है या वे अन्य राज्यों के अपने ही समान मानवों की हत्या करते हैं। आधुनिक युग में युद्ध और भी दानवी हो गये हैं क्योंकि इनमें जिन अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग किया जाता है,

उनमें सैनिकों का संहार होने को देखा निरपराध जनता तथा उसकी सम्पत्ति का विनाश होता है। यह सब राष्ट्र के नाम पर युद्धप्रिय स्वार्थी नेताओं के द्वारा किया जाता है। अतः युद्ध का परिणाम मानव सभ्यता का विनाश मात्र है। इसमें उन मानवों का अपना जीवन नष्ट करना पड़ता है, जो युद्ध न होने पर अपनी सृजनात्मक शक्तियों के द्वारा मानव जाति के कल्याण का कार्य करते। मानवों ने अपनी ऐसी प्रतिभा से समाज के हित के लिए जो सृजनात्मक कार्य किये हैं, उनको भी युद्धों में विनिष्ट कर दिया जाता है। राष्ट्रीय राज्यों का निःशस्त्रीकरण तथा अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया जाए तो इससे युद्धों को रोका जा सकता है।

समाजवादी धारणा

विभिन्न प्रकार की समाजवादी विचारधाराओं का परीक्षण करने के पश्चात् रसेल समाजवाद के सैद्धांतिक पक्ष का तो समर्थन करता है परन्तु उसे प्राप्त करने के जो साधन विभिन्न समाजवादियों ने बताये हैं, उनके सम्बन्ध में उसे सन्देह है। रसेल के शब्दों में समाजवाद भूमि तथा पूंजी के ऊपर समाज के स्वामित्व की व्यवस्था को है। ऐसे स्वामित्व का अभिप्राय एक लोकतंत्री राज्य के स्वामित्व से है, परन्तु अलोकतंत्री राज्य के स्वामित्व को समाज का स्वामित्व नहीं माना जा सकता। रसेल की धारणा थी कि समाजवाद की स्थापना के लिये जैसी लोकतंत्री व्यवस्था वांछित है अभी उसकी उपलब्धि नहीं हो सकी है। भले ही सोवियत संघ में बोल्शेविक क्रांति के पश्चात् समाजवाद की स्थापना कर दी गई है। परन्तु यह भी समाजवाद नहीं है। क्योंकि उसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को कुचल दिया गया है। इसके कारण व्यक्ति को अपनी सृजनात्मक शक्तियों का विकास करने का अवसर नहीं मिल सकता। रसेल ने बोल्शेविकवाद को समाजवाद की स्थापना के मार्ग का एक प्रथम चरण माना है, जिसकी प्रशंसा समाजवाद पर विश्वास रखने वाले करेंगे। परंतु जिस विधि से मास्को समाजवाद की स्थापना करना चाहता है वह एक प्रगाढ़ विधि है, वह बहुत भद्दी तथा खतरनाक विधि है, उसका विरोध सभव नहीं है। मुझे यह विश्वास नहीं होता कि उसके द्वारा एक स्थायी तथा वांछित ढंग के समाजवाद की स्थापना संभव हो सकेगी। रसेल यह मानता है कि मार्क्स ने जिन लोकतन्त्रों का उपहास किया था, वे सच्चे अर्थ में लोकतंत्र नहीं थे। अत. उसका ऐसे लोकतन्त्रों का विरोध करना अनुचित नहीं माना जा सकता। परन्तु साम्यवादी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत भी अनेक दोष हैं। वे आंतरिक दृष्टि से कुलीनतन्त्री और बाह्य दृष्टि से दमनकारी प्रकृति की हैं। परिणाम यह होगा कि सर्वहारावर्गीय अधिनायकवाद के अंतर्गत शक्ति के केन्द्री-

करण से वही बुराइयां सामने प्रायेंगी, जो पूंजी के केन्द्रीकरण से पूजीवाद में प्राती हैं। एक व्यवस्था मे व्यक्तिगत पूजीवाद था तो दूसरी में राज्यगत पूंजीवाद स्थापित हो जावेगा । साम्यवाद के अंतर्गत भी शासन सत्ता धारण करने वाले थोड़े से उच्च वर्ग जनसाधारण की स्वतंत्रता तथा समानता को बनाये रखने के प्रति उदासीन ही रहेंगे। रसेल *सामाजिक व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना* चाहता है ताकि उसकी संरचना समाजवाद तथा लोकतंत्री दोनो के लिये उपयुक्त सिद्ध हो सके। वह सभी क्रांति को इसी दिशा में एक वीरतापूर्ण घटना मानता है। उसके विचार से साम्यवाद एक अंधविश्वासपूर्ण धर्म बन गया है न कि एक वैज्ञानिक राजनीतिक विचारधारा के रूप मे रहा है । उसने लिखा है कि मेरा विश्वास है कि यद्यपि समाजवाद के कुछ रूप पूंजीवाद की तुलना मे उत्तमतर हैं, इन निकृष्टतर सघो में रूस के बोल्शेविकवाद को भी रखता हूँ। ऐसे समाजवाद मानव सभ्यता का पूर्ण विनाश कर देगा। रसेल ने मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, अतिरिक्त मूल्य सिद्धांत, तथा वर्ग संघर्ष और सर्वहारा वर्गीय अधिनायकवाद की धारणाओं का विरोध किया। साथ ही वह साम्यवादियों के अपने पैगम्बरो को उद्धृत करने की हठधर्मी प्रवृत्ति का भी विरोध करता है। वह साम्यवादियो की विश्वव्यापी क्राति की धारणा का भी विरोधी है।

रसेल ने अपनी समाजवादी धारणा के निमित्त मार्क्सवाद, अराजकतावाद तथा श्रेणी समाजवाद के विचारों के मध्य समन्वय स्थापित करके इनमे से प्रत्येक की अच्छाइयो को ग्रहण किया है। वह इनमे से श्रेणी समाजवाद को सबसे अच्छी व्यवस्था मानता है, क्योंकि वह लोकतन्त्र पर विश्वास रखता है और *उत्पादन व्यवस्था मे स्वायत्तशासी समुदायो को महत्व देता है।*

रसेल का महत्व

रसेल के सम्पत्ति, राज्य और समाज, युद्ध एव समाजवाद सम्बन्धी विचारो से स्पष्ट है कि उसने सामाजिक एव राजनीतिक समस्याओं की विस्तारपूर्वक व्याख्या की है। उसने जो भी आलोचनायें की हैं, वे रचनात्मक हैं। उसने केवल प्रचलित व्यवस्थाओं का खंडन ही नहीं किया है, वरन् उनके लिए रचनात्मक प्रस्ताव किये हैं। उसकी व्यवस्था यह है कि वह केवल आलोचना ही नहीं करता, *वरन् यह भी बताता है कि उस दोष को दूर करने के लिए कैसी* व्यवस्था की स्थापना की जाय। इससे उसकी वैज्ञानिकता का परिचय मिलता है। रसेल ने वर्तमान जगत का और उसकी स्थिति का काफी अध्ययन किया

है, तथा इसकी दुर्दशा को देखकर वह काफी दुखी था। उसका यह निश्चित मत है कि इस दुर्दशा को दूर करना ही होगा ताकि मानव अपना उच्चतम विकास कर सके। वह नितान्त भौतिकवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध है। उसका मत है कि रोटी कमाने के गुण से बढ़कर और भी अनेक गुण हैं जिन्हें मनुष्य को अपने अन्दर विकसित करना चाहिए। व्यक्ति का यह सतत् प्रयत्न होना चाहिये कि वह सभ्यता और संस्कृति का उन्नायक बने।

निष्कर्ष

इन सब बातों पर विचार कर लेने के उपरान्त इसी निष्कर्ष पर पहुंचा जाता है कि अराजकतावादी विचारधारा उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में कुछ ऐसे क्रांतिकारी चिन्तकों के मस्तिष्क की उपज थी जो पुस्तकालय के कमरों में अत्यधिक बुद्धिमान तथा कल्पनावादी व्यक्तियों की जाति का निर्माण करते हैं और जिन पर उनका कागजी दुनिया से बाहर अपनी देखरेख कर लेने का विश्वास नहीं किया जा सकता। विडम्बना तो यह है कि वे हिंसा तथा क्रांति के साधनों द्वारा प्रेम तथा सहयोग पर आधारित एक वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना का स्वप्न देखते हैं। मानव प्रकृति के भोलेपन, सौजन्य, नैतिकता, सह-कारिता, निःस्वार्थ आदि पर उन्होंने उतनी ही अधिक आस्था व्यक्त की है जितनी उन्होंने राज्य, धर्म तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की बुराइयों में देखी हैं। ये दोनों धारणायें अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाती हैं। अतः अराजकतावादी विचारधारा में तीव्र असंगतियां हैं। अराजकतावाद केवल एक दार्शनिक विचार-धारा मात्र रह गयी है, जिसे न कभी व्यवहार में प्रयुक्त किया जा सका है और न किया जा सकेगा। परन्तु इस विचारधारा ने राज्य, धर्म तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति की बुराइयों का जो चित्र प्रस्तुत किया है उसने राजनीतिक चिंतकों का तथा राजनेताओं को इन बुराइयों का निवारण करने के विषय में चिंतन करने तथा सुधार करने के लिए प्रेरणा प्रदान की है। इसी में अराजकतावाद का महत्व है।

अध्याय 10

भारत में समाजवादी चिंतन का इतिहास

यद्यपि भारत में समाजवादी चिंतन के बीज तो अति प्राचीन काल से हीं पाये जाते हैं और ऋगवेद तथा बुद्धधर्म के वागमय में भी मानव एकता, भ्रातृत्व और अध्यात्मिक समानता के सिद्धान्तो के दर्शन होते है तथापि आधुनिक समाजवादी चिंतन एव विचारधारायें मुख्यरूप से पाश्चात्य जगत की देन है। समाजवाद की सर्वमान्य तथा परिमित शब्दावली मे परिभाषायें भी उतने ही रूपो में दी जा रही हैं। समाजवाद न केवल एक सामाजिक या राजनीतिक विचारधारा है प्रत्युत यह एक आन्दोलन, कार्यक्रम, आदर्श, सामाजिक या राजनीतिक व्यवस्था, जीवन पद्धति आदि सब कुछ है। भारत में समाजवादी धारणा का प्रारम्भ मुख्यतया पश्चिम की देन मानी जाती है। इसके दो मुख्य रूप है—विकासवादी तथा क्रान्तिकारी समाजवाद। भारतीय समाजवादी नेताओ ने भारतीय परिस्थितियो, वातावरण और चिंतन के अनुरूप ढालने के प्रयास किये है।

भारत मे स्वतन्त्रता आन्दोलन की अवधि के प्रारम्भिक नेताओ के विचारधारायें सही माने में समाजवादी तो नही मानी जा सकती, परन्तु दादा भाई नौरोजी, गोपालकृष्ण गोखले, फिरोजशाह मेहता, विपिन चन्द्र, लाला लाजपत राय, आदि के विचारो मे ब्रिटिश पूंजीवाद, साम्राज्यशाही की आर्थिक शोषण की नीतियों का विरोध, तथा आर्थिक सुधारो के निमित्त उनके द्वारा सुझाई गयी नीतियो में समाजवादी धारणायें विद्यमान थी, परन्तु इनका आधार पाश्चात्य समाजवादी दर्शन नही था। सन् 1971 की रूसी बोल्शेविक क्रान्ति का प्रभाव जो कि मार्क्सवादी क्रांतिकारी आन्दोलन का लेनिन द्वारा प्रस्तुत व्यावहारिक रूप था, भारत के क्रान्तिकारी तथा उग्रदलीय नेताओ पर पडने लगा। लाला लाजपत राय ने भारत मे श्रमिक संघों के निर्माण तथा विकास मे पर्याप्त रुचि दर्शायी थी। सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता सरदार भगत सिंह अपने को कट्टर मार्क्सवादी मानते थे, परन्तु समाजवादी भारतीय विचारको तथा नेताओ का अभ्युदय वर्तमान शताब्दी के प्रथम तीन दशकों तक नही हो पाया था। गांधी जी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन के स्थगन के पश्चात् उनके अनेक अनुयायियो ने भारतीय परिस्थितियो तथा दृष्टिकोणों के अंतर्गत समाजवादी विचार प्रकट करने प्रारम्भ किये। सन् 1924 में

भारत में समाजवादी दल की स्थापना की जा चुकी थी, परन्तु इन साम्यवादियों की नीतियाँ तत्कालीन राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन की भारतीय आकांक्षाओं से मेल नहीं खाती थी। इनकी निष्ठा भारतीय राष्ट्रीय स्वतंत्रता के प्रति तीव्र न होकर विदेशी साम्यवादी देशों के प्रति अधिक झुकाव रखती थी। साथ ही ब्रिटिश सरकार भी इनके प्रति अत्यधिक शंकालु थी। भारतीय समाजवादी विचारधारा पश्चिम समाजवादी विचारधारा से दो मुख्य बातों में भिन्न रही है। प्रथम बात यह है कि भारत में समाजवादी चिंतन केवल मात्र सामाजिक और आर्थिक पुनर्निर्माण की दृष्टि से ही विकसित नहीं हुआ है, वरन् इसके विकास में विदेशी शासन के शोषण ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। भारत में अंग्रेजों ने शोषणवादी और प्रतिक्रियावादी नीतियाँ अपनायी तथा भारतीयों पर जो अत्याचार किये, उनका यह स्वाभाविक परिणाम हुआ कि देश की जनता और देश के राजनीतिक दल अधिक समय तक इस स्थिति की उपेक्षा नहीं कर सके। सन् 1934 में स्वयं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अंतर्गत ही कुछ विचारकों तथा नेताओं ने कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना की जो सन् 1948 तक गांधीजी की विचारधाराओं एवं कांग्रेस की नीतियों के अंतर्गत ही समाजवादी कार्यक्रम को अपनाने का उद्देश्य रखने लगा था।

इस प्रकार समाजवादी आन्दोलन का प्रारम्भ सन् 1934 में हुआ, जब मई, सन् 1934 में आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में पटना में प्रथम अखिल भारतीय कांग्रेस समाजवादी सम्मेलन आयोजित हुआ, जिसमें आचार्य नरेन्द्र देव ने अपने अध्यक्षीय भाषण में यह आशा प्रकट की कि समाजवाद का अस्तित्व भारत में स्थायी रूप से रहेगा और इसकी शक्ति कांग्रेस के भीतर व बाहर दिन प्रतिदिन बढ़ती जायगी। इसी समय कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हुई जो कांग्रेस के वामपंथी के रूप में कार्य करने लगी। इस दल के मुख्य स्तम्भ आचार्य नरेन्द्र देव, जय प्रकाश नारायण, डा० राम मनोहर लोहिया, अशोक मेहता, अच्युत पटवर्द्धन, युसुफ मेहर अली, एस० आर०एम० आर० मसानी, पुरुषोत्तम विक्रमदास, कमला देवी चट्टोपाध्याय आदि थे। इस संगठन ने देश की राजनीति और स्वाधीनता के युद्ध में महत्वपूर्ण रूप से सक्रिय भाग लिया। सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में समाजवादियों ने उल्लेखनीय भूमिका अदा की। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरान्त कांग्रेस समाजवादी दल ने कांग्रेस से पूर्ण परित्याग का तथा सम्बन्ध-विच्छेद का निश्चय नासिक अधिवेशन में किया। कांग्रेस में रह गये समाजवादी नेता स्वतंत्र रूप से समाजवादी श्रेणी में फिर न रह पाये। फिर भी कांग्रेस तथा अन्य दलों तथा

नेहरू से पृथकता का निरंतर अभाव बना रहा। सन् 1955 में स्वयं कांग्रेस दल ने, जो तब तक, सारे देश में केन्द्र तथा राज्यों, सभी स्थानों पर सत्ताधारी था, अपना लक्ष्य समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना बना लिया था। वर्तमान समय में तो यह दल भारत का सच्चा समाजवादी होने का दावा करता है, परन्तु फिर भी समाजवादी दल अपना पृथक अस्तित्व रखते आये हैं। ऐसी स्थिति में कांग्रेस का यह कहना उचित नहीं है कि उसे वास्तव में सच्चा समाजवादी माना जाय। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् समाजवादी दल भी भारत में कम प्रभावशाली नहीं था, क्योंकि प्रथम चार महानिर्वाचकों में इस दल को भारतीय लोक सभा में कांग्रेस के पश्चात् दूसरे क्रमांक के स्थान प्राप्त रहे। सन् 1957 में केरल में इसे सरकार निर्मित करने का भी अवसर मिल चुका था, परन्तु सन् 1962 के भारत चीन-युद्ध तथा सन् 1964 के रूस चीन सैद्धान्तिक विवाद ने भारतीय साम्यवादी दल को दो दलों में विभाजित कर दिया। इस प्रकार समाजवादी विचारकों को वैचारिक दृष्टि से तीन प्रवृत्तियों में विभाजित करते हैं—प्रथम प्रवृत्ति मार्क्सवाद की, द्वितीय प्रवृत्ति ब्रिटिश श्रमिक दल के ढर्रे का सामाजिक लोकतन्त्रवाद की, और तृतीय प्रवृत्ति ऐसे लोकतन्त्रात्मक समाजवाद की थी जिस पर अहिंसात्मक सविनय अवज्ञा और विकेन्द्रीकरण के गांधीवादी सिद्धान्तों से प्रेरित थे। समाज के सभी वर्गों के लोग और व्यक्तियों को बिना किसी धार्मिक, क्षेत्रीय, या लैंगिक भेदभाव के पूरा सामाजिक और आर्थिक न्याय प्राप्त हो सके। इस प्रगतिशील कार्यक्रम के अन्तर्गत साम्यवादी दल (दक्षिण पंथी) ने समर्थन किया है और शनैः शनैः अपने अस्तित्व को इसमें समाहित करने की ओर अग्रसर है। निम्नांकित पृष्ठों में हम भारत के कुछ प्रमुख समाजवादी चिन्तकों के विचार दे रहे हैं।

आचार्य नरेन्द्र देव (1889-1956)

आधुनिक भारतीय समाजवादी विचारधारा के मूल प्रवर्तक आचार्य नरेन्द्र देव का जन्म कार्तिक शुक्ल अष्टमी, संवत् 1946 विक्रमीय (सन् 1889 अक्टूबर 20) में उत्तर प्रदेश के सीतापुर नगर में हुआ था। इनके पिता श्री बलदेव प्रसाद एक वकील थे और सन् 1891 में फैजाबाद में आकर वकालत का व्यवसाय करने लगे थे। वे हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के प्रति निष्ठा रखते थे और उन्हें अपने बच्चों की शिक्षा-दीक्षा में पर्याप्त अभिरुचि थी। यही कारण था कि आचार्य नरेन्द्र देव जी ने बचपन में ही संस्कृत व हिन्दी का अच्छा पठन करके गीता, रामचरितमानस, महाभारत आदि अनेक धर्मग्रंथों का ज्ञान अर्जित किया। इनके पिता कांग्रेस के संगठन के कार्यों में सक्रिय भाग लेते थे और बहुधा उनके

आगे गतों में नरेन्द्र देव जी भी जाया करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि बचपन से ही कांग्रेस के तत्कालीन नेताओं—लोकमान्य तिलक, गोखले, नौ सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, विपिनचन्द्र पाल, रानाडे आदि के व्यक्तित्व ने प्रभावित कि देव आचार्य जी ने अपने संस्मरण में लिखा है कि वे सूट बांधने, सिगरेट पीने आ से किस प्रकार दूर रहे थे। साथ ही स्वामी रामतीर्थ, अपने गुरु माधव मिश्र, मदनमोहन मालवीय एवं स्कूल के अन्य अध्यापकों के चरित्रों से किस प्रकार प्र वित हुए थे।

सन् 1904 से सन् 1906 की अवधि में कांग्रेस के नेतृत्व में लार्ड कर्जन की नीतियों के विरोध में जो स्वदेशी आन्दोलन चल रहे थे, उनके अधिवेशन में नरे देव को कांग्रेस के उग्रपंथी विचारों ने अत्यधिक प्रभावित किया था। इस अवधि में वे प्रयाग विश्वविद्यालय के छात्र थे, परन्तु राजनीतिक गतिविधियों में बहुत सक्रिय रूप से भाग लेने लगे थे। उस समय जितना राजनीतिक साहित्य प्रकाशित होता था, उसे वे मगाते तथा उसका अध्ययन करते थे। 'वन्दे मातरम्' पत्र, माडर्न रिव्यू, तथा क्रान्तिकारी देशी तथा विदेशी साहित्य का वे निरन्तर अध्ययन करते थे। जब सन् 1907 में सूरत में कांग्रेस में फूट पड़ गयी तो नरेन्द्र देव जी उग्र दल की ओर निष्ठावान हो गये। अरविन्द, बारीन्द्र, लाला हरदयाल, लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय आदि उग्र पंथियों के विचारों ने उन्हें बहुत आकृष्ट किया। सन् 1916 में जब कांग्रेस में पुनः एकता हो गयी तो वे कांग्रेस में सम्मिलित हो गये। उन्होंने एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करके वकालत भी पास की। इस समय इनका देश के क्रान्तिकारियों से सम्पर्क हुआ। पुरातत्व की पढ़ाई के लिए पाली का अध्ययन किया। पाली के ज्ञान से उन्हें बुद्ध साहित्य में अभिरुचि पैदा हुई और बुद्ध के विचारों का उनपर गहरा प्रभाव पड़ा। बुद्ध वाणी का ओज उनकी विचारधारा में व्याप्त करुणा, सेवा, शान्ति और सहिष्णुता उनके अपने चरित्र का अंग बन गयी। क्रान्तिकारी मित्रों के देश प्रेम, बलिदान और आत्मोत्सर्ग के प्रशंसक तथा उनके सहायक नरेन्द्र देव जी डकैती और छिटपुट हत्याओं के समर्थक न हो सके। फिर वे काशी विद्यापीठ में कार्य करने लगे। सन् 1920 में जब महात्मा गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया तो ये उसके भी समर्थक बन गये। इसी बीच पंडित जवाहर लाल नेहरू से भी इनका निकट सम्पर्क होने लगा। यद्यपि दोनों व्यक्ति समवयस्क थे, तथापि पंडित नेहरू अपने व्यक्तित्व के कारण काफी प्रकाश में आ गये थे, जबकि आचार्य जी कुछ संकोचमय प्रकृति के थे। उन्होंने स्वयं लिखा है "नेता के मुझमें कोई गुण

नही है। महत्वाकांक्षा भी नही है। यह बड़ी कमी है।...... मैं न नेता हो सकता हूं और न अन्ध भक्त अनुयायी।...... मैं व्यक्तिवादी नही हूँ। यह मेरा स्वाभाविक संकोच है।" फिर भी पंडित नेहरु जी के आग्रह पर कांग्रेस संस्था के अनेक उच्चतम पदों पर कार्य करते रहे। वे एक स्वतंत्र स्वभाव के व्यक्ति अवश्य थे, परन्तु हठी या अनुशासनहीन कभी नही रहे।

सन् 1934 मे जय प्रकाश नारायण जी के अनुरोध पर कांग्रेस के कुछ नेताओं ने कांग्रेस के अन्दर ही समाजवादी दल के निर्माण का विचार किया तो आचार्य जी को इस दल के प्रथम सम्मेलन का पटना मे सभापतित्व स्वीकार करना पड़ा। आचार्य जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे यह आशा प्रकट की कि समाजवाद का अस्तित्व भारत मे स्थायी रूप मे रहेगा और इसकी शक्ति दिन प्रतिदिन बढ़ती जायगी। इसी वर्ष बिहार मे भीषण भूकम्प का प्रकोप हुआ। तब आचार्य जी ने भूकम्प पीड़ितो के लिए राहत कार्यों मे बहुत प्रशसनीय कार्य किया। इस कार्य मे ही डा० राम मनोहर लोहिया के भी अधिक सम्पर्क मे आये। आचार्य जी पंडित नेहरु जी के समाजवादी विचारों से भी बहुत सहमति रखते थे। वे नेहरु जी के त्याग के भी महान् प्रशसक थे। सन् 1940-49 मे गांधी जी के सत्याग्रह कार्यक्रम के अंतर्गत आचार्य जी भी कुछ काल तक जेल गये। जेल से छूटने पर वे गांधी जी के निकटतम सम्पर्क मे रहे। वहां उन्होंने गांधी जी की मानवतावादी महानता का रहस्य समझा जिसमें हिन्दू धर्मी पंडिताऊ की अपेक्षा दरिद्रनारायण की सेवा करने की उन्ही मानवतावादी धार्मिकता विद्यमान थी और जिसके कारण ही गांधी जी भारत की सामान्य जनता के पूज्य व लोकप्रिय बने थे। सन् 1942 मे गांधी जी के भारत छोड़ो आन्दोलन के सिलसिले मे आचार्य जी भी बन्दी बनाये गये थे। सन् 1945 मे जेल से छूटने के पश्चात् जब देश की स्वतंत्रता वार्ता प्रारम्भ हुई और सन् 1946 मे विधान सभाओं के निर्वाचन हुए तो समाजवादी दल ने कांग्रेस के अंतर्गत ही बने रहने का विचार किया। आचार्य जी से भी मंत्री बनने का प्रस्ताव किया गया, लेकिन अपनी नैतिक दृढ़ता के कारण इस प्रस्ताव को ठुकराने मे किंचित् मात्र भी विलम्ब नही किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् कांग्रेस दल ने अपने संविधान मे जो संशोधन किया था, उनके अनुसार समाजवाद पर विश्वास रखने वाले समाजवादी नेताओं के एक वर्ग के लिए कांग्रेस मे रह सकना सम्भव नहीं रह गया। अतः आचार्य जी को भी कांग्रेस से पृथक होना पड़ा। उत्तर प्रदेश विधान सभा की सदस्यता से त्याग पत्र देकर पुनः चुनाव लड़ना और सन् 1952 के आम निर्वाचन मे फैजाबाद से एक साधारण कांग्रेसी के मुकाबिले मे पराजित हो

विश्वास करते थे। परन्तु उन्होंने समाजवाद के मार्क्सवादी सिद्धान्तों का निर्वाचन अपने ही ढग से किया है।

मार्क्स की भांति आचार्य जी भी ऐतिहासिक विकास वर्ग संघर्ष का फल मानते हैं। इसकी प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक है। नरेन्द्रदेव जी ने मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त में कोई परिवर्तन या संशोधन नहीं किया है, प्रत्युत उन्होंने मार्क्सवाद के आलोचकों के समक्ष मार्क्स के इस सिद्धान्त को आधारभूत तर्कों तथा पक्षों की स्पष्टता प्रदान की है। मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक या द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त को ही हीगल से ग्रहण किया था। हीगेल ने ऐतिहासिक विकास के द्वन्द्ववादी सिद्धान्त में चेतना तत्व को ही प्रमुखता दी थी परन्तु मार्क्स ने पदार्थ तत्व को प्रमुखता दी। आचार्य जी का मत है कि किसी युग के सामाजिक विकास में तत्कालीन विचारों, धर्म दर्शन आदि के प्रभाव को अमान्य नहीं किया जा सकता। मार्क्सवादी भौतिकवादी द्वन्द्वात्मक परिवर्तन में आर्थिक (पदार्थ) को तत्व को प्रमुखता देता है, परन्तु वह विचारतत्व या पूर्णतया उपेक्षित नहीं रखता। मार्क्सवाद चेतना को विकासमान पदार्थ का एक गुण मानता है अर्थात् आर्थिक परिस्थितियों के कारण ही विचार परिवर्तन होते हैं और विचारों के परिवर्तन से आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन नहीं आते। सामन्तवादी व्यवस्था के पूंजीवादी व्यवस्था में परिवर्तन हो जाने के कारण यह थे कि स्वयं एक व्यवस्था के अंतर्गत जो असंगतियां या अन्तर्विरोध उत्पन्न हो जाते हैं, उनका आधार उत्पादन सम्बन्ध होता है। जहां एक व्यवस्था के अंतर्गत इन सम्बन्धों में अंतर्विरोध होने लगता है, वहाँ नये प्रकार के सम्बन्ध बनने लगते हैं और सम्बद्ध वर्गों के मध्य द्वन्द्व के फलस्वरूप नयी व्यवस्था आ जाती है। यह परिवर्तन एकाएक अर्थात् एक प्रकार का क्रान्ति से होता है। उदाहरणार्थ जल के गर्म होते रहने पर उसका भाप में परिवर्तन होना।

द्वन्द्ववाद

मार्क्स की भांति आचार्य जी भी समाज परिवर्तन की इस द्वन्द्ववादी भौतिकवाद की प्रक्रिया में वर्ग संघर्ष की धारणा को स्वीकार करते हैं। उनके मत से समाजवाद का ध्येय वर्गविहीन समाज की स्थापना करना है जिसके अंतर्गत भारी आर्थिक विषमता से मुक्त ऐसे वर्ग न रहें जो आर्थिक उत्पादन प्रक्रिया में कार्य करते रहने के साथ-साथ शोषक तथा शोषितों के रूप में विद्यमान रहें और जिनके हित एक दूसरे के विरोधी हों। समाजवाद का यह उद्देश्य नहीं है कि समाज में आर्थिक एकरूपता स्थापित हो जायेगी। समाजवाद का आदर्श प्रत्येक व्यक्ति से उसकी

आवश्यकतानुसार उत्पादन की वस्तुओं का प्रबन्ध करना है। समाजवादी अर्थ में वर्ग का अर्थ विभिन्न व्यवसायों को करने वाले व्यक्तियों का समूह नहीं है और समाजवाद का उद्देश्य यह भी नहीं है कि सबको एक पेशेवाला बना दिया जायेगा, या सबकी आय समान होगी। ऐसी धारणा समाजवाद विरोधियों का मिथ्या प्रचार है। समाजवादी अर्थ में वर्ग या सामाजिक वर्ग उन व्यक्तियों का समूह है जो सामाजिक उत्पादन में एक प्रकार का कार्य करते हैं और उत्पादन के क्रम में लगे हुए दूसरे व्यक्तियों के साथ उनका सम्बन्ध भी एक सा ही होता है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार की मिलों के मालिकों, उद्योगपतियों या व्यवसायों के मालिकों को एक वर्ग अर्थात् पूंजीपति वर्ग के अन्तर्गत तथा उक्त सभी क्षेत्रों में कार्य करने वाले सभी प्रकार के श्रमिकों को एक वर्ग के अन्तर्गत रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग उत्पादन के साधनों के स्वामियों का है जो सभी श्रमिकों की श्रम शक्ति खरीद कर उनसे नफा कमाते हैं। उत्पादन के क्रम में लगे हुए दूसरे समूहों के साथ उनका सम्बन्ध एक सा है। इस दृष्टि से वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत पूंजीपति तथा श्रमिक दो आधारभूत वर्ग हैं जिनमें से एक शोषक तथा दूसरा शोषित वर्ग है। इनके मध्य वर्ग संघर्ष जारी रहता है। ये वर्ग दासमूलक व्यवस्था के स्वामी तथा दास और मध्यम युग की सामन्तवादी व्यवस्था के सामंतगण तथा कृषक दास वर्ग के तुल्य है। इनके अतिरिक्त एक बुद्धिजीवी मध्यम श्रेणी का वर्ग, परिवर्तनशील वर्ग तथा एक मिश्रित वर्ग भी हो सकते हैं, परन्तु वे उत्पादन प्रणाली में प्रमुखता नहीं रखते। वर्ग संघर्ष केवल उत्पादन के साधनों के मालिक वर्ग तथा उत्पादन क्रिया में लगे मजदूर वर्ग मध्य ही सम्भव है।

जब कोई समाजवादी वर्गरहित समाज की स्थापना करने की बात करता है तो उसका अर्थ इन्हीं आर्थिक वर्गों से होता है। समाजवाद एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता है जिसमें परस्पर विरोधी शोषक वर्ग मिट जायें और समाज सहयोग के आधार पर संगठित व्यक्तियों का सच्चा जनतंत्र बने। आज तक के व्यक्तिगत समाज व्यवस्थाओं के अंतर्गत राजनीतिक सत्ता सदैव शोषक वर्ग के हाथ में बनी रही थी। अत. उनके अंतर्गत दूसरे वर्ग के आर्थिक शोषण का क्रम जारी रहा। समाजवादी व्यवस्था का उद्देश्य उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार रखना होता है न कि वर्ग विशेष का। इसी प्रकार शासन सत्ता पर भी समाज का अधिकार रखने का लक्ष्य होता है। इसके फलस्वरूप शोषक और शोषित वर्गों का अंत कर देना और वर्गविहीन समाज की स्थापना करना समाजवाद का लक्ष्य होता है।

वर्ग संघर्ष

वर्गविहीन समाज की स्थापना मार्क्सवादी अर्थ में वर्ग संघर्ष के द्वारा ही सम्भव है। जातिवादी लोग इस महान सिद्धान्त की उपेक्षा नही कर सकते कि वर्ग संघर्ष के द्वारा ही समाज की उन्नति होती आयी है। आचार्य जी के मत में लोग जो समाजवादियों पर यह दोषारोपण करते है कि वे बलात् वर्ग संघर्ष की सृष्टि करते है और सामाजिक वर्गों की सृष्टि करके उनमें परस्पर घृणा फैलाते हैं, वे भूल करते हैं। समाजवादी लोग वर्ग-युद्ध का पैदा करके उसे बनाये रखने का उद्देश्य नही रखते। वास्तव में वर्ग युद्ध तो ऐतिहासिक विकासक्रम का नियम है। वह तो निरन्तर बना ही रहता है। समाजवादी तो उसे समाप्त करके वर्गविहीन समाज की स्थापना करना चाहते है ताकि जब इस परस्पर विरोधी वर्ग ही न रहें तो फिर वर्गयुद्ध होगा ही कैसे? अतएव वर्ग संघर्ष वर्गविहीन समाज की स्थापना का एक साधन है न कि साध्य। इसके लिए श्रमिक वर्ग की चेतना को जागृत करना होगा। आज की व्यवस्था में श्रमिक वर्ग जिस प्रकार का संघर्ष उद्योगपतियों के साथ करता है उसका उद्देश्य पूंजीपति वर्ग को बनाये रखना तथा उसके वेतन तथा काम की परिस्थितियों में सुधार की मांग करना रहता है। समाजवाद इससे सन्तुष्ट नही है। वह तो पूंजीवादी असंगत प्रथा का ही उन्मूलन कर देने के लिए शोषित श्रमिक वर्ग की चेतना को जागृत करना चाहता है। अपनी मांगों को मनवाने के लिए श्रमिक द्वारा हड़ताल, प्रदर्शन, तोड़ फोड़ आदि के साधनों से संघर्ष करने की धारणा समाजवाद का लक्ष्य नही है। समाजवाद की वास्तविक उपलब्धि तो वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त कर देने में होगी जिसके अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज उत्पादन के साधनों का स्वामी बन जाय। वर्तमान शोषण मूलक उत्पादन प्रणाली में श्रमिकों को जो कष्ट हैं, वे पूंजीपतियों के कारण नही वरन् पूंजीवादी प्रणाली के कारण हैं। अत वर्ग चेतना के विकास वर्ग संघर्ष का उद्देश्य इस प्रणाली को समाप्त करना है न कि संघर्ष के लिए वर्गों की सृष्टि करना है। शोषक वर्ग में चेतना लाकर ऐसी व्यवस्था का निर्माण कर सकना असंभव है। वह वर्ग तो इसे चाह ही नही सकता। अत. शोषित वर्ग ही ऐसी व्यवस्था के लिए चैतन्य हो सकता है। सुधारवादी उपायों से ऐसी व्यवस्था की स्थापना संभव नही है। अत. मार्क्सवादी अर्थ में श्रमिक वर्ग की चेतना को जागृत करना तथा सक्रिय करके क्रान्ति का आह्वान करने से ही वर्गविहीन समाज की स्थापना के निमित्त वर्ग संघर्ष की आवश्यकता है।

आवश्यकतानुसार उत्पादन की वस्तुओं का प्रबन्ध करता है। समाजवादी वर्ग से वर्ग का अर्थ विभिन्न व्यवसायों को करने वाले व्यक्तियों का समूह नहीं है और समाजवाद का उद्देश्य यह भी नहीं है कि सबको एक पेशे में लगा दिया जाये, या सबको एक समान बनाया। ऐसी धारणा समाजवाद विरोधियों का मिथ्या प्रचार है। समाजवादी अर्थ में वर्ग या आर्थिक वर्ग उन व्यक्तियों का समूह है जो सामाजिक उत्पादन में एक प्रकार का कार्य करते हैं और उत्पादन के क्रम में लगे हुए दूसरे व्यक्तियों के साथ उनका सम्बन्ध भी एक सा ही होता है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार की मिलों के मालिकों, जमींदारों या व्यवसायों के मालिकों का एक वर्ग अर्थात् पूंजीपति वर्ग के अंतर्गत तथा उन सभी क्षेत्रों में कार्य करने वाले सभी प्रकार के श्रमिकों का एक वर्ग के अंतर्गत रखा जा सकता है। प्रथम वर्ग उत्पादन के साधनों के स्वामियों का है जो सभी श्रमिकों की श्रम शक्ति खरीद कर उनसे लाभ कमाता है। उत्पादन के क्रम में लगे हुए दूसरे समूहों के साथ उनका सम्बन्ध एक सा है। इस दृष्टि से वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत पूंजीपति तथा श्रमिक दो आधारभूत वर्ग हैं जिसमें से एक शोषक तथा दूसरा शोषित वर्ग है। इनके मध्य वर्ग संघर्ष जारी रहता है। ये वर्ग दासमूलक व्यवस्था के स्वामी तथा दास और मध्य युग की सामन्तवादी व्यवस्था के सामन्तगण तथा कृषक दास वर्ग के तुल्य हैं। इनके अतिरिक्त एक बुद्धिजीवी मध्यम श्रेणी का वर्ग, परिवर्तनशील वर्ग तथा एक मिश्रित वर्ग भी हो सकता है, परन्तु वे उत्पादन प्रणाली में प्रमुखता नहीं रखते। वर्ग संघर्ष केवल उत्पादन के साधनों के मालिक वर्ग तथा उत्पादन क्रिया में लगे मजदूर वर्ग मध्य ही सम्भव है।

जब कोई समाजवादी वर्गरहित समाज की स्थापना करने की बात करता है तो उसका अर्थ इन्हीं आर्थिक वर्गों से होता है। समाजवाद एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता है जिसमें परस्पर विरोधी शोषक वर्ग मिट जायें और समाज सहयोग के आधार पर संगठित व्यक्तियों का सच्चा जनतंत्र बने। आज तक के व्यक्तिगत समाज व्यवस्थाओं के अंतर्गत राजनीतिक सत्ता सदैव शोषक वर्ग के हाथ में बनी रही थी। अतः उनके अतर्गत दूसरे वर्ग के आर्थिक शोषण का क्रम जारी रहा। समाजवादी व्यवस्था का उद्देश्य उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार रखना होता है न कि वर्ग विशेष का। इसी प्रकार शासन सत्ता पर भी समाज का अधिकार रखने का लक्ष्य होता है। इसके फलस्वरूप शोषक और शोषित वर्गों का अंत कर देना और वर्गविहीन समाज की स्थापना करना समाजवाद का लक्ष्य होता है।

समाजवादी नैतिकता

आचार्य नरेन्द्र देव का मत है कि समाजवाद के विरोधी इस आधार पर भी आलोचना समाजवाद की करते हैं कि इसकी भौतिकवादी प्रवृत्ति इसे नैतिकता से रहित व्यवस्था बना देती है। इसमें मानवता का मानवीय नैतिकता नहीं रह जाती परन्तु आचार्य जी ऐसी धारणा को भ्रामक व मिथ्या बताते हैं। उनके मत में समाजवाद मानवता का प्रतिरूप है। स्वयं वैज्ञानिक समाजवाद के जन्मदाता कार्ल मार्क्स ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए ग्रसित मानवता की सेवा के निमित्त भारी कष्ट सहे, भूखो रहकर जीवन व्यतीत किया और एक उच्च मानवीय आदर्श, जिसके अंतर्गत शोषण से मानव को बचाने की धारणा थी, का प्रतिपादन किया। इसमे उसका कोई निजी भौतिक स्वार्थ नहीं था। समाजवाद केवल रोजी व रोटी का प्रश्न नही है, वरन् यह एक सांस्कृतिक आन्दोलन है जो विश्व मे एक महान विचारधारा को प्रवाहित करता है। इसका केन्द्र ——— है और उद्देश्य मानव का उत्कर्ष। यदि समाजवाद धर्म का विरोधी है तो इसी उ पर कि आज धर्म रूढ़ियो और स्थिर स्वार्थों का समर्थक हो चुका है। धर्म की कल्पना करके मनुष्य को अकर्मण्य तथा आत्मविश्वासहीन बना देता है उसकी स्वतन्त्रता के मार्ग मे बाधक सिद्ध होता है। समाजवाद का उद्देश्य म को धर्म की कैद से मुक्ति और उसमे स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व, मानव सेवा आत्मविश्वास व गौरव का विकास करना है। अतः यह मानवता है।

आचार्य जी के समाजवादी विचार मानवतावादी हैं। वे यह मानने को त नहीं थे कि भारतीय सस्कृति का सार आस्तिकता है। इसके विपरीत वह यह मा थ कि विश्व कुछ नैतिक नियमो द्वारा शासित होता है। ये नियम मानवताव होते हैं। आचार्य जी के इन विचारो का स्रोत उनका बौद्ध धर्म के नियमो विश्वास था, यद्यपि वे मार्क्सवादी वैज्ञानिक समाजवाद से बहुत अधिक प्रभावि थे और उन्होने मार्क्स के आलोचकों के समक्ष उनके समाजवाद के सिद्धान्तो समुचित परिपेक्ष्य में रखकर उन्हें स्पष्टता प्रदान की है तथापि वे गाधी जी विचारों से भी अत्यधिक प्रभावित थे। अतएव वे जहा पर मार्क्स से प्रभावित हो के कारण गाधी जी के विशुद्ध अहिसावाद से असहमति रखते थे, वहा उन्हो भारतीय सदर्भ में समाजवाद की व्याख्या करते हुए मार्क्सवाद को कोरा भौतिक वादी नही रहने दिया और उसमें मानवीय नैतिकता की धारणा लाने का प्रया किया। इस प्रकार आचार्य जी की व्याख्या मार्क्स के मूल सिद्धान्त का सशोधन है। इसका यह अर्थ नही है कि आचार्य जी के समाजवादी विचारो को हम सशोधनवाद

के अर्थ मे लें। वस्तुत: आचार्य जी ने मार्क्सवाद के आलोचक व्याख्याकारो के समक्ष मार्क्स के विचारो की भावना को सही रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और उन्हें यह बताया कि मार्क्सवाद कोरा, हिंसा, घृणा तथा नैतिकता हीनता से भरा सिद्धान्त नही है, प्रत्युत इसमें व्यापक अर्थ में मानवता भरी है। यह सम्पन्न शोषक वर्ग के अन्यायों से दरिद्र नारायण को मुक्ति दिलाने का सिद्धान्त, कार्यक्रम तथा आन्दोलन है, अत: यह मानवतावाद है।

समाजवाद के अतर्गत वर्ग सघर्ष की धारणा एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के विरुद्ध घृणा की द्योतक नही है क्योंकि वर्ग सघर्ष समाजवाद का साधन नही, वरन् साधन मात्र है। समाजवाद की लड़ाई श्रमिक वर्ग से नैतिक उत्कर्ष की अपेक्षा करती है। यदि हम नैतिक आधार पर पूजीवाद को घृणित बताते हैं तो हमे नैतिक स्तर पर समाज को नयी दृष्टि प्रदान करनी चाहिए। यह नैतिक बल महान भय से रक्षा करता है। यह एक कवच की भांति कार्य करता है जो राज्य शक्ति के प्राप्त होने पर शासक वर्ग को राजसत्ता के भेद से दूर रखता है। पूजीवादी राज्य के अतर्गत मनुष्य को जो स्वतन्त्रतायें दी जाती है, यथा मताधिकार, धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार आदि, इनका कोई मानवीय या नैतिक आधार नहीं होता है, प्रत्युत इनका उद्देश्य पूजीवादी व्यवस्था को बनाये रखना होता है। ये अधिकार मानव को स्वतन्त्र नही कर सकते। मानव तो तभी स्वतन्त्र होगा जब उसका जीवन खडित न हो, क्योंकि मानव भी समाज का सक्रिय अवयव है। वह सक्रिय प्राणी है। सक्रियता और सज्जनता उसका स्वभाव है और इसलिए जब उसके जीवन के बौद्धिक और भौतिक अवयव उससे पृथक न कर लिये जायें जबकि वह सामाजिक जीव होकर अपनी जिन्दगी बसर करके अपना काम काज देखें और जब मनुष्य अपनी प्राकृतिक शक्तियों को सामाजिक शक्तियों की भांति सगठित कर सामाजिक शक्ति को राजनीतिक शक्ति के रूप मे अपने से पृथक न करे। मानव साधन, साधक और साध्य तीनो है।

राजनीतिक विचार—समाजवाद के साधन

आचार्य नरेन्द्रदेव के समाजवादी विचार मार्क्सवादी सिद्धान्त पर आधारित है। इस प्रकार के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की भौतिक व्याख्या तथा वर्ग सघर्ष की मार्क्सवादी धारणाओ पर विश्वास रखते हुए समाजवादी व्यवस्था के अतर्गत वर्गविहीन समाज की स्थापना का लक्ष्य अपनाते है। पूजीवाद, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद से उन्हें घृणा थी। वह सभ्यता, स्वतन्त्रता और सहकारिता के

आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय समाज का निर्माण करना चाहते थे। किसी बड़े राष्ट्र का दूसरे राष्ट्रों पर किसी प्रकार का आधिपत्य स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। परन्तु आचार्य जी के राजनीतिक विचार तत्कालीन भारत की राजनीतिक परिस्थितियों की उपेक्षा भी नहीं करते। उन्होंने मार्क्स के सिद्धान्तों की वैज्ञानिकता को अवश्य अपनाया और आलोचकों के समक्ष मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद के अनेक पहलुओं के स्पष्टीकरण करने का भी प्रयास किया। उनके विचारों में समाजवादी कार्यक्रम की उपलब्धि के निमित्त क्रान्ति का रूप पूर्णतः मार्क्सवादी नहीं था। वे वर्ग संघर्ष के समर्थक अवश्य थे, परन्तु सर्वहारा वर्ग से सहानुभूति रखते हुए भी क्रान्ति के पश्चात् पूंजीवाद से समाजवाद की उपलब्धि तक की संक्रमणकालीन अवधि में सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद की धारणा के समर्थक नहीं रहे। साथ ही उन्हें क्रान्ति के निमित्त लेनिन की धारणा के दलीय नेतृत्व के अधीन बोल्शेविक ढग की सशस्त्र क्रान्ति पर भी आस्था नहीं थी। उनकी धारणा थी कि क्रान्ति के अनुकूल सामाजिक परिस्थितियों में भी क्रान्ति तभी सम्भव है जब क्रान्तिकारी भावनाओं से अनुप्राणित जनसमूह के नेतृत्व के लिए क्रान्तिकारी सामाजिक आदर्शों और सिद्धान्तों में दीक्षित क्षमता-सम्पन्न क्रान्तिकारियों का सुनिश्चित सगठन हो। उनकी धारणा का समाजवाद एक-दलीय अधिनायकवाद का रूप न होकर लोकतान्त्रिक समाजवाद था। स्पष्टतः वे राष्ट्रीयता, लोकतन्त्र तथा समाजवाद तीनों धारणाओं तथा व्यवस्थाओं को एक दूसरे की सहभागी मानते थे।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता

अपने युग की भारतीय परिस्थितियों के सदर्भ में वे कांग्रेस द्वारा सचालित राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आदोलन में कांग्रेस से पृथक रहना समाजवादियों के लिए श्रेयकर नहीं मानते थे। यही कारण था कि स्वातन्त्र्य आन्दोलन की अवधि तक उनके नेतृत्व का समाजवादी दल कांग्रेस से पृथक नहीं रहा, वरन् उसी के अन्दर बना रहा। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में वे स्वय निरन्तर कांग्रेस के साथ कार्य करते रहे। उनकी दृष्टि में भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन वर्ग-सघर्ष का द्योतक था, जिसके अतर्गत एक वर्ग पूंजीवादी साम्राज्यशाही शोषकों का था और दूसरा भारत की शोषित जनता का। अतः इसे तीव्र करना आवश्यक था। इसके निमित्त आचार्य जी आन्दोलन को केवल थोड़े से मध्य श्रेणी के बुद्धजीवियों का न बनाकर उसे एक व्यापक जन आन्दोलन बनाना चाहते थे। उन्होंने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की धारणा को प्रबल बनाने के लिए कृषकों तथा श्रमिकों के सगठन निर्मित करने तथा कांग्रेस

को उनका स्थान प्राप्त करने की आवश्यकता दूर कर दिया और स्वयं ऐसे संगठन निर्मित किए। अतएव सन् 1942 का भारत छोड़ो प्रस्ताव आचार्य जी के मत में स्वतन्त्रता के सामाजिक पक्ष की व्याख्या करने वाला था। यह जनसमुदाय को एकता निर्मित करने तथा उसे अपनी सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता का आभास कराने का साधन था। उनकी धारणा थी कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद, देशी नरेशों, सामन्तों, पूंजीपतियों, जमींदारों तथा नौकरशाही की सहायता से सुदृढ़ बनाने का प्रयास कर रहा था। उनके हाथों भारत की सामान्य जनता का शोषण हो रहा था। अतएव शोषित जनता को संगठित होकर इन शोषकों से अपनी राज-नीतिक तथा आर्थिक मुक्ति के लिए संघर्ष करना है। इसके निमित्त औद्योगिक श्रमिकों, कृषकों तथा निम्न मध्यम श्रेणी के लोगों का संयुक्त मोर्चा निर्मित करके संघर्ष करना आवश्यक था। यद्यपि आचार्य जी महात्मा जी के निकट सम्पर्क में रहे, तथापि उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया कि सदैव अहिंसात्मक क्रान्ति से ही सफलता मिलेगी। श्रमिक संघों का निर्माण करना, उनकी क्रान्तिकारी भावना को तीव्र करना तथा उनके द्वारा हड़तालों तथा आमहड़तालों का आह्वान करना जैसा फ्रांसीसी श्रमिक आन्दोलन का कार्यक्रम था, आदि से आचार्य जी भी प्रभावित थे। इन कार्यक्रमों को वे शोषित श्रमिक वर्ग में भावनात्मक एकता लाने तथा वर्ग संघर्ष द्वारा शोषकों से मुक्ति प्राप्त करने के निमित्त उपयोगी समझते थे। उनके मत से आम हड़तालों के द्वारा सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था ठप्प पड़ जायेगी, अतएव शोषक साम्राज्यवादियों को देश छोड़ने के लिए विवश होना पड़ेगा। श्रमिक वर्ग अपने राजनीतिक प्रभाव को तभी बढ़ा सकता है, जबकि वह राष्ट्रीय संघर्ष में आम हड़ताल का प्रयोग करके निम्न मध्यम वर्ग को हड़ताल की क्रान्तिकारी सम्भावनाओं से अवगत करा दे।

जनतंत्र

वर्ग संघर्ष तथा क्रान्तिकारी साधनों पर विश्वास रखने के बावजूद आचार्य जी न तो साम्यवादी एक दलीय अधिनायकवादी राज्य व्यवस्था के समर्थक थे और न श्रमिकसंघवादियों की भी संगठित अराजकता व्यवस्था में ही उनका विश्वास था। वे जनतंत्र को सर्वोत्तम व्यवस्था मानते थे और अधिनायकत्व के कट्टर विरोधी थे। उनके विचार में अधिनायकत्व मानवता और व्यक्ति का लोप करके राज्य को सर्वेसर्वा बना देता है, वह आतंक पैदा करता है, मनुष्यों को राज्य की मशीन का एक पुर्जा बना देता है और व्यक्तित्व के विकास का अवसर नहीं देता। वे पूंजीवादी जनतंत्री धारणाओं के भी प्रबल विरोधी थे। इस प्रकार के जनतंत्रों

नागरिकों को समान अधिकार दिये जाते हैं, परन्तु उ
(व)र्गा चन्द धनी लोगों को ही होता है। आचार्य जी का मत
ा में निर्धन तथा धनी दोनों को स्थान समान रूप से न्या
ा है। लोकतान्त्रिक समाजवाद में आस्था रखने के कार
ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन के साथ-साथ भारत में समाजव
तीव्रतर करने के पक्ष में थे। उन्होंने भारत की सामाजि
नीतिक समस्याओं को वर्ग संघर्ष के दृष्टिकोण से समझने
वे कोरे संविधानवाद या सुधारवाद से समाजवाद तथा जनत
आशा नहीं रखते थे अतएव उनका विश्वास था कि जनसमुदाय
बनाने तथा देश को जनतंत्र के लिये तैयार करने का एकमात्र
कि किसी लोक कल्याणकारी आर्थिक विचारधारा को अंगीकार
स्वतंत्रता संग्राम का समाजीकरण किया जाय।

की वास्तविक स्थापना के निमित्त उनका मत था कि सार्वभौमिक
ना जनतंत्र का निर्माण संभव नहीं है। शिक्षा देने के अतिरिक्त यदि
में जनतंत्रीय पद्धति का प्रसार करना है तो इस कार्य में हमें सहकारी
बढ़कर दूसरी वस्तु से सहायता नहीं मिल सकती। उनके मत से कुशलतम
व्यवस्था या उच्चप्रकृति के राष्ट्रीय नेतृत्व के हो जाने से ही जनतंत्र की
ी आशा नहीं की जा सकती। इसके निमित्त समाज में फैली विषमताओं
रना होगा और गैर सरकारी संस्थाओं के संगठन तथा उनके द्वारा सरकारी
पूरा करने में सहचार प्राप्त करना होगा। जनशक्ति पर विश्वास, जनता
रकारी संगठनों तथा समूहों को समान प्रकृति का अवसर प्रदान करना तथा
तक कल्याण के लिए समानता के आधार पर लोगों को संगठित करना जन-
विकास की आवश्यक शर्तें हैं। इस प्रकार आचार्य जी लोकतान्त्रिक आदर्शों
ल राजनीतिक क्षेत्रों तक सीमित नहीं रखने के समर्थक थे वरन् मनुष्य
येक क्षेत्र में उसको प्रतिष्ठित करना आवश्यक है। वे जनतंत्र को प्रतिष्ठि
के लिए जनता में लोकतान्त्रिक आदर्शों के प्रति दृढ़ आवश्यकता आवश्य
ते थे।

—ायिक समस्या के हल के
ोध करते रहे, परन्तु जब

[illegible] के [illegible] से [illegible]
नहीं [illegible] के [illegible] का [illegible]
[illegible] राष्ट्र के जीवन में [illegible]
[illegible] है। आचार्य जी एक सुदृढ़ राष्ट्रीय राज्य को
[illegible] । राष्ट्र [illegible] राष्ट्रीय राज्य की [illegible]
[illegible] नहीं हो सकती। ऐसा राष्ट्र
हित और [illegible] । धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रीय राज्य के
आधार [illegible] । आचार्य हिन्दू राज्य
की धारणा [illegible] के लिए उचित नहीं मानते थे। इसके
अतिरिक्त [illegible] पुनरुत्थानवादी साम्प्रदायिकतावाद की उत्पत्ति होने की आशंका व्यक्त की
थी। वे हिन्दू [illegible] राष्ट्रवादी धारणा का [illegible] तथा [illegible] की धारणा को
[illegible] मानते थे। वे [illegible] राष्ट्रीयता के [illegible] रहने का उपदेश देते
थे। उनके मत में राष्ट्र के अन्दर पृथकतावादी प्रवृत्तियों का उत्पन्न होना स्वस्थ
राष्ट्रीय जीवन के लिए अवांछनीय है। भारत सदृश विशाल देश में जातीयता-
वाद, साम्प्रदायिकतावाद तथा आर्थिक दृष्टि से असंतुष्ट राष्ट्रीय एकता के लिए
अभिशाप है। आचार्य जी [illegible] के [illegible] में विकसित हो गयी
राष्ट्रीयता की भावना को भारत के लिए भी [illegible] मानते हैं जिसके अन्तर्गत
प्रत्येक धार्मिक [illegible] में विश्वास का नया जीवन सञ्चारित हुआ है। उन्होंने कहा
था कि हम राष्ट्रीय कार्य में सामाजिक दृष्टि से पतित वर्गों का हार्दिक सहयोग
प्राप्त होगा और उनकी सामूहिक शक्ति का तभी सदुपयोग हो सकता है जबकि
हम उन्हें यह अनुभव करा देंगे कि आज का सामाजिक भेदभाव शीघ्र ही समाप्त
हो जायगा।

अन्तर्राष्ट्रवाद

आचार्य जी के राष्ट्रवादी विचारों की उदारता उन्हें अंतर्राष्ट्रीयवादी भी सिद्ध करती है। उनके समाजवादी विचारों का मानवतावादी दृष्टिकोण भी उन्हें अंतर्राष्ट्रीयवाद की दिशा में ले जाता है। राष्ट्रों के मध्य शान्ति, पारस्परिक सहयोग, सद्भावना तथा सुरक्षा उनके अंतर्राष्ट्रवादी विचारों का सार है। उनका मत था कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए युद्ध कोई हल प्रस्तुत नहीं कर सकता। उसे अवैध घोषित किया जाना चाहिए। यद्यपि वे विश्व शान्ति के निमित्त संयुक्तराष्ट्र संघ के प्रशंसक थे तथापि उन्हें यह भय था कि नवीन साम्राज्य-वाद का अभ्युदय पुन. अंतर्राष्ट्रीय युद्धों को भड़का सकता है। इसके फलस्वरूप

ाति भी रह चुके थे । शिक्षा के सम्बन्ध में उनके विचार
ुवा शक्ति पर विश्वास रखते थे और युवकों के अधिकारों
मर्थक थे । उनकी धारणा थी कि युवा वर्ग न तो बहुत
गतिक्रियावादी । परन्तु यदि देश का राजनीतिक तथा
के हाथ में बना रहा, तो वह प्रगति के मार्ग में बाधक
। सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकार प्रदान करके
की प्रगति में लगाना चाहिए । आचार्य जी चाहते थे कि
भले ही वयोवृद्ध करें परन्तु युवावर्ग को अपने संगठनों
में अपने विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता दी जानी
सम्मत राय नहीं हो सकती । निस्सदेह आचार्य जी यह
विद्यार्थियों के संगठनों का ऐसे दलों के साथ सम्पर्क व
जिनकी नीतियाँ साम्प्रदायिक या राष्ट्रविरोधी हों ।
त पर भी निर्भर करती है कि किसी देश की परम्परायें
परिस्थितियाँ कैसी रही हैं परन्तु युवा पीढ़ी को वृद्ध
क्रियावादिता तथा पुराणपंथिता का दास नहीं बनाया

तन्त्र तथा राष्ट्रीयता की धारणाओं के समुचित विकास
क राष्ट्र की शिक्षा पद्धति में व्यापक सुधार लाया जाय ।
से बहुत चिन्ता थी कि राष्ट्र का प्रतिभाशाली तत्व
ाहीं होता । प्रतिभाशाली तत्व अन्य सेवाओं की ओर
घटाया निकृष्टतर तत्व अध्यापक कार्य में अपने को
यह था कि समाज में शिक्षक के मूल्य को नहीं समझा
तथा सुविधाओं की दृष्टि से अन्य सेवाओं की तुलना
रखा जाता है । समाज में शिक्षकों का समुचित स्थान
के एक पत्र सम्पादक बेंजामिन फाइन की ओर से
जी ने लिखा है कि अमेरिका में भी स्थिति ऐसी ही
तंत्र के निर्माण तथा विकास के मार्ग में यह स्थिति

त पाना है। अत समाज तथा राज्य को इस ओर ध्यान देना होगा। भारत सन्दर्भ में आचार्य जी ने सर्वाधिक महत्व निरक्षरता को दूर करने, जनशिक्षा की जनाएँ कार्यान्वित करने तथा उच्चतर शिक्षा के स्वरूप को बदलने की आवश्य-ता पर दिया है। वे उच्चतर शिक्षा का माध्यम राष्ट्रभाषा बनाने के समर्थक थे। नकी धारणा थी कि एक स्वतन्त्र देश मे युवक सगठनों के दायित्व बहुत बढ जाते । छात्रों को स्वतन्त्र देश मे हडतालो में समय नष्ट नही करना पडता। ऐसे प्रदर्शन एक पराधीन देश मे युवा छात्रो को देश की स्वाधीनता प्राप्त करने लिए करने डते हैं। छात्रो मे अनुशासनशीलता पाने के निमित्त असन्तोष के कारणो का अध्ययन रके उन्हें दूर करने के लिए ठोस कदम उठाने पड़ेंगे। छात्रो मे अनिश्चितता नही आने दी जानी चाहिए। शिक्षा में चरित्र गठन पर जोर देने की आवश्यकता है और छात्रो मे छात्रभावना का सचार करना आवश्यक है। सभी छात्रो को विश्व-विद्यालय स्तर की शिक्षा लेना आवश्यक नही है, यह इस तथ्य से सिद्ध होता है है कि प्रतिवर्ष एक बडी सख्या मे छात्र अनुत्तीर्ण होते है। यह धन, समय तथा श्रम की बरबादी है। अत व्यावसायिक तथा औद्योगिक शिक्षा व्यवस्था कर लेने पर यह कमी दूर हो सकती है।

4 दिसम्बर, सन् 1949 म अखिल भारतीय विश्वविद्यालय अध्यापक सम्मेलन के दिल्ली अधिवेशन मे अध्यक्षीय भाषण करते हुए आचार्य जी ने उच्चतर शिक्षा सस्थाओ के अध्यापको को भी स्वतन्त्र देश मे उनके कर्त्तव्यो के प्रति सजग किया था। उनकी धारणा थी कि स्वतंत्र देश में शिक्षा का उद्देश्य तथा स्वरूप धनिक तन्त्रीय न होकर जनतन्त्रीय होना चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य जीवन सम्बन्धी मान्यताओ को स्वीकार करना तथा छात्रों के व्यक्तित्व को सही दिशा मे ढालना होना चाहिए ताकि वे स्वतन्त्र देश के उत्तम एव श्रेष्ठ नागरिक बन सके। अध्यापको को इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए नवीन उद्देश्यो एव आदर्शों पर दृढ विश्वास और आस्था हो और इन्हें प्राप्त करने के लिए वे उत्साह के साथ दृढप्रतिज्ञ होकर पूरा प्रयत्न करें। अतएव समस्त वर्गों के अध्यापको का एकाकी सगठन होना चाहिए और अध्यापको को नवीन शिक्षा सिद्धान्तो को अपनाने के लिए स्वय अपने को पुन प्रशि-क्षित करना पड़ेगा। अध्यापक सगठन का उद्देश्य सघवादी हडतालो का आह्वान करना नहीं होगा, अपितु सगठित ढग से हितों की रक्षा के उपाय ढूंढना तथा सास्कृतिक उद्देश्यो की उपलब्धि करना होगा। इसी अवसर पर आचार्य जी ने राष्ट्र भाषा को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने की आवश्यकता पर भी बल दिया था। आचार्य जी ने इस बात पर भी जोर दिया कि शिक्षा का स्वरूप रचनात्मक

...वाहिए, और अध्यापक तथा छात्रों के मध्य सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बने रहना ...। ये बात युवावर्ग में अनुशासन को रखने के लिए आवश्यक है।

इस प्रकार आचार्य जी की धारणा थी कि इस समय क्रान्तिकारी विकास ...आवश्यकता है और इसके लिये किसान, मजदूर और निम्न मध्यवर्गीय शिक्षि... का सहयोग और समन्वित प्रयत्न आवश्यक है। कार्यकर्ताओं को ज्ञान द्वा... ...थित लक्ष्य पर दृढ़ विश्वास रखना होगा, तथा निरन्तर अपने कार्य का विस्त... ...ना होगा, अपने कार्यक्रम म ससदीय कार्य, सघर्ष, रचनात्मक कार्य सभी को ...ान देना होगा। इनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वे चाहते ... कि कार्यकर्ता क्रान्तिकारी दृष्टिकोण मे क्रान्तिकारी लक्ष्य को सामने रखते ...ए सब प्रगतिशील विचारो और कार्यों का केन्द्र बन जायें। उनका विश्वास था ...कि यदि कार्यकर्ता एक ऐसे सामाजिक उद्देश्यो की भावना में विरत होगें तो जनता ...की वास्तविक इच्छाओ और आवश्यकताओ की पूर्ति करें तो अजय शक्ति का ...शक्ति बन जायेगे।

निष्कर्ष

२०वीं शताब्दी के भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियो सदर्भ में आचार्य नरेन्द्रदेव जी के विचारो का व्यापक महत्व है। यद्यपि वे सम... वाद के वैज्ञानिक रूप की मार्क्सवादी सिद्धान्तो के आधार पर व्याख्या कर... तथापि वे बोल्शेविकवाद के साम्यवाद से प्रभावित नही हुए। उनके समाजवादी विचार लोकतात्रिक समाजवाद की आधारशिला सिद्ध होते है और भारत के सदर्भ मे यदि समाजवाद का कोई सफल या व्यावहारि रूप सभव है तो वह लोकतात्रिक समाजवाद ही हो सकता है। समाजवाद को एक बडा नैतिक और सास्कृतिक आदो... लन समझते थे इस दृष्टि से आचार्य नरेन्द्रदेव को भारतीय समाजवादी विचारो का जनक मानना सर्वथा उचित होगा। समाजवाद की उपलब्धि के निमित्त वे समाज के प्रगतिवादी तत्वो को प्रोत्साहित करते है। केवल बुद्धजीवी वर्ग द्वारा प्रचारित फैवियन ढग के समाजवाद पर उनका विश्वास नही था। अत: वे श्रमिको, कृषको, युवा छात्रों आदि के संगठनों के निर्माण तथा उनके द्वारा रचनात्मक कार्यक्रम अपनाने की बातों के समर्थक थे। वे समाज निर्माण के कार्य मे क्रान्तिकारी तथा प्रगतिवादी कार्यक्रमो को महत्व देते थे, परन्तु हिंसात्मक क्रान्ति उन्हें पसन्द नही थी। समाज... वाद की उपलब्धि के लिए तो वे देश मे व्यापक शिक्षा पद्धति के विकास को आवश्य... ...ते थे। राष्ट्रवाद तथा लोकतात्रिक समाजवाद की स्थापना के निमित्त...

भारतीय परिस्थितियो के सदर्भ मे आचार्य नरेन्द्रदेव के विचारो का सर्वाधिक महत्व है। उनके विचारो मे नैतिक और आध्यात्मिक विशिष्टता प्राप्त करने का प्रयत्न समाजवाद का अविच्छिन्न अग है।

डा० राम मनोहर लोहिया (1910-1967)

आचार्य नरेन्द्र देव जी को भारत मे समाजवादी विचारधाराओ का ऐसा सदेशवाहक माना जा सकता है जिन्होने मार्क्सवादी समाज की व्याख्या भारतीय परिस्थितियो के सदर्भ मे की और समाजवादी व्यवस्था को सर्वहारा वर्गीय अधिनायकवाद के रूप मे स्थापित करने के साम्यवादी कार्यक्रम को न अपनाकर जनतत्रीय ढग की क्रान्ति का समर्थन किया। यद्यपि उनके ऊपर मार्क्स, बुखारिन तथा गाँधी आदि का प्रभाव था तथापि उन्होने भारत मे समाजवाद तथा जनतत्र की स्थापना के निमित्त दोनो के मध्य का मार्ग अपनाया। भारत की दरिद्र, अशिक्षित तथा पीडित विशाल जनता के प्रति उनकी गहरी सहानुभूति होते हुए भी उनका समाजवादी चिंतन बहुत कुछ मात्रा मे बुद्धिवादी प्रकृति का था, भले ही उन्होने कृषको, श्रमिको तथा युवको के सघो की स्थापना की थी। वर्ग सघर्ष की धारणा को वे समाजवाद के एक आवश्यक साधन के रूप मे मानते थे। परन्तु समाजवाद को एक सघर्ष का कार्यक्रम बनाने तथा उसकी विचारधारा को विशुद्ध गाँधीवादी सिद्धान्तो के अनुसार सविनय अवज्ञा के रूप मे कार्यान्वित करने का कार्य डा० राम मनोहर लोहिया ने किया।

डा० राम मनोहर लोहिया का जन्म एक साधारण मध्यवर्गीय मारवाड़ी परिवार मे अकबरपुर, फैजाबाद मे 23 मार्च, सन् 1910 मे हुआ था। परिस्थितियो ने उन्हें पारिवारिक जीवन के सुख ऐश्वर्य से सदैव वचित रखा। शैशवकाल मे ही माता की मृत्यु हो जाने तथा उनके पिता हीरालाल जी के स्वय एक कर्मठ स्वतत्रता सेनानी बन जाने के कारण डा० लोहिया को अपनी प्रतिभानुसार सुख-सुविधाओ के साथ शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला। परन्तु इन सब के बावजूद भी वे पूर्ण धैर्य तथा साहसपूर्ण सघर्ष के साथ शैक्षिक उपलब्धियाँ करते रहे और बर्लिन विश्वविद्यालय से शैक्षिक क्षेत्र मे डाक्टर की उपाधि प्राप्त करने मे सफल हुए। निर्धनता ने उनके जीवन को मस्ती का जीवन बनाया, न कि दुख तथा भार का। जैसा कि डा० साहब जर्मनी से वापस आते हुए जब मद्रास मे उतरे तो जब मे इतने पैसे नहीं थे कि रेल से कलकत्ता जा सके लेकिन प्रतिभा थी, योग्यता थी, आत्म विश्वास भी था। मद्रास के अंग्रेजी दैनिक 'हिन्दू' के कार्यालय मे जाकर

वही बैठकर एक लेख लिखा, लेख प्रकाशन के लिए स्वीकार होने पर पैसा लेकर कलकत्ता के लिये चल पड़े। वे आजीवन अविवाहित रहे। सम्भवतः इसकी ओर उन्होंने कभी सोचा तक नही। उन्हे यह भी चिंता नहीं रहती थी कि यदि सुबह चाय, काफी, मूगफली आदि प्रचुर मात्रा मे प्राप्त है तो शाम को ये चीजें भी उन्हें मिल पायेगी या नही। भूख, सकट परेशानी आदि को खुशी-खुशी से कहना मानो उन्हे एक दैवी वरदान मिला हुआ था। इतना प्रतिभाशाली व्यक्तित्व प्राप्त होते हुए भी उनमे जन नेता बनने, आजीविका के लिए उत्तम व्यवसाय चुन लेने, या किसी उच्च पद को प्राप्त करने की महत्वकाक्षाएँ छू तक नहीं गयी थी। इस पर भी स्वभावत एक उच्चकोटि के नेता रहे। इन्होंने स्वतत्रता आन्दोलन मे महत्वपूर्ण योग दिया है। वे आजादी के लडाई के नौजवान सिपाही थे, उसमे उनके करतब इतिहास में अमिट है। स्वतत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करना और उसके खातिर कठिन से कठिन यातना भोगना उनके लिए एक खेल था। जीवन मे 40 बार जेल की यात्रा करने वाले संघर्षकारी नेता लोहिया जी के अतिरिक्त शायद ही कोई अन्य हो सकते है। ब्रिटिश भारत के विरुद्ध जिस निर्भीकता और सैद्धातिक निष्ठा से उन्होने सघर्ष किया था और नारकीय यातनाओ ने उन्हें लौह-पुरुष बना दिया था, दास्योत्तर भारत मे यथास्थिति बाद के सबसे बडे गढ़ कांग्रेस के विरुद्ध भी उन्होंने वैसा ही अन्तहीन आन्दोलन छेड़ दिया था। वह क्रान्तिकारी भी थे, विद्रोही भी। समझौता कभी भी उनकी भाषा में नहीं रहा। उनके एक घनिष्ठ साथी तथा जीवन लेखक के शब्दो मे "यद्यपि लोहिया का जीवन अजेय योद्धा का था, पर तमाम अजेयता के बाद भी उन्होने सारा जीवन वनवास जैसा ही काटा। ओहदा लेकर सत्ता सुन्दरी का आलिगन उन्होने कभी पसन्द नही किया। आश्चर्य होता है कि सारा जीवन इतनी उपेक्षा, इत... उपहास इतना अपमान और इतना लम्बा वनवास उन्होने कैसे सहा और झेला"।

डा० लोहिया पहले नेता थे जिन्होने स्वतत्रता के पश्चात् भारत के भावी स्वरूप की कल्पना की। उन्होने समाजवादी आन्दोलन को बल दिया, विप्लव दिया, आधी दी। उन्होंने भारत मे समाजवादी आन्दोलन को प्रतिष्ठित किया। सन् 1953 में इनके नेतृत्व मे एशिया के समाजवादी दलो का सम्मेलन दिल्ली में हुआ। सन् 1952 मे वे कांग्रेस समाजवादी दल के सभापति भी रहे और उन्होने गांधीवादी विचारधारा को समाजवाद मे अधिक से अधिक स्थान दिये जाने के विषय में अपील की। अशोक मेहता प्रजा समाजवादी दल को कांग्रेस मे मिलाना चाहते थे क्योंकि उनका मत था कि कांग्रेस के समाजवादी कार्यक्रम के कारण कांग्रेस

और प्रजा समाजवादी दल का अन्तर दूर हो रहा था किन्तु डा० लोहिया कांग्रेस से दूर रहना चाहते थे। सन् 1955 में उन्होंने अपना एक पृथक समाजवादी दल बनाया। जब प्रजासमाजवादी दल के अनेक नेता तथा कार्यकर्ता कांग्रेस में श्री अशोक मेहता के नेतृत्व में सम्मिलित हो गये, तब उन्होंने प्रजा समाजवादी दल और समाजवादी दल बनाकर संयुक्त समाजवादी दल घोषित किया। सन् 1962 के महानिर्वाचन में फूलपुर संसदीय निर्वाचन क्षेत्र में पंडित जवाहर लाल नेहरू के विरुद्ध चुनाव लड़े, पर वह भली-भाँति जानते थे कि उन्हें पराजय मिलना निश्चित है, फिर भी डटकर चुनाव लड़े। बाद में सन् 1963 में संसदीय निर्वाचन क्षेत्र फर्रुखाबाद से उप चुनाव में कांग्रेस प्रत्याशी के मुकाबले में भारी मतों से विजयी हुए। सन् 1967 के महानिर्वाचन में भी पुनः इसी क्षेत्र से विजयी हुए। लगभग चार वर्ष का उनका लोक सभा का कार्यकाल अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा। इस अवधि में उन्होंने पंडित जवाहरलाल नेहरू, लाल बहादुर शास्त्री तथा श्रीमती इन्दिरा गाँधी तीनों कांग्रेसी प्रधान मंत्रियों की नीतियों के विरुद्ध लोहा लिया। स्पष्ट था कि इस अवधि में लोहिया ही संसद में एक वास्तविक विरोधी नेता सिद्ध हुए। इस काल में इनका दल अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुआ। इसका प्रमाण सन् 1967 का महा निर्वाचन है जो आज भी डा० लोहिया की एक क्रान्तिकारी यादगार रहेगे। इन्होंने राजनीतिक शक्तियों का पुनंगठन गैर कांग्रेसी शक्तियों के रूप में करके सूत्रधार बने। जीवन में इन्होंने अनेक बार विदेशों की यात्रा की और भिन्न-भिन्न देशों की व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में अपने स्वतंत्र विचार व्यक्त करने में भी उन्हें किसी प्रकार की हिचक नहीं होती थी। जैसा कि सन् 1919 में डाक्टर साहब ने विदेश यात्रा की। विदेश यात्रा में सर्वप्रथम विश्व सरकार पर जोर दिया। विश्व सरकार सीमित अधिकार सम्पन्न हो और जो व्यस्क मताधिकार पर निर्वाचित हो। वह दूसरे सदन की सम्भावना भी स्वीकार करते थे जिसमें कि प्रतिनिधित्व जनसंख्या के अतिरिक्त अन्य तथ्यों के ध्यान में रखते हुए दिया जाये। विश्व सरकार के साथ लोहिया जी ने विश्व विकास संस्था की कल्पना जोड़ा जिसमें प्रत्येक राष्ट्र अपनी क्षमता के अनुसार योग दे और जिसमें प्रत्येक राष्ट्र अपनी आवश्यकता के अनुसार सहायता ले सके। लौटने में लेबनान, मिस्र और इजरायल की यात्रा भी की।

य की स्थापना हुई थी। किन्तु विधाता ने 12 अक्टूबर सन् 1967 को डा० हिया को उठा लिया। यह सत्य है कि इस तिथि को भारतीय इतिहास के लक्षण इतिहास पुरुष राम मनोहर लोहिया का यह लीलामय जीवन समाप्त हो ा जो सत्ताधारियों को बेचैन करता था। शोषितो और पीड़ितो को हौसला ता था। बुद्धजीवियो को आकर्षित करता था और देश की बेजुबान जनता को णी देता था।

डा० साहब ने अनेक विवादास्पद एव महत्वपूर्ण पुस्तको की रचना की जनको देश मे ही नही वरन् विदेशो मे भी बड़े चाव से पढा गया है। उनमें नेम्नलिखित महत्वपूर्ण हैं—

1. Himalyan Blunder.
2. Wheel of History.
3. Gandhi, Socialism and Marx.
4. Guilty Man of India's Partition.

लोहिया जी के समाजवादी विचार

यद्यपि डा० लोहिया मार्क्स कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त के विरोधी नहीं थे तथापि वे द्वन्द्ववाद मे केवल भौतिक तत्व के अस्तित्व रहने की धारणा को स्वीकार नहीं करते थे, प्रत्युत वे चेतना तत्व की प्रमुखता को भी स्वीकार करते थे। इस दृष्टि से उनकी धारणा मे सामाजिक विकास मे भौतिक तथा अध्यात्मिक दोनों तत्वो का सम्मिश्रण रहता है। ऐसा इसलिए था कि डा० साहब जर्मनी के समाजवादी आन्दोलन से प्रभावित थे। इतिहास के चक्र सिद्धान्त की मान्यता डा० साहब की दूसरी विशेषता है। उनके मत से ऐतिहासिक विकासक्रम सीधी रेखायें नही चलता, वरन् एक चक्र की भाति चलता है, जिसमे उत्थान तथा पतनों के क्रम की पुनरावृत्ति होती रहती है। मानव इतिहास मे संघर्ष केवल आर्थिक वर्गों के मध्य ही नही होते, प्रत्युत जातियो के मध्य भी संघर्ष होते रहते हैं। जातिगत वर्गों का समूह स्वरूप निश्चित तथा परपरागत स्वरूप का होता है जबकि वर्गों का रूप शिथिल होता है। यदा-कदा वर्ग जातियो के रूप मे और जातियां वर्गों मे सगठित हो जाया करती हैं। अत डा० साहब का आग्रह था कि एशियाई ...कर भारत के समाजवादियो, को यहां की परिस्थितियों के सदर्भ मे ही ... की उपलब्धि के सम्बन्ध मे मौलिक विचार करना चाहिए। वे पाश्चात्य

देशों में प्रचलित परपरागत समाजवाद को अनुपयुक्त समझते थे। उसे उन्होंने एक वृद्ध तथा मरणासन्न व्यवस्था कहा था, क्योंकि उसके अंतर्गत भारी औद्योगिकीकरण, उग्रवादी राष्ट्रीयता, अधिनायकवाद, केन्द्रीयकरण तथा उग्र वामपंथिता सदृश प्रवृत्तियाँ विकसित होती है। इनके कारण एशियाई देशों में साम्प्रदायिकता तथा मृषाभिमान बढ़ने की आशंका हो सकती है।

भारत के संदर्भ में डा० लोहिया विकेन्द्रीकृत समाजवाद के समर्थक थे जिसका उद्देश्य लघु मशीनों द्वारा संचालित लघु उद्योगों का विकास, सहकारिता पर आधारित अर्थ व्यवस्था का संचालन करना तथा ग्रामीण शासन को प्रोत्साहन देना, आदि था। डा० साहब राष्ट्रीयकरण की नीति के विरोधी नहीं थे। इसे वे आय की अत्यधिक विषमता को दूर करने के निमित्त उपयोगी समझते थे, परन्तु इसे वे अंतिम साधन नहीं मानते थे। व्यक्तिगत सम्पत्ति के अत्यधिक विस्तार को रोकने के निमित्त भी वे राष्ट्रीयकरण को उचित समझते थे, परन्तु आर्थिक समानता लाने के लिए हिंसात्मक क्रान्ति की बात उन्हें सर्वथा अमान्य थी। उनके मत में अन्याय का विरोध करने के या परिवर्तन लाने के दो मार्ग हैं। प्रथम, शस्त्र या रक्तमय क्रान्ति का और द्वितीय, सविनय अवज्ञा या सत्याग्रह का। प्रथम मार्ग का अनुसरण इतिहास में अनेक बार-बार किया जा चुका है। उसकी पुनरावृत्ति का कोई महत्व नहीं है। दूसरा मार्ग सत्याग्रह का है। वे गांधी जी के सत्याग्रह और अहिंसा के अटूट समर्थक थे। वे यह कहते थे कि अहिंसा और सत्याग्रह के द्वारा अराजकता नहीं आ सकती। हां थोड़ी बहुत उथल-पुथल हो सकती है, क्योंकि यह एक नया मार्ग है। यदि लोग इसका अनुसरण करें तो अवश्य नवीन मानव की सृष्टि होगी। सत्याग्रह द्वारा भारत और विश्व किसी दिन भीषण रक्तपात से बच जायेंगे। डा० साहब का विश्वास था कि गांधी विचार के मूल में जो मानवीय करुणा थी उसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य की हत्या को अनुचित मानने के सिद्धान्त के रूप में सचमुच विश्व सभ्यता का आधार बन सकती है। उनका यह भी मत था कि महात्मा गांधी जी ने भारतीय समाज की जड़ता को तोड़ा था। उसके आन्तरिक संघर्ष को गांधी जी उस जगह ले गये थे, जहाँ देश की शक्तियाँ प्राणवान हो उठी थीं। परन्तु वे गांधीवाद को भी अधूरा दर्शन मानते थे, वे समाजवादी थे, लेकिन मार्क्स का एकाधिकार मानते थे और उसी से साम्यवाद के कट्टर विरोधी थे। इन दोनों ने इतिहास की गति को छोड़ दिया है। दोनों का महत्व मार्क्सयुगीन है। लोहिया जी के विचार में मार्क्स पश्चिम के तथा गांधी पूर्व के प्रतीक हैं और लोहिया जी पूर्व पश्चिम को पाटना चाहते थे। अतः डा० साहब का समाजवाद मार्क्सवाद

तथा गांधीवाद का समन्वय कहा जा सकता है। डा० साहब विचारों के स्तर पर मानवीयता के पथ पर थे लेकिन इसके साथ ही वह कार्यक्रम की उग्रता और दृढ़ता को आवश्यक मानते थे। ऐसी धारणा से ही निःसन्देह डा० साहब मौलिक चिंतक सिद्ध करता है।

एशियाई देशों के समाजवाद की दुर्बलताओं के विषय में लोहिया जी का विचार था कि यहां धर्म तथा जाति का राजनीति पर प्रभाव रहा है, बलप्रयोग द्वारा विरोधियों की राजनीति को दबाया जा रहा है, यहां नौकरशाही तथा उद्योग के प्रबन्धकों का एक नया वर्ग उत्पन्न हो गया है जो पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित है, लोकतान्त्रिक परंपरायें समुचित रूप में विकसित नहीं हो पायी हैं, व्यक्ति पूजा को प्रश्रय मिलता रहा है और समन्वित सामाजिक विचारधाराओं, नीतियों तथा कार्यक्रमों का अभाव रहा है। इन दुर्बलताओं का लाभ महत्वाकांक्षी राजनेता उठा कर सत्तारूढ़ बने रहते हैं। अतएव समाजवाद की उपलब्धि के लिए यहां ऐसे नवीन दर्शन तथा कार्यक्रम पर विचार करने की आवश्यकता है जो इन देशों की परिस्थितियों के संदर्भ में उपयुक्त बैठे। इसके निमित्त उनके अनुसार समाजवाद तथा लोकतन्त्र ही मुक्ति दे सकता है। उनकी दृष्टि में लोकतंत्र और समाजवाद एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक दूसरे के बिना दोनों अधूरे व बेमतलब हैं।

राजनीतिक विचार

डा० लोहिया के राजनीतिक विचार उनके समाजवादी लक्ष्य की प्राप्ति के साधनों के रूप में हैं। उनकी दृष्टि में राजनीतिक या राज्य व्यवस्था स्वयं साध्य नहीं है। समाजवाद की जो धारणा डा० साहब के मस्तिष्क में थी, वैसी व्यवस्था की स्थापना के निमित्त राज्य व्यवस्था के सम्बन्ध में कतिपय राजनीतिक साधनों का सुझाव देते हैं। वे न तो राज्य पूजक हैं, न अराजकतावादी और न ही वे मार्क्सवादी राज्यविहीन समाज की स्थापना का स्वप्न देखते हैं। प्रत्युत उनकी धारणा का राज्य गांधीवादी जनतांत्रिक व्यवस्था है, जिसमें शोषण तथा अन्याय को किसी भी रूप में सहन नहीं किया जा सकेगा और व्यक्ति को वास्तविक जनतन्त्री स्वतन्त्रतायें प्राप्त रहेंगी और अन्याय के विरुद्ध व्यक्ति को सत्याग्रह तथा सविनय अवज्ञा के साधन अपनाने की छूट रहेगी।

राज्य संगठन के सम्बन्ध में डा० लोहिया एक चतुस्तरीय व्यवस्था (चौखम्भा) का देते हैं जिसमें निम्नतम स्तर पर ग्राम, उसके ऊपर जनपद, उसके ऊपर \ • तथा सबके ऊपर केन्द्रीय सरकार शासन की इकाइयां होंगी।

यह एक प्रकार की ऐसी संघीय व्यवस्था होगी जिसका सिद्धान्त केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण के मध्य समन्वय स्थापित करना होगा। निम्नस्तरीय संस्थाओं में केन्द्रीय नौकरशाही द्वारा प्रशासन का कार्य नहीं चलाया जायेगा। लोहिया जी जनपदीय शासन में जिलाधिकारी के पद को समाप्त कर देने का सुझाव देते थे क्योंकि वे इसे राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीकरण की बदनाम संस्था मानते थे। जनपदीय एवं ग्राम्य स्तर पर वे पंचायती ढंग की संस्थाओं की स्थापना द्वारा लोककल्याणकारी कृत्यों के सम्पादन किये जाने की धारणा व्यक्त करते थे।

राष्ट्रीयता एवं अंतर्राष्ट्रीयता पर विचार

डा० लोहिया जी ने न केवल परंपरा से चली आ रही राष्ट्रीय मान्यताओं को मानने से मना कर दिया वरन् अन्तर्राष्ट्रीय रूढ़ियों को भी उन्होंने कभी नहीं स्वीकारा। इस प्रकार एक राजनीतिक नेता और विचारक के रूप में उन्होंने न केवल भारतीय इतिहास के पुनः मूल्यांकन का प्रयास किया वरन् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक शक्तियों की घिसी-पिटी व्याख्या से बिलकुल अलग होकर उन्होंने अपनी नयी मौलिक व्याख्या भी प्रस्तुत की। वह देशकाल की सीमा की बन्दी के घेरे में नहीं रहे। विश्व की रचना और विकास के विषय में वे अनोखी व अद्वितीय दृष्टि रखते थे। एक क्रान्तिकारी राष्ट्रीय और अतर्राष्ट्रीय व्यवस्था के निर्माण की आकांक्षा उनकी शाश्वत आकांक्षा थी, जो मृत्यु के साथ भी शान्त नहीं हुई। जिस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर भारत के राजनीतिक संघर्ष की उनकी एक व्याख्या थी, उसी प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् विश्व के राजनीतिक संघर्ष की भी उनकी एक व्याख्या थी। नितांत मौलिक तथ्यों पर आधारित और विवादास्पद डा० लोहिया जी के विचार में द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक सत्ता-संघर्ष की भावभूमि का निर्माण विभाजित देशों में हुआ है। इसी के परिणामस्वरूप पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी अस्तित्व में आये और इजरायल पश्चिमी एशिया के राजनीतिक मानचित्र पर आया। विघटन पर आधारित इस सत्ता राजनीति को सृजनात्मक रूप देने के दो ही मार्ग हैं—या तो युद्ध के द्वारा विभाजित देशों को एक किया जाये या फिर शान्तिपूर्ण साधनों से जो टूटे हैं उन्हें जोड़ा जाये। डा० साहब की नीति स्पष्ट रूप से टूटे देशों को जोड़ने की नीति थी। लेकिन उनका मार्ग शान्ति का था जो महासंघों की उनकी कल्पना में प्रकट होती है।

अतः लोहिया जी सदैव ही विश्व नागरिकता का सपना देखते थे। वे मानव मात्र को [illegible]
[illegible] नागरिक मानते थे। उनकी प्रबल

इच्छा थी कि एक देश से दूसरे देश में आने जाने के लिए किसी प्रकार की भी कानूनी बाधा न हो और पृथ्वी के किसी अंश को अपना मानकर कोई भी आ जा सकने के लिए पूर्णरूप से स्वतंत्र हो। इसीलिए उनकी धारणा थी कि विश्व समद व्यस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित किये गये प्रतिनिधियो की सस्था होनी चाहिए। लोहिया जी यह मानते थे कि आज के राष्ट्र आत्म-निर्भर नही रह सकते, प्रत्युत अन्योन्याश्रित है अतएव विश्व सरकार आवश्यक है जो समस्त मानवता के जीवन स्तर को उच्च बनाने का कार्य करेगी। डा० साहब का वैदेशिक आधार विश्व के दो तिहाई रंगीन देशो की स्वतन्त्रता और समृद्धि के लिए एक व्यापक सत्ता द्वारा कार्यवाई और मनुष्य मात्र की एकता और सभ्यता के आधार पर विश्व पचायत, विश्व नागरिकता और विश्व सरकार आदि थे।

अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रति इतना रचनात्मक झुकाव होते हुए लोहिया जी राष्ट्रीय भावना के विलग नही थे। वे भारत को एक सुदृढ तथा सशक्त राष्ट्र के रूप मे देखना चाहते थे। उनकी दृष्टि में प्रत्येक राज्य को बाह्य आक्रमण के विरुद्ध प्रतिरक्षा के लिए सन्नद्ध रहना आवश्यक है। सन् 1962 के भारत में चीनी आक्रमण को देखते हुए वह भारत की सैन्य शक्ति को पर्याप्त सुदृढ बनाने की आवश्यकता पर बल देते रहे। वे इसे अहिंसा का विरोधी नही मानते थे। भारत को एक सशक्त राष्ट्र बनाने के इच्छुक थे। इसके लिए वे भावात्मक एकता का विकास करने के निमित्त हिन्दी का तुरन्त राष्ट्रभाषा का रूप प्रदान करने की आवश्यकता पर जोर देते रहे। साथ ही वे अन्य भारतीय भाषाओं के विकास को भी पूर्ण महत्व देते थे। वे अंग्रेजी भाषा को राजकीय काम-काज की भाषा के रूप मे तुरन्त हटा देना चाहते थे। राष्ट्र भाषा के रूप मे वे हिन्दी को सरल भाषा बनाना चाहते थे ताकि वह सारे देश मे सम्पर्क भाषा का रूप धारण कर सके।

कार्यक्रम और सिद्धान्त पर विचार

लम्बे पैमाने पर कार्यक्रम को सिद्धान्त कहा जाता है, छोटे पैमाने पर सिद्धान्त को कार्यक्रम। लोहिया जी के विचार से देश मे सिद्धान्त और कार्यक्रम का यह क्रम टूट गया है। यही कारण है कि अभी तक विरोधी दल लडते रहे जिसका लाभ सत्तारूढ़ दल को मिलता रहा है। जो सरकार आज शोषण का मुख्य कारण है, जो जनता की दरिद्रता और दु:ख बढ़ाने का कार्य करती है, उसे हटाने के कार्यक्रम का अभाव रहा है। लम्बी लड़ाई के बाद कार्यक्रम की बात लोगों के मन में जमने भी लगी है। लेकिन इन्होंने इस बात को भुला दिया है कि इन कार्यक्रमों में जनता

का विश्वास नहीं होना चाहिए। जनता का विश्वास तभी प्राप्त किया जा सकता है जब कार्यक्रम और सिद्धान्त की दूरी मिटे। संघर्ष के दौरान एक ऐसी स्थिति पैदा होनी चाहिए जिसमें सिद्धान्त और कार्यक्रम को लम्बे अर्से से चला आ रहा यह दुखद विलगाव दूर हो सके। कार्यक्रम और सिद्धान्त में यह विलगाव जब तक बना रहेगा देश की राजनीति जड़ होगी और जनता के मुख्य शत्रु को अकेला करना तथा अन्य शत्रुओं से बाद में निपटने की बात लोगों के पल्ले नहीं पड़ेगी। अतः वे कार्य-क्रम सिद्धान्त को वास्तविक रूप प्रदान करने हेतु अन्याय के विरुद्ध एक साथ जेहाद के पथ पर थे। इसीलिए उन्होंने एक साथ सात क्रान्तियों की बात कही है:—

(1) नर-नारी समानता के लिए।

(2) चमड़ी के रंग पर रची राजकीय, आर्थिक और बौद्धिक असमानता के विरुद्ध।

(3) संस्कारगत, जन्मजात जातिप्रथा के विरुद्ध और पिछड़ों को विशेष अवसर के लिए।

(4) विदेशी दासता के विरुद्ध और स्वतन्त्रता तथा विश्व लोकराज के लिए।

(5) निजी पूंजी की विषमताओं के विरुद्ध और आर्थिक समानता के लिए तथा योजना द्वारा पैदावार बढ़ाने के लिए।

(6) निजी जीवन में अन्यायी हस्तक्षेप के विरुद्ध और जनतन्त्री पद्धति के लिये, और

(7) शस्त्र-अस्त्र के विरुद्ध सत्याग्रह के लिये।

अवसरवादिता और क्रान्ति

अवसरवादिता की जड़ सत्तारूढ़ दल है। उसी प्रकार जिस प्रकार कि साम्प्रदायिकता की जड़ भी वह है। सबसे बड़ी अवसरवादिता इस सरकार को बनाये रखने में होगी। सत्तारूढ़ दल देश में नानाभर साम्प्रदायिकता और अवसरवादिता अन्य दलों की तुलना में अधिक भयावह है, क्योंकि वह सरकारी स्तर पर है। जहां तक क्रान्ति की बात है, हमारे देश में क्रान्ति की धारणा क्रान्तिकारियों की सुनी सुनाई आशा पर टिकी हुई है। सत्ता पर लम्बे समय से एक ही दल का एकाधिकार न आने के साहस को समाप्त कर दिया है। साथ गवर्नमेंट से इतना घबराते हैं कि क्रान्ति से भी घबराने लगते हैं। आखिर अर्थों के स्पष्ट [illegible]

की खामी क्या थी ? उन्होंने क्रान्तिकारिता छोड़ दी और देश, अपने और संसार की सुरक्षा के लिए सुरक्षात्मक साधन अपनाया। इधर कुछ परिवर्तन हुए है जिनसे कुछ आशा बंधी है। पहले हमारी सोच मे एक गलती थी। हमने सभी दलो को एक तराजू पर रखकर तोला। जो घनघोर भूल हमने की, वह यह थी कि इस बात का हमें ध्यान नही रहा कि इन दलो के में एक दल सत्तारूढ़ है। सत्ताधारी दल की गलती और विरोधी दलों की गलती में जमीन आसमान का अन्तर था। डा० लोहिया का कथन था कि अब इस सरकार की गल्तियां का घड़ा भर गया है। हम कृष्ण नही है लेकिन सौवी गाली है जिस पर कि हमारा चक्र उठा है।

भारतीय संस्कृति के उन्नायक

लोहिया जी को भारतीय संस्कृति से न केवल अगाध प्रेम था वरन् देश की आत्मा को उन जैसा हृदयगम करने का दूसरा नमूना भी नही मिलेगा। समाजवाद की यूरोपीय सीमाओ और अध्यात्मिकता की राष्ट्रीय सीमाओं को तोडकर उन्होंने एक विश्व दृष्टि विकसित की। उनका विश्वास था कि पश्चिमी विज्ञान और भारतीय अध्यात्म का वास्तविक व सच्चा मेल तभी हो सकता है जब दोनो को इस प्रकार सशोधित किया जाय कि वे एक दूसरे के पूरक बनने मे समर्थ हो सकें। भारत-माता से लोहिया जी की माग थी कि हे भारत माता ! हमें विश्व का मस्तिष्क दो, कृष्ण का हृदय दो तथा राम का कर्म तथा वचन दो। हमे असीम मस्तिष्क और और उन्मुक्त हृदय के साथ जीवन को मर्यादा से रचो। यह एक विश्व व्यक्तित्व की माग है। इसी भावना से प्रेरित होकर डा० साहब सत्यम् शिवम् सुन्दरम् के प्राचीन आदर्श और आधुनिक विश्व के समाजवाद, स्वातन्त्र्य और अहिसा के तीन सूत्रीय आदर्श को इस रूप मे रखना चाहते थे कि वे एक दूसरे का स्थान ग्रहण कर सकें। यही मानव जीवन के सुन्दर सत्य की कल्पना थी। इस तथ्य की प्राप्ति हेतु मर्यादा-अमर्यादा का सीमा-असीमा का बहुत ध्यान रखने की आवश्यकता है। यह सशोधन का प्रयास जीवन पर्यन्त डाक्टर साहब की साधना रही। घुमक्कडी के द्वारा देश की जनता के साथ साक्षात्कार और उनके विचारो में भारतीयता और सार्विकता के मेल का, राजसीयता और आध्यात्मिका के सयोग का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा था।

निष्कर्ष

डाक्टर राम मनोहर लोहिया को भारत की जनता के सुप्रसिद्ध स्वतन्त्रता सेनानियो, एक सच्चे गाँधीवादी चिंतक तथा कार्यकर्त्ता और एक व्यावहारिक

समाजवादी नेता के रूप में मानती है। निःसन्देह एक विशेषता रही है। उनके अनेक विचार स्वप्नलोकी भी लगते हैं। परन्तु जिस व्यक्ति के हृदय में किसी प्रकार की राजनीतिक महत्वाकांक्षा न हो और जो निरन्तर परम्परा, यथास्थितिवाद और शोषण के द्वार पर दस्तक देने वाला इस युग में सबसे निर्भीक और विवादास्पद व्यक्तित्व के रूप में उभरे। वे एक अनूठे प्रकार की समाजवादी व्यवस्था का स्वप्न देखते थे जो न कोरा स्वप्नलोकी था, न मार्क्सवादी, न कोरा गांधीवादी और साम्यवादी तो कभी भी नहीं था। यही उनके जीवन में झलकती है। आजीवन सादगी का जीवन व्यतीत करना, निश्चिन्तता और मस्ती से रहना, अन्याय के विरुद्ध संघर्ष में किसी भी जोखिम को उठाने के लिए तत्पर रहना, गलत नीतियों का विरोध करने में क्रोध तथा आक्रोश आदि उनके स्वाभाविक लक्षण थे। परन्तु इनमें सब उनकी कोई व्यक्तिगत लाभ की आकांक्षा नहीं थी। उनके विचारों में स्वतन्त्रता और मस्ती की एक सलिल धारा है। इस धारा में ही बदलाव की राजनीति होने में विश्वास करते थे।

जयप्रकाश नारायण (1902)

आधुनिक भारत के प्रमुख समाजवादी विचारक, सर्वोदय कार्यकर्ता एक उत्कृष्ट राजनेता तथा भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के एक कर्मठ सेनानी, आधुनिक भारत के दधीचि, श्री जय प्रकाश का जन्म गंगातट पर बिहार और उत्तर प्रदेश की सीमा पर स्थित, ग्राम सिताबदियारा में एक मध्यवित्त परिवार में 11 अक्टूबर सन् 1902 विजय दशमी के दिन हुआ था। बचपन का नाम इनका बउल जी था। एक मेधावी तथा प्रखर बुद्धि के छात्र के रूप में उन्होंने अध्ययन प्रारम्भ किया और केवल 18 वर्ष की आयु में ही महात्मा जी के असहयोग आन्दोलन में कूद गये जिसके कारण उनकी उच्च शिक्षा में व्यवधान उत्पन्न हो गया परन्तु उन्होंने ब्रिटिश शासन द्वारा सचालित शिक्षा संस्थाओं में अध्ययन करना उचित न समझकर 16 मई, सन् 1922 में अमेरिका को उच्च शिक्षा के लिए प्रस्थान किया और सात वर्ष तक वहाँ अनेक कारखानों, होटलों, बागों, खेतों आदि में काम करके अपना शिक्षा का व्यय अर्जित किया और स्वतन्त्र चेतना जयप्रकाश क्रान्ति शोधक जयप्रकाश परिपक्व हो गए। वहाँ एक विश्वविद्यालय से समाजशास्त्र में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की। वहीं के अध्ययन काल में वे मार्क्सवादी साहित्य एवं विचारों के सम्पर्क में आए और उनसे बहुत प्रभावित हुए। वह मार्क्सवादी दल के सदस्य [illegible] और निर्वासित होकर वे साम्यवादी दल में जाने लगे। यहीं [illegible]

वेन्द्रनाथ राय की रचनायें भी पढ़ी। उनकी दो रचनाएँ—'आफटर माथ आफ नान कोआपरेशन' और 'इण्डिया इन दी विशन' अधिक पसन्द आयी। बाद मे वह डा० राय द्वारा सम्पादित पत्र 'न्यू मासेज' के नियमित पाठक बन गये। सन् 1929 में वे एक मार्क्सवादी बनकर भारत वापस आये। यहाँ पर आते ही उनका महात्मा जी तथा पडित जवाहरलाल नेहरू के साथ सम्पर्क हुआ। तब से गाँधी जी के प्रति उनके हृदय मे अगाध निष्ठा रही है। उन दिनो पडित जी भी सोवियत सघ की यात्रा करके लौटे थे और मार्क्सवादी विचारो से प्रभावित थे। वे उस समय अखिल भारतीय कांग्रेस के अध्यक्ष थे। अतः जयप्रकाश जी को उन्होने भारतीय कांग्रेस दल के मजदूर खोज विभाग का प्रभारी नियुक्त किया। उनके कार्य मे पडित जी बहुत प्रसन्न हुए। पडित जी से घनिष्ठता बढती गयी, भाई चारा हो गया। पडित जी जे०पी० बाबू को आनन्द भवन ले गये और पंडित जी जे०पी० को अपना दाहिना हाथ मानने लगे। कांग्रेस के स्थायी मंत्री राजाराव के स्थान रिक्त होने पर पडित जी ने जे०पी० बाबू को उस स्थान पर बैठा दिया। 6 माह के अंतर्गत ही इस पद पर पहुँचना असाधारण योग्यता का प्रमाण था। तत्पश्चात् गाँधी जी के सविनय अवज्ञा आन्दोलन मे महामंत्री के रूप मे गुप्तरूप से वह आन्दोलन का संचालन करते रहे। बाद में गिरफ्तार हुए। महाराष्ट्र के नासिक जेल मे डाल दिये गये।

यद्यपि जयप्रकाश जी मार्क्सवादी थे तथापि भारतीय साम्यवादी दल की अराष्ट्रीय नीतियो के कारण वे उस दल के प्रति निष्ठा नही रख सके। साम्यवादियो के विपरीत जयप्रकाश जी भारत की राष्ट्रीय स्वतंत्रता को प्राथमिकता देते थे और कांग्रेस दल की संविधानिकतावादी संघर्ष की नीति को भी वे समाजवादी लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त उचित नही समझने लगे। विद्रोही युवा मन में क्रान्तिकारी चेतना उफाने लेने लगी। अतः उनकी आकांक्षा थी कि भारत में कांग्रेस के अंतर्गत ही एक समाजवादी दल की स्थापना की जानी चाहिए जो कि स्वाधीनता आन्दोलन के साथ-साथ समाजवादी लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त कार्य करता रहे। इससे कांग्रेस में गतिशीलता आयेगी ही और इससे अंग्रेजी सरकार के साथ समझौते के मार्ग से बचा जा सकेगा। सन् 1934 मे आचार्य नरेन्द्र देव जी के सहचर से भारतीय कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना करने मे वे सफल सिद्ध हुए और स्वयं इस दल के महासचिव बने। इस क्षमता मे उन्होने कांग्रेस समाजवादी दल की नीतियो का एक व्यापक कार्यक्रम प्रस्तुत किया था जो उनके समाजवादी विचारों का द्योतक है। उनका विचार था कि भारतीय साम्यवादी दल तथा समाज-

वादी दल को मिलाकर इसके निमित्त प्रयास करना चाहिए। सन् 1936 में जब समाजवादी दल ने भारत की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की माग के समर्थन को साम्राज्यवाद के विरुद्ध समर्थन देने की नीति अपनायी तो काग्रेस समाजवादी दल में के सदस्यों के प्रवेश का मार्ग खोल दिया गया। परन्तु जयप्रकाश जी की यह योजना उचित सिद्ध नही हो पायी। शीघ्र ही समाजवादियो ने इसका अनुचित लाभ उठाने का प्रयास किया। उनकी गतिविधियाँ काग्रेस तथा काग्रेस समाजवाद दलो के मध्य आतरिक फूट उत्पन्न करने मे सचेष्ट होने लगी। इसके कारण उन्हें सयुक्त दल से पृथक कर दिया गया। जयप्रकाश जी ने मार्क्सवादी के प्रति अपनी निष्ठा तो बनाये रखी किन्तु अपने कार्यक्रम को लोकतान्त्रिक समाजवाद का नाम दिया। जयप्रकाश जी ने अवसर का लाभ उठाकर किसानो, मजदूरो और विद्यार्थियो के सगठन बनाने मे अपने को लीन कर लिया। यही स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय समाजवादी धारणा का एक लोकप्रिय सिद्धान्त बनता गया है। इसी बीच सितम्बर सन् 1939 मे द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया। कांग्रेस को युद्ध मे अग्रेजो को किसी प्रकार की सहायता देना तभी स्वीकार्य था, जब भारत को स्वतन्त्र घोषित किया जाता। किन्तु इस पर ब्रिटेन सहमत नही था। फलस्वरूप सभी प्रान्तो के काग्रेसी मन्त्रिमण्डलो ने त्यागपत्र दे दिया, किन्तु काग्रेसी नेता अग्रेजी शासन के विरुद्ध तुरन्त कोई सघर्ष आरम्भ करना नही चाहते थे, वरन् इसके लिये प्रयत्नशील थे कि दोनो पक्षो मे कोई सम्मानपूर्वक समझौता हो जाये। जयप्रकाश जी इस नीति के विरुद्ध थे। पूरे देश मे अपने समाजवादी साथियो के साथ घूम-घूम कर वे इसी बात का प्रचार कर रहे थे कि अग्रेजी शासन के विरुद्ध शीघ्र सघर्ष कर दिया जाये।

सन् 1940 मे ब्रिटिश सरकार की युद्धनीति के विरुद्ध व्यक्तिगत सत्याग्रह मे जेल जाने वाले नेताओ मे जयप्रकाश जी एक प्रमुख नेता थे। 9 मास के कारावास के पश्चात् ज्योंही वे जेल से मुक्त हुए उन्हें पुन बन्दी बना लिया गया और बिना न्यायिक कार्यवाई के जेल मे बद रखा गया। सन् 1942 की क्रान्ति के समय वे जेल मे ही थे। दीपावली की शुभ रात्रि के समय जयप्रकाश जी अपने चार अन्य साथियो के साथ हजारी बाग जेल की दीवाल फादकर बाहर आ गये और भूमिगत आन्दोलन का सूत्रपात किया। फिर डा० राम मनोहर लोहिया, अरुना आसफअली, अच्युत पटवर्धन आदि के सहयोग से सभी क्रान्तिकारियो मे एक नयी जान डाली। इसी समय अपने निबन्धो और पत्रो के द्वारा क्रान्ति की मशाल अपने सहकर्मियो

आस्तिकता का अभाव जान पड़ा, उचित नही लगी। वे समाजवादी आदर्शों के प्रति आस्थावन बने रहे, परन्तु उन्होने अनुभव किया कि समाजवादी लक्ष्यो की प्राप्ति गाँधीवादी आदर्शों मे ही हो सकती है, जो भौतिकवादी नैतिकता मे रहित है। जयप्रकाश जी की मार्क्सवाद मे विरक्ति का मुख्य कारण सोवियत सघ से प्रचलित साम्यवादी व्यवस्था थी जिसके अतर्गत भौतिकतावादी लक्ष्यो की प्राप्ति के निमित्त अन्य सामाजिक, व्यक्तिगत एव मानवीय मूल्यो की उपेक्षा की जा रही थी। राजनीतिक दृष्टि से यहाँ एकदलीय अधिनायकवादी व्यवस्था ने जनतत्री मूल्यो को कुचल दिया था। जयप्रकाश जी ससदीय लोकतत्री की कमियो से भी चिंतित होने लगे थे क्योंकि उनके अन्तर्गत भी केन्द्रीयकरण की प्रवृत्तियां बढ रही थी। अतएव वे विकेन्द्रीकृत निर्दली लोकतत्र की स्थापना के स्वप्न देखने लगे थे जो गाँधीवादी आदर्शों के अतर्गत पूर्ण हो सकें। उन्होने सोचा जिस सामाजिक परिवर्तन का सपना उन्होंने देखा था वह सम्भावत आचार्य विनोबा भावे के सर्वोदय आन्दोलन तथा कार्यक्रम द्वारा ही पूरा हो। उन्होने अपने समाजवादी लक्ष्यो की प्राप्ति के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष निकाला कि साम्यवाद की परिणति राज्य पूजीवाद तथा अधिनायकवाद मे हुई है। समाजवाद मात्र ससदीय तथा कानूनी मत हो गया है। इस प्रकार हिंसा तथा ससदीय कार्यवाही दोनो असफल सिद्ध हुई है। गाँधीवाद एक तीसरा विकल्प प्रस्तुत करता है जिसका उद्देश्य अहिंसात्मक जन कार्यवाई द्वारा क्रान्ति लाना है। ऐसी क्रान्ति भूदान आन्दोलन के अतर्गत थी। जयप्रकाश जी ने निश्चय कर लिया कि वे दलगत तथा शक्ति की राजनीति से पूर्णरूपेण से सन्यास ले रहे हैं। सर्वोदय आन्दोलन मे जयप्रकाश जी के प्रवेश से एक नयी जागृति उत्पन्न हुई। भूदान के साथ-साथ सर्वोदय के कार्यक्रम मे जीवन दान, सम्पत्ति दान, ग्रामदान आदि के कार्यक्रम जोड़े जाने लगे। राजनीति के स्थान पर लोकनीति का कार्यक्रम रखकर दलगत राजनीति, निर्वाचन, सघर्ष, पद प्राप्ति की कामना आदि से उन्होने अपने को विरक्त कर लिया।

प्रजा समाजवादी दल से त्यागपत्र देने और सर्वोदय आन्दोलन मे प्रविष्ट होने के पश्चात् वे भारत की जनता की समस्याओ के अध्ययन मे लग गये। गाँधीवादी साधनो एव आदर्शों पर उनकी पूर्ण आस्था हो गयी। भारतीय राज्य व्यवस्था के पुनर्निर्माण के निमित्त पाश्चात्य ढग की लोकतत्री प्रणालियां असगत प्रतीत हुई। अत उन्होने दल विहीन लोकतत्र की स्थापना का विचार व्यक्त किया। इसी अवधि मे भारत सरकार ने बलवतराय मेहता समिति की रचना करके देश मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम तथा पचायती राज्य के सुधार के निमित्त सुझाव मागे थे। मेहता

को दिखाते रहे। सन् 1943 में उन्हें पुनः बन्दी बना लेने में ब्रिटिश सरकार सफल हो गयी और सन् 1946 तक वे कठोर कारावास में रहे। समाजवादी विचारों तथा गांधीवादी नीतियों के प्रति निष्ठा तथा त्याग के कारण वे देश के चोटी के नेताओं की भांति लोकप्रिय हो गये थे। इस अवधि में देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के निमित्त वे गांधी जी के विचारों के विपरीत शस्त्र के बल के प्रयोग पर भी जोर देने लगे थे, परन्तु अपने समाजवादी कार्यक्रम में वे अहिंसा के समर्थक बने रहे, भले ही वे मार्क्सवाद से विलग नहीं हुए थे। उनका दावा था कि उनके समाजवादी विचार तथा कार्यक्रम मार्क्सवादी शिक्षाओं पर आधारित है और वर्तमान तथा भारत के संदर्भ में उनके विचार मार्क्सवाद की ही पुनर्व्याख्या के रूप है।

सन् 1948 में गांधी जी की मृत्यु के पश्चात् स्वतन्त्र भारत में जयप्रकाश जी के उपक्रम पर ही समाजवादियों ने कांग्रेस से पृथक अपना दल निर्मित करने का निर्णय लिया। देश में समाजवादी लक्ष्य की प्राप्ति के निमित्त उन्होंने इसे आवश्यक समझा। सन् 1952 के प्रथम महानिर्वाचनों में समाजवादी दल को आशाजनक सफलता नहीं मिली। जयप्रकाश की दृष्टि में इनका कारण अनेक दलों की स्थापना हो जाना और विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों से कांग्रेस के प्रत्याशियों के विरुद्ध कई प्रत्याशियों का निर्वाचन में खड़ा हो जाना था। दूसरे कांग्रेस ने अपने असीमित और बृहत्तर प्रभाव का उपयोग किया। सरकारी साधनों को भी अपनाया। अतः जयप्रकाश जी ने समाजवाद पर आस्था रखने वाले अन्य दलों के समक्ष एक ही समाजवादी दल में विलीन हो जाने का प्रस्ताव रखा। फलतः सन् 1953 में कृषक मजदूर पार्टी तथा समाजवादी दल का विलीनीकरण होकर प्रजा समाजवादी दल की स्थापना हुई और आचार्य कृपलानी सदृश नेताओं का सहयोग जयप्रकाश जी को प्राप्त हुआ। उस अवधि में पंडित जवाहरलाल नेहरू भी लोकतान्त्रिक समाजवादी विचारों में विश्वास करने लगे थे। उन्होंने जयप्रकाश जी तथा अन्य समाजवादी नेताओं को अपने मन्त्रिमण्डल में लेने का प्रस्ताव रखा। परन्तु जयप्रकाश जी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। जयप्रकाश जी राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के एक चौदह सूत्रीय कार्यक्रम को तुरन्त प्राप्ति पर जोर देते रहे, परन्तु नेहरू जी तथा उनके साथियों को ऐसे कार्यक्रम की तुरन्त सफलता पर सन्देह था। फलतः नेहरू जी का उक्त विचार साकार नहीं हो सका।

सन् 1952 से जयप्रकाश जी के विचार मार्क्सवाद से हटने लग गये। अब उन्हें मार्क्सवादी दर्शन की विशुद्ध भौतिकवादी विचारधारा, जिसमें नैतिकता तथा

कान्तिकारिता का प्रभाव कम रहा, लेकिन नहीं गयी। वे समाजवादी आदर्शों के प्रति आकर्षक बने रहे, परन्तु उन्होंने अनुभव किया कि समाजवादी लक्ष्यों की प्राप्ति गांधीवादी आदर्शों से ही हो सकती है, जो भौतिकवादी नैतिकता से रहित है। जयप्रकाश जी की मार्क्सवाद से विरक्ति का मुख्य कारण सोवियत संघ मे संचालित साम्यवादी व्यवस्था था जिसमें अत्यन्त भौतिकतावादी लक्ष्यों की प्राप्ति के निमित्त अन्य नैतिक, धार्मिक एवं मानवीय मूल्यों की उपेक्षा की जा रही थी। राजनीतिक दृष्टि से वहां एकदलीय अधिनायकवादी व्यवस्था ने जनतंत्री मूल्यों का हनन किया था। जयप्रकाश जी संसदीय लोकतंत्री की कमियों से भी चिन्तित होने लगे थे क्योंकि उनके अन्तर्गत भी केन्द्रीकरण की प्रवृत्तियां बढ़ रही थी। अतएव वे विकेन्द्रीकृत निर्दलीय लोकतन्त्र की स्थापना के स्वप्न देखने लगे थे जो गांधीवादी आदर्शों के अनुरूप पूर्ण हो सके। उन्होंने सोचा जिस सामाजिक परिवर्तन का सपना उन्होंने देखा था वह सम्भवतः आचार्य विनोबा भावे के सर्वोदय आन्दोलन तथा कार्यक्रम द्वारा ही पूरा हो। उन्होंने अपने समाजवादी लक्ष्यों की प्राप्ति के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष निकाला कि साम्यवाद की परिणति राज्य पूंजीवाद तथा अधिनायकवाद में हुई है। समाजवाद मात्र संसदीय तथा कानूनी मत हो गया है। इस प्रकार हिंसा तथा संसदीय कार्यवाही दोनों असफल सिद्ध हुई है। गांधीवाद एक तीसरा विकल्प प्रस्तुत करता है जिसका उद्देश्य अहिंसात्मक जन कार्यवाई द्वारा क्रान्ति लाना है। ऐसी क्रान्ति भूदान आन्दोलन के अन्तर्गत थी। जयप्रकाश जी ने निश्चय कर लिया कि वे दलगत तथा शक्ति की राजनीति से पूर्णरूपेण से सन्यास ले रहे हैं। सर्वोदय आन्दोलन मे जयप्रकाश जी के प्रवेश से एक नयी जागृति उत्पन्न हुई। भूदान के साथ-साथ सर्वोदय के कार्यक्रम मे जीवन दान, सम्पत्ति दान, ग्रामदान आदि के कार्यक्रम जोड़े जाने लगे। राजनीति के स्थान पर लोकनीति का कार्यक्रम रखकर दलगत राजनीति, निर्वाचन, संघर्ष, पद प्राप्ति की कामना आदि से उन्होंने अपने को विरक्त कर लिया।

प्रजा समाजवादी दल से त्यागपत्र देने और सर्वोदय आन्दोलन मे प्रविष्ट होने के पश्चात् वे भारत की जनता की समस्याओं के अध्ययन में लग गये। गांधीवादी साधनों एवं आदर्शों पर उनकी पूर्ण आस्था हो गयी। भारतीय राज्य व्यवस्था के पुनर्निर्माण के निमित्त पाश्चात्य ढंग की लोकतन्त्री प्रणालियां असंगत प्रतीत हुईं। अतः उन्होंने दल विहीन लोकतन्त्र की स्थापना का विचार व्यक्त किया। इसी अवधि में भारत सरकार ने बलवन्तराय मेहता समिति की रचना करके देश मे सामुदायिक विकास कार्यक्रम तथा पंचायती राज्य के सुधार के निमित्त सुझाव मांगे थे। मेहता

समिति ने लोकतंत्री विकेन्द्रीकरण की योजना का जो सुझाव दिया था, उसके आधार पर जयप्रकाश जी ने निर्दली लोकतन्त्र की स्थापना के निमित्त एक व्यापक सांविधानिक योजना भी सुझायी। तब से जयप्रकाश जी निरन्तर आचार्य विनोबा भावे के सर्वोदय कार्यक्रम में लगे रहे। उनके समाजवादी विचार यथावत् बने हुए हैं जो पाश्चात्य से प्रेरित हुए थे, किन्तु जिन्हें उन्होंने भारतीय परिस्थितियों के संदर्भ में विकसित किया है। इस प्रकार जयप्रकाश जी एक कट्टर मार्क्सवादी से समाजवादी, फिर गांधीवादी और अततः एक सर्वोदयी विचारक कार्यकर्ता के रूप में भारतीय राजनीतिक पटल के वर्तमान युग के एक सुप्रसिद्ध लोकप्रिय नेता के रूप में है।

सर्वोदय आन्दोलन की प्रगति जयप्रकाश जी के नेतृत्व में बढ़ती रही। भारतीय तरुण शक्ति सेना की प्रतिष्ठा हुई। विश्व शक्ति की निष्ठा को गरिमा व प्रगति देने के लिए सितम्बर सन् 1961 में लदन में अतर्राष्ट्रीय शान्तिवादियों के निरस्त्रीकरण परिषद् में जयप्रकाश जी सम्मिलित हुए। सन् 1962 के भारत चीनी आक्रमण का उत्तर जयप्रकाश जी सर्वोदय में ही खोज रहे थे। इसी आधार पर कश्मीर समस्या, नागालैण्ड समस्या का भी निराकरण करना चाहा। भारत पाकिस्तान मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अयूब शासन काल में पाकिस्तान भी गये। सन् 1965 में फिलिपाइन्स सरकार ने उनके स्वतंत्र विचारों और कार्यों के लिए उनको मैगसेसे पुरस्कार से पुरस्कृत किया। यह एक बहुत बड़ा सम्मान है। फिलिपाइन्स में जयप्रकाश जी ने एक 'नये समाज की ओर' पर भाषण भी दिया। सन् 1966 और 1967 के मध्य बिहार में भयानक दुर्भिक्ष पड़ा। जयप्रकाश जी ने बिहार सहायता समिति का गठन कर प्रदेश का तूफानी दौरा किया और पूरे बिहार में दुर्भिक्ष के विरुद्ध लडने के उद्देश्य से और जनता में आत्मबल जगाने के उद्देश्य से दौरा किया था। जयप्रकाश जी के प्रयासों द्वारा ही बिहार की सहायतार्थ देश-विदेश से खूब सहायता प्राप्त हुई। सन् 1970 में बिहार का मुजफ्फरपुर जिला नक्सलपंथियों का गढ बन गया था। हत्याओं, डकैतियों का बोलबाला था। वे मुजफ्फरपुर जाकर जम गये। उन्होंने ग्रामीणों में आत्मबल पैदा करके नक्सलपंथी उपद्रवों का मुकाबला करना चाहा। उन्होंने जनता को समझाया कि अशांति और हिंसा के वातावरण से बचाना है तो गांधी और विनोबा के बनाये हुए मार्ग पर चलकर समाज का नया निर्माण करना होगा। इस प्रकार सर्वोदय आन्दोलन में लगे रहते हुए देश की नियति में भी लगे रहे। देश-विदेश की किसी भी गम्भीर समस्या से वे अपने को अछूता नहीं रख सके।

जयप्रकाश जी का लोकतन्त्र के सम्बन्ध में एक व्यापक दृष्टिकोण रहा है। वे परम्परागत पाश्चात्य ढंग के उदारवादी लोकतंत्र के समर्थक नहीं हैं। प्रत्युत भारत की परिस्थितियों के सन्दर्भ में वे लोकतन्त्र को अपने समाजवादी तथा सर्वोदयी विचारों के अनुकूल एक विशिष्ट आदर्श के रूप में लेते हैं। सन् 1972 में चम्बल घाटी के डाकुओं का आत्मसमर्पण करने के लिए प्रेरित करने में जयप्रकाश जी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न की थी और उन्होंने राष्ट्र की आत्मा के चरणों पर अपनी बन्दूक रखकर सामान्य नागरिक का जीवन जीने का व्रत लिया। अन्यथा दस्युओं के उक्त गढ़ की समस्या से निपटने में भारी रक्तपात हो सकता था। जयप्रकाश जी के प्रयासों ने दस्युओं का हृदय परिवर्तन करा लेने में भारी सफलता प्राप्त की थी। देश की सामान्य स्थिति बिगड़ती जा रही थी, भ्रष्टाचार, जन-कष्ट, आर्थिक संकट मँहगाई, बेकारी ने विकराल रूप धारण कर लिया था और जिनके कारण जन-साधारण दुःखी था। इन्दिरा गांधी इन समस्याओं का समाधान ढूंढने के बदले निरंकुशता की ओर अग्रसर हो रही थीं। सन् 1974 के आरम्भ में इन्हीं बुराइयों के विरुद्ध गुजरात तथा फिर बिहार में जो भारी आंदोलन उठ खड़े हुए जयप्रकाश जी ने फिर अपना मार्ग बदला और युवकों के आक्रोश को परिवर्तन का माध्यम बनाने का निश्चय किया। सन् 1975 के अन्त में देश के युवकों को सामाजिक क्रान्ति में योगदान के लिए उन्होंने आह्वान किया। इन अनेक अवसरों पर जयप्रकाश जी ने सरकार के विरुद्ध जिस प्रकार आन्दोलनकारियों का समर्थन किया है और विशेषरूप से बिहार के आन्दोलन में स्वयं उसका नेतृत्व करके सरकार के पदत्याग तथा विधान सभा को गुजरात की ही भांति भंग कर दिये जाने की मांग का पुरजोर समर्थन किया, उनके कारण जयप्रकाश जी के समर्थन तथा विरोध में बहुत कुछ कहा जाता रहा। ये घटनायें यह भी प्रदर्शित करती थीं कि सुप्रसिद्ध सर्वोदयी नेता सक्रिय राजनीति से पृथक नहीं रह गये। आलोचकों का एक वर्ग यह भी कहता कि जो जयप्रकाश जी निर्दलीय लोकतंत्र की बातें करते थे वही अब दलीय राजनीति में प्रविष्ट होने लगे। सन् 1974 के आरम्भ में दिल्ली में हुए एक विरोधी दलों के सम्मेलन में उन्होंने कांग्रेस के विरुद्ध सात विरोधी दलों के एक संयुक्त मोर्चे के संगठन बना लेने की नीति को भी समर्थन दिया था। अन्याय के विरुद्ध सत्याग्रह तथा आन्दोलन करना, दीन जनता के कष्टों के प्रति सहानुभूति रखना, प्रशासन के भ्रष्टाचारों का अन्त करना और भारत की परिस्थितियों के अंतर्गत स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व एवं न्याय की धारणाओं को सजीव बनाना, उनके विचारों तथा कार्यों का लक्ष्य रहा है। भले ही देश का कोई मार्ग कभी-कभी उनकी ऐसी गति-

विधियो को एक निराश राजनेता की प्रतिक्रिया कहता रहा है, तथापि गाधीवादी आदर्शों पर समाजवाद की स्थापना के निमित्त उनकी सेवाओ को देखते हुए भारत की विशाल जनता उन्हें एक उच्चतम कोटि के राजनेता के रूप मे मानती रही है। उनकी लोकप्रियता इस बात से भी प्रकट होती है कि बहुधा राष्ट्रपतीय निर्वाचनो के अवसर पर एक प्रत्याशी के रूप मे उनके नाम का उल्लेख भी किया जाता रहा है भले ही वे स्वय ऐसे पद का मोह नही करते हैं।

25 जून सन् 1975 को इन्दिरा सरकार ने गिरफ्तार करके राष्ट्रद्रोह का अपराध लगाया कि उन्होने पुलिस और सेना को भड़काया जयप्रकाश जैसे महान व्यक्ति पर यह आरोप भारतीय बलिदानी सपूतो की परम्परा का अपमान करना ही कहा जा सकता है। आज देश अधिनायकशाही से बच निकला तो इसका श्रेय सब से अधिक लोकनायक जयप्रकाशजी को ही है।

इस प्रकार जयप्रकाश जी भारत की राजनीति के अतर्गत एक कर्मठ राजनेता, जननेता, क्रान्तिकारी चिंतक तथा समाजसेवक के रूप मे कार्य करते आये है। भले ही उनके विचारो तथा राजनीतिक गतिविधियो के जनमत का एक वर्ग उनसे सहमत न हो, तथापि उनकी नि स्वार्थ जनसेवा तथा जन नेतृत्व की विशालता से कोई असहमत नही हो सकता। उनके अनेक सामाजिक तथा राजनीतिक विचार स्वप्नलोकी भले ही प्रतीत हो, तथापि उनके पीछे जो लक्ष्य हैं उन्हें देखते हुए कोई भी भारतीय इस तथ्य को उपेक्षित नही रख सकता कि जयप्रकाश जी जो चिंतन करने है या जो भी कार्य करते आये हैं, वे नि स्वार्थ भावना से जनकल्याण की दिशा मे निर्देशित है। वे सत्ताहीन, क्रान्तिकारी, विप्लवी महापुरुष हैं जो देश को सम्पूर्ण क्रान्ति का नारा देकर इस वृद्धावस्था मे पुनीत महायज्ञ मे जीवन की समिधा डालने को निकल पड़े हैं।

समाजवादी विचार

जयप्रकाश जी इस विचार से सहमत हैं कि वर्तमान समय मे समाजवाद के अनेक रूप बन गये हैं, परन्तु ये विविध रूप केवल साधनो के हैं। जहा तक समाजवाद के सैद्धान्तिक आधार का प्रश्न है समाजवाद केवल एक है और वह है मार्क्सवादी समाजवाद। व्यक्तिगत आचरण की कोई सहिता नही है, प्रत्युत यह सामाजिक पुनर्निर्माण की एक पद्धति है। इसका उद्देश्य देश के सम्पूर्ण आर्थिक एवं सामाजिक जीवन का पुनर्गठन करना है, जिसमे व्यक्ति व्यक्ति के मध्य असमानता को समाप्त कर दिया जाय। जब तक समाज मे वर्गगत, सांस्कृतिक, अवसर की तथा उत्पादन के भौतिक साधनों के वितरण की असमानता विद्यमान रहती है, तब तक सामाजिक

...न्याय बना रहता है। ऐसे समाज में थोड़े से व्यक्ति ऐश-आराम का जीवन व्यतीत करते हैं और समाज की सम्पत्ति के स्वामी बन जाते हैं। समाज का एक बड़ा वर्ग जीवन के उपयोग की वस्तुओं का अपने श्रम से उत्पादन करता है और सदैव गरीबी, भुखमरी, अज्ञानता, बीमारी आदि बुराइयों की यातना भोगता रहता है, समाजवाद का उद्देश्य इसी अन्यायपूर्ण असमानता को समाप्त करना तथा सब लोगों को व्यक्तित्व विकास के निमित्त अवसर की समानता प्रदान करना और उत्पादन के भौतिक साधनों की समानता के आधार पर वितरण करना है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के संचय की प्रथा ही समस्त बुराई की जड़ है। यदि व्यक्ति केवल उपयोग के आवश्यकतानुसार ही उत्पादन करें और प्रत्येक व्यक्ति उत्पादन के कार्य में श्रम और संचय की प्रवृत्ति न रखे तो उत्पादन के साधनों का थोड़े से लोगों के हाथ में केन्द्रित होना तथा दूसरों के श्रम का शोषण करके सम्पत्ति के अधिक संचय करने की प्रवृत्ति उनमें उत्पन्न ही नहीं होगी। अतएव समाजवाद की प्रमुख समस्या इस सामाजिक अन्याय को रोकने के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति के निषेधन की है। सम्पत्ति के अर्जन के साधन भौतिक अर्थात् प्रकृति की देन है। अतः उनमें से थोड़े से लोगों का अन्यायपूर्वक स्वामित्व स्थापित कर लेना सामाजिक अन्याय है। अतः समाजवाद की प्रमुख समस्या आर्थिक समानता माना है।

इसके दो उपाय हो सकते है—प्रथम यह कि समाज का पुनर्गठन इस प्रकार हो जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को केवल अपने लिये ही श्रम करने की स्वतत्रता हो अर्थात् उसे अपने श्रम द्वारा स्वयं भूखा रहकर दूसरों के लिए उत्पादन करने के लिए विवश न होना पड़े। वह उतनी ही कृषि भूमि का स्वामी हो जिसमें से कृषि कार्य द्वारा वह अपनी आवश्यकतानुसार उत्पादन कर सके, अथवा वह किसी उद्योग मे कार्य करता है तो वह अपने ही यत्नों से अपने कारखाने में काम करके उत्पादित माल का उपभोक्ता स्वयं हो। किसी भी व्यक्ति को उतने से अधिक उत्पादन के साधनों का स्वामित्व ग्रहण करने से मना किया जाय जिनका उपयोग वह स्वयं नहीं

कदमों के उत्पादन के साधनों का समान वितरण सम्भव नहीं होगा। दूसरा उपाय उत्पादन के साधनों के समान रूप से वितरण की अपेक्षा सामूहिक स्वामित्व का हो सकता है। समाजवादी दल यही है। यह व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर सामु-

दायिक स्वामित्व की योजना को मान्य करता है। ऐसी व्यवस्था में व्यक्ति अपने श्रम का उपयोग न व्यक्तिगत लाभ की आकांक्षा से करता है और न किसी अपने शोषक के लाभार्थ। प्रत्युत वह सम्पूर्ण समुदाय के लिए करता है जिसका वह स्वयं एक अंग है। उत्पादित वस्तुयें सबके उपयोग के लिए होती हैं। उत्पादन का उद्देश्य सामुदायिक उपयोग के साथ-साथ सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था, सांस्कृतिक एवं आर्थिक विकास के कार्यों के निमित्त भी सामूहिक संचय होता है। इस प्रकार एक समाजवाद व्यवस्था का उद्देश्य समाज का ऐसा पुनंगठन करना है जिससे उत्पादन के साधनों का स्वामित्व व्यक्तिगत न होकर सामुदायिक हो। उत्पादन तथा उपयोग भी सामूहिक होगा। प्रत्येक व्यक्ति श्रम कार्य सम्पूर्ण समुदाय के लिए करता हुआ उत्पादन से अपना भाग उपयोग के निमित्त प्राप्त करेगा। इसका उद्देश्य प्रारम्भ में काम के अनुसार लाभ और अन्त में आवश्यकता के अनुसार लाभ होगा।

एक समाजवादी विचारक, नेता तथा कार्यकर्ता के रूप में जयप्रकाश जी प्रारम्भ से ही ऐसी धारणाओं को अमान्य करते रहे कि भारत की परिस्थितियां समाजवादी समाज की स्थापना के निमित्त अनुपयुक्त हैं। कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना के तुरन्त बाद उनके नेतृत्व में दल ने अपना जो कार्यक्रम तैयार किया था उससे स्पष्ट होता है कि जयप्रकाश जी भारतीय परिस्थितियों के संदर्भ में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना किस प्रकार करना चाहते थे। उक्त कार्यक्रम की कुछ प्रमुख बातें अग्रलिखित थी जिनमें स्पष्ट होता है कि समाजवाद का एक ही रूप, एक ही सिद्धान्त है।

(1) उत्पादन कार्य में लगे विशाल जनसमूह के समस्त शक्ति का हस्तांतरण।

(2) देश के आर्थिक जीवन के विकास को राज्य के नियोजन एवं नियंत्रण के अधीन रखना।

(3) प्रमुख उद्योगों का समाजीकरण।

(4) वैदेशिक व्यापार में राज्य का एकाधिकार।

(5) आर्थिक जीवन के असमाजिककृत क्षेत्र में उत्पादन, वितरण तथा ऋण के निमित्त सहकारिता का संगठन।

(6) देशी नरेशों, जमींदारों तथा अन्य शोषक वर्गों का बिना क्षतिपूर्ति दिये उन्मूलन करना।

(7) कृषकों के मध्य कृषि भूमि का पुनर्वितरण ।

(8) राज्य द्वारा सहकारिता तथा सामूहिक कृषि को प्रोत्साहित करना।

(9) कृषकों तथा श्रमिकों के ऋणों की समाप्ति ।

(10) काम के अधिकार की मान्यता ।

(11) आर्थिक मान के उत्पादन तथा वितरण के निमित्त प्रत्येक व्यक्ति के अपनी इच्छानुसार कार्य करने और प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार लाभ प्राप्त होने के सिद्धान्त को मानना ।

(12) व्यावसायिक आधार पर व्यस्क मताधिकार ।

(13) धर्म, जाति, सम्प्रदाय आदि के आधार पर राज्य द्वारा किसी प्रकार के भेदभाव को न मानना ।

(14) लिंगगत भेदभाव की समाप्ति, और

(15) भारत के तथाकथित सार्वजनिक ऋण की अमान्यता ।

इस कार्यक्रम पर मार्क्सवादी चिंतन एवं उस समय रूस में चल रहे कार्यक्रम की छाप स्पष्टता दिखायी पड़ती है और जयप्रकाश जी सोवियत संघ की सफलता से प्रभावित थे परन्तु उन्होंने चेतावनी दी है कि बलप्रयोग करना, द्रुतगति से रूस की भांति भारत में ऐसी तकनीक अपनाना उचित नहीं होगा क्योंकि क्रान्ति-नायक लकीर का फकीर नहीं रहता, और जयप्रकाश जी पर भी यही बात लागू है। यहां यही कार्य कार्य शनै शनै तथा लोकतन्त्री उपायों से सम्पन्न किये जाने चाहिए। समाजवाद के सम्बन्ध में जयप्रकाशजी की उक्त सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक धारणायें यह दर्शाती हैं कि वे मार्क्स के विचारों से अत्यधिक प्रभावित होते हुए भी भारत की परिस्थितियों के सम्बन्ध में समाजवाद की व्याख्या करते हैं। पाश्चात्य देशों में मार्क्सवाद के ऊपर संशोधनों से भी वे पूर्णत: परिचित थे। वे कोरे सिद्धान्तवादी नहीं हैं। गांधी जी के शब्दों में वे एक साधारण कार्यकर्ता मात्र नहीं हैं। वे समाजवाद के एक अधिकृत वक्ता हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि पाश्चात्य समाजवाद के विषय में जो बातें वे नहीं जानते, उन्हें अन्य कोई दूसरा व्यक्ति भी नहीं जानता। वे एक सुन्दर संघर्षकारी हैं। नि:सन्देह समाजवाद के सम्बन्ध में उनके विचार मार्क्सवादी थे, परन्तु साधनों की दृष्टि से पूर्णतया गांधीवादी हैं। उनका मत था कि भारत में समाजवादी आन्दोलन मार्क्सवादी विचारधारा के प्रकाश में स्वयं अपनी ही समाजवादी तस्वीर का निर्माण करे जो भारत की परिस्थितियों

तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में निर्मित हो। वे रूसी ढंग के सर्वाधिकारवादी अधिनायकवाद को भारत के लिए अनुचित मानते हैं। गांधी जी की भांति वे भी भारत में ऐसे ग्रामीण गणतंत्रों की प्रणाली को सुदृढ़ करना चाहते हैं जिसमें प्रत्येक ग्राम आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से एक आत्मनिर्भर सामुदायिक इकाई बन सके। उनका पूर्ण विश्वास है कि बिना लोकतंत्र के समाजवाद की कल्पना नहीं की जा सकती। अतएव उनका समाजवाद लोकतान्त्रिक है न कि सोवियत संघ की भांति अधिनायकवादी।

लोकतांत्रिक समाजवाद

जयप्रकाश जी के शब्दों में समाजवाद न तो पूंजीवाद का विरोध है और न राज्यवाद का। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण तथा कृषि का समष्टिकरण समाजवादी अर्थव्यवस्था के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं, परन्तु ये स्वयं अपने में समाजवाद नहीं हैं। समाजवाद के अन्तर्गत मानव द्वारा मानव के शोषण, अन्याय, दमन तथा अनुत्तरदायित्व का अंत हो जाता है और सम्पत्ति, सेवाओं तथा अवसरों का वितरण समान आधार पर होता है। साम्यवादी व्यवस्थाओं के अंतर्गत लोकतंत्री विरोध के अभाव में सर्वाधिकारवादी राज्य व्यवस्था दलीय वर्गतंत्री अधिनायकवाद आदि के कारण समाजवाद के स्थान पर उसका दमन और क्रान्ति के स्थान पर प्रतिक्रिया विद्यमान रहती है। वास्तविक समाजवादी समाज की स्थापना के निमित्त नागरिकों को स्वतन्त्रता तथा समानता का उपयोग करने का पूर्ण अवसर मिलना चाहिए। समाज का आधार मानवीय तथा सामाजिक जीवन के कुछ मूल्यों की कुछ मान्यता होनी चाहिए। इस प्रकार समाजवाद एक सभ्यता तथा संस्कृति है। यदि समाजवाद का आधार कुछ कोरे सिद्धान्त हो और मानवीय मूल्यों की उपेक्षा करते हुए उन सिद्धान्तों की येन-केन प्रकारेण उपलब्ध कर भी ली जाये, तो वह समाजवाद नहीं होगा। अतएव समाजवाद को वास्तविक होने के लिए लोकतंत्री मूल्यों को अपनाना पड़ेगा। समाजवाद की स्थापना का एक उपाय सशस्त्र हिंसात्मक क्रान्ति का है। जो लोग इस पर विश्वास करते हैं, वे मार्क्स को उद्धृत करते हुए लोकतंत्री साधनों का उपहास करते हैं। परन्तु वे भूल जाते हैं कि स्वयं मार्क्स ने सन् 1872 के 'प्रथम अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन' में कहा था कि ब्रिटेन, अमेरिका तथा हालैंड सदृश देशों में श्रमिक लोग शान्तिपूर्ण साधनों से समाजवादी समाज की स्थापना कर सकते हैं। अतएव जयप्रकाश जी भारत की परिस्थितियों के संदर्भ में यहां भी लोकतान्त्रिक समाजवाद की उपादेयता को मान्य करते हैं।

लोकतान्त्रिक समाजवाद के सम्बन्ध में उनके उपर्युक्त विचार सन् 1950 में व्यक्त किये गये थे, जबकि चीन में समाजवादी सत्ता स्थापित हो चुकी थी, और स्वतन्त्र भारत का संविधान भी लागू हो चुका था। भारत में कुछ साम्यवादी लोग हिंसात्मक क्रान्ति की दुहाई दे रहे थे और कुछ समाजवादी गुट भी उग्रपंथी तकनीकों द्वारा समाजवाद की उपलब्धि की बातें करते थे। इन लोगों को जयप्रकाश जी का उत्तर था कि भारत में रूस या चीन की सी क्रान्तियों द्वारा सफलता प्राप्त करने की बातें करना असंगत बात थी। चीन में क्रान्तिकारी सफलता के पीछे कई ऐसी परिस्थितियाँ थीं जिनके अभाव में वहाँ ऐसी सफलता संभव नहीं हो सकती थी। उदाहरण के लिए चांग काई शेक की स्थिति का डावाँडोल हो जाना, सोवियत संघ के समक्ष जापान का मंचूरिया में आत्मसमर्पण और सोवियत संघ की माओ की साम्यवादी गतिविधियों को सहायता तथा समर्थन आदि। भारत में ऐसी कोई सम्भावना नहीं थी। प्रत्युत स्वतन्त्रता के पश्चात् एक लोकतांत्रिक संविधान निर्मित हो चुका था। भले ही उनके अंतर्गत जिन नागरिक स्वतन्त्रताओं की घोषणा की गई थी वे कई दृष्टि से मर्यादित थी, तथापि जयप्रकाश जी का विश्वास था कि फिर भी लोकतांत्रिक राजनीतिक कार्यकलापों के निमित्त पर्याप्त क्षेत्र विद्यमान था और ज्यों-ज्यों देश में लोकतांत्रिक शक्तियाँ सुदृढ़ होती जायेंगी, त्यों-त्यों इन प्रतिबन्धों का भी अन्त होता जायेगा। अतएव भारत में समाजवादी स्थापना के निमित्त लोकतान्त्रिक साधनों का प्रयोग जयप्रकाश जी की धारणा से मार्क्सवादी धारणा का निषेध नहीं है। बल प्रयोग तथा हिंसा के साधनों को काम में लाने का अर्थ समाजवाद के स्थान पर फासीवाद को आमंत्रण देना सिद्ध होगा।

सोवियत संघ और चीन की साम्यवादी सफलताओं का विश्लेषण करते हुए जयप्रकाश जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि इसका श्रेय साम्यवादियों की क्रान्ति को नहीं दिया जा सकता, प्रत्युत रूस की सफलता का कारण प्रथम विश्व युद्ध और चीन की सफलता का द्वितीय विश्वयुद्ध था। यदि ये युद्ध न छिड़ते तो इन दोनों देशों की क्रान्तियों को कुचल दिया जाता। साम्यवादी विरोधी शक्तियों का दमन करने में कोई कमी नहीं रखती जो कि उक्त घटनाओं के अवसर पर युद्धों में उलझी रहीं। भारतीय समाजवादी दल, जिसका नेतृत्व स्वयं जयप्रकाश जी कर रहे थे, अपने क्रान्तिकारी कार्यक्रम से विमुख नहीं था। जयप्रकाश जी ने लोकतान्त्रिक साधनों तथा वैधानिकतावाद के मध्य भेद किया है। उनके मत में समाजवादी दल संसदीय साधनों पर निर्भर नहीं रह सकता क्यों कि व्यवस्थापिका में उसकी शक्ति नाममात्र की थी। लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना के साधन निर्वाचन

इसके निमित्त वर्तमान समाज के संगठन में किंचित् परिवर्तन आवश्यक है। भारत के संदर्भ में जय प्रकाश जी का मत था कि प्रथम आवश्यकता राजनीतिक स्वतन्त्रा की थी। विदेशी सत्ता के रहते समाजवाद की कल्पना नहीं की जा सकती थी। दूसरी आवश्यकता समाज से कुछ विशिष्ट वर्गों का अन्त करने की थी। तीसरी आवश्यकता थी पूंजीवादी तत्वों के हाथ में आर्थिक तथा राजनीतिक सत्ता का विशेष स्थिति का न होना। भारत सदृश कृषि-प्रधान देश में, जहा ब्रिटिश शासन काल में जमीदारी प्रथा तथा अन्यायपूर्ण ढंग की भूमि व्यवस्था लागू थी, किसानों का बुरी तरह से शोषण होता रहा था। इसके अन्त किये बिना समाजवाद सम्भव नहीं था। अतः इसमें परिवर्तन के दो चरण सुझाये गये है—प्रथम सहकारी कृषि व्यवस्था, द्वितीय सामूहिक कृषि। कृषि भूमि पूर्णतया काश्तकारों के मध्य बांटी जानी चाहिए जो कि वास्तव में कृषि कार्य करते है। प्रत्येक किसान के पास कम से कम 5 तथा अधिक से अधिक 30 एकड़ भूमि होनी चाहिए। गाव की शेष भूमि समूचे गाव की सामूहिक सम्पत्ति रहनी चाहिए जिसका प्रबन्ध गाव की पंचायत राज्य द्वारा निर्मित कानूनों के अनुसार करे। पंचायत गाव के समस्त कृषकों के लिए सहकारिता की संस्था के रूप में रहेगी। कृषक लोग भूमि के क्रय-विक्रय, उत्पादन के क्रय-विक्रय एवं समस्त विनिमय सम्बन्धी कार्य पंचायत के माध्यम से ही कर सकेंगे। इसके पश्चात् सामूहिक कृषि का चरण आयेगा, जबकि भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं रहेगा। कोई कृषक अधिक से अधिक 3 एकड़ भूमि अपने मकान के आस-पास बाग बगीचे आदि के निमित्त रख सकेगा। शेष पर समुदाय का स्वामित्व रहेगा। सब लोग उसमें सामूहिक रूप से कृषि कार्य करेंगे। यद्यपि रूस में भी समष्टिगत कृषि व्यवस्था लागू की गयी थी, तथापि वहाँ यह कार्य बल प्रयोग तथा दमन के द्वारा किया गया था। जयप्रकाश जी ऐसे साधनों के विरोधी है। इसलिए उन्होंने समष्टिगत कृषि को समाजवाद का द्वितीय चरण निर्धारित किया है। नयी कृषि बस्तियों के लिए वे प्रारम्भ से ही समष्टिगत कृषि का समर्थन करते है।

उद्योगों के सम्बन्ध में जयप्रकाश जी की धारणा थी कि बड़े-बड़े उद्योगों का प्रबन्ध संघ या राज्य की सरकारों के हाथ में रहना चाहिए। इसमें [illegible] के प्रतिनिधियों को सभी स्तरों पर अपनी बातें रखने का अवसर मिलना चाहिए। चाहिए। लघु उद्योगों का संगठन उत्पादकों की सहकारी संस्थाओं के हाथ में रहना चाहिए। इनमें राज्य का हस्तक्षेप सहकारी संस्थाओं के नियमन के [illegible] सविधि निर्मित करने तक ही सीमि[illegible] रहना चाहि[illegible] कृषि का [illegible]

लघुउद्योगो में भी सामुदायिक स्वामित्व की व्यवस्था होनी चाहिए। व्यापार के क्षेत्र में वैदेशिक व्यापार को जयप्रकाश जी पूर्णतया राज्य के एकाधिकार मे रखना चाहते है। आन्तरिक व्यापार का प्रबन्ध राज्य, स्थानीय समुदायों तथा सहकारी सस्थाओं के मध्य विभक्त रहे। बैंक व्यवस्था पूर्णतया राज्य के हाथ मे रहनी चाहिए इस प्रकार खेती के क्षेत्र में सामूहिक खेती के स्थान पर ग्राम पचायतों की देखरेख मे सहकारी खेती की बात करते है। उद्योग धन्धो के क्षेत्र मे जहा एक ओर बड़े-बड़े उद्योगों पर राज्य के स्वामित्व की बात करते हैं, वहा दूसरी ओर यह सुझाव देते हैं कि मध्यम दर्जे के उद्योगों का उत्पादकों की सहकारी समितियों के स्वामित्व मे चलना ठीक होगा।

ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत राजनीतिक व्यवस्था की स्थिति के विषय में जयप्रकाश जी का मत था कि समाजवादी राज्य लोकतन्त्री होना चाहिए। वे सर्वहारा वर्गीय अधिनायकवाद के विरोधी है। मार्क्सवादी सन्दर्भ मे वे ऐसी व्यवस्था को केवल सक्रमण की अवधि के लिए निर्धारित व्यवस्था मानते हैं, जबकि पूजीवाद से समाजवाद की दिशा में सक्रमण होता है। परन्तु पूजीवादी व्यवस्था आ जाने पर वे अधिनायकवाद को मार्क्स की शिक्षाओ के अन्तर्गत एक असगति मानते है। वे इस धारणा को भी भ्रामक मानते हैं कि सर्वहारा वर्गीय अधिनायकवाद का अर्थ साम्यवादी दल का अधिनायकवाद है, जैसा कि सोवियत सघ मे है। प्रत्युत श्रमिकों, कृषको तथा निम्न मध्यवर्गीय लोगो का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक दल हो सकते है, जिन्हें सर्वहारा वर्गीय दल कहा जा सकता है। इन दलों का दमन अनुचित है। अधिनायकवाद का अर्थ केवल शोषक वर्ग द्वारा दमन होता है। समाजवादी समाज के अन्तर्गत लोकतान्त्रिक व्यवस्था मे श्रमिक जन
नीतिक दलो मे विभक्त हो सकती है। उनके अनेक सगठन हो सकते हैं
स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने का अवसर मिलना चाहिए। विभिन्न व्या
सरकार की गलत कार्यवाइयों के विरुद्ध आवाज उठाने का अधिकार मि
जिसके लिए उनके प्रचार तथा सचार साधन, प्रेस आदि को भी स्वत
चाहिए। इस प्रकार एक समाजवादी समाज मे आर्थिक एवं राजनीति
विद्यमान रहना चाहिए। जयप्रकाश जी के शब्दो मे, "इस लोकत
न पूजीवाद का दास होगा, न किसी दल का, न राज्य का, मनुष्य स्वत

समाजवाद से सर्वोदय की ओर

जयप्रकाश जी का राजनीतिक जीवन एक स्वतन्त्रता सेनानी
मार्क्सवादी समाजवादी के रूप मे प्रारम्भ हुआ था, परन्तु बाद मे गाधी

अत्यधिक प्रभावित हुए थे। अतएव उन्होंने मार्क्स के समाजवादी विचारों की व्याख्या भारतीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में की और भारत में उन्हें क्रियान्वयन हेतु गांधीवादी साधनों को अपनाया। स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने पर वे भारतीय समाजवादी दल को सुदृढ़ करके उसके हाथ में राजनीतिक सत्ता आ सकने की कामना करते थे ताकि वह दल अपनी समाजवादी नीतियों, कार्यक्रमों आदि के द्वारा भारत में उनकी धारणा की समाजवादी व्यवस्था स्थापित कर सकने में सफल हो सके। प्रथम महानिर्वाचनों में समाजवादी दल को कोई आशाजनक सफलता नहीं मिली थी। इसके पश्चात् प्रजा समाजवादी दल की स्थापना हो जाने पर भी विविध समाजवादी गुटों में एकता नहीं रह सकी। साम्यवादियों से जयप्रकाश जी निरन्तर आशंकित रहते थे क्योंकि उन्हें साम्यवादियों की देश निष्ठा पर सन्देह बना रहा। रूस तथा चीन में एवं अन्यत्र भी साम्यवादियों ने मार्क्स के विचारों को जिस प्रकार तोड़-मरोड़ कर व्याख्यित तथा कार्यान्वित किया था, उससे जयप्रकाश जी साम्यवादी अधिनायकवादी प्रवृत्ति के कठोर विरोधी बन गये।

इस प्रकार उनके राजनीतिक जीवन में क्रान्ति शोधक के रूप में निरन्तर अनेक मोड़ तथा परिवर्तन आते रहे। 18 वर्ष की उम्र में ही वे गांधी जी के असहयोग आन्दोलन में देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता के कार्य में सम्मिलित हो गये थे। इसके पश्चात् सन् 1922 से सन् 1929 के अपने अमेरिका के प्रवास काल में अध्ययन के साथ-साथ वे कट्टर मार्क्सवादी बन गये। भारत में वे एक मार्क्सवादी के रूप में वापस आये तो शीघ्र ही सविनय अवज्ञा आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। इसके बाद सन् 1934 में कांग्रेस समाजवादी दल के, प्रमुख संस्थापकों तथा कार्यकर्त्ताओं के रूप में कार्य करते हुए भारत के साम्यवादी दल को भी अपने दल में प्रविष्ट कराने के निमित्त उन्होंने अनेक साथियों के विरोध के विपरीत उत्साह दर्शाया। परन्तु इसका उन्हें बहुत दुखद अनुभव हुआ और कालान्तर में साम्यवादियों को दल से अलग करवा दिया गया, क्योंकि भारतीय साम्यवादी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के पक्षपाती न होकर सोवियत संघ के निर्देशन में कार्य करते थे। जयप्रकाश जी का विश्वास साम्यवादियों की भांति हिंसात्मक साधनों द्वारा मार्क्सवाद का कार्यान्वयन करने में नहीं था। अतएव वे लोकतान्त्रिक विधियों से समाजवाद की स्थापना पर विश्वास करने लगे थे। उनका मत था कि रूस में स्टालिन ने भारी भूलें की थीं। जर्मनी में हिटलर की शक्ति सुदृढ़ होने के लिए स्टालिन तथा साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को दोषी ठहराते थे। उनका विश्वास था कि क्रेमलिन के निर्देशन में कार्य करने वाले विभिन्न देशों के साम्यवादी गलत मार्गों पर चलते रहे हैं। वे अपने

मे जयप्रकाश जी ने इस निर्णय की सूचना अपने साथियो को देते हुए जो पत्र उन्होने लिखा था उनमें उन्होने बताया कि विश्व के साम्यवादियो ने किस प्रकार मार्क्सवाद को तोड़ा-मरोड़ा है और जो व्यवस्थायें बल-प्रयोग द्वारा स्थापित की गयी है, उनके अन्तर्गत तथाकथित जनलोकतन्त्रो के नाम पर या तो अल्प सख्यको का बहु-सख्यको के ऊपर अधिनायकवाद स्थापित किया गया है या बहु-सख्यको का अल्पसख्यको के ऊपर। ये व्यवस्थायें नागरिको की लोकतन्त्री स्वतन्त्रताओं का पूर्ण निषेध करती हैं। इनमे जो साधन अपनाये जाते रहे हैं वे नैतिकता-विहीन है। वे गाधीवादी आदर्शों के विपरीत हैं और मैकियावेलीवादी हैं। जयप्रकाश जी ने यूरोपीय तथा एशियाई देशो के समाजवादी विचारो तथा कार्यक्रमो मे भी भेद बताया है। भारत के सन्दर्भ मे जयप्रकाश जी ने गाधीवादी आदर्शों तथा लक्ष्यो की महत्ता को स्वीकार करते हुए मार्क्सवादी भौतिकता से युक्त समाजवादी आदर्शों का अनुपयुक्त समझा है। उनके अनुसार गाधीवादी विचारधारा से तीन बातों को समाजवादी आन्दोलन मे अपनाना होगा—नैतिक मूल्यो पर जोर, सत्याग्रह का तरीका और राजनीतिक एव आर्थिक विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त।

जयप्रकाश जी ने लिखा है कि स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व तथा शान्ति वे आदर्श है जिन्होने उन्हें लोकतान्त्रिक समाजवाद की ओर आकृष्ट किया था, किन्तु उन्होने अनुभव किया कि इन आदर्शों की प्राप्ति लोकतान्त्रिक समाजवाद के अन्तर्गत हो सकती है। अतएव समाजवाद को सर्वोदय के उच्चतर आदर्शों मे परिणत करना आवश्यक है। इस हेतु जयप्रकाश जी ने सत्ताहीन पथ पर यात्रा करने का दृष्टि से निश्चय किया। जयप्रकाश जी यह भी मानते थे कि कर्म करने से पूर्व व्यक्ति को कुछ करना चाहिए और आत्मा की शुद्धि होगी उपवास से। ऐसा वह गाधी जी से सीख चुके थे। अत उन्होने 22 जून सन् 1952 को पूना मे इक्कीस दिन का अनशन प्रारम्भ कर दिया और इस अनशन से उनको यह प्रेरणा मिली कि मार्क्स की शिक्षाओ पर आधारित समाजवाद की धारणा मे भौतिकवादी तत्व की प्रधानता सामाजिक एव मानवीय जीवन के नैतिकतावादी मूल्यो की उपेक्षा करता है। यह धारणा भ्रामक है कि मनुष्य एकदम पदार्थ ही है। वास्तव मे मनुष्य मे चेतना भी है और मानव मे सामाजिकता का विकास, समाज-सेवा, त्याग, सहानुभूति, समानता आदि गुणो का अभ्युदय चेतना का फल है। मार्क्स की भूल यह थी कि उसने चेतना तथा पदार्थ के मध्य भेद नही किया और यह मान लिया कि चेतना को उसी प्रकार समझा जा सकता है जिस प्रकार पदार्थ को। अत मार्क्सवादी नैतिक मूल्यो की उपेक्षा करते रहे और साध्य की प्राप्ति के लिए साधनो

देशो की उपेक्षा करते हैं। अतः उन्हें समाजवादी उद्देश्यों की प्राप्ति में स नहीं मिल सकती। इस प्रकार जयप्रकाश जी एक कट्टर मार्क्सवादी से एक तान्त्रिक समाजवादी के रूप में परिवर्तित हो गये। उनका पूर्ण विश्वास थ भारत में समाजवाद की स्थापना लोकतान्त्रिक साधनों द्वारा ही सम्भव हो स है। लोकतान्त्रिक साधनों का प्रयोग मार्क्सवादी सन्दर्भ में क्रान्ति का निषेध है, प्रत्युत उसकी मान्यता ही है। इन प्रश्नों का उत्तर ढूढने के लिए जयप्रकाश ने गांधी जी की रचनाओं का अध्ययन एवं उनके जीवन दर्शन पर मनन चिन किया। विशेषकर गांधी जी की हत्या के बाद जयप्रकाश जी के मन में उन आकर्षण पहले से बहुत अधिक बढ़ गया। अब उनका यह विश्वास हो गया समाजवादी आन्दोलन को गान्धी जी से बहुत कुछ सीखना है।

अप्रैल, सन् 1954 में बोधगया सर्वोदय सम्मेलन के अवसर पर जयप्रका जी ने वक्तव्य दिया था। उसमें उन्होंने पुनः अपनी विचारधारा तथा नीतियों परिवर्तन के संकेत दिये थे। उस समय तक वे आचार्य विनोबा भावे के सर्वोदय आन्दोलन तथा कार्यक्रम के प्रभाव में आने लगे थे। उन्होंने यह अनुभव किया कि भारतीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में समाजवाद के उद्देश्यों की प्राप्ति केवल लोकतान्त्रिक समाजवादी कार्यक्रम से ही नहीं हो सकती, प्रत्युत सर्वोदय का भूदान आन्दोलन का इस दिशा में अधिक तथा प्रभावशाली कार्यक्रम है। यह एक नयी क्रान्ति है। समाजवादी लक्ष्य केवल राजनीतिक संघर्ष की अपेक्षा सर्वोदय के मार्ग से कहीं अधिक सुगमता से स्थापित हो सकता है। इसके साथ-साथ जयप्रकाश जी को यह भी ज्ञान हुआ कि सर्वोदय के मार्ग से बना हुआ समाज वास्तव में समाजवाद के उद्देश्यों को अधिक सुगमता से अपना सकेगा क्योंकि उनकी नींव संघर्ष और राज्य शक्ति पर नहीं, वरन् सहयोग और लोकशक्ति पर होगी। इस विचारधारा का आकर्षण जयप्रकाश जी के लिए इतना बढ गया कि उन्होंने सन् 1954 में बोधगया सर्वोदय सम्मेलन के अवसर पर जयप्रकाश जी ने राजनीति से पृथक हो जाने का निश्चय किया और अपने जीवनदान की घोषणा कर दी। राजनीति से अपने को अलग रखने लगे और सन् 1957 में प्रजासमाजवादी दल की सदस्यता का त्यागपत्र देकर पूर्णरूपेण मुक्त हो गये। इसी समय सन् 1955 में कांग्रेस ने समाजवादी ढंग के समाज की स्थापना को अपना लक्ष्य बना लिया था और अशोक मेहता सदृश प्रजासमाजवादी नेता कांग्रेस तथा प्रजा समाजवादी दल की नीतियों में बहुत कुछ सादृश्य देखने लगे थे। सन् 1957 के निर्वाचनों में प्रजा समाजवादी दल को कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं मिल पायी थी। इन सब कारणों

में जयप्रकाश जी ने इस निर्णय की सूचना अपने साथियों को देते हुए जो पत्र उन्होंने लिखा था उसमें उन्होंने बताया कि विश्व के साम्यवादियों ने किस प्रकार मार्क्सवाद को तोड़ा-मरोड़ा है और जो व्यवस्थायें बल-प्रयोग द्वारा स्थापित की गयी हैं, उनके अन्तर्गत तथाकथित जनलोकतन्त्रों के नाम पर या तो अल्पसंख्यकों का बहु-संख्यकों के ऊपर अधिनायकवाद स्थापित किया गया है या बहु-संख्यकों का अल्पसंख्यकों के ऊपर। ये व्यवस्थायें नागरिकों की लोकतन्त्री स्वतन्त्रताओं का पूर्ण निषेध करती हैं। इनमें जो साधन अपनाये जाते रहे हैं वे नैतिकता-विहीन हैं। ये गांधीवादी आदर्शों के विपरीत हैं और मैकियावेलीवादी हैं। जयप्रकाश जी ने यूरोपीय तथा एशियाई देशों के समाजवादी विचारों तथा कार्यक्रमों में भी भेद बताया है। भारत के सन्दर्भ में जयप्रकाश जी ने गांधीवादी आदर्शों तथा लक्ष्यों की महत्ता को स्वीकार करते हुए मार्क्सवादी भौतिकता से युक्त समाजवादी आदर्शों को अनुपयुक्त समझा है। उनके अनुसार गांधीवादी विचारधारा से तीन बातों को समाजवादी आन्दोलन में अपनाना होगा—नैतिक मूल्यों पर जोर, सत्याग्रह का तरीका और राजनीतिक एवं आर्थिक विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त।

जयप्रकाश जी ने लिखा है कि स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृत्व तथा शान्ति वे आदर्श हैं जिन्होंने उन्हें लोकतान्त्रिक समाजवाद की ओर आकृष्ट किया था, किन्तु उन्होंने अनुभव किया कि इन आदर्शों की प्राप्ति लोकतान्त्रिक समाजवाद के अन्तर्गत हो सकती है। अतएव समाजवाद को सर्वोदय के उच्चतर आदर्शों में परिणत करना आवश्यक है। इस हेतु जयप्रकाश जी ने सत्ताहीन पथ पर यात्रा करने की दृष्टि से निश्चय किया। जयप्रकाश जी यह भी मानते थे कि कर्म करने से पूर्व आत्मा शुद्ध करनी चाहिए और आत्मा की शुद्धि होगी उपवास से। ऐसा वह गांधी जी से सीख चुके थे। अतः उन्होंने 22 जून सन् 1952 को पूना में इक्कीस दिनों का अनशन प्रारम्भ कर दिया और इस अनशन से उनको यह प्रेरणा मिली कि मार्क्स की शिक्षाओं पर आधारित समाजवाद की धारणा में भौतिकवादी तत्व की प्रधानता सामाजिक एवं मानवीय जीवन के नैतिकतावादी मूल्यों की उपेक्षा करती है। यह धारणा भ्रामक है कि मनुष्य एकदम पदार्थ ही है। वास्तव में मनुष्य में चेतना भी है और मानव में सामाजिकता का विकास, समाज-सेवा, त्याग, स्वतन्त्रता की समानता आदि गुणों का अभ्युदय चेतना का फल है। मार्क्स की भूल यही थी कि उसने चेतना तथा पदार्थ के मध्य भेद नहीं किया और यह मान लिया कि चेतना को उसी प्रकार समझा जा सकता है जिस प्रकार पदार्थ को। अतः मार्क्सवादी नैतिक मूल्यों की उपेक्षा करते रहे और साध्य की प्राप्ति के लिए साधनों

के औचित्य को स्वीकार करने लगे। सामाजिक जीवन एवं दर्शन में भौतिकव विज्ञान की वस्तुपरक धारणा को लागू करना उचित नहीं है।

मार्क्स के भौतिकवादी दर्शन का अनुगमन करने वाली समाजवादी त साम्यवादी भौतिक समृद्धि, अधिकाधिक उत्पादन तथा भौतिक जीवन के स्त को उच्च बनाने का उद्देश्य रखते हैं। भारत सदृश निर्धन देश के लिए इन उद्देश्य की प्राप्ति की उपादेयता से मना नहीं किया जा सकता, परन्तु भौतिक समृद्धि के नाम पर जीवन के नैतिक मूल्यों की उपेक्षा करना उचित नहीं हो सकता। इसका परि णाम होगा और अधिक भौतिक समृद्धि की कामना करना जिसमें व्यक्ति तथा राष्ट्र परस्पर अन्य व्यक्तियों तथा राष्ट्रों के साथ प्रतिद्वन्दी संघर्ष में रत रहने लगेंगे। इसके कारण शान्ति, भ्रातृत्व तथा समानता की धारणाओं को भारी आघात पहुँचेगा। यद्यपि अनेक समाजवादी इस भौतिकवादी प्रवृत्ति के अवदोषों से परिचित हैं तथापि समाजवाद का मुख्य आधार भौतिकवाद है। आवश्यकता इस बात की है कि नैतिक जीवन व्यक्तित्व विकास तथा मानवीय गुणों एवं मूल्यों के सृजन के निमित्त भौतिक क्षुधा को अनुशासित किया जाता है। वास्तविक समाजवाद यही है। समाजवादी नैतिकता ऐसे जीवन क्रम की उपेक्षा करती है जिसमें सामूहिक प्रयास द्वारा सृजित उतम वस्तुओं का उपभोग सभी लोग करें। ऐसी साझेदारी जितनी ही अधिक स्वेच्छा प्रेरित होगी समाज में उतनी ही मात्रा में आक्रोश तथा दमन रहेंगे और समाजवाद उतना ही अधिक वास्तविक होगा। इसके निमित्त आत्म संयम तथा आत्मानुशासन के गुणों का विकास वांछनीय है। समाजवाद के अन्तर्गत ऐसी नैतिकतावादी धारणाओं ने जयप्रकाश जी को सर्वोदय आन्दोलन की ओर आकृष्ट किया। इसके अन्तर्गत दलगत तथा शक्ति की राजनीति को कोई स्थान प्राप्त नहीं रहेगा। अत. विनोबा जी की शब्दावली में जयप्रकाश जी भी "राजनीति के स्थान पर लोक नीति" की धारणा अपनाने लगे। राजनीति का अभिप्राय है "शक्ति की राजनीति" जब कि लोक नीति का आशय है, "लोक की राजनीति।" सर्वोदय जिसका शाब्दिक अर्थ "सबका उदय" अर्थात् सबका कल्याण है, लोकनीति द्वारा ही सम्भव है। यही सच्ची लोकतान्त्रिक व्यवस्था है। अत जयप्रकाश जी ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की खोज में लग गये जिसके द्वारा एक सहयोगी, समतावादी समाज की स्थापना की जा सके।

सर्वोदय सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रतिपादन महात्मा गांधी कर चुके थे, परन्तु इसे कार्यरूप में परिणत करने का अवसर उन्हें नहीं मिला। उनके विचारों में सर्वत्र

सर्वोदयी धारणायें विद्यमान हैं, परन्तु वे अन्त तक राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए ही कार्यरत रहे, अत उनके कार्यकलाप "राजनैतिक" माने जा सकते है। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के केवल लगभग 6 माह बाद उनकी हत्या कर दी गयी। यह अवधि भारत मे भीषण साम्प्रदायिक तथा राजनीतिक अशान्ति का काल था। गाधी जी शक्ति या दलीय राजनीति के विरोधी थे। अत स्वतन्त्रता प्राप्ति के कुछ समय पूर्व उन्होंने घोषणा की थी कि स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने पर कांग्रेस को लोक सेवक संघ मे परिणत कर दिया जायेगा। इसका अभिप्राय यही था कि स्वतन्त्र भारत मे कांग्रेस एक दल के रूप मे राजनीतिक सत्ता का आकांक्षी न रहे। परन्तु गाधी जी के अन्य सहयोगी दलगत "शक्ति की राजनीति" मे प्रविष्ट हो चुके थे। शीघ्र ही गाधी जी की मृत्यु हो जाने पर उनके सर्वोदयी समाज के विचारों को कार्य रूप प्रदान करने का दायित्व उनके किसी कर्मठ अनुयायी को सभालना था। यह दायित्व आचार्य विनोबा भावे ने अपने ऊपर लिया।

सर्वोदय आन्दोलन के अन्तर्गत विनोबा जी ने भूदान, ग्रामदान तथा सम्पत्ति-दान के कार्यक्रम अपनाये और जब जयप्रकाश जी इस आन्दोलन की ओर आकृष्ट हुए तो प्रारम्भ मे उन्हे विनोबा जी की ऐसी अहिंसात्मक सामाजिक एव आर्थिक क्रान्ति की सफलता पर सन्देह था, परन्तु धीरे-धीरे उनकी आशातीत उपलब्धियो को देखकर जयप्रकाश जी सर्वोदय आन्दोलन के प्रमुख कार्यकर्त्ता बन गये। विनोबा जी के भूदान आन्दोलन को जयप्रकाश जी एक ऐसी क्रान्ति का नाम देते है जिसके उद्देश्य अधिक भूमि के मालिको से कुछ अश लेकर भूमिहीनो के मध्य उसका वितरण करना था और ग्रामदान का उद्देश्य सम्पूर्ण ग्राम की भूमि का सामूहिक उपयोग तथा उपभोग था। यही क्रम सम्पत्ति दान आन्दोलन के अन्तर्गत सम्पत्ति के विषय मे बनाया गया जो गाधी जी की धारणा के "न्यास" सिद्धान्त का कार्यान्वयन था। जयप्रकाश जी ने कहा कि "भूदान आन्दोलन से केवल भूमि समस्या का ही समाधान नहीं होगा, वरन् अनेक सामाजिक तथा व्यक्तिगत समस्याओ का समाधान हो जायेगा। भूदान से जीवन मे सुधार और नैतिक पुनरुत्थान होगा। इससे आधारभूत समस्या का भी समाधान हो जायेगा।" इस प्रकार सर्वोदय आन्दोलन ने भूमि व्यवस्था के समाजवादी वितरण तथा स्वामित्व के निमित्त एक अहिंसात्मक क्रान्ति का सूत्रपात किया जबकि अन्य समाजवादी देशो मे इस प्रकार की व्यवस्थायें बल प्रयोग, दमन या कानूनों के माध्यम से स्थापित की जाती रही थी। सर्वोदय की यह गाधीवादी कार्यप्रणाली समाजवादी समाज की स्थापना के लक्ष्य की प्रारम्भिक उपलब्धि थी। जयप्रकाश जी इससे अत्यधिक प्रभावित हुए और उन्हें विश्वास हो गया कि-

सर्वोदय समाज में कार्य करने के लिए निष्ठावान कार्यकर्ता उपलब्ध हों तो भू
ग्रामदान तथा सम्पत्तिदान के आन्दोलन देशव्यापी आधार पर चलाये जा सक
और भारत सदृश कृषि प्रधान देश में भूमि व्यवस्था की सर्वोदयी योजनायें स
वाद के लक्ष्यों को प्राप्ति के निमित्त प्रभावकारी सिद्ध हो सकती हैं। सर्वोदय अ
लन के अन्तर्गत राजनीति के स्थान पर लोकनीति की और नौकरशाही के स्
पर लोक सेवकों की धारणा लोकप्रिय बना दी जानी चाहिए। दलगत तथा
की राजनीति का अन्त करके दलविहीन लोकतन्त्र की स्थापना होनी चाहिए जि
आधार विकेन्द्रीकरण होगा।

लोकनीति का अर्थ है जनता द्वारा राजनीति दलों की चिन्ता कि
बिना शासन के कार्यों में सीधे भाग लेना। इस लोकनीति का आकार ग्र
पंचायत और उनके आधार पर जिला परिषद्, राज्य के विधान मण्डल एवं
राष्ट्र के संसद का गठन किया जा सकता है। इस प्रकार की व्यवस्था के लिए यह
आवश्यक मानते हैं कि एक नये अर्थतन्त्र का विकास हो, जिसमें सहकारी खेती अ
सहकारी उद्योगों को प्रश्रय दिया जायेगा। प्रत्येक क्षेत्र में जनता की आवश्यकता
एवं वहां के साधनों के पर्यवेक्षण के आधार पर आर्थिक विकास की योजना निर्मि
की जाये, वरन् उद्योग की इकाई भी।

राजनीतिक विचार

जिस प्रकार जयप्रकाश जी के राजनीतिक एवं सार्वजनिक जीवन में आरम्भ
से लेकर आज तक अनेक परिवर्तन होते आये हैं, उसी प्रकार उनके राजनीतिक
विचार भी परिवर्तित होते रहे है। एक युवा स्वतन्त्र सेनानी, पुन: एक मार्क्सवादी,
तत्पश्चात् एक लोकतान्त्रिक समाजवादी और फिर एक सर्वोदयी नेता के रूप में
उनके राजनीतिक विचार कदाचित् भिन्न-भिन्न प्रकार के रहते आये हैं। सन् 1974
में जब भारत के विभिन्न भागों में मंहगाई, दरिद्रता, प्रशासनिक भ्रष्टाचार, तस्करी,
मुद्रास्फीति आदि को लेकर सरकार के विरुद्ध आन्दोलन होने लगे तो उनके सन्दर्भ
में आन्दोलनकारियों का जयप्रकाश जी द्वारा सक्रिय समर्थन उनके राजनीतिक
विचारों में एक नये मोड़ का प्रतीक ही कहा जा सकता है।

लोकतन्त्र

जयप्रकाश जी के मत से "सम्भवत: लोकतन्त्र का अभ्युदय मानव की
जन की नैसर्गिक कामना के फलस्वरूप हुआ है।" अत: अति प्राचीन काल में
जन-समूहों के मध्य स्वशासन की विविध पद्धतियां प्रचलित रही हैं।

परन्तु मानव मे स्वशासन की प्रवृत्ति अपने ही लिए रही है और वह अन्यो मे भी इस प्रवृत्ति के अस्तित्व को नही देखता। इस कारण लोकतन्त्र को एक चुनौती का सामना करना पड़ा। जिस दिन मानव यह अनुभव करने लग जायेगा कि प्रत्येक मनुष्य की स्वशासन की नैसर्गिक कामना का सम्मान किया जाना चाहिए, उस दिन [illegible] की देन है। [illegible] को बढ़ाया है। एशिया के देश आर्थिक दृष्टि से अधिक पिछड़े होने के कारण यहा लोकतन्त्र की समस्या अधिक जटिल हो गयी है। यहा अधिनायकवादी व्यवस्थाओ ने आर्थिक असमानता तथा शोषण का अन्त करने का दावा किया है, परन्तु वे व्यवस्थायें लोकतन्त्र का विकल्प नही हो सकती। जयप्रकाश जी की धारणा यह है कि एशिया के देशो मे लोकतन्त्र की उपलब्धि के निमित्त आर्थिक समृद्धि से पूर्व आर्थिक समानता लाना आवश्यक है न कि इसके विपरीत जैसा कि पाश्चात्य देशो मे हुआ था और जिसमें उन्हें डेढ़ दो सौ वर्षों का समय लग गया। उत्पादन वृद्धि पर अधिक बल देने से आर्थिक लोकतन्त्र नही आ सकता। आवश्यकता इस बात की है कि ग्रामस्तर से उच्चतम केन्द्रीय स्तर तक स्वशासी संस्थाओ की स्थापना की जानी चाहिए और लोकतन्त्र के कार्यान्वयन मे कृषि तथा उद्योगो मे लगे हाथ से काम करने वाले तथा [illegible] उत्पादको को प्रमुख भाग लेना चाहिए। नि सन्देह हमे पाश्चात्य की लोकतन्त्रीय परम्पराओ की पूर्णत. उपेक्षा तो नही करनी चाहिए परन्तु यह भी ध्यान लेना चाहिए कि उन्हें परम्पराओ की श्रेष्ठता है और हम उनका अनुसरण करें।

लोकतन्त्र के सम्बन्ध मे जयप्रकाश जी के कुछ मौलिक विचार है। [illegible] सन् 1959 के एक लेख "भारतीय राज्य व्यवस्था की पुनर्रचना [illegible]" [illegible]। जयप्रकाश जी का मत है कि पाश्चात्य राज्य व्यवस्थाओ का [illegible] है जिसके अन्तर्गत राज्य को व्यक्ति का एक [illegible] जाता है। यह व्यवस्था अवैज्ञानिक अथच समाज की संरचना के [illegible] करती है। ऐसी राज्य व्यवस्थाओ के अन्तर्गत लोकतन्त्र की [illegible] मान्यतायें—विचार अभिव्यक्ति, समुदाय निर्माण तथा [illegible] विधि के शासन की सुरक्षा—केवल राजनीतिक सन्दर्भ मे [illegible] जीवन के विविध क्षेत्रो मे। पाश्चात्य लोकतन्त्र सही अर्थ मे [illegible] शासन न होकर "जनता का, जनता मे से उत्पन्न कुछ [illegible] है अथवा वे एक प्रकार के वर्गतन्त्री शासन है जिनमे [illegible]

से लोगों के प्रभुत्व के अधीन रहती है। जयप्रकाश जी इन्हें लोकतन्त्री वर्गतन्त्र बता देते हैं। इसलिए जयप्रकाश जी ने पाश्चात्य ढंग के इस लोकतन्त्र को सिर बल खड़ा होने वाला और अन्त. स रचनाओं के अभाव से ग्रस्त कहा है। 3 वास्तविक लोकतन्त्र की रक्षा के लिए जनता में कुछ नैतिक तथा बौद्धिक गुणो विकास की आवश्यकता है। ये गुण हैं—(1) सत्य, (2) अहिंसा, (3) स्वतन्त्र के प्रति प्रेम तथा निरकुशता के विरुद्ध संघर्ष करने का साहस, (4) सहयोग भावना, (5) स्वार्थहित का परित्याग, (6) सहिष्णुता, (7) उत्तरदायित्व भावना, (8) व्यक्ति की मौलिक समानता मे विश्वास, तथा (9) मानव प्रकृति प्रशिक्षण पर विश्वास। आधुनिक लोकतन्त्रो के समक्ष एक समस्या इस युग की भौतिकवादी प्रवृत्ति के विकास की है। मनुष्य की भौतिक आवश्यकतायें यदि बढती जाँय और लोग भौतिक सुख को ही जीवन का लय मानने लगे तो लोकतन्त्र खतरे में पड जायेंगे। अत: मानव को अपनी बढती हुई भौतिक आवश्यकताओ पर नियन्त्रण लगाना आवश्यक है। वर्तमान राज्यो मे राज्यवाद तथा राज्य की बढती हुई शक्ति का प्रतिरोध करने की प्रवृत्ति भी बढती जा रही है। अत व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा राज्य की सत्ता के मध्य समुचित सामजस्य स्थापित किये बिना भी लोकतन्त्र सम्भव नही होगा। जयप्रककाश जी इसके निमित्त गाधी जी के प्रन्यास सिद्धान्त को सर्वोत्तम साधन मानते है जिसके द्वारा व्यक्ति स्वेच्छा से अपनी आवश्यकताओ को प्रतिबन्धित करता है।

जयप्रकाश जी के मत से लोकतन्त्र का अभिप्राय जनता को कुछ राजनीतिक अधिकार मिल जाना तथा शासन मे जनता का भाग लेना मात्र नही है। वर्तमान समय मे सामाजिक एवं आर्थिक न्याय, अवसर की समानता तथा औद्योगिक जन-तन्त्र को अधिकाधिक महत्व प्रदान करना लोकतन्त्र की प्रमुख आवश्यकताये है। साम्यवादी देशो मे आर्थिक लोकतन्त्र के नाम पर लोकतन्त्र की सभी धारणाओ का बलिदान कर दिया गया है। समाजवादी देशो मे राजनीतिक सत्ता के समष्टिगत तथा विशाल मात्रा मे औद्योगीकरण ने लोकतन्त्र को आघात पहुँचाया है। धर्मगत तथा जातिगत आधार पर ऊँच-नीच की भावना को मानना लोकतन्त्रीय व्यवस्था के मार्ग की एक बडी बाधा है। भारत सदृश आर्थिक दृष्टि से पिछड़े तथा अन्य नये लोकतन्त्रो मे भी लोकतन्त्र के मार्ग की कई बाधायें ह। उन सबके समक्ष मूल-प्रश्न यह है कि उन्हे शान्ति तथा लोककल्याण की दृष्टि से आगे बढना चाहिए अथवा शक्ति क लिए। गांधी जी को राष्ट्रपिता कहने वाले देश को निश्चित ही शान्ति तथा कल्याण का उद्देश्य अपनाना चाहिए। कुछ अफ्रेशियाई देशो ने अधि-

नायकवाद का मार्ग अपनाया है जो उन देशों के लिए हितकारी सिद्ध नहीं हो सकता। भारत ने कुछ लोकतन्त्रीय परम्परायें ब्रिटिश उदारवाद से और कुछ ब्रिटिश समाजवाद से अपनायी हैं। ये केन्द्रीय स्तर पर लोकतन्त्र के लिए सहायक सिद्ध हो सकती हैं परन्तु केन्द्रीकरण लोकतन्त्र का शत्रु है। भारत अपनी प्राचीन विकेन्द्रीकृत लोकतन्त्रीय परम्पराओं से अधिक लाभान्वित हो सकता है। भारत में ग्रामीण शासन के निमित्त जो पंचायती व्यवस्था अति प्राचीन काल से चली आ रही थी, उसका प्रसार करके लोकतन्त्र को अधिक प्रभावी बनाया जा सकता है। यह धारणा जयप्रकाश जी के विचारों से अपनायी थी और देश के प्राचीन परम्पराओं की महत्ता को समझते हुए आधुनिक के सन्दर्भ में उनके विकास तथा प्रसार की उपादेयता को उन्होंने महत्वपूर्ण तथा लाभकारी सिद्ध होने की धारणा व्यक्त की है।

जयप्रकाश जी ने भारत की वर्तमान राज्य व्यवस्था के पुनर्निर्माण के निमित्त भारतीय सामुदायिक जीवन तथा राज्य व्यवस्थाओं एवं सामाजिक व्यवस्थाओं के आदर्शों को समझने तथा अपनाने की आवश्यकता पर बल दिया है। प्राचीन भारत में धर्म की धारणा, वर्ण व्यवस्था के आधार पर सामाजिक एवं सामुदायिक जीवन की संरचना, विविध प्रकार की राज्य व्यवस्थाओं तथा श्रेणी व्यवस्थाओं के गुणों को समझते हुए आधुनिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में उन्हें अपनाने का परामर्श दिया है। उनकी धारणा यह है कि प्राचीन भारत की सामुदायिक राज्य व्यवस्था ही उस भागीदार लोकतन्त्र की प्रत्यानुभूति कर सकती है जो हमारा आदर्श है और जो प्रत्येक लोकतन्त्रवादी का आदर्श होना चाहिए।

दलीय प्रथा पर आधारित संसदीय लोकतन्त्र का विरोध

वर्तमान समय में पश्चिम के देशों से संसदीय लोकतन्त्रों की परम्परा का प्रसार सर्वत्र होता जा रहा है चाहे वे ब्रिटेन के आदर्शात्मक संसदीय शासन पद्धति वाले लोकतन्त्र हों अथवा अमेरिकी आदर्श की अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली वाले लोकतन्त्र। सभी स्थानों पर राजनीतिक दल-बन्दियों का विकास हुआ है। इन लोकतन्त्रों के संचालन तथा कार्यान्वयन में अनेक कमियाँ हैं, जिनसे इनके समर्थक भी भलीभाँति परिचित हैं। परन्तु वे इसलिए इसकी समाप्ति नहीं चाहते कि एक तो इसका कोई उत्तमतर विकल्प उन्हें नहीं सूझता, दूसरे इसके दोष असाध्य नहीं हैं, प्रत्युत् उनका निराकरण हो सकता है। परन्तु जयप्रकाश जी इन लोकतन्त्रों में भारी कमियाँ देखते हैं जो उन्हें सही अर्थ में लोकतन्त्र नहीं सिद्ध कर सकतीं। प्रथमतः इन लोकतन्त्रों का आधार मतदान है जो समाज के सावयविक स्वरूप को न रखकर उसे आणविक बना देता है और साम्प्रदायिकता

तथा राष्ट्रीयता की भावनाओं को अवरुद्ध करता है। द्वितीय यह दावा भी स
नही है कि इन लोकतन्त्रों मे सरकारें बहुसंख्यक मतों का प्रतिनिधित्व करती है।
बहुधा बहुदलीय पद्धतियों के अन्तर्गत जो सरकारें निर्मित होती है, वे अल्पम
का प्रतिनिधित्व करती है। तृतीय, इनके अन्तर्गत निर्वाचनों मे दलो के द्वा
भ्रष्टाचार तथा अवांछनीय उपाय अपनाये जाते है, झूठे वायदे जनता से किये जा
हैं और जो चतुर जननेता होते है, वे विजयी हो जाते हैं। अतः इन्हें जयप्रका
जी लोकतन्त्र न कहकर "जन उत्तेजकतन्त्र" कहते हैं। ऐसी व्यवस्थाओं मे
राष्ट्रीय तथा सामुदयिक हितो की उपेक्षा की जाती है और सगठित दलो के स्वार्थ
प्राथमिकता प्राप्त कर लेते हैं। चतुर्थ-इनके अन्तर्गत केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति बनी
रहती है। दलीय सगठनो तथा नीतियो मे केन्द्रीकरण के तत्व विद्यमान रहते हैं।
स्थानीय क्षेत्रो से प्रत्याशियो का निर्वाचन दलो के केन्द्रीय अभिकरण करते हैं।
अतः प्रतिनिधि जनता के न होकर दलों के हुआ करते हैं। केन्द्रीकरण की इन
प्रवृत्तियो का परिणाम प्रशासनिक न होकर दलो के हुआ करते हैं। केन्द्रीकरण
की इन प्रवृत्तियों का परिमाण प्रशासनिक क्षेत्र मे नौकरशाही की प्रवृत्ति का
बढ़ना हो जाता है। मन्त्रिमण्डल बहुधा नौकरशाही पर निर्भर रहने लगते हैं।
यह एक प्रकार के स्वेच्छाचारितावादी शासन मे परिणत हो जाते है। कहावत
प्रसिद्ध है कि "मन्त्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व की आड़ में नौकरशाही पनपती है"।
अतएव संसदीय लोकतन्त्रों के स्थान पर सामुदायिक लोकतन्त्रो की स्थापना होनी
चाहिए जिनमें शासक तथा प्रशासक प्रत्यक्षत सामुदायिक जनता अथवा स्वय अपने
प्रति भी उत्तरदायी होने की भावना से कार्य करेंगे। अन्तत. यह माना जाता है कि
संसदीय लोकतन्त्रो के सचालन के लिए राजनीतिक दलबन्दी अपरिहार्य है। आज
दिन इन लोकतन्त्रो के अन्तर्गत दल प्रथाएँ इतनी गहराई में अपनी जड़ें जमा
चुकी हैं कि वे स्वय "राज्य के अन्दर राज्य" बन गये है। उनके ऊपर अब नियन्त्रण
नहीं रह गया है। राजनीतिक दलो को धनिक निहित स्वार्थो,—पूँजीपतियों तथा
व्यापारियों आदि का समर्थन तथा सहायता प्राप्त रहती है। वे धन एवं
सम्मेलनों द्वारा संचालित रहते है। अत. उनके ऊपर कोई लोकतान्त्रिक नियन्त्रण
नहीं रहता। इनके कारण ही चतुर जन-नेताओं की उत्पत्ति होती है। दलीय
राष्ट्रीय हितों के समक्ष उच्चतर माने जाते है। ऐसे लोकतन्त्रों का शासन न
बहुमतवादी का रहता है, न इनमें लोककल्याण की भावना कार्य करती है, और
शासन जनता के लिए होते है। [illegible] दल का शासन दल के लिए बना
तथा दल के चतुर नेताओं के द्वारा शासन कहा जाता है। दलीय [illegible]

समाज की एकता को आघात पहुँचाती है और वह अवांछनीय ढंग से मतभेदों की बलात् सृष्टि करती है। जयप्रकाशजी का मत है कि स्वयं दलप्रथा में इतनी बुराई नहीं है जितनी संसदीय लोकतन्त्र की प्रथा है, जो दल प्रथा में बुराइयों की सृष्टि करती है। संसदीय लोकतन्त्रों में निर्वाचन प्रथा भी एक बुराई है। निर्वाचनों में प्रत्याशी विशाल धनराशि व्यय करते हैं। चाहे वे दलों के हों या निर्दलीय। दलों को ये धनराशियां बड़े-बड़े धनिकों के द्वारा दी जाती हैं जो अपनी स्वार्थ सिद्धि के लालच में ऐसा करते हैं। निर्वाचन प्रचार में अत्यधिक अपव्यय होता है। इस प्रकार निर्वाचनों में जिस धन तथा शक्ति का अपव्यय होता और जिस प्रकार गन्दे प्रचार किये जाते हैं, वे लोकतन्त्र के लिए भारी अभिशाप हैं। जनता को इससे कोई लाभ नहीं होता, यहां तक कि राजनीतिक जन शिक्षा भी विकृत रूप की हो जाती है। अतः जयप्रकाश जी लोकतन्त्र के स्थान पर सामुदायिक जनतन्त्र की स्थापना पर बल देते हैं।

सामुदायिक लोकतन्त्र

भारत में जैसी लोकतन्त्रीय व्यवस्था की स्थापना की कल्पना जयप्रकाश जी ने की है, उसे सामुदायिक लोकतन्त्र या पंचायती या निर्दलीय लोकतन्त्र कहा जा सकता है। इसका आधार प्राचीन भारतीय चिन्तन तथा परम्परा होने के साथ-साथ जयप्रकाश जी के निजी समाजशास्त्रीय विचार, मानव सभ्यता के नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्य एवं आधुनिक परिस्थितियों के अन्तर्गत सामाजिक रचना की सहायता की लोकतान्त्रिक कार्यपद्धति है। जयप्रकाश जी की धारणा के सामुदायिक लोकतन्त्र में, जहां व्यक्ति की गरिमा को स्वीकार किया गया है और उसे रचना का केन्द्र माना गया है, वहां यह भी स्वीकार किया गया है कि व्यक्ति समुदाय का अभिन्न अंग है और सामुदायिक जीवन ही उसके व्यक्तित्व के विकास की कुंजी है। ऐसी सामुदायिक लोकतन्त्रीय व्यवस्था में अधिकतम सत्ता विभाजन, अधिकाधिक स्वावलम्बन, और [illegible], तथा अधिकतम शक्ति संचय की सम्भावना है। ये समुदाय स्वतन्त्र, [illegible] ग्रामीण तथा नगरी, स्थानीय जन समूह होंगे। ग्राम या नगर इस व्यवस्था की मूल इकाइयां होंगे। भारत में ग्राम पंचायतों की स्थापना को जयप्रकाश जी इस दिशा में एक प्रशंसनीय कदम मानते हैं। परन्तु उनका कहना है कि ग्राम पंचायत व्यवस्था तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रम जिस रूप में [illegible] कार्यान्वित किये जा रहे हैं उनकी सबसे बड़ी कमी यह है कि उनके [illegible]

जनता में सामुदायिकता की सच्ची भावना उत्पन्न कराने का प्रयास नहीं है। सामुदायिक विकास की योजनायें ऊपर से या बाहर से ग्रामीण जन-समूहों पर लादी जाती है। सामुदायिक विकास कार्यक्रम का नियोजन तथा कार्यान्वयन उस नौकरशाही के द्वारा कराया जाता है जो स्वयं समुदाय से पृथक है। सारी योजना का कोई निश्चित दर्शन नहीं है। लोकतान्त्रिक समाजवाद की धारणा पाश्चात्य पूरक होती जा रही है, जिसका रूप राज्य समाजवाद तथा केन्द्रीकृत लोककल्याणवाद है। रूसीसोवियत पद्धति भी अत्यधिक केन्द्रवादी तथा अधिनायकवादी होने के कारण अनुपयुक्त है। अतः भारत में सामुदायिक लोकतन्त्र के सिद्धान्त एवं आचरण के निमित्त इन कमियों को दूर करना आवश्यक है।

जयप्रकाश जी के मत से हमारी वर्तमान राज्य व्यवस्था का आणविक रूप ऐसी व्यवस्था की उपलब्धि के मार्ग की एक बड़ी बाधा है। भले ही ग्रामों में ग्राम पंचायतों में निर्विरोध निर्वाचनों को प्रोत्साहन दिया जा रहा है और उन्हे दलीय राजनीति से पृथक् रखने की नीति भी अपनायी जा रही है तथापि जब उच्चस्तरीय संस्थाओं के निर्वाचनों में ग्रामीण समुदायों के सदस्यों [illegible] आधार पर व्यक्तिगत रूप से निर्वाचनों में मतदान करना पड़ता है तो कुप्रभाव ग्राम के सामुदायिक जीवन मे पड़े बिना नहीं रह सकता। [illegible] जन समूहों की ऐसी पद्धति उन्हें आणविक बना देती है। इसके निमित्त ज[illegible] जी का सुझाव है कि ग्राम पंचायतों के अधिकारियों के निर्वाचन ग्राम की आम राय से एक निश्चित छोटी अवधि के लिए किये जांय। यदि यह हो कि आम राय से चुनाव नहीं हो पा रहा है तो परची प्रथा अपना सकते है। यहां पर पुनः वे प्राचीन भारतीय पद्धतियों का दृष्टान्त दे[illegible] कहते हैं कि जब यह बात तब प्रचलित थी तो आज इसे लागू करने में अ[illegible] परिणाम निकलेंगे। जयप्रकाश जी इस दलील को नही मानते कि आज के [illegible] में अनेक स्थानीय भेद-भाव है, जिनके कारण ऐसा सम्भव नहीं होगा। उनका मत है कि ऐसे जातिगत या अन्य भेदभाव प्राचीन काल मे भी थे। ग्राम पंचायतों को अपने दायित्व निभाने की प्रेरणा तथा प्रोत्साहन मिलने चाहिए। ग्राम पंचायत मे कार्य करने के लिए बाहर से या ऊपर से कोई कर्मचारी नहीं थोपा जाना चाहिए। ग्राम के प्रत्येक व्यक्ति की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति, बच्चों को अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा, रोगों की रोकथाम, कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन द्वारा सम्पूर्ण ग्राम समुदाय की आत्म-निर्भरता को सुनिश्चित करना ग्राम समुदाय का दायित्व रहना चाहिए। प्रारम्भ मे पंचायत को बाह्य सहा-

पड़ा हो आवश्यकता पड़ सकती है। ऐसी सहायता राज्य सरकार के द्वारा दी जानी चाहिए और वह भी तब जब कि यह देख लिया जाय कि पंचायत अपने साधनों से अपने सामुदायिक दायित्व निभा रही है और कमी की पूर्ति के लिए साधन अपर्याप्त है। समाज-सेवियों को ग्रामों में व्यक्तिगत रूप से नहीं, वरन् समूहों में जाना चाहिए और वहां जाकर केवल प्रचार कार्यों में नहीं लगना चाहिए वरन् पंचायतों को रचनात्मक निर्देश देने चाहिए कि वे किस प्रकार सामुदायिक विकास तथा कल्याण का कार्य कर सकती हैं।

ग्राम पंचायत के उच्चतर स्तर पर बलवन्तराय मेहता अध्ययन दल द्वारा इंगित की गयी संस्था 'पंचायत समिति' एक क्षेत्रीय समुदाय के रूप में प्रभावशाली लोकतान्त्रिक समुदाय का निर्माण करेगी। ग्राम पंचायत के भांति ही पंचायत समिति के संगठन, कार्य तथा दायित्वों के विषय में जयप्रकाश जी ने अपने निश्चित सुझाव दिये हैं जो उनकी निर्दलीय तथा समुदायगत लोकतन्त्र की धारणा पर आधारित है। लोकतान्त्रिक संस्थाओं के सामुदायिक स्वरूप को बनाये रखने की धारणा व्यक्त करते हुए जयप्रकाश जी कहते हैं कि पंचायत समिति का निर्माण ग्राम पंचायतों के सदस्य नहीं करेंगे वरन् समग्र रूप में ग्राम पंचायत करेगी। पंचायत समिति ग्राम पंचायतों का प्रतिनिधित्व करेगी न कि ग्राम पंचायत के सदस्यों का। चूंकि स्वयं ग्राम पंचायत समूचे रूप में ग्राम के समस्त जनसमूह का प्रतिनिधित्व करती है इसलिए इन संस्थाओं में प्रतिनिधित्व का आधार व्यक्तिगत मत न होकर सामुदायिक होगा। इसी प्रकार जिला परिषदें जिले की समस्त पंचायत समिति द्वारा और प्रान्तीय सभा जिला परिषदों द्वारा और राष्ट्रीय लोकसभा प्रान्तीय सभाओं के द्वारा निर्मित की जानी चाहिए। ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न स्तरों की प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं के मध्य आंगिक एकता बनी रहेगी और साथ ही उच्चस्तरीय संस्थायें अपने से निम्नस्तरीय प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं का प्रतिनिधित्व करेंगी न कि वहां की जनता के व्यक्तिगत मतदाताओं का।

इन विभिन्न स्तरीय संस्थाओं के कार्य के संबन्ध में जय प्रकाश जी का कहना है कि ग्रामस्तर पर कार्य-पालिका सम्बन्धी कार्य ग्राम पंचायत के द्वारा सम्पन्न किये जायेंगे जो ग्राम सभा द्वारा इसी हेतु निर्वाचित की जाती हैं। ग्राम स्तर के ऊपर की समस्त प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं के कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य संस्था के सदस्यों में से छांटे गये सदस्यों की समितियों के द्वारा सम्पन्न किये जायेंगे। ये विभिन्न समितियां सबद्ध संस्था के अधिकार क्षेत्र में आने वाले

विविध कार्यों के लिए पृथक होंगी। साथ ही प्रत्येक समिति अपने अधिकार क्षेत्र में पूर्ण शक्ति धारण करेगी जिसमें उस विभाग से सम्बद्ध अधिकारियों तथा कर्मचारियों के ऊपर पूर्ण प्रशासनिक नियन्त्रण भी सम्मिलित होगा। राष्ट्रीय तथा प्रान्तीय स्तर की संस्थाओं के शीर्षों पर विभिन्न समितियों के अध्यक्षों से निर्मित एक सामंजस्यकारी समिति होगी। इसके अभाव में प्रशासनिक सामंजस्य न रहने के कारण सम्पूर्ण संस्था के द्वारा किये जाने वाले शासनिक कार्यों के समुचित संचालन में बाधा पड़ेगी। इसके निर्णयों को मानने के लिए प्रत्येक समिति बाध्य होगी। जिलास्तर तथा उसके नीचे क्रमशः जिला परिषदें, पंचायत समितियां तथा ग्राम पंचायतें ही ऐसे सामंजस्य का कार्य करेंगी। ये संस्थायें समय समय पर बैठकें करती रहेंगी। इस प्रकार राष्ट्रीय तथा प्रान्तीय स्तरों पर प्रधानमन्त्री, मुख्यमन्त्री, मन्त्रिमण्डल आदि संस्थाओं की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। जयप्रकाश जी की दृष्टि में ये पद वीरपूजा के प्रतीक हैं और इनके द्वारा अधिनायकवादी प्रवृत्ति बढ़ती है। इन सभाओं के अध्यक्षों का दायित्व यह होगा कि वे सम्पूर्ण सभा के कार्य संचालन को नियमानुसार सम्पादित किया जाना सुनिश्चित रखें। राष्ट्रीय सभा का अध्यक्ष प्रधान सेनापति भी होगा और इस क्षमता में वह प्रतिरक्षा समिति के परामर्श से कार्य करेगा, जिसका वह स्वयं अध्यक्ष होगा। उसे कुछ आपातकालीन शक्तियाँ भी प्राप्त रहनी चाहिए। सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक संगठन की यह व्यवस्था समुदायगत लोकतन्त्र की प्रतीक होने के साथ-साथ प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण को भी सुनिश्चित करेगी। ये निर्वाचक परिषदें इसकी भी देख-रेख रखें कि जो प्रत्याशी विजयी होते हैं, वे जनता के प्रतिनिधि रूप में काम करते हैं या अपने स्वार्थ साधन में लग जाते हैं।

प्रशासनिक कुशलता के सम्बन्ध में जयप्रकाश जी की धारणा यह है कि प्रशासन में भ्रष्टाचार तथा नौकरशाही तन्त्र की प्रवृत्ति को नियन्त्रित करने के लिए जो लोग तानाशाही तन्त्र की आवश्यकता पर बल देते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि तानाशाही के अन्तर्गत ही नौकरशाही को पनपने के अवसर मिलते हैं। अतएव प्रत्यक्ष स्वायत्तशासन की ऐसी पद्धति अपनायी जानी चाहिए जिसके अन्तर्गत नौकरशाही के ऊपर जन प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष नियन्त्रण बना रहे। इन प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं के प्रतिनिधियों के भ्रष्ट हो जाने की आशंका से मना नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि जनता सचेत रहे और उसका प्रत्यक्ष नियन्त्रण इन संस्थाओं के ऊपर हो, तो प्रतिनिधियों तथा सिविल सेवकों वे दोनों के सम्पर्क में जनता के रहने से उनमें भ्रष्टाचार आ जाने के अवसर

शनै शनै समाप्त होते जायेंगे। जयप्रकाश जी लोकतन्त्र की सफलता के लिए निम्न स्तरीय सामुदायिक संस्थाओं को शक्तियों का अधिकाधिक विकेन्द्रीकरण करने की कामना को महत्व देते हैं। उनके मत में शक्तियों के विकेन्द्रीकरण का प्रारम्भ में यह परिणाम हो सकता है कि ये संस्थायें शक्तियों का समुचित उपयोग न करें अथवा दुरुपयोग भी करें। परन्तु जब उन्हें उत्तरदायित्वों को सीखने का अवसर मिलेगा और स्वैच्छिक सामाजिक कार्यकर्ता उन्हें इन्हें सीखने में सहायता देंगे तो यह समस्या कालान्तर में स्वयं हल होती जायेगी। विकेन्द्रीकरण के निमित्त जयप्रकाश जी पुलिस, न्याय, कराधार कर वसूली, समाज सेवाये, नियोजन आदि के अधिकाधिक मात्रा में विकेन्द्रीकरण के पक्ष में है। इस सारी योजना को रातों रात न तो कार्यान्वित किया जा सकता है और न ऐसा उचित होगा। अतः शनै. शनै. इस दिशा में विकास किया जा सकता है।

जयप्रकाश जी का मत है कि जिला परिषद स्तर तक के त्रिस्तरीय संगठनों के अप्रत्यक्ष निर्वाचन होने तथा ग्राम पंचायतों में दलगत आधार पर निर्वाचन न होने के कारण इन निर्वाचनों में राजनीतिक दलों का लाना अवांछनीय है। लोकसभा तथा राज्य विधान सभाओं के लिए जहाँ निर्वाचनों में दलबन्दी सक्रिय हुई है, दलों को चाहिए कि वे जिलास्तर तक की सामुदायिक संस्थाओं के स्वरूप को विकृत करने से अपने को पृथक रखें। दलों को आपस में ऐसा समझौता कर लेना चाहिए कि वे इन निर्वाचनों के निमित्त इन सामुदायिक संस्थाओं को नहीं घसीटेंगे। लोकसभा तथा राज्यविधान सभाओं के लिए विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों में खड़े होने वाले प्रत्याशियों का राजनीतिक दलों द्वारा चयन नहीं किया जाना चाहिए प्रत्युत यह कार्य स्वयं मतदाता करें। इसके निमित्त प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र के मतदाता मतदान केन्द्रों के अनुसार एकत्र होकर अपने प्रतिनिधियों का चयन करें। फिर ये प्रतिनिधि सम्पूर्ण निर्वाचन क्षेत्र के एक केन्द्र पर निर्धारित तिथि को एक सम्मेलन में एकत्र हों और वहाँ पर प्रत्याशियों के नाम प्रस्तावित करें। प्रस्तावित प्रत्याशियों में से जिन्हें समस्त प्रतिनिधियों के निर्धारित प्रतिशत मत प्राप्त हो जाय, उन्हें प्रत्याशी माना जाय। इससे पूर्व राजनीतिक दल निष्क्रिय रहें। तत्पश्चात् दल उक्त प्रत्याशियों में से ही अपने प्रत्याशी निश्चित करें और उनके पक्ष में प्रचार करें। दलों के केन्द्रीय अभिकरणों द्वारा लाये गये प्रत्याशी वास्तव में किसी निर्वाचन क्षेत्र की जनता के अपने प्रतिनिधि नहीं हो सकते। इस प्रथा द्वारा दलबन्दी के एक भारी दोष का निराकरण हो सकता है। जयप्रकाश जी की उपर्युक्त धारणायें उनके मस्तिष्क के निर्दलीय लोकतन्त्र की धारणा के

कार्यान्वयन के निमित्त कुछ सैद्धान्तिक आधार-प्रस्तुत करती है। वे अपरिवर्तनी नहीं हैं। इस सिद्धान्तों को समुचित परिवर्तन के साथ लागू किये जाने की बा उन्होने स्वीकार की है।

जनता के लिए स्वराज्य

जयप्रकाश जी की धारणा में लोकतन्त्र का रूप भागीदार लोकतन्त्र चाहिए न कि सहमति का शासन। जैसा कि पाश्चात्य देशों में पाया ज उनकी यह धारणा शासन में पर्याप्त लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की नीति समर्थन करती है। उनके मत से पाश्चात्य ढग के लोकतन्त्रों में वयस्क मताधि के द्वारा जनता अपने प्रतिनिधियों द्वारा शासन चलाने की सहमति दे देती भले ही उन देशो में स्थानीय स्वायत्तशासन की संस्थायें भी पर्याप्त मा विकसित की गयी हैं, तथापि वे भागीदार लोकतन्त्र सिद्ध नही हो सके हैं। महत्वपूर्ण नीति सम्बन्धी निर्णय केन्द्रीय सरकारें लेती हैं जो अपने को जनता प्रतिनिधि होने का दावा करती हैं। यह स्वराज्य नही है और न ही स्वशास स्वराज्य या भागीदार लोकतन्त्र में शासन संचालन का कार्य ऊपर से नीचे नही है, प्रत्युत नीचे से ऊपर को होना चाहिए और निम्न स्तरो से उच्च स्त की संस्थाओं के हाथ में क्रमिक ढग से शक्तियो की मात्रा कम होती जा चाहिए।

जयप्रकाश जी के अनुसार लोकतन्त्र की वास्तविक उपलब्धि के लि राजनीतिक एवं आर्थिक शक्तियो का विकेन्द्रीयकरण आवश्यक है। जो लोग ए सुदृढ़ केन्द्र से युक्त राज्य व्यवस्था अथवा एकात्मक सरकार की स्थापना क राष्ट्रीय सुदृढ़ता के निमित्त आवश्यक समझते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि ऐसा राष्ट्र बाह्य दृष्टि से भले ही सुदृढ़ हो, परन्तु आन्तरिक दृष्टि से वह सदैव कठिनाइयो में फसा रहता है। ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत कालान्तर में लोकतन्त्र का स्थान अधिनायकवाद लेता जाता है और उसमें शासन के अन्तर्गत फासीवादी प्रवृत्तियां बढती जाती है। राष्ट्रीय एकता तथा सुदृढ़ता के ज्ञान की कसौटी यह नही है कि केन्द्रीय या राष्ट्रीय सरकार के हाथ मे कौन-कौन सा शासन के प्रमुख विषय हैं, प्रत्युत सारे राष्ट्र की जनता के हृदय में भावात्मक एकता, सामूहिक आकाक्षाओ, अनुभवो, सद्भावनाओ आदि का अस्तित्व है।

स्वतन्त्र भारत मे ग्रामों मे पंचायतो की स्थापना तथा बलवन्तराय मेहता अध्ययन दल द्वारा सुझायी गयी लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था के

कार्यान्वयन पंचायती राज अथवा निम्न स्तर से स्वराज्य की स्थापना की दिशा में एक स्वागत योग्य कदम है। इस योजना का उन्होंने इस आधार पर विशेष स्वागत किया है कि इसका उद्देश्य सामुदायिक विकास कार्यक्रमों में स्थानीय जनता को भाग लेने का अवसर प्रदान करना है। यह भागीदार लोकतन्त्र के निमित्त और निम्नतम ग्रामीण स्तरों की जनता का लोकतन्त्र का वास्तविक उपलब्ध की दिशा में यह अच्छा कदम है। पंचायती राज की सफलता के लिए जयप्रकाश जी ने कुछ परिस्थितियों के निर्माण के सुझाव भी दिये हैं जो संक्षेप में इस प्रकार हैं।

1–लोकतन्त्र के लिए जन शिक्षा के कार्यक्रमों को प्रभावी तथा सक्रिय बनाना। यह कार्य समाज सेवकों, निर्दलीय भावना से राजनीतिक दलों के कार्यकर्ताओं, कार्यों में नियुक्त सरकारी कर्मचारियों एवं विभिन्न प्रकार के समाज सेवा संगठनों के द्वारा किया जा सकता है। ग्रामों में पुस्तकालयों, सहकारी संस्थाओं, शिक्षा संस्थाओं आदि के माध्यम से भी यह कार्य कराया जा सकता है। विभिन्न संगठनों को जन शिक्षा के सम्बन्ध में गोष्ठियाँ करना, साहित्य का सृजन करना, सर्वेक्षण आदि के कार्यों में भी लीन रहना चाहिए।

2–पंचायती संस्थायें दलबन्दी से मुक्त रहें। राजनीतिक दलों के कार्यकर्ता न तो दलबन्दी के आधार पर इन संस्थाओं के निर्वाचित पदों के निमित्त अपने प्रत्याशी खड़े करें और न ही इनमें निर्वाचित प्रतिनिधियों से कोई दलीय कार्य करायें। इन संस्थाओं तथा उनके प्रतिनिधियों के ऊपर दलों का किसी भी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रहना चाहिए, प्रत्युत ये पूर्णतया जनता के नियन्त्रण में रहें। दलों के कार्यकर्ता उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त अन्य कार्यों में पंचायतों को मुक्त रहने दें।

3–पंचायती संस्थाओं के सम्बन्ध में शक्तियों का विकेन्द्रीकरण वास्तविक होना चाहिए, न कि कोरा कागजी या दिखावे मात्र का। राज्य सरकारें इस सम्बन्ध में इन संस्थाओं की उपादेयता तथा दक्षता पर विश्वास रखें, न कि सन्देह की दृष्टि से उन्हें अकुशल समझें। जब तक इन संस्थाओं के ऊपर विश्वास रख कर उन्हें पूर्ण उत्तरदायित्व नहीं सौंपे जायेंगे, तब तक यह मान लेना कि वे अमुक दायित्वों को कुशलतापूर्वक नहीं सम्पन्न करेंगे, भ्रामक है। प्रारम्भ में गलतियाँ भी हो सकती हैं और अकुशलता भी रह सकती है, परन्तु इनसे यह निष्कर्ष निकालना कि पंचायतें उन दायित्वों को सम्पन्न नहीं कर सकतीं अतः उन्हें अधिक शक्तियों का हस्तान्तरण नहीं किया जाना चाहिए एक निराधार तर्क है। जयप्रकाशजी का तो यहाँ तक मत है कि लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की नयी

व्यवस्था के अन्तर्गत जिलाधिकारी को जिला प्रशासन के प्रमुख अधिकारी के रूप में उसी भांति एक वैधानिक अभिकर्ता के रूप में रहना चाहिए, जिस प्रकार राज्यपाल राज्यों में केन्द्र सरकार के अभिकर्ता के रूप में हैं।

4—सत्ता के विकेन्द्रीकरण के साथ-साथ वित्तीय साधनों का भी विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। इस प्रकार ग्राम-पंचायतों तथा पंचायत समितियों को भूराजस्व का पूर्णतया हस्तान्तरण कर दिया जाना चाहिए। भूराजस्व के अतिरिक्त कुछ अन्य साधन भी उन्हें उपलब्ध कराये जाने चाहिए, क्योंकि भूराजस्व से प्राप्त होने वाली धनराशि पंचायत संस्थाओं के व्यय के लिए अपर्याप्त सिद्ध होगी। इसके अतिरिक्त राज्य तथा केन्द्र सरकारों से पंचायत संस्थाओं को विकास कार्यों के निमित्त अनुदान मिलते रहने चाहिए।

5—पंचायती राज संस्थाओं के अन्तर्गत कार्य करने वाले सिविल सेवकों के ऊपर सम्बद्ध पंचायत संस्था का नियन्त्रण रहना चाहिए और इन अधिकारियों का उत्तरदायित्व भी पंचायत संस्थाओं के प्रति होना चाहिए। बिना ऐसी व्यवस्था के नौकरशाही तन्त्र की प्रवृत्ति बनी रहेगी।

6—निम्न स्तर से स्वराज्य की धारणा भागीदार लोकतन्त्र की आधारशिला है। इस व्यवस्था के निमित्त त्रि-स्तरीय पंचायती राज संस्थाओं में ग्राम पंचायतों का स्थान आधारभूत है। अतः ऐसी लोकतान्त्रिक व्यवस्था को वास्तविक बनाने के लिए ग्राम स्तर में ग्राम पंचायत या उसके प्रधान को ही वास्तविक कार्यकारी शक्तियां प्रदान करना उचित नहीं होगा। प्रत्युत ग्राम सभा को प्रमुख स्थिति प्राप्त रहनी चाहिए जो कि ग्राम के समस्त वयस्क लोगों से निर्मित संस्था है। प्रधान या पंचायत को ग्राम सभा द्वारा पारित निर्णयों का कार्यान्वयन करना चाहिए, न कि उन्हें स्वविवेकी शक्तियों का प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त हो।

7 ग्राम पंचायतों के सदस्यों तथा प्रधान का निर्वाचन जहां तक सम्भव हो निर्विरोध करने की प्रेरणा ग्राम के लोगों को दी जानी चाहिए अन्यथा ग्रामों में है, उन्हें और अधिक बढ़ने का अवसर मिलेगा। इसके परिणाम-स्वरूप पंचायत लोकतन्त्र ही खतरे में पड़ जायेगा। यदि पंचायती राज के अन्तर्गत प्रधान तथा पंचायत के सदस्यों को जनसेवा के स्थान पर कुछ विशेष प्रशासन सम्बन्धी शक्तियां प्रदान की जायेंगी, तो चुनाव लड़ने की प्रवृत्ति बढ़ेगी। उसके कारण भेद भाव स्पष्टतया दृष्टिगोचर होने लगेंगे। अतएव पंचायत के पदाधिकारियों को सेवा सम्बन्धी अधिकार ही प्राप्त रहने चाहिए, जिसका प्रयोग करने के

निमित्त के जनता के सहयोग पर ही निर्भर रह सकें। इसका प्रभाव यह होगा कि ग्रामों की समस्त जनता को अपने सामुदायिक मामलों के कार्यान्वयन में भाग लेने का अवसर मिलेगा। भागीदार लोकतन्त्र का यही सार है। सामुदायिक विकास तथा पुनर्निर्माण की यह मूलभूत आवश्यकता है।

3. पंचायती राज के सफल कार्यान्वयन के निमित्त एक और नूतन सुझाव जयप्रकाश जी का यह है कि पंचायती राज के दैनिक संचालन को दलगत आधार पर बने मन्त्रालयों या नौकरशाही निदेशालयों के अधीन नहीं रखा जाना चाहिए। राज्य सरकार का कार्य विभाजन द्वारा इन संस्थाओं की व्यवस्था करना होना चाहिए। तत्पश्चात् नियम तथा विनिमय बनाने का कार्य मन्त्रालयों तथा निदेशालयों के हाथ में न रख कर एक निष्पक्ष आयोग को दे दिया जाना चाहिए। सम्भवतः जयप्रकाश जी पंचायती राज के निमित्त एक स्वायत्तशासी निगम व्यवस्था की स्थापना सदृश धारणा व्यक्त करते हैं यद्यपि उन्होंने निगम के स्थान पर आयोग शब्द का प्रयोग किया है।

पंचायती राज्य की व्यवस्था भागीदार लोकतन्त्र के सम्बन्ध में जयप्रकाश जी के विचारों में बहुत सगति रखती है। वे इन संस्थाओं को जिलास्तर तक ही सीमित नहीं रखना चाहते प्रत्युत उच्चतर राज्य एवं राष्ट्रीय स्तर पर भी इसे बढ़ाना चाहते हैं। उनके निर्दली लोकतन्त्र तथा भागीदार लोकतन्त्र सम्बन्धी विचार इस दिशा की ओर संकेत करते हैं। जयप्रकाश जी पंचायती राज के उन आलोचकों से सहमति नहीं रखते जो ग्रामों की जनता की अज्ञानता, शासनिक ज्ञान की असमता तथा पिछड़ेपन के कारण पंचायतों को अधिक लोकतान्त्रिक अधिकार देने के विरुद्ध बातें कहते हैं। जयप्रकाश जी की दृष्टि में ये आलोचक वैसे ही हैं जैसे स्वतन्त्रता पूर्व के ब्रिटिश आलोचक थे जो भारत को स्वायत्तशासी अधिकार देने में ऐसे ही बहाने किया करते थे। इन आलोचकों को जयप्रकाशजी का उत्तर है कि 'उत्तम शासन स्वायत्त शासन का स्थानापन्न नहीं हो सकता'। वे उन आलोचकों के भी विरुद्ध हैं जो ग्रामीण जनता की रूढ़िवादिता तथा वहां कुछ परम्परागत कुछ विशिष्ट वर्गों के अस्तित्व को पंचायती लोकतन्त्र की प्रगतिवादिता के निमित्त अनुपयुक्त समझते हैं। जयप्रकाशजी का मत है कि ऐसे तत्वों के अस्तित्व के आधार पर ही ग्रामों की जनता को लोकतान्त्रिक अधिकारों से वंचित रखना अवाछनीय होगा। समाज शिक्षा के कार्यक्रमों द्वारा इन तत्वों को दबाया जा सकता है। गलती करके सीखने का अवसर ग्रामीण जन-समूहों को दिया जाना चाहिए। बिना स्वायत्तशासी अधिकार दिये लोकतन्त्र का विकास तथा प्रसार

बराबर घूमते रहे हैं और उनकी समस्याओं से जूझते रहे हैं क्योंकि उनकी विचारधारा अध्ययन मात्र ही नहीं है वरन् उनके विचारों के पीछे एक क्रान्तिकारी की उत्कट साधना भी है। यही कारण है जिसके चलते जयप्रकाश जी की विचारधारा कहीं एक जगह पर आकर रुकी नहीं, वरन् बराबर आगे बढ़ती चली गयी।

सन् 1969 तक जयप्रकाश जी का दृढ़ विश्वास हो गया कि देश की समस्याओं का निदान तब तक नहीं हो सकता जब तक कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में क्रान्ति न लायी जाये, उस समाज की नींव नहीं पड़ सकती जिसका सपना वे अपने राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ से देख रहे थे। संघर्ष और क्रान्ति का मार्ग अहिंसात्मक ही मानते हैं और देशवासियों को व्यापक क्रान्ति के लिए आह्वान किया। सन् 1969 से सन् 1975 के मध्य में जयप्रकाश जी के मध्य चिन्तन में काफी विकास हुआ और अन्त में सम्पूर्ण क्रान्ति का नारा दिया। सम्पूर्ण क्रान्ति का उद्देश्य का अर्थ–समाज में आमूल परिवर्तन है। इसके लिये ग्राम से लेकर देश की राजधानी तक लोक समितियों के निर्माण पर जोर दिया है जो सरकार के कार्य कलापों पर कड़ी दृष्टि रखे। उनके अनुसार विधान मण्डलों एवं संसद के प्रत्याशियों के चयन में जनता का हाथ हो और जनता को अपने इन सदस्यों को वापस बुलाने का अधिकार हो। सम्पूर्ण क्रान्ति के माध्यम से ही निर्धनता और शोषण का अन्त होगा और मनुष्य मनुष्य के मध्य समता के आधार पर सम्बन्ध स्थापित होंगे।

मूल्यांकन

इस प्रकार जयप्रकाश जी के सम्पूर्ण राजनीतिक विचारों में बीसवीं शताब्दी की ऐतिहासिक शक्तियों और संघर्षों का तथा सामाजिक कुण्ठा और सामाजिक क्रान्तियों का विवेचन है। उनके चिन्तन के उत्तरोत्तर विकास में स्वाधीनता संघर्ष, समाजवादी सिद्धान्त, गांधी जी का सान्निध्य और आचार्य विनोबा भावे विचार का सामीप्य, महत्वपूर्ण तथ्य हैं। जयप्रकाश जी की अभिरुचि प्रारम्भ से ही गम्भीर और गहन विषयों–समाज रचना, स्वातन्त्र्य, लोकतन्त्र, समाजवाद आदि के प्रति रही है। जयप्रकाश जी की वैचारिक व्याप्ति भी सिद्ध न है। जयप्रकाश जी का चिन्तन मौलिक और क्रान्तिकारी तथा परिवर्तक और दर्शनशील है। उनकी वैचारिक शक्ति भारत और विश्व के महान् विचारकों की तुलना में सक्षम और सामर्थ्यपूर्ण है। वैचारिक सक्षमता और सामर्थ्य, जयप्रकाश जी के घटनापूर्ण और ऐतिहासिक जीवन के निःसृत है।

एक विख्यात वकील और महान् देशभक्त थे जिन्होंने अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा मे कोई कसर नहीं रखी। प्रारम्भ मे उन्हे घर पर ही सुयोग्य शिक्षकों द्वारा शिक्षित किया गया। बाल्यावस्था में ही जवाहर लाल जी को अत्यधिक प्रसन्नता सन् 1904 में रूस को जापान द्वारा पराजित करने से हुई। इस घटना ने उनके हृदय में भारत राष्ट्र की स्वतन्त्रता के सपने भर दिये। अब राष्ट्रीय विचार उनके मानस में भरने लगे और यूरोप के पंजे से भारत तथा एशिया की मुक्ति से वह व्यग्र रहने लगे।

15 वर्ष की आयु में जवाहरलाल हैरो में पढने के लिए इंगलैंड गये। दो वर्ष बाद ही वे कैम्ब्रिज चले गये। उन्होंने रसायन विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान और वनस्पति विज्ञान को अपने पाठ्य विषय के रूप मे चुना। इतिहास और अर्थशास्त्र के प्रति भी उनकी गहरी रुचि रही। कैम्ब्रिज की पढ़ाई के बाद उन्होंने कानून का अध्ययन किया और सन् 1912 में वे "इनर टेम्पल" से बैरिस्टर बने। इंग्लैंड के अपने आवास काल मे वे बंग-भंग के फलस्वरूप भारत मे पैदा हुई गरमियो में रुचि लेते रहे।

भारत लौटने के बाद जवाहर लाल नेहरू जी ने वकालत प्रारम्भ की। लेकिन शीघ्र ही कानून के क्षेत्र मे नीरसता और घुटन का अनुभव करते हुए वे राजनीतिक सरगमियो की ओर बढ चले। सन् 1912 मे बांकीपुर मे हुए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन मे उन्होंने भाग लिया। तत्पश्चात् वे लोकमान्य तिलक और श्रीमती एनी बेसेन्ट के नेतृत्व मे गठित दोनो गृह शासन लीगों के सदस्य बन गये। सन् 1916 मे कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन के समय उनके जीवन में एक क्रान्तिकारी मोड़ आया। महात्मा गांधी जी से सर्वप्रथम साक्षात्कार हुआ जो आगे चल कर इस रूप मे फलीभूत हुई कि महात्मा जी ने जवाहर लाल को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया और यह भी भविष्यवाणी कर दी कि "मेरे मरणोपरान्त जवाहरलाल मेरी ही भाषा मे बोलेगा।" वास्तव मे इन दो महापुरुषों के मिलन का इतिहास की घटनाओं पर बड़ा ही विलक्षण प्रभाव पड़ा। सन् 1916 मे ही उनका विवाह कमला कौल से हुआ। उनके एक सन्तान उत्पन्न हुई, इन्दिरा प्रियदर्शिनी, जो भारत की प्रधानमन्त्री पद पर रह चुकी है। राष्ट्रीय आन्दोलन मे समस्त नेहरू परिवार ने प्रमुख भाग लिया। कमला कौल ने पति के जीवन के प्रत्येक सुख दुख मे पूरा-पूरा भाग लिया। सन् 1936 मे गम्भीर बीमारी के कारण यूरोप में उनका देहान्त हो गया। जवाहरलाल जी तब जेल मे थे, लेकिन उनकी पत्नी के

वाहुत किया। समस्त प्रकार के पराधीन लोगों के मुक्ति आन्दोलन के विभि प्रसंगों के रूप में भी उन्हें मान्यता मिली। राष्ट्रीय नवचेतना को उनका वि योगदान, अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि के प्रति जागृति उत्पन्न करना, और यह आभ कराना था कि राजनीतिक क्रान्ति के साथ, निश्चय ही आर्थिक क्रान्ति भी हो चाहिए। उन्होंने घोषणा की कि "समाजवाद के बिना वास्तविक स्वतन्त्रता न हो सकती" और अपने इस विचार को उन्होंने कांग्रेस के सन् 1936 के लखन अधिवेशन में विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया, जब वे दूसरी बार कांग्रेस के अध्य निर्वाचित हुए। कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने उन विशाल अभियानों क संगठन कराया जिनके चलते भारत सरकार अधिनियम सन् 1935 के अधी हुए निर्वाचनों में कांग्रेस को अधिकांश प्रान्तों में विजय प्राप्त हुई।

नेहरू जी ने लोकतान्त्रिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले प्रत्ये आन्दोलन का समर्थन किया। यूरोप में नाजीवाद के जाल, इथोपिया पर इटल के आक्रमण, स्पेन के गृहयुद्ध, चीन पर जापान के आक्रमण और सभ्यता को फासी वादी खतरे से मुक्त कराने में गणतन्त्रों की असफलता ने नेहरू जी को बहुत उद्विग्न किया। लोकतान्त्रिक उद्देश्यों के प्रति अपनी एकात्मकता प्रदर्शित करने के लिए वे स्पेन गये।

द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ जाने पर पण्डित जी ने चाहा था कि भारत भी फासी-वाद के विरुद्ध विश्व संघर्ष में भाग ले। लेकिन तत्कालीन भारत सरकार ने मित्र राष्ट्रीय शिविर में भारत को घसीटने के कारण उस संघर्ष में भारतीय जनता को कोई सार्थक तथा सम्मानपूर्ण योगदान नहीं करने दिया। भारतीयों की माग थी कि युद्ध काल में उसकी अस्थायी राष्ट्रीय सरकार का निर्माण हो और ब्रिटिश सरकार स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा करे कि युद्ध विराम संधि के पश्चात् भारत को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जायेगी। वायसराय ने भारतीय नेताओं से परामर्श तक करना उचित नहीं समझा और यह घोषणा कर दी कि भारत भी युद्ध में सम्मिलित है। विदेशी शासन के इस दुष्कार्य ने भारतीयों में आक्रोश की जोरदार लहर पैदा कर दी और प्रान्तों के कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने अविलम्ब त्यागपत्र दे दिये।

अब राष्ट्रीय आन्दोलन में एक नया मोड़ आया और 8 अगस्त सन् 1942 को बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने 'भारत छोड़ो' का ऐतिहासिक प्रस्ताव प्रस्तुत किया। इसके तत्काल बाद ही महात्मा गांधी सहित कांग्रेस कार्य-

जागृत किया। समस्त संसार के पराधीन लोगों के मुक्ति आन्दोलन के विशिष्ट प्रवक्ता के रूप में भी इन्हें मान्यता मिली। राष्ट्रीय नवचेतना को उनका विशेष योगदान, अन्तर्राष्ट्रीय पृष्ठभूमि के प्रति जागृति उत्पन्न करना, और यह आभास कराना था कि राजनीतिक क्रान्ति के साथ, निश्चय ही आर्थिक क्रान्ति भी होनी चाहिए। उन्होंने घोषणा की कि "समाजवाद के बिना वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं हो सकती" और अपने इस विचार का उन्होंने कांग्रेस के सन् 1936 के लखनऊ अधिवेशन में विस्तृत रूप से प्रस्तुत किया, जब वे दूसरी बार कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने उन विशाल अभियानों का संगठन कराया जिनके चलते भारत सरकार अधिनियम सन् 1935 के अधीन हुए निर्वाचनों में कांग्रेस को अधिकांश प्रान्तों में विजय प्राप्त हुई।

नेहरू जी ने लोकतान्त्रिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले प्रत्येक आन्दोलन का समर्थन किया। यूरोप में नाजीवाद के जाल, इथोपिया पर इटली के आक्रमण, स्पेन के गृहयुद्ध, चीन पर जापान के आक्रमण और सभ्यता को फासीवादी खतरे से मुक्त कराने में गणतन्त्रों की असफलता ने नेहरू जी को बहुत उद्विग्न किया। लोकतान्त्रिक उद्देश्यों के प्रति अपनी एकात्मकता प्रदर्शित करने के लिए वे स्पेन गये।

द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ जाने पर पण्डित जी ने चाहा था कि भारत भी फासीवाद के विरुद्ध विश्व संघर्ष में भाग ले। लेकिन तत्कालीन भारत सरकार ने मित्र राष्ट्रीय शिविर में भारत को घसीटने के कारण उस संघर्ष में भारतीय जनता को कोई सार्थक तथा सम्मानपूर्ण योगदान नहीं करने दिया। भारतीयों की माग थी कि युद्ध काल में उसकी अस्थायी राष्ट्रीय सरकार का निर्माण हो और ब्रिटिश सरकार स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा करे कि युद्ध विराम संधि के पश्चात् भारत को स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जायेगी। वायसराय ने भारतीय नेताओं से परामर्श तक करना उचित नहीं समझा और यह घोषणा कर दी कि भारत भी युद्ध में सम्मिलित है। विदेशी शासन के इस दुष्कार्य ने भारतीयों में आक्रोश की जोरदार लहर पैदा कर दी और प्रान्तों के कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने अविलम्ब त्यागपत्र दे दिये।

अब राष्ट्रीय आन्दोलन में एक नया मोड़ आया और 8 अगस्त सन् 1942 को बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने 'भारत छोड़ो' का ऐतिहासिक प्रस्ताव प्रस्तुत किया। इसके तत्काल बाद ही महात्मा गांधी सहित कांग्रेस कार्य-

कारिणी के सभी सदस्य गिरफ्तार कर लिए गये। नेहरू जी लगभग 3 वर्ष तक कैद में रखे गये। देश की स्वतन्त्रता के लिए इस वीर सेनानी ने 9 वर्ष से भी अधिक समय जेल के सीकचों में काटा। जेल जीवन ने उन्हें चिन्तन करने और अपने को व्यक्त करने का अवसर दिया। उनकी सभी महत्वपूर्ण पुस्तकें जेल में ही लिखी गयी।

सितम्बर सन् 1946 में जब भारत में अन्तरिम सरकार बनी तो जवाहर लाल नेहरू ने शासन परिषद् के उपाध्यक्ष पद का भार संभाला। मुस्लिम लीग द्वारा घोर साम्प्रदायिक दंगे भड़का देने पर तत्कालीन ब्रिटिश श्रमिक दल के प्रधान मन्त्री एटली ने 20 फरवरी, सन् 1948 को यह घोषणा कर दी कि ब्रिटेन जून, सन् 1948 से पहले भारतीयों को सत्ता हस्तान्तरित कर देगा। लार्ड माउण्टबेटन ने, जो मार्च सन् 1947 में गवर्नर जनरल एवं वायसराय के पद पर नियुक्त हुए थे, यह स्पष्ट अनुभव कर लिया कि तत्कालीन स्थिति में सत्ता हस्तान्तरित इस तिथि से बहुत पहले ही हो जानी चाहिए। यदि सम्भव हो, एक भारत को नहीं तो दो राष्ट्रों। को प्रारम्भ में नेहरू जी और कांग्रेस के अन्य नेतागण देश विभाजन की बात से बुरी तरह भड़क उठे, लेकिन जून, सन् 1947 में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने परिस्थितियों की विषमता को देखते हुए, विभाजन को अपरिहार्य मान लिया। इस दुर्भाग्यपूर्ण निर्णय के पश्चात् सन् 1947 के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम के अन्तर्गत 15 अगस्त, सन् 1947 को भारत और पाकिस्तान, दो पूर्णतः अलग और स्वतन्त्र देशों का उदय हुआ। नेहरू जी स्वतन्त्र भारत के प्रधान मन्त्री महात्मा गान्धी की इच्छा पर बने। उस पवित्र अर्धरात्रि को जब भारत स्वतन्त्र हुआ, उन्होंने घोषणा की—

"काफी वर्ष पहले हमने एक प्रतिज्ञा की थी और अब समय आ गया है, जब हम उसे पूरा करेंगे—न केवल पूर्णरूप में वरन् ठोस रूप में भी। भारत की जनता से, जिसके हम प्रतिनिधि हैं, हम अपील करते हैं कि वह महान् कार्य में पूरी निष्ठा और विश्वास से हमारा साथ दे। हमें स्वतन्त्र भारत का वह भव्य भवन तैयार करना है, जिसमें उसके सभी बच्चे सुखपूर्वक रह सकें।"

नेहरू जी 17 वर्ष तक भारत के प्रधान मन्त्री रहे। इस अवधि में वे नाना विपदाओं और अपने अनेक विश्वासी साथियों तथा सहकर्मियों के इस संसार से विदा लेने के बावजूद अविचल भाव से अपने सपनों के भारत के निर्माण में लगे रहे। जब भारत 26 जनवरी, सन् 1950 से नवीन संविधान के क्रियान्वयन होने पर एक सर्वप्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बना, तब नेहरू जी के द्वारा

पर ही सद्भावना के प्रतीक रूप में भारत ने राष्ट्र मण्डल का सदस्य बने रहने का निश्चय किया और इस प्रकार इस संस्था के स्वरूप में ही परिवर्तन ला दिया।

नेहरू जी प्रधानमन्त्री के साथ-साथ वैदेशिक मन्त्री भी रहे और इस रूप में अपने 17 वर्षों के कार्यकाल में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को स्वरूप देने में उन्होंने पुरजोर भूमिका अदा की।

अक्टूबर सन् 1962 में साम्यवादी चीन ने पंचशील के सिद्धान्तों का उल्लंघन करके भारत पर जो आक्रमण किया, उससे पण्डित जी को अत्यन्त ही आघात पहुँचा। इसके बाद तो वह देश को प्रत्येक रूप में जागृत करने के लिए जुट गए। उन्हें यह विश्वास हो गया कि शान्ति में पूर्ण आस्था रखते हुए भी भारत को सैनिक दृष्टि से एक सबल एवं सशक्त राष्ट्र बनाना चाहिए। नेहरू जी देश के निर्माण में अथक परिश्रम से जुटे रहे। भारत राष्ट्र की एकता और सुदृढ़ता के लिए उनके प्रयास कभी धीमे नहीं पड़े। राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न तत्वों को एक संगठित सामाजिक ढाँचे में लाने के लिए वे अनवरत संघर्ष करते रहे। दुर्भाग्यवश भारत को उनका कुशल नेतृत्व और अधिक समय तक बदा नहीं था। बुधवार, 27 मई सन् 1964, को उनको महान जीवन दीप बुझ गया।

पण्डित नेहरू एक महान् देशभक्त, कर्मठ राजनेता, और शान्तिदूत ही नहीं थे वरन् एक बुद्धिमान और युगद्रष्टा पुरुष थे जिन्हें साहित्य, दर्शन, प्रकृति से अद्भुत प्रेम था। अपने जीवन काल में अनेक ग्रन्थों की रचना की जो निम्नलिखित है।

रचनायें :—

1–Soviet Russia (सोवियत संघ)
2–Letters from Father to the Daughter (पिता के पत्र पुत्री के नाम)
3–Autobiography (आत्मकथा)
4–Eighteen Months in India (भारत में अठारह महीने)
5–The Unit of India (भारत की एकता)
6–The Discovery of India (भारत की कहानी)
7–Glimpses of World History (विश्व इतिहास की झलक)
8–Independence and After (स्वतन्त्रता और उसके बाद)

शान्तिपूर्ण तथा गणतान्त्रिक उपायों से तीव्र प्रगति नहीं की जा सकती। मैं यह
मानता। सचमुच आज के भारत में गणतान्त्रिक उपायो को नही अपनाने के
भी प्रयास का परिणाम विनाशकारी होगा और इस प्रकार तुरन्त प्रगति कर
कोई सम्भावना नहीं रहेगी। संसार तथा भारत की समस्याओं का समाधान
समाजवाद द्वारा ही सम्भव दिखायी पड़ता है और जब मैं इस शब्द का
करता हूँ तब केवल मानवीय नाते से ही नही, वरन् वैज्ञानिक आर्थिक दृष्टि
करता हूँ। किन्तु समाजवाद आर्थिक सिद्धान्त से कुछ भी अधिक महत्वपूर्ण है
एक जीवन दर्शन है और इसलिए यह मुझे जंचता भी है। मेरी दृष्टि में निर्ध
चारो ओर फैली बेरोजगारी, भारतीय जनता का अधः पतन तथा दासता को स
करने का मार्ग समाजवाद को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से सम्भव नही दिखत

लोकतन्त्र का आधार आर्थिक लोकतन्त्र हो और इसलिए प० नेह
प्राणपण से यह चेष्टा की कि देश में पंचवर्षीय योजनायें आगे बढ़ें, वि
उद्योगों का विकास हो, और सामाजिक ढांचे का निर्माण हो। सन् 1964
भुवनेश्वर अधिवेशन में लोकतान्त्रिक समाज द्वारा समाजवादी राज्य की आ
रखी गयी थी। यह सब कुछ नेहरू जी की विरासत थी, उन्हीं के प्रयासों
परिणाम था। *विभिन्न आलोचना में और आपत्तियो के होते हुए भी* कांग्रेस
देश में समाजवाद की सामाजिक एव आर्थिक मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करने
नेहरू जी का अभूतपूर्व और चिरस्मरणीय योगदान रहा, इससे कोई मना नही
सकता। नेहरू जी जीवनपर्यन्त सामाजिक न्याय और आर्थिक समानता के लि
प्रयत्नशील रहे।

मार्क्सवाद और साम्यवाद पर विचार

पण्डित नेहरू द्वितीय विश्वयुद्ध तक मार्क्सवाद-साम्यवाद के प्रति विशेष रू
से आकृष्ट रहे। लेकिन विश्वयुद्ध के उपरान्त यह प्रभाव क्षीण होने लगा औ
उनके विचारो मे महत्वपूर्ण परिवर्तन आ गया। वे मार्क्सवाद और साम्यवा
से दूर होते गये तथा कल्याणकारी राज्य की धारणा उनके हृदय मे अधिकाधिव
घर करती गयी। उन्होने मिश्रित अर्थव्यवस्था को भारत के लिए सबसे अधिव
अनुकूल माना और सर्वथा लोकतान्त्रिक ढंग से भारत को समाजवाद के पथ पर
अग्रसर करने की भरपूर चेष्टा की। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व भी नेहरू जी साम्य-
वाद की ओर आकृष्ट अवश्य रहे, लेकिन वे साम्यवादी कभी नहीं बने। इस
सम्बन्ध में एक वार उन्होने जान गुन्थर से कहा भी था, "मैं एक साम्यवादी
नही हू, क्योंकि मैं साम्यवादियो की साम्यवाद को एक पवित्र धर्म मानने की

नहीं कर सकता हूँ। मैं यह दावा नहीं करता कि मुझे कोई इस बात का ज्ञान है कि मुझे क्या करना और करना चाहिए। मैं यह भी महसूस करता हूँ कि साम्यवादी कार्यकलापों में आर्थिक हिंसा का महत्व है। मेरा विश्वास है कि समस्या का समाधान न दमन नहीं किया जा सकता है।"

नेहरू जी मार्क्सवाद की ओर सबसे पहले इसलिए आकृष्ट हुए क्योंकि यह इतिहास और सामाजिक घटनाचक्र समस्याओं का अध्ययन करने की वैज्ञानिक पद्धति प्रस्तुत करता है। नेहरू जी ने पूंजीवाद की निन्दा भी प्रारम्भ में एक कट्टर मार्क्सवादी ढंग से ही की। उन्होंने मार्क्स के इस विचार से सहमति प्रकट की कि पूंजीवाद से ही वर्ग व्यवस्था और वर्ग संघर्ष का जन्म हुआ है तथा सर्वहारा वर्ग पर सम्पत्तिशाली वर्ग अपना प्रभुत्व स्थापित कर सका है। उन्होंने मार्क्स की इस धारणा का भी समर्थन किया कि एक पूंजीवादी समाज में सच्चा लोकतन्त्र नहीं पनप सकता, तथा आधुनिक साम्राज्यवाद, उग्र राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का जनक भी पूंजीवाद ही है। नेहरू जी ने यह भी स्वीकार किया कि पूंजीवादी साम्राज्यवाद तेजी से पतन की ओर बढ़ रहा है क्योंकि यह 20वीं शताब्दी की परिस्थितियों के अनुरूप नहीं है। नेहरू जी का इस प्रकार का मार्क्सवादी सामाजिक चिन्तन द्वितीय विश्वयुद्ध तक बना रहा।

लेकिन बाद में नेहरू जी के चिन्तन में परिवर्तन आया। उनका आलोचनात्मक मस्तिष्क मार्क्सवाद या साम्यवाद की मदान्धता के प्रति विद्रोह कर बैठा। मार्क्स के वाक्य उनके लिए ईश्वर वाक्य नहीं बन सके। सोवियत संघ में हिंसा का जो नग्न प्रदर्शन हुआ, उससे पंडित जी के मन और मस्तिष्क को बड़ा धक्का पहुंचा। सोवियत संघ में मानव जीवन को जिस प्रकार कठोर शिकंजे में जकड़ दिया गया, उसे नेहरू जी का लोकतान्त्रिक हृदय सहन नहीं कर सका। वहाँ साम्यवाद के वास्तविक विरोधियों पर तथा विरोध के सन्देह मात्र हो जाने से लोगों पर जो अत्याचार किये गये, उनसे मानवतावादी नेहरू का हृदय तिलमिला उठा। इन सब बातों की नेहरू जी के मन और मस्तिष्क में एक गहरी प्रतिक्रिया हुई और वे मार्क्सवाद-साम्यवाद के प्रभाव से मुक्त होते चले गये। साम्यवादी दर्शन की इतिहास की व्याख्या के प्रति उनका आकर्षण बना रहा, सोवियत-संघ की महान् उपलब्धियों का उन्होंने सम्मान किया। लेकिन साम्यवादियों की मदान्धता, हिंसात्मक और रक्त तथा क्रान्तिप्रियता उन्हें कभी नहीं भायी। पंडित जी ने लिखा है, "मेरी जड़ें सम्भवतः आंशिक रूप से उन्नीसवीं

शताब्दी में थी और मुझ पर मानवतावादी उदार परम्परा का इतना अधि प्रभाव पडा है कि वह पूरी तरह कभी दूर नही हो सकता।"

नेहरू जी आजीवन यह कभी विश्वास न कर सके कि अच्छे साध्यों व प्राप्ति के लिए बुरे साधनों का आश्रय लिया जाय अथवा बुराई का दमन बुरा से किया जाय। हिंसा की निष्फलता में उनका विश्वास बना रहा। यद्यि आवश्यकता पड़ने पर, एक उचित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने हिंसा क अपरिहार्य नही माना, लेकिन साम्यवादियों की हिंसा और हथकण्डो की पद्धति से उन्हे भारी चिढ़ बनी रही। अनैतिक साधनों के प्रति साम्यवादियों की निष्ठ ने नेहरू जी के मन मे साम्यवाद के प्रति बड़ा असन्तोष उत्पन्न कर दिया। नेहरु जी के हृदय पर इस बात मे भी बड़ा आघात पहुँचा कि भारत के साम्य-वादी दल ने भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन से अलग रखा और उसने सदैव एक एक ऐसी भाषा का प्रयोग किया जिसमें भारत के जनमानस की कोई आवाज नही थी।

यद्यपि नेहरू जी को साम्यवादी पद्धति के प्रति असन्तोष उत्पन्न हो गया था, फिर भी अपने चिन्तन मे द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ तक, वे मार्क्सवादी समाजवादी बने रहे। फ्रैंक मोरेस के शब्दों में "बीसवी शताब्दी के चतुर्थ दशक में नेहरू जी एक मार्क्सवादी सिद्धान्तवेत्ता थे, जिनकी आस्था लोकतान्त्रिक व्यवहारों में थी।" परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त मार्क्सवाद व साम्यवाद का प्रभाव क्षीण होने लगा। पूंजीवाद के प्रति भी उनके दृष्टिकोण में एक महत्व-पूर्ण परिवर्तन आ गया। उन्हे यह देखकर बड़ा सन्तोष हुआ कि पूंजीवाद अपने आपको तीव्र गति से सुधारता जा रहा है। 'यद्भाव्यम् सिद्धान्त' पर आधारित' पूजीवाद कर रहा है और उसमे वास्तविक लोकतन्त्र के लक्षण प्रकट हो रहे हैं। उन्होने देखा कि पूजीवाद अधिकाधिक सभ्य बनता जा रहा है, उसकी उच्छृंखलता और शोषण प्रवृत्ति संयत हो गयी है तथा उसकी अधिकाश बुराइयां दूर कर दी गयी हैं। उन्होने यह भी देखा कि अनेक पूजीवादी देशो की अर्थव्यवस्था में समाजवाद का गहरा पुट दिया जा रहा है और औद्योगिक क्षेत्र मे सरकार का कुछ नियन्त्रण होने लगा है। इन सब बातों को देखकर पूजीवाद के प्रति नेहरू जी का विरोध बहुत कुछ हल्का पड़ गया। जब वे स्वतन्त्र भारत के प्रधान मन्त्री बने तो उन्होंने मिश्रित अर्थ-व्यवस्था को भारत के लिए सबसे अधिक समानु कूल माना। कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य लोगों को कुछ प्रदान करना है, वंचित करना नहीं। उन्होंने कहा कि राज्य का कर्तव्य है कि वह वर्तमान अभाव

के अग्रदूत थे। उन्होंने शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के पचशील सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिनके द्वारा हम अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निर्णय युद्ध द्वारा नहीं, वरन् विचार-विमर्श द्वारा सुलझा सकते हैं। वे एक व्यापक दृष्टिकोण वाले व्यक्ति थे। उनमें अन्धविश्वास, धर्मान्धता, रूढ़िवादिता और साम्प्रदायिकता किंचित् मात्र भी नहीं थी। वे एक सच्चे राष्ट्रवादी थे, किन्तु राष्ट्रवाद के नाम पर मानवता का हनन करने को तैयार नहीं थे। फिर भी वे कोई मौलिक राजनीतिक चिन्तक नहीं थे। उन्होंने मानव जीवन की व्यावहारिक समस्याओं पर ही अधिकांशतः मनन किया और उनके समाधान में ही अपना जीवन लगा दिया। भारतीय राजनीतिक दर्शन को उनका वास्तविक योगदान उनके प्रधान मन्त्रित्व काल में ही मिला। एक समन्वयवादी और प्रगतिशील चिन्तन शैली के उपासक के रूप में हम उन्हें सदैव स्मरण करते रहेंगे।

राष्ट्रवादी सम्बन्धी विचार

नेहरू जी ने देश को एक सन्तुलित संयमशील तथा आदर्श राष्ट्रवाद के मार्ग पर चलाने का जीवन भर प्रयास किया। वे कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर के समन्वयात्मक, विश्ववाद और विश्वबंधुत्व की भावना से प्रभावित थे। धार्मिक राष्ट्रवाद के प्रति उन्हें कोई सहानुभूति न थी। राष्ट्रवाद को नेहरू जी ने एक भावात्मक वस्तु बताया और लिखा, "राष्ट्रवाद वास्तव में गत प्रगतिशील प्रयासों और अनुभवों की एक सामूहिक स्मृति है और राष्ट्रवाद की भावनायें पहले के युगों की तुलना में अधिक शक्तिशाली हैं"। जब कभी भी किसी देश पर संकट उपस्थित होता है राष्ट्रवाद ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया है। नेहरू जी ने भारत की मौलिकता और उसकी एकता को जगाते रहने का महान कार्य किया। उन्होंने भारतीय जनता को सदैव इस विश्वास से अनुप्राणित किया कि भारत में विभिन्नताओं के होते हुए भी सम्पूर्ण भारत के इतिहास में हिन्दू एकता रही है। उन्होंने राष्ट्रीय आत्म निर्माण के सिद्धान्त पर अत्यधिक बल दिया और साम्राज्यवाद का घोर विरोध किया। नेहरू जी ने देश के युवकों में यह भावना भरने की सफल चेष्टा की कि राष्ट्रीयता स्वतन्त्रता के लिए संघर्षशील देश में एक स्वस्थ शक्ति होती है, लेकिन देश के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् वही राष्ट्रीयता प्रतिक्रियावादी और विकीर्ण भी बन सकती है। अतः ऐसी संकीर्ण राष्ट्रीयता से बचाना ही एक देश को स्वस्थ बनाना है। नेहरू जी ने राष्ट्रवाद में मानवता का समावेश किया। उन्होंने कहा कि राष्ट्रवाद के नाम पर धर्म, जाति और

संस्कृति का आश्रय नही लेना चाहिए। हिन्दू राष्ट्रवाद पर मुस्लिम राष्ट्रवाद जैसी वस्तु नही है। केवल भारतीय राष्ट्रवाद का अस्तित्व है, जिसमे धर्मवाद का कोई अस्तित्व नही है। उन्होने इस सम्बन्ध मे एक बार यहाँ तक कह दिया कि यदि राष्ट्रीयता धर्म पर आधारित है, तो भारत मे दो नही अनेक राष्ट्र हैं।

वास्तव में नेहरू जी मे राष्ट्रवाद के बीज का आरोपण उनकी प्रारम्भिक अवस्था मे ही हो गया था। ब्रिटेन में पढते समय देश मे चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन और ब्रिटिश शासन के दमन के समाचारो से उनका हृदय उद्वेलित हो उठता था। विदेशों मे हुए महान् देशभक्तो की कहानियाँ पढ़ कर उनके हृदय मे भारत की स्वाधीनता के लिए कुछ कर गुजरने की प्रबल उत्कण्ठा बार-बार जागृत होती थी। आयरिश स्वातन्त्र्य संग्राम ने भी उनके हृदय पर गहरी छाप छोडी थी। इन विभिन्न प्रभावो के कारण यह स्वाभाविक था कि पंडित नेहरू राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्ष मे कूद पडते। उनके हृदय की राष्ट्रवाद की तीव्र और सर्वोत्तम अभिव्यक्ति उस वक्तव्य मे व्यक्त हुई जो उन्होने 17 मई, सन् 1922 को अपने विरुद्ध एक अभियोग की सुनवायी के समय न्यायालय मे दिया। इसका सारांश निम्न है :—

"हम स्वतन्त्रता के लिए, अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए और अपने विश्वास की स्वतन्त्रता के लिए, लड रहे है। हम किसी राष्ट्र अथवा जाति को कोई क्षति नही पहुँचाना चाहते। हम दूसरो पर कोई प्रभुत्व जमाना नही चाहते। लेकिन हमें अपने देश में पूर्णरूप से स्वतन्त्र रहना चाहिए। . .

"मैं पुनः स्वेच्छा से और सहर्ष जेल जाऊगा। वास्तव मे जेल हमारे लिए एक स्वर्ग बन गयी है और जब से हमारे पुण्यात्मा और प्यारे नेता को जेल में डाला गया है तब से तो जेल हमारे लिए एक पवित्र तीर्थ स्थान बन गयी है। . .

"मुझे अपने सौभाग्य पर आश्चर्य है। स्वधीनता संग्राम मे भारत की सेवा करना तो एक भारी सम्मान है ही, परन्तु महात्मा गांधी जैसे नेता की अधीनता मे सेवा करना एक विशेष सौभाग्य है। किन्तु यदि किसी भारतीय को अपने प्यारे देश की स्वतन्त्रता के लिए लडते लडते मौत हो जाये, तो इससे बडा सौभाग्य और क्या हो सकता है।"

नेहरू जी ने एक सच्चे राष्ट्रवादी के रूप मे प्रत्येक देश की स्वतन्त्रता का समर्थन किया। उन्होने मिस्र, मोरक्को, इण्डोनेशिया, अल्जीरिया, कांगो आदि देशों की स्वतन्त्रता के लिए हुए राष्ट्रीय आन्दोलनो का स्वागत किया। उन्होंने

इन आन्दोलनों का समर्थन किया और उन्हें प्रोत्साहन दिया। अरब राष्ट्रवाद के अभ्युदय का उन्होंने विशेष रूप से स्वागत किया। उन्होंने कहा, "प्रत्येक पराधीन देश के लिए राष्ट्रवाद की भावना से ओत-प्रोत होना सर्वथा स्वाभाविक है और राष्ट्रवादी आदर्श बड़ा गहरा व शक्तिशाली है तथा उसे अतीत का भी आदर्श नही माना जा सकता, जिसका कोई भावी महत्व न हो"। नेहरू जी ने देखा कि उन सभी देशों ने, जो अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलनों के हामी थे और श्रमजीवी वर्ग की एकता का समर्थन करते थे, युद्ध के समय अन्तर्राष्ट्रीयतावाद को भूलकर अपनी-अपनी राष्ट्रीय सरकारों को सहयोग दिया। उन्होंने यह भी देखा कि साम्यवादी रूस भी शनैः शनैः राष्ट्रवाद की ओर बढ़ता जा रहा था। इन सब बातों को देखकर नेहरू जी इस तथ्य पर पहुंचे कि राष्ट्रवाद मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है और अपने देश के प्रति श्रद्धा तथा निष्ठा रखना मनुष्य का एक जातिगुण है।

नेहरू जी ने राष्ट्रवाद को उसके श्रेष्ठ रूप में ही ग्रहण किया। उन्होंने एक ऐसे राष्ट्रवाद को, जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति में बाधक है, तथा स्वरूप में आक्रामक है, कभी स्वीकार नही किया। उनकी सदैव यह धारणा रही कि उग्र राष्ट्रवाद मानव हृदय को संकीर्ण और संकुचित बना देता है, तथा देशभक्ति की भावना को इतना उग्र कर देता है कि देश मे अलग-अलग रहने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। उग्रराष्ट्रवाद मे जातीयवाद, राष्ट्रों के प्रति घृणा, साम्राज्यवाद युद्ध-वाद आदि बुराइयों का जन्म होता है। नेहरू जी ने राष्ट्रवाद के इस कुत्सित स्वरूप के प्रति कोई निष्ठा नही रखी। उन्होंने ऐसे राष्ट्रवाद का कभी समर्थन नही किया जो चरम सीमा पर पहुंच कर अन्तर्राष्ट्रीयता वाद के विकास मे बाधक बने। इतना ही नही, नेहरू जी तो यह भी मानते रहे कि अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों के सामने एक सीमा तक राष्ट्रीय हितों का भी बलिदान देने मे कोई बुराई नही है।

नेहरू जी के राष्ट्रवादी विचारो से प्रकट है कि उनक राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से ओत-प्रोत था। वे राष्ट्रवाद को एक अमिश्रित अभिशाप नही समझते थे, वरन् उसकी बुराइयों से बचने और उसके सच्चे स्वरूप को ग्रहण करने के पक्षपाती थे।

• अन्तर्राष्ट्रीयतावादी सम्बन्धी विचार

श्रीनेहरू जी एक महान् राष्ट्रवादी होने के साथ ही एक महान् अन्तर्राष्ट्रीयतावादी भी थे। उनका राष्ट्रवाद संकीर्ण और अनुदार नही था। उन्होंने

अपने देश को, कांग्रेस को, और सम्पूर्ण मानव समाज को एक व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण प्रदान किया। उनके प्रतिनिधित्व में ही कांग्रेस ने सन् 1927 में मद्रास अधिवेशन में अंग्रेजों द्वारा भारतीय सेनाओं के चीन के विरुद्ध प्रयोग का समर्थन किया। इस सम्बन्ध में मिलार्ड रेज का कथन है, 'जवाहरलाल ने ही कांग्रेस को यह आभास कराया कि स्वतन्त्रता के लिए भारतीय संघर्ष वास्तव में एक वैश्विक संघर्ष का भाग था और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं को ध्यान में रखते हुए इसे सफल बनाया जा सकता था।" नेहरू जी के प्रयत्नों का ही परिणाम था कि कांग्रेस ने दलित राष्ट्रों की कांग्रेस में अपने प्रतिनिधि भेज कर अपने साम्राज्य विरोधी दृढ़ दृष्टिकोण का परिचय दिया।

नेहरू जी उग्र और आक्रामक राष्ट्रवाद के विरोधी थे। अतः उन्होंने भारतीय गणराज्य की स्थापना ऐसे राष्ट्रवाद के आधार पर की जो सच्चा और स्वस्थ हो तथा जिसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में सहयोग देना हो। इस सम्बन्ध में अपनी रचना, "भारत की एकता" में लिखे गये ये शब्द उल्लेखनीय है :—

"लार्ड सीसिल ने एक उग्र राष्ट्रवाद के खतरों की ओर संकेत किया है। मैं उनसे पूर्णतया सहमत हूँ। यद्यपि मैं भारतीय राष्ट्रवाद का समर्थन करता हूँ, किन्तु मैं ऐसा एक सच्चे राष्ट्रवाद के आधार पर ही करता हूँ। हम भारत के लोग एक विश्व व्यवस्था में सहर्ष सहयोग देंगे और एक सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था के लिए दूसरों के साथ मिल कर एक सीमा तक अपनी राष्ट्रीय सम्प्रभुता का परित्याग करने के लिए भी तैयार हो जायेंगे, परन्तु ऐसा केवल तभी हो सकता है जब विभिन्न राष्ट्र शान्ति और स्वतन्त्रता के आधार पर संगठित हों।"

नेहरू जी ने सदैव इस बात पर बल दिया कि सामूहिक प्रयास द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को दृढ़ किया जाना चाहिए। नेहरू जी के इन्हीं विचारों का समर्थन करते हुए और उन्हें प्रोत्साहन देते हुए महात्मा गांधी ने सन् 1923 में नेहरू को लिखा था :—

"मैं तुमसे इस बात में सहमत होने में किंचित् मात्र भी कठिनाई का अनुभव नहीं करता कि तीव्र संचार साधनों और मानव जाति की एकता की बढ़ती हुई चेतना के इन दिनों में हमें यह समझ लेना चाहिए कि हमारा राष्ट्रवाद प्रगतिशील अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के साथ असंचिवद्ध नहीं होना चाहिए। संसार के अन्य भागों

में जो कुछ हो रहा है, भारत उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। अतः मैं सुझाव से पूर्णतया सहमत होते हुए यह कह सकता हूं कि हमें संसार की प्रगतिशील शक्तियों के साथ संगठित हो जाना चाहिए।"

वस्तुतः नेहरू जी एक अन्तर्राष्ट्रीय विभूति थे, जिनके हृदय में जातीय विद्वेष और संकीर्णता के लिए कोई स्थान नहीं था। उन्हें प्रत्येक प्रकार के विस्तारवाद और संकुचित राष्ट्रवाद से घृणा थी। महात्मा जी के प्रशिक्षण ने उन्हें इस दिशा में आगे बढ़ाया था। भारतीय साहित्य एवं विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, टैगोर आदि के चिन्तन ने नेहरू जी में राष्ट्रवाद के विचार कूट-कूट कर भर दिये थे। उनकी राष्ट्रीयता इतनी गहन और उदार थी कि आवश्यकता पड़ने पर मानवता के हित के लिए देश के हितों का बलिदान करने के लिए भी तैयार रहती थी।

नेहरू जी ने विश्व समुदाय एवं विश्वबन्धुत्व की भावना पर बल देते हुए राष्ट्रों की समानता, स्वतन्त्रता, सम्प्रभुता एवं विकासयुक्त प्रगति के रक्षार्थ संयुक्त राष्ट्र-संघ तथा उसके घोषणा-पत्र का समर्थन किया। कोरिया, लाओस, स्वेज नहर, वियतनाम अथवा कांगो का जब भी अन्तर्राष्ट्रीय संकट आया उन्होंने संयुक्त-राष्ट्र-संघ को सहयोगयुक्त समर्थन प्रदान किया। इसकी सफलता के लिए वे प्रत्येक राष्ट्र की उपनिवेशीय उन्मुक्ति चाहते थे। आपसी झगड़ों में वे संयुक्त-राष्ट्र-संघ के तत्वावधान में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत शान्तिपूर्ण निपटारे के समर्थक थे, कश्मीर समस्या इसका सुन्दर उदाहरण है। चीन ने संघर्ष चलने पर भी संयुक्त-राष्ट्र-संघ की सदस्यता के लिए उसका समर्थन करके इसे वास्तविक एवं क्रियाशील अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एवं विश्वसंघ बनाना चाहा। विश्व के दो गुटों में विभक्त एवं संयुक्त-राष्ट्र-संघ को गुटीय अखाड़ा बनाने से रोकने के लिए ही उन्होंने असलग्नता एवं गुटनिरपेक्षता पर बल दिया। क्षेत्रीय संगठनों के वे तीव्र आलोचक थे। उन्होंने सन् 1948 में हुए संयुक्त-राष्ट्र-संघ की महासभा के तृतीय अधिवेशन में भाषण दिया। सन् 1960 में अन्तिम बार उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्यवाई में भाग लिया तथा विश्व शान्ति एवं महाशक्तियों के नेताओं में सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापनार्थ प्रयास किया। कांगो संकट के समय संयुक्तराष्ट्रसंघ को सैनिक सहायता देकर नेहरू जी ने इसे शान्ति स्थापनार्थ कदम उठाने में सहायता की। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रत्येक उपयुक्त विचार, कार्य और संस्था को अपना सक्रिय समर्थन व सहयोग दिया।

नेहरू जी का मत था कि सच्चे अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के विकास के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा यह है कि विभिन्न देशों के मध्य परस्पर घृणा और भय के भाव व्याप्त हैं। इस सम्बन्ध में एक बार लोकसभा में अपने एक भाषण में उन्होंने कहा था

"यदि एक देश घृणा और भय की आग में जल रहा है तो उसकी बुद्धि कुंठित हो जाती है। वह स्पष्ट रूप से नहीं सोच सकता। परन्तु मैं बड़े आदर के साथ यह कहना चाहता हूँ कि संयुक्त राज्य अमेरिका में सोवियत संघ के विषय में और सोवियत संघ में अमेरिका के विषय में कोई स्पष्ट चिन्तन नहीं है, क्योंकि दोनों की बुद्धियों को पारस्परिक विक्षोभ, भय और घृणा ने कुंठित कर दिया है। मुझे इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि यदि उनको एक दूसरे के विषय में कुछ अधिक जानकारी प्राप्त हो जाये तो घृणा और भ्रम के बादल छट जायेंगे और वे यह आभास करेंगे कि दूसरे देश के पास ऐसी कोई जीवन और उपयोगी वस्तु है जो अध्ययन की पात्र है।"

वस्तुतः नेहरू जी दो महाशक्तियों के विरोधी गुटों के मध्य एक उपयोगी पुल का काम करते रहे। उन्होंने रूस और अमेरिका जैसे महान् बलशाली राष्ट्रों को परस्पर टकराने से बचाने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। भारत की खोज में नेहरू जी ने लिखा है, "यदि हम एक देश के लोगों को व्यक्तिगत रूप से नहीं जानते तो हमारे मन में उनके विषय में भ्रान्त धारणायें बन सकती हैं और हम उनको अपने से सर्वथा अलग तथा भिन्न समझ सकते हैं"।

यद्यपि नेहरू जी महान् अन्तर्राष्ट्रीयतावादी थे और आवश्यकता पड़ने पर मानवता के हित के लिए स्वदेश के हितों का बलिदान करने को भी तत्पर रहते थे इसका यह अभिप्राय नहीं कि वे अन्तर्राष्ट्रीयता की अपेक्षा राष्ट्रवाद को गौण स्थान देते थे। वह पक्के राष्ट्रवादी थे, किन्तु उनका राष्ट्रवाद संकीर्ण, और आक्रामक नहीं था। वह विश्व एकता और शान्ति के हित में राष्ट्रवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के मध्य सन्तुलन एवं सामञ्जस्य स्थापित करना चाहते थे। उनका मत था कि अन्तर्राष्ट्रीयतावादी भावनाओं द्वारा राष्ट्रवाद को नियन्त्रित और सन्तुलित किया जाना चाहिए, अर्थात् हमें यह समझ लेना चाहिए कि सम्पूर्ण मानव जाति एक इकाई है और सभी राष्ट्रों के कल्याण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की यह मांग है कि सभी राष्ट्र विश्व के संकटापन्न समस्याओं में विवेकपूर्ण ढंग से रुचि लें और देश संसार से पृथक-पृथक रहने की मनोवृत्ति का परित्याग कर दें। आज के आणविक युग में, जबकि

दूसरे को भली भांति समझने का प्रयास करें और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों क निर्णय तलवार के बल पर नहीं, वरन् पारस्परिक वार्ता और पंचनिर्णय के शान्तिपूर्ण उपायों से किया जाये। उन्होंने यह विश्वास प्रकट किया कि रूस और अमेरिका तथा उनके अपने-अपने सहयोगी राष्ट्र एक दूसरे के साथ सम्पर्क बढ़ायें और एक दूसरे की समुचित जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करें तथा पारस्परिक मतभेदों को मिटाने के लिए सत्यनिष्ठा से विचार-विमर्श का मार्ग अपनायें, तो अविश्वास और भय के बादल हट जायेंगे तथा युद्धों का भय समाप्त हो जायेगा।

नेहरू जी ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में गुटों से पृथक रहने की नीति को स्वतन्त्र भारत की वैदेशिक नीति को आधार शिला बनाया। उन्होंने भलीभांति समझ लिया था कि असंलग्नता की नीति पर चल कर ही अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम किया जा सकता है और संसार में शान्ति स्थापित करने की दिशा में वास्तविक योग दिया जा सकता है।

लोकतन्त्र सम्बन्धी विचार

नेहरू जी अपने विचारों और कार्यों में लोकतन्त्रवादी थे। आधुनिक भारत में लोकतन्त्र की जड़ें जमाने और उसका विकास करने में उन्होंने जो योग दिया, उसके लिए उन्हें सदैव स्मरण किया जाता रहेगा। उनकी समस्त क्रियायें और उनके सम्पूर्ण चिन्तन इतने लोकतन्त्रात्मक थे कि उन्हें और लोकतन्त्र को हम पृथक करके नहीं देख सकते।

नेहरू जी ने लोकतन्त्र को केवल राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं किया, उन्होंने आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र को भी लोकतन्त्र की परिधि में लिया। उन्होंने अपना यह दृढ विश्वास प्रकट किया कि लोकतन्त्र में नागरिकों को केवल विचार अभिव्यक्ति, सभा संगठन, भ्रमण आदि की स्वतन्त्रतायें दी जाना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् उन्हें अवसरों की समानता भी दी जानी चाहिए। एक सच्चे लोकतन्त्र को सहिष्णुता और मानवता की भावना से ओत-प्रोत होना चाहिए। आर्थिक विषमताओं और सामाजिक अस्पृश्यताओं से परिपूर्ण समाज कभी लोकतान्त्रिक नहीं हो सकता। एक भूखे व्यक्ति के लिए मताधिकार कोई महत्व नहीं रखता और इसी प्रकार उस व्यक्ति के लिए भी जिसे समाज में अछूत समझा जाता हो या भेदभाव के आधार पर घृणा की दृष्टि से देखा जाता हो, लोकतन्त्र कोई अर्थ नहीं रखता। सच्चा लोकतन्त्र वही है जहा ऊच-नीच, छुआ-

ूल के भेदभाव न हों, दरिद्र लोगों को भी सुखी जीवन व्यतीत करने के
चित अवसर मिलते हों, राष्ट्रीय धन का न्यायपूर्ण वितरण हो, और वर्गभेद
का जाल न बिछाये हों तथा मुट्ठी भर शिक्षित लोगों और निरक्षर जन
धारण के बीच खाई को पाटने के निरन्तर प्रयत्न किये जाते हों। नेहरू
ी ने लोकतन्त्र के प्रति अपने इन विचारों को भली प्रकार एक बार नहीं वरन्
नेक बार जनसाधारण, राजनीतिज्ञों और राजनीतिक विचारकों व बुद्धिजीवी
र्ग के सामने प्रकट किया। लोकतन्त्र के सम्बन्ध में नेहरू जी के विचारों को
नके शब्दों में ही व्यक्त किया जा सकता है :—

"मेरे विचार में गणतन्त्र का अर्थ, अमुक प्रकार की सरकार तथा किसी
धि-कानून संस्था से कुछ अधिक है। यह आवश्यक रूप से जीवन के नैतिक माप-
दण्डों तथा मान्यताओं की एक योजना है। आप गणतान्त्रिक हैं अथवा नहीं, यह
इस बात पर निर्भर करता है कि आप एक व्यक्ति अथवा एक वर्ग के रूप में किस
प्रकार से आचरण अथवा चिन्तन करते हैं। गणतन्त्र के लिए अनुशासन सहिष्णुता
तथा पारस्परिक सद्भावना अत्यन्त आवश्यक है। अपनी स्वतन्त्रता के लिए दूसरों
की स्वतन्त्रता के प्रति सम्मान का भाव होना आवश्यक है। गणतन्त्र में परिवर्तन
पारस्परिक विचार-विमर्श तथा समझाने बुझाने से किये जाते हैं, हिंसक उपायों से
नहीं। गणतन्त्र का अर्थ यदि कुछ है, तो समानता है, समानता केवल मत देने
के अधिकार की ही नहीं, वरन् आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र की भी समानता।

"मैं किसी भी मत, मतान्तर अथवा धर्म से जकड़ा हुआ नहीं हूँ, किन्तु मैं
मानव के नैसर्गिक आध्यात्मिकता में विश्वास अवश्य करता हूँ। इसको कोई चाहे
धर्म कहे अथवा न कहे। मैं व्यक्ति की सहज गरिमा में विश्वास रखता हूँ। मेरा
यह भी विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर दिया जाना चाहिए। मुझे
ऐसे सम-समाज में पूरा विश्वास है जिसमें अधिक भिन्नता न हो। मुझे धनी
व्यक्तियों की बेहूदगी और साथ ही निर्धनों की दरिद्रता नहीं भाती।"

इस प्रकार नेहरू जी के विचारों का विश्लेषण किया जाये तो लोकतन्त्र में
उनका आशय "समाज का आत्मानुशासन" था। अपने एक भाषण में उन्होंने कहा
था, "आप लोकतन्त्र की सैकड़ों परिभाषायें दे सकते हैं। किन्तु उसकी एक परि-
भाषा निश्चित रूप से ही समाज का आत्मानुशासन है। ऊपर से थोपा गया
अनुशासन जितना कम होगा, आत्मानुशासन उतना ही अधिक होगा"।

समाज के आत्मानुशासन के विकास के लिए नेहरू जी ने समुचित शिक्षा
की व्यवस्था पर पूरा [illegible] उन्होंने शिक्षा के स्तर

को उन्नत करने और उदार तथा राष्ट्रोपयोगी व समाजोपयोगी शिक्षा का ध्यान दिया। शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने छात्रवृत्तियों और अन्य सुविधाओं व्यवस्था की। नेहरू जी का मत था कि कोई भी राजनीतिक संगठन या सा अथवा राजनीतिक ढांचा तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक नागरिकों मानसिक स्तर उनके समयानुकूल नहीं हो जाये। इस मानसिक स्तर की प्रा के लिए समुचित शिक्षा का विस्तार आवश्यक है।

नेहरू जी ने एक सच्चे लोकतन्त्र को सहिष्णुता का प्रतीक बताते हुए क कि हमें अपने विरोधियों के विचारों के प्रति सहनशीलता और सम्मान की भाव रखनी चाहिए। लोकतन्त्र में विचारशीलता की प्रवृत्ति और सत्य के अनुशासन भावना का होना अनिवार्य है। नेहरू जी ने हठवादिता और रूढ़िवादिता प्रवृत्ति को लोकतन्त्र के लिए घातक बताया। उन्होंने कहा लोकतन्त्र एक गतिशी विचारधारा है, गतिहीन नहीं। लोकतन्त्र में समयानुकूल परिवर्तन होने की पूर पूरी सम्भावना रहती है। समयानुकूल परिवर्तनों के साथ-साथ लोकतन्त्र का क्षे अधिकाधिक विस्तृत हो जाता है। लोकतान्त्रिक भावना इस बात में निहित है कि हम अपनी समस्याओं का निराकरण विचार-विमर्श, तर्क, वितर्क, और अन्य शान्ति पूर्ण उपायों द्वारा करें। नेहरू जी ने मत व्यक्त किया है कि संसदीय सरकार व अधिक अच्छा इसलिए बताते हैं कि यह समस्याओं को हल करने का एक शान्ति पूर्ण उपाय है। इस प्रकार की सरकार में वाद-विवाद, विचार-विमर्श और निर्णय करने की और उस निर्णय को तब तक स्वीकार करने की पद्धति अपनायी जाती है, जब कि कुछ लोग उससे असहमत हो। फिर भी संसदीय सरकार में अल्पसंख्यकों का बहुत महत्वपूर्ण योगदान रहता है। यह स्वाभाविक है कि बहुसंख्यकों को केवल इस कारण कि वे बहुसंख्यक है अपने मार्ग पर चलने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए, किन्तु अल्पसंख्यकों की उपेक्षा करने वाला बहुसंख्यक दल अपना कार्य संसदीय गणतन्त्र की सही भावना के साथ नहीं कर सकता। उन्होंने सदैव ही समुचित सांविधानिक साधनों द्वारा मांगे मनवाने या निर्णयों में परिवर्तन कराने आदि के प्रयास किये जा सकते हैं। इस प्रकार के साधनों से लोकतन्त्र की भावना का हनन नहीं होता। उन्होंने अधिकारवादी और हिंसात्मक साधनों का विरोध किया। सर्वाधिकारवाद और हिंसात्मक साधनों के प्रति उनका विरोध इतना तीव्र था कि उन्होंने एक समय फासिस्ट मुसोलिनी और नाज़ी हिटलर से मिलने से स्पष्ट मना कर दिया था।

धर्म निरपेक्षता सम्बन्धी विचार

नेहरू जी को भारत में विद्यमान फूट और साम्प्रदायिकता से बड़ा कष्ट पहुंचता था। इस फूट के कारण भारत अपने गौरव को खो बैठा, अतीत को भुला बैठा और अपने महापुरुषों व महान् बौद्धिक प्रतिभा का लाभ उठाने में असमर्थ रहा। इसी भावना से प्रेरित होकर धर्मनिरपेक्षता में अपनी पूर्ण निष्ठा प्रकट की। उनका विचार था कि धर्म निपेक्षता के मार्ग से ही एकता सुदृढ़ हो सकती है और यह उन्हीं के सतत् परिश्रम का परिणाम था कि संविधान में भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया। उन्होंने धर्मनिरपेक्षता का अर्थ बताते हुए कहा कि धर्मों के प्रति समान आदरभाव तथा सभी व्यक्तियों के लिए समान अवसर है, चाहे कोई भी व्यक्ति किसी भी धर्म का अनुयायी क्यों न हो। इसलिए हमें अपने मस्तिष्क में अपनी संस्कृति के इस आवश्यक पक्ष को सदैव ध्यान में रखना चाहिए जिसका आज के भारत में सबसे अधिक महत्व है। हम अपने देश में किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता सहन नहीं करेंगे। हम एक ऐसे स्वतन्त्र धर्मनिरपेक्ष राज्य का निर्माण कर रहे हैं, जिसमें प्रत्येक धर्म अथवा मत को पूरी स्वतन्त्रता तथा समान आदर भाव प्राप्त होगा और प्रत्येक नागरिक को समान स्वतन्त्रता तथा समान अवसर की सुविधा उपलब्ध होगी। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि वे धर्म विरोधी या अधार्मिक थे या पूर्ण नास्तिक थे। वास्तविकता यह थी कि वे धर्म और ईश्वर में इन शब्दों के सच्चे अर्थों में विश्वास करते थे। सत्य और करुणा के आध्यात्मिक मूल्यों में उनका गहरा विश्वास था। उनके सम्पूर्ण जीवनदर्शन में वे सभी तत्व उपस्थित थे। नेहरू जी धर्म को इस रूप में अस्वीकार करते थे कि वे अन्धविश्वास पूर्ण प्रथाओं और रूढ़ियों से सम्बद्ध रहे। उनका जीवन के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण था। अतः धर्म के अवैज्ञानिक स्वरूप में उनकी कोई निष्ठा नहीं थी।

"धर्म के सम्बन्ध में अपनी आत्मकथा में लिखा है कि भारत में तथा अन्यत्र भी धर्म, या कम से कम संगठित धर्म, को देखकर मुझे अत्यन्त घृणा होती है और मैंने प्रायः इसकी भर्त्सना की है तथा इसको पूर्णतया नष्ट कर देने की इच्छा की है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसने प्रायः सदैव अन्धविश्वास, प्रतिक्रियावाद, मतान्धता और विशेष हितों को प्रश्रय दिया है।"

नेहरू जी धर्म को सामाजिक हितों का एक महान् साधन मानते थे। [illegible] कहता है कि यदि धर्म का पालन पूर्ण निष्ठा के साथ [illegible] सत्य के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर देने को उद्यत रहता है [illegible]

धर्म की महान् सेना का एक गुड्ड सैनिक बनाने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होगी। नेहरू जी ने धर्म के प्रति यह दृष्टिकोण कभी नहीं रखा कि मनुष्य अधार्मिक बन जाये अथवा धर्म का मानव जाति के लिए कोई मूल्य नहीं है। इसी विचार पर वे धर्म निरपेक्षता को सामाजिक जीवन के क्षेत्र में ले गये। उन्होंने यह भी चाहा कि सामाजिक नियमों में, विवाह में, उत्तराधिकार के नि में, दीवानी और फौजदारी न्याय में तथा अन्य इसी प्रकार की बातों में धार्ि विश्वासों से स्वतन्त्र रहें। उन्होंने यह चाहा कि भारत के रहने वाले लोगो लिए एक ही कानून बने। जातिप्रथा के उन्मूलन के भी इच्छुक थे, परन्तु अ जीवन काल में इस दिशा की ओर कुछ कदम अवश्य उठाये थे।

आर्थिक विचार

नेहरू जी ने देश और समाज की आर्थिक समृद्धि के लिए आयोजन औ विकास को सर्वोपरि महत्व दिया। उन्होंने कहा कि हम स्वतन्त्रता की बात त करते हैं, आर्थिक स्वतन्त्रता के अभाव में कोरी राजनीतिक स्वतन्त्रता से हमें को विशेष लाभ नहीं हो सकता। वास्तव में भूख से पीड़ित व्यक्ति अथवा निर्धन देश के लिए स्वतन्त्रता जैसी कोई चीज है ही नहीं। नेहरू जी ने कहा है कि "आज हमारी समस्या जनता के जीवनस्तर को उन्नत करने के लिए उसे आवश्यक सुविधायें देने, केवल भौतिक वस्तुओं के सम्बन्ध ही नहीं, वरन् सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भी उसे जीवन में प्रगति तथा विकास करने में सहायता देने की है"।

नेहरू जी ने इन समस्याओं के समाधान के लिए "आयोजन" में विश्वास प्रकट किया। उन्होंने कहा कि देश की आर्थिक समृद्धि के लिए व्यक्ति और समाज के विकास के लिए तथा सच्चे अर्थों में देश की स्वतन्त्रता के लिए यह आवश्यक है कि हम एक संगठित योजना तैयार करें और यह योजना हमारे राजनीतिक गणतन्त्र के ढांचे के अधीन तैयार की जाये। आयोजन के अन्तिम उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि "हमारा अन्तिम उद्देश्य धनी और निर्धन व्यक्तियों तथा अवसर सम्पन्न लोगों और कम या बिल्कुल ही नहीं अवसर पाने वाले लोगों के मध्य के अन्तर को समाप्त करना है। इस उद्देश्य के मार्ग में आने वाली प्रत्येक बाधा को दूर किया जाना चाहिए चाहे सौहार्दपूर्ण तथा सहकारी ढंग से अथवा सरकारी दबाव या कानून से। व्यक्ति और सामाजिक उद्देश्य की प्राप्ति के बीच किसी भी प्रकार की बाधा नहीं आने देनी चाहिए"।

पण्डित जी ने कहा कि आयोजना अथवा योजना का अभिप्राय केवल यह नहीं है कि हम कुछ कारखाने स्थापित कर लें या कुछ मामलों में उत्पादन में वृद्धि कर लें। कारखानों की स्थापना और उत्पादन में वृद्धि आवश्यक अवश्य है, लेकिन "कुछ अधिक महत्व के साथ हमें प्राप्त यह करना है जिससे समाज एक विशेष प्रकार के ढांचे में धीरे-धीरे विकास करे"।

नेहरू जी ने यह विश्वास प्रकट किया कि आयोजना देश में आर्थिक समृद्धि तो लायेगा ही, किन्तु लोगों में भावनात्मक जागरकता भी उत्पन्न करेगा। यह भावनात्मक जागरकता हमें अपनी समस्याओं को समझने में सहायता देगी। यह जागरकता हमें अपने ग्रामों या जनपदों या प्रदेशों की अलग-अलग समस्याओं को समझने में सहायता देगी। अतः योजना बनाने, इस ढग से प्रगति करने के प्रश्न को समझने, परखने और इस प्रकार की रिपोर्ट तैयार करने आदि को हमें पूरी निष्ठा के साथ निभाना चाहिए। नेहरू जी ने देशवासियों को कहा कि भारत के नव-निर्माण का कार्य एक महान् कार्य है, जिसके लिए केवल हमारे सगठित प्रयासों का ही नहीं, वरन् उत्साह से भरपूर प्रयासों को आवश्यकता है। नेहरू जी ने विशाल उद्योगों और बड़े कारखानों की स्थापना को आवश्यक बताया। उन्होंने कहा था कि "बड़े कारखानों के बिना भारत में भौतिक स्तर पर वास्तविक कल्याण अथवा प्रगति नहीं हो सकती। मैं तो यह भी कहूँगा कि बड़े कारखानों तथा इसके परिणामों के बिना हम एक राष्ट्र के रूप में अपनी स्वतन्त्रता भी बनाये नहीं रख सकते और मेरा मत है कि व्यापक रूप से फैले ग्रामोद्योगों के के बिना भारत में लोककल्याण तथा बड़े पैमाने पर रोजगार की व्यवस्था कम से कम आगे आने वाले काफी लम्बे समय तक नहीं हो सकती। प्रश्न अब देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में छोटे उद्योगों का समन्वय करने का है।"

इस प्रकार पण्डित जी ने औद्योगीकरण को भारी महत्व दिया है तथापि देश की अर्थ व्यवस्था में कुटीर उद्योगों के महत्व की उपेक्षा नहीं की। उन्होंने कुटीर उद्योगों के महत्व की उपेक्षा नहीं की। उन्होंने कुटीर उद्योगों के राष्ट्रीय सरक्षण पर भी पर्याप्त बल दिया। उन्होंने कहा कि एक बड़ी समस्या देश की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में छोटे और लघु उद्योगों के समन्वय करने की है।"

औद्योगिक विकास पर बल देते समय नेहरू जी कृषि के महत्व को नहीं भूले। उनका विश्वास था कि भारत की औद्योगिक प्रगति तभी सम्भव है जब वह कृषि के क्षेत्र में आत्म-निर्भर बने। केवल कृषि की सम्पन्नता पर ही भारत का औद्योगिक विकास सम्भव है। नेहरू जी ने कृषि के विकास के लिए वैज्ञा-

निक पद्धति अपनाने का आग्रह किया। उन्होंने कहा कृषि को देश की विस्तृत अर्थव्यवस्था के अनुकूल बनाना है। उन्होंने कृषि के सहकारी एवं सहयोगी स्वरूप पर बहुत जोर दिया क्योंकि उनका विचार था कि धीरे-धीरे यह कदम समाजवाद की ओर ले जाने वाला है।

बुनियादी और बड़े उद्योगों के राष्ट्रीयकरण पर बल

भारतीय अर्थव्यवस्था में नेहरू जी ने राष्ट्रीयकरण को जन्म दिया। बड़े उद्योगों को सरकार ने अपने हाथ में ले लिया है, जिससे कि कच्चे माल, वितरण और मूल्य की समस्या को दूर किया जा सके। नेहरू जी यह नहीं चाहते थे कि पूँजीपति उन उद्योगों से लाभार्जन कर उसका उपयोग अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं और विशिष्टताओं की वस्तुओं की पूर्ति के लिए करें। वे यह चाहते थे कि राष्ट्रीय उत्पादन की वृद्धि और राष्ट्रीय धन का न्यायपूर्ण वितरण हो। नेहरू जी के अनुसार ही कांग्रेस ने सन् 1955 में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का प्रस्ताव पारित किया।

मिश्रित अर्थव्यवस्था के पक्षधर

नेहरू जी ने भारत जैसे विशाल देश के लिए मिश्रित अर्थ-व्यवस्था को सर्वाधिक अनुकूल समझा। उनका विश्वास था कि पूर्ण राष्ट्रीयकरण उन देशों के लिए लाभकारी हो सकता है, जिनमें राज्य के पास आय के पर्याप्त और सम्पन्न साधन हों, परन्तु भारत जैसे विकासशील राष्ट्र के लिए यह व्यवस्था अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि यहाँ वित्तीय और तकनीकी साधन अत्यन्त ही सीमित हैं। अतः नेहरू जी ने भारत की तत्कालीन परिस्थितियों में उत्पादन के साधनों को उद्योगपतियों के हाथ में ही छोड़ देना उचित समझा और राष्ट्रीय साधनों को नवीन योजनाओं में लगाना उपयुक्त माना जिनसे कम लाभ की प्राप्ति की आशा थी और लम्बा समय लगता। नेहरू जी के अनुसार मिश्रित अर्थव्यवस्था समय की मांग थी और इस अर्थ व्यवस्था में निजी उद्योग भी राष्ट्रीय विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते थे।

मिश्रित अर्थ व्यवस्था के आधार पर भारत में समस्त उद्योगों को दो क्षेत्रों में विभक्त किया गया। प्रथम, सार्वजनिक क्षेत्र और द्वितीय व्यक्तिगत क्षेत्र। सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत उन उद्योगों को लगाया जिन पर राज्य का स्वामित्व और नियन्त्रण रखा जाना था तथा व्यक्तिगत क्षेत्र में वे उद्योग लिए गए, जिन पर व्यक्तिगत अधिकार स्थापित रहता। नेहरू जी के नेतृत्व में मिश्रित अर्थ

आयोग के प्रस्ताव पर निश्चय किया गया कि देश के [illegible] सम्बन्धी उद्योगों का [illegible] और [illegible] वाले उद्योगों को भी इस देश में [illegible] जाय। [illegible] के विषय में यह निर्णय रहा कि वर्तमान कारखानों को, जिस रूप में [illegible] है उसी प्रकार रहने दिया जाय, किन्तु नए कारखानों की स्थापना का अधिकार राज्य के पास सुरक्षित रखा जाय।

सामुदायिक विकास योजनायें

नेहरू जी ने स्वावलम्बन के स्वप्न को पूरा करने के लिए और देश के सीमित आर्थिक साधनों का ध्यान रखते हुए सामुदायिक विकास योजनाओं को देश की पंच-वर्षीय योजनाओं में एक महत्वपूर्ण स्थान दिया। नेहरू जी का मत था कि इन सामुदायिक विकास योजनाओं का उद्देश्य पिछड़े हुए ग्रामीण क्षेत्रों का सर्वांगीण विकास करना है। शहरों, अथवा नगरों का विकास तो बुनियादी और भारी उद्योगों द्वारा हो जायगा। लेकिन समस्या ग्रामों की शेष रहेगी। नेहरू जी यद्यपि आधुनिकता के प्रेमी थे, किन्तु ग्रामों से भी उन्हें गहरा प्रेम था। वे ग्रामों की समस्या को सुलझाने के लिए बड़े उत्सुक थे। अतः ग्रामों के सर्वांगीण विकास को ध्यान में रखते हुए नेहरू जी की अध्यक्षता में योजना आयोग ने सामुदायिक विकास का प्रारूप तैयार किया और उस पर अमल प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे यह व्यापक रूप धारण करता गया और आज एक राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम बन चुका है। सामुदायिक विकास योजना या कार्यक्रम का प्रथम लक्ष्य यह था कि भारत के सम्पूर्ण ग्रामों को इस योजना के अन्तर्गत ले लिया जाय। यह कार्यक्रम लगभग पूर्ण हो चुका है।

नेहरू जी ने सामुदायिक योजना को भारत के ग्रामीणों के विकास के लिए अनिवार्य माना। इस योजना के महत्व पर बोलते हुए उन्होंने कहा, 'जो कार्य हमने प्रारम्भ किया है, वह क्रान्ति को जन्म देने वाला है उस क्रान्ति को जिसके विषय में लोग दीर्घकाल से चिल्लाते चले आ रहे है। यह क्रान्ति किसी विप्लव पर अथवा शीश टूटने पर आधारित न हो कर दरिद्रता को समाप्त करने के सतत् प्रयासों पर आधारित है। यह भाषण देने का समय नहीं है। हमें अपने परिश्रम के द्वारा भारत को महान् बनाना चाहिए'। इस प्रकार सामुदायिक विकास योजना का मुख्य तत्व जनता का स्वेच्छापूर्वक सहयोग है।

नेहरू जी ने अल्प-संख्यकों और अविकसितों के हितों की सुरक्षा पर पूरा ध्यान दिया। उनका विचार था कि समाज के जो वर्ग पिछड़े हुए हैं और मानसिक

बौद्धिक दृष्टि से जो वर्ग विकसित वर्गों की तुलना में पीछे है, उन्हें
का अवसर दिया जाना चाहिए और उनका मानसिक एवं बौद्धिक वि
जाना चाहिए। उन्हें विशेषाधिकार दिये जाने चाहिए, जिनसे उनको
तर तक कर सकें, जब तक कि वे समाज के सम्पन्न और बौद्धिक दृष्टि
हुए वर्गों के बराबर न आ जायें। नेहरू जी के सतत् प्रयासों से ही भ
धान में पिछड़ी जाति के लोगों के लिए विशेषाधिकारों की व्यवस्था
उन्हें शिक्षा व सेवाओं में विशेष सुविधायें प्रदान की गयी। अस्पृश्य
के लिए भी प्रयास किये जिससे देश में सामाजिक एकता की स्थाप
उद्देश्य से संविधान के नीति निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत भाग में अस्पृश्य
के लिए प्रावधान किया गया।

हरू जी के निधन के साथ ही भारत में एक युग की समाप्ति हुई जि
युग' कहा जा सकता है। देश के स्वातन्त्र्य आन्दोलन में नेहरू जी
ता, जागरूक प्रहरी, योद्धा, राष्ट्रप्रेमी, कुशल राजनीतिज्ञ के रूप में का
आन्दोलन का सफल संचालन किया। स्वतन्त्र भारत में प्रधानमन्त्री,
मन्त्री और योजना आयोग के अध्यक्ष के रूप में वे भारत के नव-निर्माण
रहे। वे अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में भारत की प्रगति, वैज्ञानिक व
उन्नति, लोकतान्त्रिक समाजवाद, धर्म निरपेक्षतावाद, स्वतन्त्र वैदेशिक
र अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिए जूझते रहे। नेहरू जी एक
थे। मानव मात्र के कल्याण की इच्छा रखने के कारण उन्होंने सदैव
त्व, सहयोग, शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और सम्प्रभुता,
, नि:शस्त्रीकरण और अणु शक्ति के शान्तिपूर्ण रचनात्मक प्रयोग का
या। उन्होंने इन बातों के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों पर बल
होंने विश्व संस्था संयुक्त राष्ट्रसंघ का समर्थन किया और मानवता के
मूल मन्त्र संसार के समक्ष रखा। उनके विचार भावी भारत के
र बुद्धिजीवियों के लिए मार्गदर्शक हैं। डा० करुणाकरण ने नेहरू जी के
क ही लिखा है, "नेहरू जी समाजवाद तथा अन्तर्राष्ट्रीयवाद के प्रमुख
से एक थे। वे एक क्रियाशील महान् व्यक्ति थे, जिन्होंने मानवतावाद
ऊँचा उठाया। राष्ट्रवाद की अभिनव व्याख्या की। पूर्व और पश्चिम
करने की चेष्टा की, लोकतन्त्र और समाजवाद का मिलन किया"।
...न् कार्यों से भारतीय राजनीतिक व सामाजिक चिन्तन को एक

नूतन दिशा दी। उनका यह योगदान इतिहास में सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

महात्मा गांधी

(1866–1949) महात्मा गांधी का वास्तविक नाम मोहनदास करमचन्द गांधी था। 2 अक्तूबर, सन् 1869 को काठियावाड में पोरबन्दर नामक स्थान पर एक धार्मिक घराने में उनका जन्म हुआ था। उनकी माता अत्यन्त धर्मपरायण और साधु प्रकृति की महिला थी, जिसका गांधी जी के जीवन पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। गांधी जी की प्रारम्भिक शिक्षा राजकोट में हुई। मैट्रिक उत्तीर्ण करने के पश्चात् वे कानून की उच्चशिक्षा प्राप्त करने के लिए सन 1887 में इंगलैंड गये। इंगलैण्ड में रहते हुए उन्होंने सरल जीवन व्यतीत किया और वह ज्ञानवादियों के सम्पर्क में आने पर गीता का अनुवाद पढ़ा। भारतीयता के प्रति अपने प्रेम में उन्होंने कोई कमी नहीं आने दी और पश्चिम की अनेक अच्छी बातों को भी उन्होंने सीखा। सन् 1891 में वे भारत लौटे और उन्होंने वकालत प्रारम्भ कर दी। सन् 1893 में वे एक गुजराती मुसलमान के मुकद्दमे की पैरवी करने के लिए दक्षिणी अफ्रीका गये। वहां गये थे केवल एक वर्ष के लिए ही, किन्तु रह गये 20 वर्ष। अफ्रीका में उन्होंने उस अत्याचार और अन्याय को देखा, जो वहां की गोरी सरकार प्रवासी भारतीयों पर जाति और रंग के नाम पर कर रही थी। गांधी जी ने सन् 1893 से 1914 तक दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार के विरुद्ध अपना अहिंसात्मक युद्ध लड़ा और सत्याग्रह का सफल प्रयोग किया। गांधी जी ने अफ्रीका का युद्ध "आत्मा की तलवार" से लड़ा और तब तक लड़ा जब तक विजय प्राप्त नहीं हो गयी। दक्षिणी अफ्रीका का संघर्ष अपने आप में तो महत्वपूर्ण था ही, किन्तु भारत में उससे कहीं बड़े संघर्ष की तैयारी के रूप में इसका महत्व और भी अधिक था। इसने न केवल गांधी को भारत के नेता के रूप में अपनी भूमिका अदा करने की योग्यता प्रदान की वरन् अहिंसात्मक अवज्ञा की टेकनीक विकसित करने में भी सहायता दी।

सन् 1914 में भारत लौटने पर बम्बई की जनता तथा कवीन्द्र रविन्द्र नाथ टैगोर ने गांधी जी को "महात्मा" की उपाधि दी और इस प्रकार मोहन दास करमचन्द गांधी से महात्मा गांधी देश की राजनीति में सक्रिय भाग लेने लगे। सन् 1915 से सन् 1948 तक उन्होंने देश की स्वतन्त्रता के लिए अथक कार्य किया। अगस्त सन् 1920 में लोकमान्य तिलक की मृत्यु के बाद कांग्रेस में गांधी जी का वर्चस्व नेतृत्व स्थापित हो गया। रौलेट ऐक्ट और पंजाब में हुए अत्या-

चारों से पीड़ित होकर महात्मा गांधी ने ब्रिटिश शासन के विरूद्ध सन् 1921 में अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन आरम्भ किये। सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीय जागरण की लहर फैल गयी। जब आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर था तभी चौरी-चौरा की हिंसात्मक घटना के कारण इस महात्मा राजनीतिज्ञ ने असहयोग आन्दोलन को स्थगित कर दिया। उनके अनुसार तो यह संघर्ष पूर्णतः सत्य और अहिंसा के नैतिक शस्त्रों से लड़ा जाना था। ज्यों ही उन्हें हिंसा के प्रयोग की सम्भावना हुई, उन्होने आन्दोलन ऐसे समय स्थगित करने का निश्चय कर डाला जब सफलता भारतीय जनता के चरण चूमने के लिए तैयार थी। वास्तव में महात्मा गांधी जी के लिए सत्य और अहिंसा का आचरण सर्वोपरि था और वे राजनीतिक वल द्वारा करना चाहते थे जिसमें हिंसा का कोई अंश न हो।

गांधी जी का प्रथम अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन पूर्णतः सफल नही हुआ। इसने कांग्रेस को एक जड़ आन्दोलन बना दिया। स्वराज्य का सन्देश घर-घर पहुचा दिया और जनता की मानसिक स्थिति मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया। गाधी जी ने अपने स्वराज्य आन्दोलन को सोने नही दिया। उन्होने अपना ध्यान रचनात्मक कार्यों की ओर केन्द्रित किया और खादी प्रचार तथा ग्रामोद्योग को प्रधानता देकर स्थान-स्थान पर उनके केन्द्र और आश्रम स्थापित किये। इन दिनों वे "यंग इण्डिया" नामक पत्र का सम्पादन करते रहे। फिर उन्होने "नवजीवन" निकाला और बाद मे हरिजन का सम्पादन विभिन्न भाषाओ में आरम्भ किया। इन पत्रों मे उनके विचार देश के सामने नियमित रूप से प्रकट होते रहे।

सन् 1929 में कांग्रेस ने लाहोर अधिवेशन मे अपना ध्येय "पूर्ण स्वराज्य" घोषित किया और अहिंसात्मक आन्दोलन का नेतृत्व पुनः गांधी जी को सौंप दिया। जनवरी सन् 1930 मे गांधी जी ने सरकार के समक्ष कुछ अत्यन्त उचित और मर्यादित शर्तें रखी। सरकार द्वारा इन शर्तों को अस्वीकृत कर दिया गया। फिर अप्रैल सन् 1930 में गाधी जी ने सम्पूर्ण देश मे सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। उनकी गिरफ्तारी के बाद भी आन्दोलन सफलतापूर्वक चलता रहा। इसी बीच लार्ड इरविन से एक समझौता हो गया। फलस्वरूप गाधी जी ने आन्दोलन बन्द करके लन्दन में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन मे कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप मे भाग लिया। सम्मेलन में साम्प्रदायिक समस्या पर कोई समझौता न होने के कारण गांधी जी को खाली हाथ भारत लौटना पड़ा। उन्होंने फिर सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया जो सन 1934 तक चलता

। विश्व इतिहास मे इतने महान् और विशाल जन-आन्दोलन का नेतृत्व
ी एक व्यक्ति ने कभी नहीं किया था। सन् 1935-36 मे राजनीतिक
ों के फलस्वरूप कांग्रेस के प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल बने । परंतु द्वितीय महा-
प्रारम्भ होने पर भारतीयों की इच्छा के विरूद्ध अंग्रेजो ने भारत को युद्ध में
मलित कर लिया था। अतः कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने त्याग पत्र दे दिये और
ी जी के नेतृत्व मे कांग्रेस की ओर से सन् 1940 का व्यक्तिगत सत्याग्रह
ाया गया जिसमें युद्ध विरोधी प्रचार स्थान-स्थान पर प्रसारित किये गये।
धी जी की प्रेरणा से 9 अगस्त, सन् 1942 को प्रसिद्ध "भारत छोडो आन्दोलन"
म्भ हुआ। इस आन्दोलन ने सम्पूर्ण शासनतन्त्र को हिला दिया। गाधी जी
गिरफ्तार कर लिया गया। जेल मे उन्होंने 29 दिनो का ऐतिहासिक उपवास
या। सन् 1944 मे उन्हे कारावास से मुक्त किया गया। इस समय जिन्ना
नेतृत्व मे "पाकिस्तान आन्दोलन" जोर पकड़े हुए था। गाधी जी ने जिन्ना
पाकिस्तान सम्बन्धी समस्या सुलझाने के लिए वार्ता चलायी जो विफल रही।
द में "कैबिनेट मिशन" के निर्णयों के अनुरूप संविधान सभा के जो निर्वाचन
ए उनमें गाधी जी के नाम से ही कांग्रेस को निर्वाचन मे बहुत भारी बहुमत प्राप्त
ा। कैबिनेट मिशन की घोषणा के अनुसार सन् 1946 मे अन्तरिम सरकार
ी और फिर माउण्टबेटन की भारत विभाजन योजना के अनुसार सन् 1947
ा भारतीय स्वाधीनता विधेयक पारित हुआ जिसने भारत और पाकिस्तान
ामक दो राज्यो को जन्म दिया। प्रारम्भ मे गाधी जी ने विभाजन की योजना
ा विरोध करते हुए घोषणा की थी कि भारत का विभाजन मेरी लाश पर
ोगा, परन्तु परिस्थितियों के आगे उन्हे विवश होना पडा। गाधी जी ने देश
े इस विभाजन को आध्यात्मिक विनाश कह कर पुकारा।

स्वाधीनता के पश्चात् दोनो देशो मे साम्प्रदायिकता की दावाग्नि भड़क
उठी। गांधी जी ने अपना शेष जीवन साम्प्रदायिकता की इस भयंकर आग को
शान्त करने में होम दिया। 30 जनवरी, 1948 को एक प्रार्थना सभा में
होठों में ईश्वर का नाम लिये वे धर्मान्ध नाथूराम गोडसे की गोलियों से
शहीद हुए।

गांधी जी की मृत्यु भी उनके जीवन की भांति अकारथ नहीं गयी। उनकी
मृत्यु से वे विचार और सिद्धान्त और भी अधिक सजीव तथा प्रभावशाली हो
उठे, जिनके लिए वे जीवन पर्यन्त लड़े थे। जीवनपर्यन्त वे सुकरात व बुद्ध की
भांति सत्य और अहिंसा पर डटे रहे। उन्होंने अपना सम्पूर्ण राजनीतिक और

चाहिए और साधनों में पवित्रता बरतनी चाहिए। यद्यपि गांधी जी ने सामूहिक जीवन की समस्याओं पर अपने विचार व्यक्त किये हैं, तथापि इसके निमित्त उन्होंने व्यक्ति की चेतना तथा व्यक्ति के आचरण को बहुत महत्व दिया है। उक्त नैतिक सिद्धान्त गांधी जी के राजनीतिक दर्शन के अभिन्न अंग हैं। सत्य, अहिंसा, प्रेम आदि मानवीय सद्गुणों के आधार पर समस्त सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं का विवेचन करना तथा स्वयं एक राजनेता के रूप से उन पर आचरण करना गांधी जी के विचारों की विश्व के राजनेताओं के लिए एक महान् देना है। विशेष रूप से उन्होंने भारत की तत्कालीन समस्याओं के अनुसार अपने जीवन क्रम मे इन आदर्शों को स्वयं भी पूर्ण रूप से अपनाया।

साध्य तथा साधन

राजनीति के अधिकांश आदर्शवादी तथा निरंकुशवादी चिन्तक राज्य को साध्य तथा व्यक्ति को साधन मानते रहे है। इसके विपरीत व्यक्तिवादी चिन्तक व्यक्ति को साध्य तथा राज्य को साधन मानते थे। गांधीजी न व्यक्तिवादी थे और न अधिनायकवादी। यदि उनके विचारो में आदर्शवाद है तो वह पाश्चात्य देशों के आदर्शवादी चिन्तको से बिल्कुल भिन्न प्रकृति का है। उसे प्रत्ययवाद नही कहा जा सकता और न रहस्यवाद। गांधी जी की दृष्टि में मानव जीवन का लक्ष्य व्यक्ति को आत्मानुभूति की प्राप्ति कराना है, जिसका अर्थ ईश्वर से साक्षात्कार या निरपेक्ष सत्य का ज्ञान। सत्य ईश्वर है, अतः ईश्वर की सृष्टि में मानव को सत्य की खोज करनी चाहिए। इसके लिए उसे न केवल अपनी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के लिए कार्य करना है, अपितु अन्य मानवों के लिए भी करना है। तभी वह आत्मानुभूति की उपलब्धि कर सकता है। अतः मानव जीवन का अन्तिम उद्देश्य सबका अधिकतम हित होता है। इसी को गांधी जी ने सर्वोदय का नाम दिया था। यह धारणा इगलैंड के उन्नीसवी शताब्दी के उपयोगितावादी विचारकों के उद्देश्य पर एक नैतिक प्रहार है क्योकि उनकी दृष्टि में राज्य या समाज का उद्देश्य अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख माना गया था। महात्माजी ने इसे एक नग्न तथा हृदयहीन सिद्धान्त कहा है, जिसका अभिप्राय यह हुआ कि 51 प्रतिशत लोगों के अधिकतम सुख के नाम पर 49 प्रतिशत लोगों के हितो का बलिदान किया जा सकता है। गांधीजी के विचार से आत्मानुभूति के निमित्त व्यक्ति में आत्मत्याग की भावना होनी चाहिए, ताकि वह सम्पूर्ण समाज के हित मे अपने व्यक्तिगत हितों का बलिदान कर सके। इस दृष्टि से सबका अधिकतम हित गांधी जी का साध्य है।

साध्य तथा साधन के मध्य क्या सम्बन्ध होना चाहिए इस विषय पर विचारकों में मतभेद रहे हैं। इटली का सुप्रसिद्ध व्यावहारिक राजनेता तथा चिन्तक मैकियावेली जो गांधीजी से ठीक 400 वर्ष पूर्व जन्मा था, इस धारणा के लिए कुख्यात है कि साध्य ही साधन का औचित्य दर्शाता है अर्थात् यदि साध्य वांछनीय है तो उसकी प्राप्ति के लिए जो भी साधन अपनाये जावें, वे औचित्यपूर्ण होंगे। झूठ, छल, फरेब आदि उसकी कूटनीति के आधार हैं। इस सिद्धान्त का अनुगमन साम्यवादियों तथा फासीवादियों ने किया, परन्तु गांधीजी ने इस धारणा का कठोर विरोध किया है। उनके विचार से यदि साधन पवित्र नहीं है, तो साध्य भी पवित्र नहीं हो सकता। वे दोनों को एक दूसरे से घनिष्ठ तथा सम्बद्ध मानते हैं। केवल साध्य की पवित्रता ही आवश्यक नहीं है, अपितु उसकी प्राप्ति के लिए अपनाये जाने वाले साधन भी उतने ही पवित्र होने चाहिए। साधन तथा साध्य बीज तथा पौधे की भांति एक दूसरे से सम्बन्ध रखते हैं। हिंसात्मक साधनों द्वारा प्राप्त किया जाने वाला साध्य चाहे कितना ही नैतिक प्रकृति का हो वह कालान्तर में भ्रष्ट हो जायेगा। हिंसा प्रतिहिंसा को जन्म देती है। इनसे स्थायी शान्ति नहीं रह सकती। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि हिंसा तथा बल प्रयोग द्वारा स्थापित उत्तम उद्देश्य पर आधारित व्यवस्थायें कभी स्थायी नहीं रह पाती हैं। अतएव गांधी जी ने निरन्तर साधनों की शुद्धता तथा उत्तमता पर बल दिया है, यद्यपि वे साध्य को गौण स्थान नहीं देना चाहते। उनका मत था कि दोनों के मध्य अभिन्न सम्बन्ध है, अतः हमारे साधन ऐसे नहीं होना चाहिए कि वे साध्य के नैतिक स्वरूप से बिल्कुल भिन्न हो जावें। उनका विचार है कि जैसा साधन होंगे वैसा ही साध्य भी होगा। इस प्रकार गांधीजी [illegible] नैतिक मर्यादाओं से शासित है। अतः गांधी जी की [illegible] हुआ है।

गांधीजी ने हिन्दू धर्म शास्त्रों में निर्दिष्ट पांच प्रमुख [illegible] को राजनीतिक साधनों के रूप में अपनाया है। गांधीजी के [illegible] रहा है। उसे इन पांच नैतिक सिद्धान्तों पर आचरण [illegible] — (1) सत्य (2) अहिंसा (3) अस्तेय (4) अपरिग्रह और [illegible] व्यक्तियों को इन पर आचरण करने की प्रतिज्ञा करनी [illegible] इन पर अनुकरण करना चाहिए, और मन, वचन [illegible] चाहिए। ये मानव आत्मा को शक्ति प्रदान करते हैं [illegible] अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

गांधीजी के विचार स्रोत

एक राजनीतिक चिन्तक के रूप में महात्मा जी को व्यावहारिक आदर्शवादी कहा जाता है। इसका यह अर्थ है कि उन्होंने अपने राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक विचारों को जिन आदर्शों के अन्तर्गत व्यक्त किया है उन आदर्शों पर उन्होंने स्वयं आचरण किया। ये आदर्श अनेक साधन थे। इनमें से कुछ प्रमुख आदर्शों या साधनों—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, तथा ब्रह्मचर्य—का जिस रूप में महात्माजी ने विवेचन किया है, इन आदर्शों के आधार पर मानव के व्यक्तिगत आचरण का निर्माण करना तथा समाज की समस्त गतिविधियों का संचालन तथा नियमन इन आदर्शों के अनुसार किया जाना गांधी जी का साध्य था। यह साध्य प्राचीन यूनानी चिन्तकों प्लेटो तथा अरस्तू की धारणाओं के उत्तम जीवन की प्राप्ति से मिलता जुलता है, परन्तु महात्माजी उन यूनानियों की भांति केवल छोटे नगर राज्यों के जीवन के विषय में नहीं, अपितु बीसवीं शताब्दि के जटिल समाजों तथा अन्तर्राष्ट्रीय जटिल विश्व समाज के सम्बन्ध में विचार कर रहे थे। अतः उनके आदर्शों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। गांधीजी ने राजनीतिक, सामाजिक धार्मिक, आर्थिक, नैतिक, आध्यात्मिक आदि जीवन के विभिन्न पहलुओं पर जो कुछ लिखा या कहा, अथवा अपने व्यक्तिगत, सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन में जिस प्रकार आचरण किया, उन सबको सम्पूर्ण रूप में गांधीवाद की संज्ञा दी जाती है। गांधीवाद एक समग्रजीवन दर्शन है। इसी का एक अंग जो राजनीतिक समस्याओं से सम्बन्ध रखता है उसमें व्यक्त विचारों को गांधीजी का राजनीतिक दर्शन कहा जाता है। राजनीति का समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, आदि के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, इसलिए गांधी जी ने अपने राजनीतिक विचारों के साथ उन विविध क्षेत्रों में अपने विचारों को घनिष्टतया सम्बद्ध किया है।

जिस रूप में गांधीजी की शिक्षा-दीक्षा सम्पन्न हुई थी और उन्होंने अपने जीवन क्षेत्र में प्रवेश किया था, उससे यह स्पष्ट होता है कि गांधीजी एक वकील का व्यवसाय करने के लिए प्रशिक्षित किये गये थे। परन्तु जिस रूप में वे अपने दीर्घ जीवन में भारत ही नहीं, वरन विश्व के समक्ष प्रकट हुए हैं उस रूप में उन्हें एक दार्शनिक, चिन्तक, समाज सेवक, समाजसुधारक, कर्मयोगी, महात्मा, राजनेता, राष्ट्र का स्वतन्त्र सेनानी आदि जिस नाम से भी पुकारा जाय, सब उचित है। सम्भवतः एक वकील के रूप में आज उन्हें कोई नहीं जानता। उनकी ये बहुमुखी प्रतिभायें तथा बहुमुखी कार्य क्षेत्र ही उनके दर्शन के महान् स्रोत हैं। बाल्यावस्था से ही उन्होंने अपने जीवन में छोटे से लेकर महानतम जिनके अनुभव किये और

जो छोटी-बड़ी घटनायें उनके साथ घटीं, उन सबने उन्हे कुछ न कुछ नये विचार करने की प्रेरणा दी। अतः गांधीजी के विचारो का सर्वप्रथम स्रोत उनका व्यक्तिगत जीवन है। यह उनकी आत्मकथा से स्पष्ट होता है।

दक्षिणी अफ्रीका मे उन्होने वहाँ की सरकार की रंगभेद नीति से दुखी होकर जो सत्याग्रह आन्दोलन चलाया और इसमे उन्हे जो सफलता प्राप्त हुई, वह उनके राजनीतिक जीवन मे प्रविष्ट होने तथा सक्रिय राजनीति में अपने कार्यक्रम को व्यावहारिक रूप प्रदान करने की प्रेरणा स्त्रोत सिद्ध हुई।

भारत मे आकर जब से स्वतन्त्रता आन्दोलन मे प्रविष्ट हुए, तो इसका नेतृत्व करने के लिए उन्हें तत्कालीन स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रमुख सेनानी तिलक तथा गोखले के विचारो से प्रेरणा मिली। इस तथ्य को उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है। वे गोखले को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे। जहाँ शान्ति, विनम्रता, तथा अहिंसात्मक कार्रवाई की आवश्यकता प्रतीत हुई वहां वे गोखले के शिष्य बने रहे, और जब उन्होने जन आन्दोलन प्रारम्भ किये तो तिलक की कार्यविधि अपनायी। अतः भारत की राजनीतिक दासता तथा ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन उनके राजनीतिक विचारो का मुख्य स्रोत है।

गांधी जी के विचारो के अन्य स्रोतो के अन्तर्गत उनका विदेशो मे भ्रमण, वहां की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्थाओ का अध्ययन, अनेक विदेशी चिन्तको के विचार, जिनका उन्होने गूढ़ अध्ययन किया था, विभिन्न प्रकार की पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारायें जो उनके युग मे प्रचलित थीं, यथा पूंजीवाद, समाजवाद, राष्ट्रवाद, साम्यवाद आदि आते हैं।

गांधी जी के विचारो का सबसे बड़ा स्रोत भारत की समकालीन दशा है। देश के कोने-कोने मे भ्रमण करके और ग्राम-ग्राम मे जाकर भारत की करोड़ जनता का जो प्रत्यक्षदर्शी ज्ञान गांधी जी ने प्राप्त किया था, वह संभवत उनके देश के किसी भी महानतम नेता को प्राप्त हो सकना असंभव है। अतएव गांधी जी ने ग्राम-स्वराज्य की जो धारणायें व्यक्त की है, उनसे स्पष्ट हो जाता है कि गांधी जी भारतीय ग्राम जीवन की आत्मा थे। देश मे ब्रिटिश शासकों के विष प्रकार की आर्थिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था की थी और सामाजिक जीवन मे जो कुरीतियां आती जा रही थी और देश की अधिकांश जनता के समक्ष दरिद्रता, दासता, अन्धविश्वास आदि के कारण जो कमियां आ चुकी थीं, उन सबके निवारण

की सबसे महान चिन्ता गांधी जी को थी। इन्हीं के सन्दर्भ मे उनके राजनीति विचारो का विकास हुआ है। अतः उनके अधिकाश विचार भारतीय जीवन सन्दर्भ मे व्यक्त किये गये हैं।

अन्त में गाधी जी के विचारों का एक प्रेरणा स्रोत उनका हिन्दू धर्म ग्रन्थो अध्ययन तथा उनका गांधी जी द्वारा निर्वचन है। रामायण, महाभारत, भगव गीता, उपनिषद्, स्मृतियों आदि के अध्ययन के साथ-साथ बाइबिल एव अ पाश्चात्य ग्रन्थो तथा रचनाओं का अध्ययन गाधी जी ने किया था। इनसे अने शिक्षायें लेकर गांधी जी ने उन्हे अपने विचारों की पुष्टि के निमित्त अपनाया ब्रिटिश लेखक जॉन रस्किन की रचना Unto the Last (अन्तिम व्यक्ति तक) से उन्होने सर्वोदय की प्रेरणा ली। टालस्टाय के विचारों से दार्शनिक अराजकता वाद के सिद्धान्त को अपने ढंग से व्यक्त किया। पाश्चात्य शान्तिवादी चिन्तकों के प्रभाव को भी गाधी जी के विचारो में अमान्य नही किया जा सकता। यथारहोल, जोड, रोमा रोला आदि। गाधी जी ने दो विश्वयुद्धो के उत्पातों को स्वयं देखा और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के चक्र चलते रहे थे, वे भी गाधी जी के विचारो के स्रोत है।

सक्षेप मे, गांधी जी के विचार भले ही आदर्शवादी हैं तथापि वे कोरे चिन्तनात्मक या कल्पनामूलक न होकर, व्यावहारिक स्थितियो के सन्दर्भ से व्यक्त किये गये विचार हैं। अत उनके विचारों के स्रोत एक नहीं वरन् अनेक हैं। परन्तु जिन स्रोतो ने अनेक विचारों को प्रेरणा दी, उन स्रोतों मे व्यक्त विचारो को गाधी जी ने ज्यों का त्यों नही अपनाया, उन्हे ग्रहण किया, उनमे संशोधन, परिवर्तन तथा परिवर्धन किये, आवश्यकता पड़ने पर निर्भय होकर उनकी आलोचना भी की और समय तथा परिस्थितियो के अन्तर्गत अपने ढंग से निर्वचन किया। इस प्रकार उन्होने अपने विचारो को मौलिक रूप प्रदान किया है। उसका परिष्कार करते हुए उसकी सामाजिक चेतना को उत्तरोत्तर जागरित करना और अन्तिम बिन्दु तक पहुंचाना ही गांधीवाद का लक्ष्य है।

राजनीतिक विचार राज्य—तथा उसका स्वरूप

गाधी जी का दर्शन विशुद्ध तथा एक राजनीतिक दर्शन नही है। अपितु इसमे कुछ और अधिक व्यापक दर्शन है। उनकी कोई भी रचना एक स्वतन्त्र राजनीतिक दर्शन पर नही लिखी गयी है। अतः राज्य की पारिभाषिक व्याख्या करना, उसकी उत्पत्ति, विकास, आदि का चिन्तनात्मक विवेचन गाधी जी के विचारो मे नही पाया जाता। उनकी राजनीतिक विचारधारा किसी क्रमबद्ध

राजनैतिक दर्शन का प्रतिपादक नहीं है। प्रत्युत गांधी जी ने यथार्थ राज्यों का विवेचन करके उनकी कमियों को बताया है और विशेषतया भारत के सन्दर्भ में क अहिंसात्मक राज्य की स्थापना का चित्र खींचा है। इस दृष्टि से गांधी जी यार्थ राज्यों के वर्तमान स्वरूप का विवेचन करते हुए राज्य के भावी स्वरूप ा चित्र खींचते हैं, जो पाश्चात्य देशों के कुछ चिन्तकों की कल्पना की भांति का क स्वप्नलोकी आदर्श राज्य कहा जा सकता है।

ार्शनिक अराजकतावाद

सामान्यतया राज्य के प्रति गांधी जी का दृष्टिकोण अराजकतावादी है। न्हें टालस्टाय की भांति दार्शनिक अराजकतावादियों की श्रेणी में रखा जाता । टालस्टाय, बाकुनिन, क्रापोट्किन् और यहाँ तक कि कार्लमार्क्स की परम्परा ं गांधी जी भी निवर्तमान राज्य व्यवस्था के कटु आलोचकों में से हैं। वे ाज्य को मानव की दुर्बलताओं की उपज मानते हैं। मार्क्स व ऐंजिल्स ने अपने ़ के राज्यों को एक वर्ग संगठन माना था, जिनका उद्देश्य एक वर्ग द्वारा दूसरे ा शोषण करना था। गांधी जी ने राज्य को वर्ग सगठन न कहकर "हिंसा का न्द्रीय व सगठित रूप" कहा है। राज्य वस्तुत हिंसक सघटन है, तथा संघटित ंसा का ही रूप है और गान्धी जी के विचार से जहाँ भी हिंसा है, भय है, वहाँ ोषण है ही। वह स्वयं कहते हैं "राज्य घनीभूत एव सघटित रूप में हिंसा का ्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति की आत्मा होती है, किन्तु चूंकि राज्य एक आत्मा- ीन यन्त्र है, उसे कभी हिंसा से विरत नहीं किया जा सकता क्योंकि उसी के कारण । ऐसे राज्य के औचित्य को ऐतिहासिक, नैतिक तथा आर्थिक किसी भी आधार ार स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। उनके मत से ऐसा राज्य "आत्माविहीन न्त्र के तुल्य है जो एक केन्द्रीकृत संगठन के रूप में हिंसा का प्रतिनिधित्व करता ै"। वह मनुष्य की वैयक्तिकता का दमन करके उसके विकास के मार्ग को अवरुद्ध रता है जो मानव जाति को बड़ा आघात पहुँचायेगा। वह पाशविक बल पर ाधारित रहते हुए अपना अस्तित्व बनाये रखता है। उसकी बल-प्रवर्ती शक्ति ानव स्वतन्त्रता के मार्ग की सबसे बड़ी अवरोध की शक्ति है। इसके कारण वह ्वयं साध्य बन जाता है और व्यक्ति को अपना साधन बनाता है। गांधी जी े विचार से व्यक्ति की आत्मानुभूति साध्य है और राज्य इस उद्देश्य का साधन ै। गांधी जी ने लिखा है, "मेरे लिए राजनीतिक सत्ता साध्य नहीं है वरन् वह मानव की उन्नति के प्रत्येक क्षेत्र में एक साधन मात्र है। एक आदर्श समाज में न कोई राज्य होगा और न राजनीतिक सत्ता"। इस दृष्टि से गांधी जी

अराजकतावादियों तथा मार्क्स की भांति एक शासन मुक्त समाज की व्यवस्था को आदर्श समाज की व्यवस्था मानते हैं। जो राज्य जितना ही कम शासन करता है और व्यक्ति को, नागरिक को, अपने सहज-स्फूर्त कर्त्तव्यों के पालन के प्रति जितना ही जागरूक रख सकता है, वह उतना ही अच्छा राज्य है। परन्तु उनकी भांति वे हिंसात्मक साधनों से वर्तमान राज्य को नष्ट करके आदर्श अराजक समाज की स्थापना या मार्क्स की भांति हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा राज्य की सत्ता को सर्वहारा वर्गीय अधिनायकवाद में परिणत करने की धारणा के कट्टर विरोधी हैं। उनकी धारणा यह है कि राज्य अहिंसा की राजनीतिक अभिव्यक्ति का साधन है। समाज में अनेक समाज विरोधी तत्व विद्यमान रहते हैं। राज्य उन्हें उचित मार्ग पर लाने का साधन है। उनके अभाव में समाज के अन्दर भारी हिंसात्मक अराजकता उत्पन्न होने की आशंका बनी रहेगी। अतः अहिंसात्मक साधनों द्वारा राज्य के निवर्तमान हिंसक स्वरूप को परिवर्तित करके उसे अहिंसात्मक राज्य के रूप में परिणत करने की आवश्यकता है।

राम राज्य की धारणा

महात्मा जी ने जिस आदर्श समाज व्यवस्था की कल्पना की है वह उनके दार्शनिक अराजकता विचारों पर आधारित होगी। इसे उन्होंने "रामराज्य" का नाम दिया है। यह न तो प्लेटो के "गणराज्य" में चित्रित आदर्श राज्य के सदृश है न सन्त आगस्टाइन की धारणा के दैवीराज्य के सदृश जिसका प्रतिनिधित्व इस संसार में इसाई चर्च करता हो और नहीं हीगेल की धारणा का "पृथ्वी में ईश्वर का अवतरण" है जो कि एक निरकुंश राज्य में परिणत हो जाय। प्रत्युत गांधी जी का आदर्श राज्य पृथ्वी में ईश्वर का अस्तित्व रखने वाली संस्था का रूप है जिसमें धर्म का राज्य, न्याय और प्रेम का राज्य। गांधी जी के शब्दों में उसे अहिंसक स्वराज्य कहना चाहिये अर्थात् ऐसा स्वराज्य जिसमें राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण हो जाय कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने पर नियन्त्रण रखे। यह एक राज्यविहीन लोकतान्त्रिक व्यवस्था है। महात्मा जी राज्य की वैधानिक प्रभुसत्ता की धारणा के विरोधी हैं क्योंकि यह राज्य को एक केन्द्रीकृत संगठन के रूप में परिणत कर देते हैं जिससे सत्ता थोड़े से विशेषज्ञों के हाथ में केन्द्रित हो जाती है। केन्द्रीयकरण से हिंसा उगती है और हिंसा से शोषण को बल मिलता है। वे हिंसात्मक साधना द्वारा सत्ता का प्रयोग करते हैं। इसके विपरीत गांधी जी को शोषण और अन्याय से मुक्ति के लिये केवल विकेन्द्रित सामाजिक व्यवस्था है जिसमें जीवन स्वचालित तथा स्वनियमित होगा न कि बाहरी सम्प्रभु कानून या राजनीतिक

सत्ता द्वारा ऐसी व्यवस्था में राजनीतिक सत्ता के अभाव में न कोई शासक होगा न शासित। यह व्यवस्था एक प्रकार के प्रबुद्ध अराजकतावाद की सी होगी। गाँधी जी के अनुसार ऐसा आदर्श राज्य वह समाज है जो अहिंसा पर आधारित है, जिसमें छोटे-छोटे जन-समूह ग्रामों में निवास करते हैं और उनके संगठन तथा शान्तिपूर्ण अस्तित्व की मुख्य शर्त ऐच्छिक सहयोग की होती है। इन छोटे-छोटे स्वशासित जन-समूहों के श्रमिक संगठनों द्वारा क्षेत्रीय, प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय स्तरों पर संघात्मक व्यवस्थायें निर्मित होंगी, जिनका आधार ऐच्छिक सहयोग होगा। ऐसा राज्य स्वयं साध्य न होकर व्यक्ति के जीवन के विविध सूत्रों में उसे पूर्ण विकास प्रदान करने का साधन होगा। राज्य स्वयं सम्प्रभु न होगा, वरन् प्रभुत्व शक्ति सम्पूर्ण जनता में निहित रहेगी। राज्य सामाजिक जीवन के संचालन तथा नियमन के लिए जिन कानूनों की व्यवस्था करेगा, यदि वे कानून तथा व्यवस्थायें जनता की नैतिक भावनाओं के विरुद्ध हों, तो नागरिकों को उनका विरोध करने का न केवल अधिकार प्राप्त रहेगा, अपितु ऐसा करना उनका कर्तव्य होगा। परन्तु ऐसा विरोध पूर्णतया अहिंसात्मक होना चाहिए। अन्यथा हिंसात्मक अराजकता फैलने से और अधिक अव्यवस्था आ जायेगी। इस प्रकार गाँधी जी न तो परम्परागत अराजकतावाद के समर्थक हैं और न परम्परागत राज्य के। वे अराजकतावादियों की इस धारणा को मानते हैं कि "अराजकता व्यवस्था का अभाव नहीं अपितु शक्ति का अभाव है।" शुद्ध अराजकता स्वयं राज्य का अभाव नहीं है। प्रत्युत वह एक ऐसा व्यवस्थित समाज है जिसका संगठन तथा संचालन उसके सदस्यों के ऐच्छिक सहयोग से किया जाता है और जिसके अन्तर्गत अहिंसा की भावना निरन्तर बनी रहती है। गाँधी जी थोरो की इस उक्ति को मानते हैं कि वही सरकार सर्वोत्तम है जो न्यूनातिन्यून शासन करती है। गाँधी जी के रामराज्य का आदर्श ऐसा नैतिक राज्य है जिसका प्रत्येक नागरिक उच्च नैतिक स्तर तक विकसित हो चुका है और उसका स्वयं ही अपने लाभ-स्वार्थ या आकांक्षाओं पर इतना नियन्त्रण है कि किसी भी पड़ोसी या सह नागरिक के हित को उसके द्वारा हानि पहुँचने का भय नहीं है। उसमें प्रत्येक नागरिक धर्म और कर्तव्य अनुसार अपने अन्दर नियन्त्रण रखता है, किसी बाह्य शासन या अधिकारी के भय से उसे अपना आचरण नियन्त्रित करना नहीं पड़ता, न उसकी कोई आवश्यकता ही है।

सरकार

गाँधी जी जिस आदर्श राम राज्य की कल्पना करते हैं वह एक विशुद्ध लोकतान्त्रिक व्यवस्था है जिसकी आधारभूत धारणायें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता,

मानता तथा सामाजिक न्याय है। उनकी धारणा का समाज राज्यविहीन है... पं में है कि उनके अन्तर्गत परम्परागत प्रभुसत्ता की धारणा नहीं रहेगी। राज्य की सत्ता का प्रयोग शक्ति तथा हिंसात्मक दमन के द्वारा नहीं किया जायेगा अर्थात् रामराज्य केन्द्रीकृत राज्य सत्ता से विहीन लोकतान्त्रिक व्यवस्था है। गांधी जी केन्द्रीकृत शासन व्यवस्था को लोकतन्त्र का निषेध मानते हैं। उनके मत में एक लोकतान्त्रिक सरकार वह है जिसमें जनता चेतन अथवा अचेतन रूप में शासन के कार्य कलापों को अपनी सहमति प्रदान करती है। गांधी जी पाश्चात्य ढंग के संसदीय लोकतन्त्र के विरोधी हैं जो दलगत आधार पर प्रतिनिध्यात्मक ढंग से संगठित तथा संचालित होते हैं। उनकी सबसे बड़ी दुर्बलता यही है कि उनमें केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बनी रहती है। दलीय संगठन केन्द्रीकृत होते हैं और उनके केन्द्रीय संगठन संसदों के प्रत्याशियों का चयन करते हैं। जनता को अपने निर्वाचन क्षेत्रों से चुने जाने वाले प्रत्याशियों के चयन में कोई अवसर नहीं मिलता। दलीय संगठन पूंजीपतियों के द्वारा पोषित रहते हैं। जनता को दलों द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रत्याशियों में से किसी एक के समर्थन में मतदान करने का अधिकार प्राप्त रहने के अतिरिक्त शासन संचालन के किसी अन्य कार्य में भाग लेने का अवसर नहीं मिलता। बहुसंख्यक मतदाताओं का समर्थन पाने वाला प्रत्याशी समस्त जनता का वास्तविक प्रतिनिधि नहीं रह सकता। संसदों में जिस राजनीतिक दल के प्रत्याशी बहुसंख्यक हो जाते हैं, उसी दल के हाथ में राजनीतिक सत्ता आ जाती है। यह लोकतन्त्र नहीं है। गांधी जी के शब्दों में, "निस्सन्देह यूरोपीय देशों में जनता के हाथ में राजनीतिक शक्ति रहती है। परन्तु स्वराज्य नहीं रहता"। उनके मत से लोकतन्त्र का सही अर्थ स्वराज्य है जिसका अभिप्राय है स्वशासन। संसदीय लोकतन्त्र स्वशासन की धारणा की अभिव्यक्ति नहीं है। उनमें बहुसंख्यक दल अल्पसंख्यकों के ऊपर स्वेच्छाचारी शासन करता है। गांधी जी ऐसे लोकतन्त्रों को बहुसंख्यकों के अत्याचारी शासन मानते हैं यद्यपि गांधी जी यह स्वीकार करते हैं कि लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था सर्वोत्तम है और लोकतन्त्र में निर्णय बहुमत से लिए जाते हैं। यदि अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों की उपेक्षा करें तो ऐसा शासन न्याय पर आधारित नहीं माना जा सकता। इनमें अल्पसंख्यकों के अभिमत के गुणात्मक स्वरूप की अवहेलना अवांछनीय सिद्ध होती है। अतः संख्यात्मक बहुमत पर आधारित लोकतन्त्र अवास्तविक है। बहुमत के हित के विचार से किया गया निर्णय गलत और अनीतिमूलक हो सकता है।

गांधी जी जिस रामराज्य की कल्पना करते हैं उसके अन्तर्गत कैसे लोकतन्त्र की धारणा उनके मन में थी उसके विषय में उन्होंने कहा है कि लोकतन्त्र के विषय में मेरी कल्पना यह है कि उसमें सर्वाधिक शक्तिमान व्यक्ति को जो अवसर प्राप्त होते हैं, वे निर्बलतम व्यक्ति को भी सुलभ हों। हिंसात्मक राज्य में ऐसा कभी नहीं होता। गांधी जी के मत में वर्तमान पाश्चात् राज्य व्यवस्थायें अपने हिंसात्मक स्वरूप के कारण लोकतन्त्र नहीं हैं। वे शोषण पर आधारित हैं जो हिंसा का रूप है, उनमें न आर्थिक समानता है, न न्याय। उनमें असत्य प्रचार होते रहते हैं जो हिंसा के ही रूप हैं। आदर्श स्थिति में सर्वजनहिताय समाज की व्यवस्था चला दी जानी चाहिये न कि बहुजनहिताय बहुजन सुखाय।

राम स्वराज्य

पाश्चात्य लोकतन्त्रों की आलोचना करने के उपरान्त गांधी जी अपनी धारणा के लोकतन्त्र का भारतीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में विवरण देते हैं। गांधी जी की धारणा का आदर्श राम राज्य है। राम राज्य गणतन्त्रों की संघात्मक व्यवस्था है जिसमें निम्नतम स्तर पर प्रत्येक ग्रामीण जन-समूह एक स्वायत्तशासी इकाई का निर्माण करेगा। यह विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था है। लोकतन्त्र तथा केन्द्रीकरण की धारणाओं में परस्पर अन्तर्विरोध है। गांधी जी ने एक बार लिखा था, "केन्द्र में बैठे बीस व्यक्ति लोकतन्त्र की कार्यान्विति नहीं कर सकते। लोकतन्त्र का कार्यान्वयन नीचे से प्रत्येक ग्राम के लोगों के द्वारा किया जायेगा। ऐसी व्यवस्था में ग्राम का प्रत्येक व्यक्ति जन-समूह के सार्वजनिक विषयों के प्रबन्ध में सक्रिय भाग लेगा। वास्तविक स्वराज्य थोड़े से जन नेताओं के द्वारा राजनीतिक सत्ता के प्रयोग से नहीं मिलता, भले ही वे जनता द्वारा अपने प्रतिनिधियों के रूप में चुने गये हों"। गांधी जी की धारणा में लोकतन्त्री शासन संगठन पंचायती राज की व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत शासन की मूलभूत इकाई एक आत्म-[illegible] व्यवस्थायें [illegible] व्यवस्था- [illegible] सहयोग तथा सहचर होगा न कि कानूनी सत्ता, क्योंकि लोकतन्त्र की भावना को कानून सदृश बाह्य साधन के द्वारा लागू नहीं किया जा सकता। वह तो जनता की अन्तरात्मा से आ सकती है और सहयोग की भावना ऐसे लोकतन्त्र का मुख्य स्रोत है। गांधी जी की धारणा के लोकतन्त्र का संगठन निम्नतम ग्रामस्तर से उच्चतम राष्ट्रीय स्तर तक एक सावयविक उच्चोच्च क्रम की शासन संस्थाओं में

होगा। प्रत्येक ग्राम एक आत्मनिर्भर जन-समूह होगा। वह अपनी सामा आवश्यकताओं की वस्तुओं के लिए अपने पड़ोसियों पर निर्भर नहीं रहेगा पारस्परिक निर्भरता स्वाभाविक है। प्रत्येक ग्राम अपने कुएँ, चौपाल, मनो रंजन स्थल, चरागाह, प्रारम्भिक पाठशाला, जलाशय आदि की व्यवस्था त प्रबन्ध स्वयं करेगा। भोजन के लिए कृषि योग्य भूमि में उत्पादन इतना हो कि ग्राम आत्म-निर्भर रह सके। वस्त्रों के लिए कपास की खेती, चरखे, कर आदि की व्यवस्था हो। ग्राम अपने युवकों में से एक ग्राम रक्षक दल बनायेगा लोगों के पारस्परिक विवाद ग्राम की पंचायत ही निर्णित करेगी। ऐसी व्यवस वास्तविक लोकतन्त्र होगी।

कुछ ग्रामों के समूहों के मध्य मण्डल, मण्डलों से जनपद, जनपदों प्रान्तीय तथा प्रान्तों से राष्ट्रीय स्तरों पर पंचायती व्यवस्था का उत्तोत्त्व क होगा। इसके अन्तर्गत निम्नस्तरीय संस्थायें उच्चतर स्तरीय संस्थाओं के लि प्रतिनिधियों का चयन करेंगी। प्रत्येक स्तर की पंचायत या संसद अपने निम्न स्तर की संस्था द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित प्रतिनिधियों की संस्था होगी अतएव राजनीतिक दलबन्दियों के आधार पर प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से प्रति निधियों के निर्वाचन करने में जो अनावश्यक व्यय एवं झूठे राजनीतिक प्रचा होते हैं, उनसे बचाव होगा। महात्मा जी ने ऐसी व्यवस्था को पंचायती लोक तन्त्र तथा निर्दली लोकतन्त्र कहा था जिसका विकास तथा प्रचार सर्वोदय नेताओं द्वारा किया जा रहा है। यह धारणा भारत की प्राचीन कालीन ग्रा पंचायत परम्परा के पुनरुद्भव तथा उसे आधुनिक परिस्थितियों के सन्दर्भ म कार्य रूप प्रदान करने की परिचायक हैं। साथ ही भारत सदृश देश के लिए जिसकी अधिकांश जनता ग्रामों में वास करती हैं और कृषि जिसका प्रमुख व्याव साय है, सर्वाधिक व्यवहार्य व्यवस्था है।

नागरिक अधिकार तथा कर्तव्य

गाँधी जी की राजनीतिक विचारधारा इस अर्थ में व्यक्तिवादी है कि वे राजनीतिक समाज का सबसे प्रमुख साध्य व्यक्ति की आत्मानुभूति की उपलब्धि कराना मानते हैं। इसी उद्देश्य की पूर्ति के द्वारा व्यक्ति आत्म विकास करता हुआ समाज की सेवा भी कर सकता है, परन्तु व्यक्ति के आत्मानुभूति के इस मौलिक अधिकार के विषय में गाँधी जी की चिन्तनधारा पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तकों के प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्तों या कानूनी अधिकार सिद्धान्तों का

वादी दर्शन पर आधारित है। वे मानव होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति को समाज मे समानता की स्थिति प्रदान करना चाहते है। परन्तु जब तक राजनीतिक दृष्टि से कोई समाज विदेशी सत्ता के अधीन रहता है तब तक समानता की धारणा के विद्यमान रहने की कल्पना नही की जा सकती। अतएव ऐसे समाज मे प्रत्येक व्यक्ति का सर्वप्रथम अधिकार अहिंसात्मक सत्याग्रह द्वारा विदेशी राज सत्ता का विरोध करना है। गाँधी जी यह मानकर चलते हैं कि किसी समाज मे सर्वोच्च सत्ता किसी निश्चित करने व श्रेष्ठ राजनीतिक अधिकारी की नहीं हो सकती। अतः सत्याग्रह किसी व्यक्ति का ऐसा अधिकार है जिसके द्वारा वह शासन सत्ता के उन आदेशो, कानूनो तथा आज्ञप्तियो का विरोध कर सकता है जो उसकी आत्मिक चेतना के विरुद्ध हो। व्यक्ति का कोई भी सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक अधिकार तभी अधिकार होता है, जब कि समाज के अन्तर्गत इन विविध क्षेत्रो मे व्यक्ति व्यक्ति के मध्य समानता का व्यवहार किया जाय और धर्म, जाति, लिंग, सामाजिक, आर्थिक स्थिति एवं राजनीतिक पद के आधार पर भेदभाव न किया जाय। गांधी जी ने जीवनपर्यन्त व्यक्ति के समानता के अधिकार के लिए सदैव सत्याग्रह के अपने अधिकार का निर्भीक होकर प्रयोग किया, और इसके प्रयोग के लिए भारतीय जनता का आह्वान किया। भारत सदृश राजनीतिक परतन्त्रता के देश में गांधी जी ने जनता के राष्ट्रीय [illegible] के अधिकार को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया। उन्होंने राजनीतिक दृष्टि से पराधीन देश के नागरिको के लिए साम्राज्यवाद पूंजीवाद तथा नौकरशाही तन्त्र के विरुद्ध प्रतिरोध करने के अधिकार को नैतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण अधिकार माना। यह जनता मे परस्पर प्रेम तथा सौहार्द बढ़ाने तथा [illegible] के विकास के लिए आवश्यक है। इस प्रकार गांधी जी जिन प्रमुख अधिकारो को आवश्यक तथा अपरिहार्य मानते है, उनका आधार उनकी [illegible] नैतिकता है।

गांधीजी अधिकारो के साथ कर्तव्य पर भी उतना ही [illegible] है। उनकी दृष्टि में कोई भी अधिकार [illegible] उपभोग पर सबसे बड़ी मर्यादा सत्य तथा अहिंसा के कर्तव्य [illegible] बिना इनके व्यक्ति अपने किन्हीं अधिकारो का [illegible] अधिकारो के पीछे अनेक कर्तव्य भी है [illegible] राष्ट्र [illegible] के कर्तव्य की मर्यादा है। [illegible] अधिकार पर राष्ट्रसेवा के कर्तव्य की मर्यादा है। [illegible]

स्वतन्त्रता का अधिकार अपना अस्तित्व ही खो देगा। अधिकार का उद्देश्य मानव की उन शक्तियों का विकास करना है जो मानव समाज के हित को समग्र रूप में होती है। इस दृष्टि से अधिकार का क्षेत्र व्यक्तिगत हित न होकर सार्वजनिक हित होता है। अधिकारों के साथ गांधी जी ने जिन कर्तव्यों की मर्यादा लगायी हैं, उनके आधार पर गांधी जी व्यक्तिवादी नहीं रह जाते।

स्वतन्त्रता

व्यक्ति की आत्मानुभूति की उपलब्धि करना गांधी जी की विचारधारा का प्रमुख उद्देश्य है जिसके लिए व्यक्ति को समाज से अनेक अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं की अपेक्षा रहती है, और उनकी प्राप्ति करता हुआ व्यक्ति समाज की सेवा कर सकता है। स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति समाज से विविध प्रकार की स्वतन्त्रताओं की अपेक्षा करे तो वह समाज के विनाश का लक्षण है। अतः स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता प्रतिबन्धों का अभाव नहीं है। विभिन्न राज्यों में नागरिकों को सांविधानिक कानूनों द्वारा जो स्वतन्त्रतायें प्रदान की जाती हैं और उन पर जो प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं उनका औचित्य नैतिकता के आधार पर आंका जा सकता है। गांधी जी की विचारधारा में स्वतन्त्रता की नैतिक व्याख्या की गयी है। स्वतन्त्रता सत्य का ही एक अंश है और जब तक कोई राष्ट्र स्वतन्त्र न हो, वह सत्य की उपासना कर ही नहीं सकता। किसी देश की स्वतन्त्रता न केवल उसके हित के लिये वरन् अन्य सब देशों के लिये आवश्यक है अतः वे स्वराज्य को सबसे महान स्वतन्त्रता मानते हैं। स्वराज्य की उपलब्धि कष्ट भोग कर की जा सकती है उसमें स्वार्थ हित सिद्धि की भावना का नितान्त अभाव है क्योंकि स्वराज्य का आधार निःस्वार्थ कर्म तथा ऐच्छिक सेवा की भावना से सम्पूर्ण समाज के हित में कार्य करना है। इसका लक्षण निर्भीकता है। निर्भीक होकर समाज की सेवा करना वास्तविक स्वतन्त्रता है जिसमें बाह्य प्रतिबन्धों का अभाव रहता है और व्यक्ति स्वयं अपने ऊपर जो प्रतिबन्ध लगाता है वे उसकी अन्तरात्मा से उत्पन्न होते हैं। ऐसी स्वतन्त्रता के पीछे नैतिक बल होता है न कि कानूनी। गांधी जी ने कहा है हम सबको ईश्वर का भय करना चाहिए, इसके द्वारा हम मनुष्य से भय करना भूल जायेंगे। गांधी जी ने व्यक्ति के लिए जिन प्रमुख स्वतन्त्रताओं को आवश्यक बताया है वे निम्नांकित हैं :—

(क) राजनीतिक स्वतन्त्रता

गांधी जी के विचार से किसी जन-समूह की राजनीतिक पराधीनता उसके स्व व्यक्तियों के लिए स्वतन्त्रता का निषेध है। राजनीतिक स्वतन्त्रता का

अभिप्राय स्वराज्य की प्राप्ति है न कि मात्र मताधिकार सदृश कुछ सुविधाओं की प्राप्ति। बिना स्वराज्य की प्राप्ति के किसी जन-समूह के मानव अपने कष्टों का निवारण नहीं कर सकते और जब तक मानवों के कष्टों का निवारण नहीं हो जाता, तब तक वे आत्म-विकास नहीं कर सकते। गांधी जी की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा कान्ट की नैतिक स्वतन्त्र इच्छा की धारणा के सदृश है जिसका स्रोत रूसो की "सामान्य इच्छा" की धारणा थी। गांधी जी मानते थे कि जो सरकार रूसो सामान्य इच्छा की अवहेलना करके शासन नीतियाँ निर्मित करती तथा उनका संचालन करती हैं, वह अपने नाम की सार्थकता खो देती हैं। सरकार का अस्तित्व शासितों के लिए हैं, न कि शासितों का सरकार के लिए। गांधी जी ने कहा है, "मेरे स्वप्नों का स्वराज्य किसी भी रूप में जातिगत तथा धर्मगत भेदभावों को मान्य नहीं करता। शासन में थोड़े से धनी तथा विशिष्ट वर्गों का एकाधिकार स्वराज्य की धारणा के विरुद्ध है। "स्वराज्य का अर्थ समस्त जनता का अपने ऊपर शासन है।" इसकी प्राप्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति में आत्मसंयम तथा आत्मानुशासन का होना आवश्यक है। आत्मत्याग तथा कष्ट-साध्य आचरण के अभाव में स्वराज्य की प्राप्ति असम्भव है। गांधी जी ने भारत में ब्रिटिश शासन के अस्तित्व को इसलिए अनुचित कहा था कि वह भारत की जनता के आर्थिक तथा राजनीतिक शोषण का साधन है। वह कितना ही कुशल तथा लोकहितकारी क्यों न हो, फिर भी उसका कोई औचित्य नहीं है। गांधी जी इस उक्ति के समर्थक हैं कि "एक कुशल सरकार स्वशासन (स्वराज्य) का विकल्प नहीं है"।

अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता की धारणा के आधार पर गांधी जी राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। जब भारत में मुस्लिम साम्प्रदायिकता के विकास ने पृथक मुस्लिम राष्ट्रीयता तथा उसके लिए पृथक पाकिस्तानी राष्ट्र की मांग करना प्रारम्भ की, तो गांधी जी ने मुस्लिम लीग के नेता जिन्ना को लिखा कि "भारत राष्ट्र का निर्माण करने वाले विभिन्न दलों तथा गुटों को यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि वे अपने पृथक् राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार का सफलतापूर्वक प्रयोग करना चाहते हैं, तो इसकी सबसे पहली शर्त यह है कि उन्हें अपनी सम्मिलित शक्ति के द्वारा इस कार्य को करना चाहिए।" इससे उनका आशय यह था कि राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार की मांग चन्द नेताओं के द्वारा नहीं की जा सकती, अपितु राष्ट्र का निर्माण करने वाली समस्त जनता के द्वारा की जानी चाहिए। यही वास्तविक राजनीतिक स्वतन्त्रता है।

(ख) नागरिक तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता

व्यक्ति के आत्मविकास के लिए उसे अनेक प्रकार की व्यक्तिगत स्वतन्त्रतायें आवश्यक होती हैं। इनमें विचार अभिव्यक्ति तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रतायें मुख्य हैं। वैयक्तिक स्वतन्त्रता मलग्न अधिकार है। जब तक कोई व्यक्ति अपने आचरण द्वारा हिंसात्मक साधन अपना कर सार्वजनिक शान्ति भंग करने या दूसरे व्यक्ति को हानि पहुँचाने का दोषी न पाया जाय, तब तक किसी व्यक्ति या शासनाधिकारी को उसकी देह छूने का अधिकार नहीं होना चाहिए। ब्रिटिश शासन काल में स्वातन्त्र्य आन्दोलन में कार्य करने वाले व्यक्तियों को सरकार मनमाने ढंग से बन्दी कर लेती और उन्हें निर्दय यातनायें दी जाती थीं। गांधी जी ने इसके विरुद्ध वैयक्तिक स्वतन्त्रता को बहुत महत्व दिया। सभी लोकतन्त्र ऐसी वैयक्तिक स्वतन्त्रता को मान्य करते हैं। गांधी जी ने अंग्रेजों की ऐसी दमन की नीति का उपहास करते हुए कहा था कि अंग्रेज जाति वैयक्तिक स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम के लिए सुविख्यात है। अंग्रेज लोग अपने देश में वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अधिकार की प्राप्ति के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहे हैं, परन्तु वे भारतीय जनता को इस पवित्र अधिकार से वंचित रखना चाहते हैं। स्वराज्य की प्राप्ति के लिए गांधी जी विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को भी एक महत्वपूर्ण नागरिक अधिकार मानते हैं। यह स्वतन्त्रता व्यक्ति के आत्मविकास के लिए और भी अधिक आवश्यक है। इन वैयक्तिक तथा नागरिक स्वतन्त्रताओं की प्रत्याभूति तभी हो सकती है जबकि विधि का शासन तथा न्यायपालिका की स्वतन्त्रता एवं निष्पक्षता सुनिश्चित हो। यदि सरकार किसी व्यक्ति को बन्दी करती है तो उस व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए कि वह अपनी पसन्द के विधि परामर्शदाता के माध्यम से अपने को दोषमुक्त सिद्ध कर सके।

(ग) आर्थिक स्वतन्त्रता

गांधी जी ने निरन्तर इस बात पर जोर दिया है कि बिना आर्थिक स्वतन्त्रता के राजनीतिक या वैयक्तिक स्वतन्त्रतायें कोई अर्थ नहीं रखतीं। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी मूल भौतिक आवश्यकतायें उपलब्ध हों। इसके निमित्त प्रत्येक व्यक्ति को रोजगार प्राप्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। किये गये कार्य का उसे समुचित पारिश्रमिक मिलना चाहिए। समाज में उत्पादन के साधनों तथा वितरण व्यवस्था का नियमन समानता के आधार पर होना चाहिए। मानव द्वारा मानव का आर्थिक शोषण किया जाना तथा आर्थिक उत्पादन के भौतिक साधनों का थोड़े से लोगों के हाथ में केन्द्रीकरण पूँजीवादी प्रवृत्तियों का द्योतक है, जिसमें

प्रत्येक व्यक्ति की आर्थिक स्वतन्त्रता उपलब्ध नहीं हो सकती। आर्थिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय है कि छोटे से छोटे व्यक्ति को भी यह आभास हो कि वह बड़े से बड़े व्यक्ति के समान है।

समानता

गांधी लोकतन्त्र के निमित्त समानता की धारणा को सबसे महत्वपूर्ण मानते हैं। उनकी धारणा के रामराज्य, जो कि लोकतन्त्र का एक सच्चा आदर्श है, के आधारभूत तत्व स्वतन्त्रता, समानता तथा न्याय हैं। समानता को गांधी जी व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय दोनों रूपों में लेते हैं। व्यक्तिगत समानता की धारणा उनकी अहिंसा की धारणा पर आधारित है। जिस समाज में व्यक्ति के मध्य धर्म, जाति, सम्पत्ति तथा रंग आदि के आधार पर भेदभाव किया जाता है, वह समाज हिंसा पर आधारित माना जायेगा। ऐसा राज्य न लोकतन्त्र हो सकता है, न वहां स्वराज्य हो सकता है। ऐसे समाज में व्यक्ति को आत्मानुभूति का अवसर मिलना सम्भव नहीं है। स्वतन्त्रता की भांति समानता भी निरपेक्ष नहीं होती। वैसे महात्मा जी हिन्दू वर्ण व्यवस्था के समर्थक थे। वे वर्णभेद को कार्यगत ही नहीं, अपितु जन्मगत आधार पर भी उचित ठहराते हैं। परन्तु जहां तक मानवता, सामाजिक नैतिकता, आर्थिक व्यवस्था, राजनीतिक स्थिति आदि का सम्बन्ध है, इनके सन्दर्भ में व्यक्ति के मध्य भेद किया जाना अन्याय है। ऐसा भेद भाव शोषण को जन्म देगा और मानव में अन्तर्निहित प्रतिभा का लाभ न स्वयं उसे हो सकेगा, न समाज को। हिन्दू वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत जो छुआ-छूत की बुरी प्रथा प्रचलित थी, उसका गांधी जी ने बड़े साहस के साथ अन्त करने का बीड़ा उठाया और आजन्म उस पर कार्य करते रहे। यह उन्हीं के सद्प्रयासों तथा शिक्षाओं का प्रभाव है कि भारत के संविधान निर्माताओं ने छुआ-छूत को सांविधानिक विधि द्वारा समाप्त कर दिया है। इसी प्रकार धार्मिक भेदभाव भी साम्प्रदायिकता को जन्म देते हैं। गांधी जी ने भारतीय राष्ट्रीयता के अन्तर्गत हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिक भेदभाव के दुष्परिणामों का कटु अनुभव किया था और इसे समाप्त करने के लिए वे आजन्म कार्य करते रहे और इसी के कारण वे शहीद भी हुए। दक्षिणी अफ्रीका में रंगभेद के अनुभव ने ही उन्हें सत्याग्रही बनने की प्रेरणा दी थी। इस प्रकार समानता से गांधी जी का अभिप्राय मानवीय समानता था। राष्ट्रीय अर्थ में वे समानता को इस प्रकार लेते हैं कि विश्व के समस्त राष्ट्रीय जनसमूह समान हैं। जिस प्रकार राष्ट्रीय जीवन में व्यक्तिगत समानता आवश्यक है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तथा समानता आवश्यक है। एक राष्ट्र

का दूसरे राष्ट्रीय जनसमूह के ऊपर राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करना हिंसा है। किसी एक शक्तिशाली राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के ऊपर उसे सभ्य उन्नतिशील या विकसित बनाने के बहाने से राजनीतिक प्रभुत्व बनाये रखना साम्राज्यवादी एवं उपनिवेशवाद प्रवृत्ति का द्योतक है और वह केवल पूंजीवादी आर्थिक शोषण की नीति है। गांधी जी यूरोपीय देशों द्वारा अफ्रेशियाई देशों में उपनिवेश स्थापित करने के बहाने उसे "गोरे लोगों के दायित्व" कहने की नीति के विरोधी थे। ऐसे बहाने से भरा तथा कथित नैतिक दायित्व गांधी जी को सहनीय नहीं था। वे ऐसी साम्राज्यवादी नीति को काले लोगों का बोझ मानते थे, क्योंकि उपनिवेश की जनता को साम्राज्य वादी देशों के हितों का बोझ उठाना पड़ता था। इसे वे सामाजिक अन्याय तथा हिंसा कहते थे। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में किसी राष्ट्र को आर्थिक समृद्धि सैनिक शक्ति, विशाल आकार आदि के आधार पर उसे अन्य पिछड़े, निर्बल या छोटे राज्य की तुलना में उच्चतर नहीं माना जा सकता। यह समानता की धारणा का निषेध है।

प्रशासन व्यवस्था

गांधी जी ने प्रचलित परम्परागत शासन प्रणालियों के वर्गीकरण या विवेचन की ओर कोई अभिरुचि नहीं दर्शायी है। उन्होंने अपना आदर्श रामराज्य की स्थापना को माना है। वे परम्परागत संसदात्मक, अध्यक्षात्मक या संघात्मक, एकात्मक अथवा अन्य किसी प्रणाली को अच्छा या बुरा सिद्ध करने के सैद्धान्तिक विवेचनों पर नहीं जाते। उन्होंने प्रचलित विभिन्न शासन प्रणालियों के दोषों को अपने रामराज्य की व्याख्या के सन्दर्भ में व्यक्त अवश्य किया है परन्तु उनकी धारणा की सर्वोत्तम शासन प्रणाली वह है जिसका आधार सत्य,, अहिंसा, न्याय, स्वतन्त्रता, समानता आदि की धारणाओं को साकार करती हो। वह एक ऐसी धर्म निरपेक्ष व्यवस्था होगी जो राजनीति को धर्म पर आधारित अवश्य रखेगी, परन्तु ऐसा धर्म साम्प्रदायिक नहीं वरन् मानवीय नैतिकता को अपनाने वाला धर्म होगा। राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होगा। ऐसी शासन व्यवस्था में ईश्वर की सत्ता सर्वोच्च मानी जायेगी। अतः इन सिद्धान्तों पर आचरण करने वाली कोई भी परम्परागत शासन प्रणाली सर्वोत्तम सिद्ध हो सकती है। प्रशासन व्यवस्था को अपनी धारणा के अनुकूल बनाने के निमित्त गांधी जी ने उसके सुधार के लिए कई सुझाव दिये है :—

शान्ति व्यवस्था तथा सुरक्षा

गांधी जी के अनुसार राज्य या शासन व्यवस्था का अस्तित्व मानव की अपूर्णता के कारण आवश्यक है। यदि मानव में पूर्णता आ जाती तो इसकी आवश्यकता ही नहीं रहती और सामाजिक जीवन का संचालन स्वत: होता रहता। अतएव जब तक मनुष्य अपनी अपूर्ण स्थिति में है, तब तक राज्य तथा उसकी सरकार को प्रशासनिक व्यवस्था में ऐसे सुधार लाने की आवश्यकता है जिससे जनकल्याण तथा व्यक्ति के नैतिक चरित्र का विकास सुनिश्चित हो सके। अपूर्ण मानवों के द्वारा समाज में ऐसे कार्यों का किया जाना भी सम्भव है, जो समाज की शान्ति को भंग कर सकते हैं और एक दूसरे को हानि पहुँचा सकते हैं। इसी प्रकार राष्ट्रों के मध्य भी ऐसे टकराव सम्भव हैं। इसलिए सामाजिक सुरक्षा के निमित्त पुलिस तथा सेना की आवश्यकता पड़ती है। राज्य की पुलिस का कार्य जनता में भय तथा आतंक उत्पन्न करना नहीं होना चाहिए। पुलिस में ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति की जानी चाहिए जो अहिंसा पर विश्वास करते हों और पुलिस का कार्य जनता की सेवा करना होना चाहिए, ताकि वे कानून तथा व्यवस्था बनाये रखने में जनता की सहायता करे और उनके कार्यों में जनता की सहायता भी उन्हें प्राप्त हो सके। जनता का यह कर्तव्य है कि वह इस कार्य में पुलिस को सहायता दे। पुलिस को अस्त्रों का प्रयोग न्यूनातिन्यून मात्रा में, वह भी तब जब कि चोर, डाकू, लुटेरे, अमानुषिक अत्याचार करने वाले अपराधियों को बन्दी करने के निमित्त अपरिहार्य हो जाय, तभी करना चाहिए। एक अहिंसात्मक राज्य को सेना की आवश्यकता होगी ही नहीं, क्योंकि जब ऐसा राज्य अन्य राज्यों के ऊपर आक्रमण करने का कोई विचार ही नहीं रखता, तो उसके ऊपर भी कोई राज्य आक्रमण नहीं करेगा। यदि कदाचित् प्रतिरक्षा आवश्यक ही हो तो राज्य केवल अपनी सीमाओं की सुरक्षा के निमित्त सेना रख सकते हैं। परन्तु अनिवार्य सैनिक शिक्षा, उग्र राष्ट्रीयता की शिक्षा, युद्धों के लिए विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण आदि की व्यवस्था राज्यों को नहीं करनी चाहिए। गांधी जी राज्यों को नि:शस्त्रीकरण की नीति अपनाने को परामर्श देते हैं।

(2) अपराध तथा दण्ड

गांधी जी अपराधों को मानसिक तथा सामाजिक रोग मानते हैं। जब तक मानव अपूर्ण स्थिति में रहेगा और सामाजिक जीवन अहिंसा के आदर्शों के अनुसार संचालित नहीं होगा, तब तक अपराधों की प्रवृत्ति का भी अन्त नहीं हो सकेगा। एक अहिंसात्मक राज्य को अपनी सामाजिक व्यवस्था का नियमन इस प्रकार

करना चाहिए जिसके अन्तर्गत अपराध करने के अवसर ही न रहें। गांधी जी के अनुसार 'हमें अपराध से घृणा करनी चाहिए न कि अपराधी से' चूंकि अपराधी एक प्रकार का मानसिक रोगी है, अत. किसी व्यक्ति द्वारा अपराध किये जाने पर उसका मानसिक तथा आचारिक उपचार किया जाना चाहिए, ताकि वह भविष्य में अपराध न करें। इसलिए जेल यातनागृह न होकर चिकित्सालयों के रूप में हों। गांधी जी दण्ड के प्रतिशोध एवं निवारक सिद्धान्तो को उचित नही मानते। दण्ड का उद्देश्य न तो अपराधी को बदला लेकर यातना देना होना चाहिए, और न सार्वजनिक ढंग से अमानुषिक या कठोर दण्ड दिया जाना चाहिए। ये दोनों व्यवस्थायें अपराधी या सम्भावित अपराधियों के मन में प्रतिकूल प्रभाव डाल सकती है। इनके द्वारा अपराध में हुई क्षति की पूर्ति नहीं हो सकती। सार्वजनिक रूप से कठोर दण्ड देना बर्बरता के युग की व्यवस्था है न कि सभ्य जीवन की। गांधी जी हत्यारों तक को मृत्यु दण्ड देने की व्यवस्था का विरोध करते हैं। मृत्यु-दण्ड अपराधी को अपने आचरण मे सुधार करने के अवसर से वंचित करता है और यह भी असभ्यता के युग की व्यवस्था है। अपराधियों को जेलों की अपेक्षा सुधारगृहों भेजा जाना चाहिए। वहा उन्हें नैतिक तथा औद्योगिक शिक्षा दी जानी चाहिए ताकि उन्हे अपने अपराध के लिए पश्चाताप करने का अवसर और वहाँ से मुक्त होने पर वे अपनी आजीविका के साधन प्राप्त कर सकें। सुधार गृहो का वातावरण उन्हे अपने अपराध करने के वातावरण से स्वस्थ प्रतीत होगा। वहा उन्हे कृषि, कताई, बुनाई, आदि का प्रशिक्षण मिलना चाहिए। गांधी जी के अनुसार "समस्त अपराधियो को रोगी के समान और जेलो को चिकित्सालयों के समान समझना चाहिए, जिनमे एक वर्ग के रोगियों की चिकित्सा तथा देख-भाल के लिए रखा जाता है। जेलों से छूटने पर अपराधी उत्तम नागरिक सिद्ध हो सकेंगे"।

(3) न्याय व्यवस्था

न्याय का कार्य गांधी जी के अनुसार पंचायतो द्वारा होना चाहिए। वे वकीलो तथा न्यायाधीशो के कटु आलोचक थे। वे वकील और न्यायधीशो को चचेरे भाई कहते थे। उनके अनुसार वकीलो का धन्धा ऐसा है जो उन्हे अनैतिकता सिखाता है। ... वकील तो साधारण रूप से झगड़ो को दबाने की अपेक्षा उन्हे बढ़ाने का परामर्श देगे।...वकीलों का स्वार्थ झगड़े में ही है। उनके अनुसार वकीलो को श्रमिकों के समान पारिश्रमिक मिलना चाहिए। उन्होने कहा था कि भारत मे हिन्दू मुस्लिम झगड़े अधिकतर वकीलो के हस्तक्षेप के कारण हुए हैं।

वकीलों के कारण ही देश अंग्रेजों के बन्धन में रहा। बिना वकीलों के न तो न्यायालय स्थापित हो सकते थे और न वे चल सकते थे और न बिना न्यायालयों के अंग्रेज राज्य कर सकते थे। न्यायालय लोगों के हित के लिए नहीं होती। न्यायालयों का उद्देश्य सरकारी सत्ता को बनाये रखना है। न्याय व्यवस्था सरल एवं सुलभ होनी चाहिए। दीवानी अभियोगों का निर्णय पंचायतें करें। अपीलें कई बार नहीं होनी चाहिए। वकीलों को अपनी जीविका के लिए शारीरिक श्रम पर निर्भर रहना चाहिए। इस प्रकार गांधी जी न्याय सम्बन्धी कार्यों में कमी करना चाहते थे। उनका कहना था कि अहिंसक राज्य में अपराध कम होंगे और अधिकतर विवादों का निपटारा पारस्परिक समझौतों द्वारा अथवा पंचायतों के द्वारा हो जायेगा।

अन्तर्राष्ट्रीयता

गांधी जी न केवल राष्ट्रीय व्यक्ति थे, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय भी थे। उनके शब्दों में, "मेरी पूर्ण स्वराज्य की धारणा सब देशों से अलग स्वतन्त्रता की नहीं, वरन् स्वस्थ और सम्मानपूर्ण रीति से एक दूसरे के सहारे रहने की है। विश्व के देशों को एक दूसरे से युद्ध नहीं करना चाहिए, अपितु मैत्री भाव रखें। मानवता को यदि जीवित रखना है तो गांधी जी के अनुसार विश्व व्यवस्था विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों के केन्द्रीय मण्डलों के हाथ में हो। राष्ट्र संघ के विषय में गांधी जी ने कहा था, संघ से यह आशा की जाती है कि वह युद्ध का स्थान ले लेगा और अपनी शक्ति द्वारा उन राष्ट्रों में मध्यस्थता करेगा जिनमें आपस में झगड़े हों। वे राष्ट्र-संघ को स्वेच्छा पर आधारित बल भी प्रदान करना चाहते थे। हिंसक अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों पर अहिंसक पुलिस अथवा शान्ति सेना द्वारा नियंत्रण रखना चाहते थे। निःशस्त्रीकरण अहिंसक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की सफलता के लिए वे साम्राज्यवाद को समाप्त करना चाहते थे। उनका कहना था कि अन्तर्राष्ट्रीय संघ तभी होगा जब उसमें सम्मिलित सभी छोटे बड़े राष्ट्र पूरी तरह स्वतन्त्र होंगे। ... अहिंसा पर आधारित राज्य समाज में छोटा से छोटा राष्ट्र यह अनुभव करेगा कि वह उतना ही बड़ा है जितना कि बड़े से बड़ा राष्ट्र। श्रेष्ठता तथा हीनता की भावना राष्ट्र से समाप्त हो जायेगी।

आर्थिक विचार

गांधी जी व्यक्तिगत सम्पत्ति के पक्ष में नहीं थे। वे [illegible] सम्पत्ति को अहिंसक उपायों से वंचित कर देना चाहते थे। यदि व्यक्ति आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति रखता है अथवा सम्पत्ति उत्पन्न करने के लिए [illegible]

छीनी जाती है तो इनसे समाज में रोष, कटुता एवं तनाव का वातावरण बन जायेगा। यदि श्रमिक हिंसक क्रान्ति के द्वारा पूंजीपतियों को विनष्ट कर देते हैं तो समाज पूंजीपतियों की सेवाओं से लाभ उठाने से वंचित हो जायेगा। श्रमिकों को हिंसात्मक साधनों की छूट दे दी जाती है, तो वे सत्तारूढ़ होने पर विरोधियों का दमन करेंगे। गांधी जी के शब्दों में, "मेरा दृढ़ निश्चय है कि यदि राज्य ने पूंजीवाद को हिंसा के द्वारा दबाने का प्रयत्न किया तो वह स्वयं हिंसा के जाल में फंस जायगा और फिर कभी अहिंसा का विकास नहीं कर सकेगा। राज्य हिंसा का केन्द्रित और संगठित रूप ही है। इसलिए उसे हिंसा से मुक्त नहीं किया जा सकता है, क्योंकि हिंसा से ही उसका जन्म होता है। इसलिए मैं ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को बल देता हूँ। यह सन्देह किया जा सकता है कि बिना भय के पूंजीपति अपनी सम्पत्ति को कैसे धरोहर रखेंगे तो गांधी जी का कहना है कि प्रारम्भ में कुछ दो चार साधु ऐसे मिल जायेंगे, जो अपनी सम्पत्ति को समाज की अमानत समझते हैं। इन व्यक्तियों से बाद में अन्य पूंजीपतियों को प्रेरणा मिल जायेगी। यदि इतने पर भी पूंजीपति सम्पत्ति का त्याग करने के लिए तैयार न हों तो गांधी जी का कहना है कि उनके साथ अहिंसात्मक असहयोग एवं सत्याग्रह के साधनों का प्रयोग किया जायेगा। उद्योगपतियों को श्रमजीवीवर्ग के सहयोग पर निर्भर रहना पड़ता है। यदि कृषक सामन्तों अथवा जमींदारों के खेत जोतें, बोयें एवं काटें नहीं तो जमींदार का काम नहीं चल सकता। पूंजीपति भी बिना श्रमिकों के सहयोग से कारखाने चला नहीं सकते। इस प्रकार असहयोग धनिकों को ठीक मार्ग पर लाने के लिए महान् ब्रह्मास्त्र है।

(2) औद्योगीकरण का विरोध

गांधी जी विशाल मात्रा में उद्योग के केन्द्रीकरण के विरोधी थे। भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश के लिए औद्योगीकरण हानिकारक है क्योंकि उत्पादन के एक स्थान पर केन्द्रीकरण से वितरण ठीक से नहीं हो पाता। सट्टेबाजी, चालाकी और झूठ व्यापार अधिक पनपते हैं। माल बेचने के लिए सदैव नये बाजारों की खोज करनी पड़ती है। केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति से सत्ता भी केन्द्रीकृत हो जाती है, जिसके कारण लोकतन्त्र को भय उत्पन्न हो सकता है। औद्योगीकरण से कुछ मुट्ठी भर लोगों के हाथ में धन संचित होने लगता है और वे बहुसंख्यक को निर्धन बनाने का प्रयास करते हैं। श्रमिकों के शोषण की सम्भावना बढ़ जाती है। अधिक लाभ उठाने के लिए बड़ी मशीनों से कार्य लिया जाता है, जिस कारण बेकारी अधिक मात्रा में बढ़ती है। मनुष्य का

ं, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास नहीं हो पाता, और उसकी स्वतन्त्रता
रण हो जाता है।

रकरण

ौद्योगीकरण की उपर्युक्त बुराइयों को दूर करने के लिए गांधी जी ने
रण का परामर्श दिया था। इससे मनुष्य को स्वतन्त्रता मिलती है और
वस्तुओं का वितरण सही ढंग से होने लगता है। विकेन्द्रीकरण से गांधी
भिप्राय यह था कि बड़ी मशीनों के स्थान पर गुड़, तेल, पानी, आदि
उद्योग स्थापित किये जायें। वस्तुओं का निर्माण उसी स्थान पर होगा,
की खपत होती हो। मशीन का स्थान मनुष्य का श्रम एवं पशु लेंगे।
ही आत्मनिर्भर नहीं हो सकते, किन्तु उनके उत्पादन में किसी प्रकार की
योगिता नहीं रहेगी। विशाल बाजार की खोज के कारण ही आज
वाद और साम्राज्यवाद बढ़ता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि बड़े उद्योगों
कर देना होगा। डाक, तार, रेल, जलयान, वायुयान, भारी उद्योग,
ादि को नष्ट नहीं किया जायेगा, क्योंकि इसी कारण आधुनिक सभ्यता का
आ है। वे तीन प्रकार की मशीनों का उल्लेख करते हैं,—मारक, शोषक
क। तोप, बन्दूक, बम, मशीनगन आदि मारक मशीनें है। मशीनें जो
दन का काम करती है, शोषक है। इससे श्रमजीवियो का शोषण होता है
पतियो को लाभ मिलता है। कुछ मशीनें पोषक भी होती हैं जैसे जहाज,
ाई की मशीने, टाइपराइटर, हल फावड़ा, चरखा आदि। बड़े उद्योग, जैसे
, आदि राज्य द्वारा संचालित होने चाहिए। गांधी जी के शब्दों में, "मैं
ों मे काम में आने वाली मशीनों के प्रत्येक सुधार का स्वागत करूँगा,
क शक्ति से चलने वाली मशीनो का व्यवहार करके लाखो को बेकार
ेरी दृष्टि से अपराध है।" वे ऐसी मशीनो के उपयोग के पक्ष में हैं,
म की बचत हो जाती है क्योंकि इस बचे हुए श्रम का उपयोग अन्य कार्य
जा सकता है।

ोग

त ग्रामों का देश है। ग्रामीण अर्थ व्यवस्था मे सुधार देश की विशाल
गरीबी तथा बेकारी से मुक्ति दे सकता है। अतः कुटीर उद्योगों का
वश्यक है। गांधी जी ने स्वदेशी आन्दोलन को इसी अर्थ में प्रोत्साहित
नके मत से देश के लोग अपने लोग अपने देश की बनी वस्तुओं का
रेंगे तो वे अपने देश के श्रमिको की सेवा करेंगे। अतः खादी का

निर्मित तथा खादी का उपयोग गांधी जी के स्वदेशी आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य यह था कि मनुष्य में मानव की सेवा करने की क्षमता सीमित होती है। अत उसे पहले अपने निकटस्थ पड़ोसी की सेवा करनी चाहिए। इस प्रकार हाथ से बनी वस्तुओं का उपयोग करने का अर्थ है देश की निर्धन जनता की सेवा करना। अत गांधी जी स्वदेशी तथा हाथ से निर्मित वस्तुओं के उपयोग की शिक्षा देते थे।

वितरण

वितरण के विषय में गांधी जी का विचार था कि इस सम्बन्ध में प्राकृतिक नियम यह है कि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपनी तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति भर करने के लिए ले। उनका मत था कि प्रकृति स्वयं अपना उत्पादन करती है जितना सृष्टि के लिए आवश्यक है। यदि प्रत्येक केवल अपनी आवश्यकता भर के लिए ले और अनावश्यक संग्रह न करे तो अभावग्रस्तता की स्थिति उत्पन्न न होने पाये। लोग अस्तेय व अपरिग्रह पर नहीं चलते। अत समाज में आर्थिक विषमता निर्धनता आदि उत्पन्न होती है। गांधी जी का कहना था कि दूसरे से कोई वस्तु उसकी आज्ञा से लेना भी चोरी है अगर वास्तव में हमें उसकी आवश्यकता न हो। अस्तेय व्रत का पालन करने वाला धीरे-धीरे अपनी आवश्यकतायें घटा लेगा। इस संसार का अधिकांश दुखदायी दारिद्र्य अस्तेय सिद्धान्त के भंग होने से पैदा हुआ है। जो अस्तेय सिद्धान्त का पालन करता है वह भविष्य में प्राप्त की जाने वाली वस्तुओं की चिन्ता नहीं करेगा। अपरिग्रह का अस्तेय के साथ चोली दामन का सम्बन्ध है। कोई वस्तु वास्तव में चुराई न गयी हो तो भी अगर हम आवश्यकता के बिना उसका संग्रह करते हैं तो वह चोरी का माल समझा जाना चाहिए। परिग्रह का अर्थ है भविष्य के लिए संग्रह करना। इसी आधार पर गांधी जी का कहना था कि अधिक धन का एकत्रीकरण धनिकों का नैतिक पतन करता है और समाज में आर्थिक विषमता फैलाता है, अतः सम्पत्ति का समान वितरण होना चाहिए। वे भली भांति जानते थे कि ऐसा होना सम्भव नहीं है अतः उनका मत था कि वितरण औचित्यपूर्ण होना चाहिए और विषमताओं को न्यूनतम किया जाना चाहिए जिससे किसी के लिए भी जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का अभाव न रहे।

गांधी जी तथा समाजवाद

बहुधा यह प्रश्न उठता है कि क्या गांधी जी को समाजवादी कहना उचित है और क्या गांधीवाद और समाजवाद अपने आधार और उद्देश्यों में समानता लिए हुये हैं। इस प्रश्न का उत्तर वस्तुतः इस बात पर निर्भर करता है कि आप

समाजवाद का क्या अर्थ लेते हैं। यदि समाजवादी एक वह व्यक्ति है जो सामाजिक समानता, न्याय के आदर्शों और राष्ट्रीय धन के न्यायपूर्ण वितरण का विश्वास करता है, भूमि और पूँजी पर निजी स्वामित्व को प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध समझता है, एवं धनिकों द्वारा निर्धनों के प्रत्येक प्रकार के शोषण का अन्त करने के लिए सतत प्रयास करता है, तो निश्चय ही महात्मा गांधी को एक सर्वश्रेष्ठ समाजवादी और उपर्युक्त ध्येयों को लेकर चलने वाले उनके दर्शन को समाजवादी कहा जा सकता है। गांधी जी सच्चे समाजवादी इसलिए थे कि वे व्यक्ति के हित की अपेक्षा समाज के हित को अधिक महत्व देते थे। यह सत्य है कि वे व्यक्ति के लिए अधिकाधिक स्वतन्त्रता चाहते थे अर्थात् राजकीय समाजवाद अथवा साम्यवादी शासन पद्धति के विरुद्ध थे। किन्तु उससे भी अधिक सत्य है कि वे निर्धनता व दरिद्रता को दूर करके प्रत्येक व्यक्ति को सुखी देखना चाहते थे और यह भी चाहते थे कि जिनके पास आवश्यकता से अधिक धन या सामग्री हो वे उसका प्रयोग दूसरे के लिए ही करें। निर्धनों के लिए उनके हृदय में रक्त बहता था और उनके दुखी तथा निराश जीवन मे हँसी और आशा की एक किरण लाने के लिए उन्होने घोर प्रत्न किये। सम्पत्तिविहिन वर्ग के लिए जिस उत्साह और व्यग्रता के साथ वे आगे बढ़े उसकी उपमा दुर्लभ है।

आर्थिक समानता उनके रचनात्मक कार्यक्रम का एक अंग थी। उनका कहना था कि आर्थिक समानता के ठोस आधार के बिना सारा रचनात्मक कार्यक्रम एक बालू की दीवार होगी। उन्होंने रोटी के लिए श्रम, अस्तेय, अपरिग्रह, ट्रस्टीशिप आदि के सिद्धान्तो का प्रतिपादन इसलिए किया, कि उनका विश्वास था कि इनके द्वारा धन के न्यायपूर्ण वितरण में और सबके लिए आर्थिक अवसरों की अधिकतम समानता लाने में योग मिलेगा। तब फिर वास्तविकता यही है कि गांधी जी अनेकानेक तथाकथित समाजवादियों से कहीं अधिक सच्चे समाजवादी थे, क्योंकि उनका आचरण उनके सिद्धान्तों के अनुरूप था। स्वयं गांधी जी ने कहा था कि मै भारत में अपने आपको समाजवादी कहने वालों से कहीं बहुत पहले समाजवादी हू। पूँजीवाद का अन्त करने की उनकी उतनी ही अभिलाषा थी जितनी की किसी सबसे बड़े समाजवादी अथवा साम्यवादी की हो सकती है। अपने सभी भाषणों एवं लेखों मे वे भारत की जनता की दरिद्रता और बेरोजगारी की चर्चा करते थे और धनिकों से अपनी सम्पत्ति के विशेषाधिकारों का परित्याग करने की अपील करते थे। गांधी जी ने उग्र समाजवाद की भाँति समाज की । का आधार पारस्परिक प्रतियोगिता और वर्ग संघर्ष को नहीं माना अपितु

केवल एक सुधारक थे, वरन् उनसे अधिक क्रान्तिकारी और श्रेष्ठ थे। विश्व के क्रान्तिकारियों में आज तक उनका प्रथम स्थान है। हां, वे हिंसक क्रान्तिकारी न होकर अहिंसक क्रान्तिकारी थे। वे क्रान्ति के द्वारा अस्थायी परिवर्तन न लाकर समाज के ढांचे और जीवन के मूल्यों को आमूल चूल क्रान्ति लाकर क्रान्तिमय और अहिंसात्मक साधनों से एक श्रेष्ठतर और नवीन समाज का निर्माण एवं जीवन के नवीन मूल्यों का प्रतिष्ठान करना चाहते थे। समाजवाद अपनी सफलता के लिए प्रायः उन्ही साधनों पर निर्भर करता है जिन पर साम्राज्यवाद निर्भर है। किन्तु गांधीवाद साम्राज्यवाद के हिंसक साधन और आधार को तोड़ कर उसके स्थान पर एक बिल्कुल ही नवीन आधार एवं साधन स्थापित करना चाहता है, अतः स्पष्ट ही समाज व्यवस्था के भाव मूल में वह कही अधिक क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का अभिलाषी है। समाजवादी के लिए आवश्यक नैतिकता की साख के स्थान पर गांधीवाद हिंसा और सैनिकता की शक्ति को चुनोती देकर एक नवीन मानसिक निर्माण के आधार पर उससे कही अधिक क्रान्तिकारी और श्रेष्ठतर साख की स्थापना करना चाहता है। रिचर्ड बी० ग्रेग ने गांधीवाद के विषय में लिखा है : हम आज परिवर्तन के मध्य में रह रहे हैं और वह केवल बाह्य परिस्थितियों का परिवर्तन नही है, वरन् उसके साथ होने वाले मूल्य एव प्रतीक की अन्तर्व्यवस्था का भी परिवर्तन है। आज विश्व में जो कई महान् आन्दोलन हो रहे हैं, उनमें महात्मा गाधी द्वारा प्रवर्तित आन्दोलन मूल एवं प्रतीक में सबसे अधिक परिवर्तन कर रहा है और जब वस्तुतः ऐसा परिवर्तन हो जायेगा और बड़े पैमाने पर उसकी प्रतिष्ठा हो जायेगी तो वह सचमुच क्रान्ति होगी। आज गाधीवाद एव समाजवाद ये दोनो प्रणालियां जिस रूप मे है, उनके अनुसार तो समाजवाद के लिए गांधीवाद के प्रधान अगो को ग्रहण एव आत्मसात करना उतना सरल नही है जितना गांधीवाद के समाजवाद के कार्यक्रम की प्रधान बातों का चुनाव, ग्रहण एव उपयोग कर लेना आसान है। इस प्रकार इन दोनों व्यवस्थाओ में गांधीवाद अधिक फैलने वाला एव व्यापक है और इसलिए अधिक टिकने वाला है।

गांधीवाद निस्सन्देह समाजवाद से अधिक व्यापक और विशद् है। जहा गांधीवाद का लक्ष्य है व्यक्ति का विकास और उसकी मुक्ति तथा समष्टि की पुष्टि दोनो हैं, वहां समाजवाद व्यक्ति की उतनी चिन्ता नही करता, उसका दृष्टिकोण केवल समष्टिगत है। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि गाधीवाद ... धर्म है, जब कि समाजवाद विभेदात्मक है। गांधीवाद तो सम्पूर्ण-

जीवन का तत्व ज्ञान सामने रखता है। गांधीवाद समाजवाद की अपेक्षा मनुष्य के लिए अधिक स्वाभाविक है क्योंकि वह मनुष्य के सबसे प्राकृतिक एवं तात्विक सत्‌ प्रेम को जागृत करता है। गांधीवाद मे वचन एव कर्म की एकता है और —जनके प्रत्येक अनुयायी मे शरीर श्रम की आशा करता है। लेकिन समाज-द मुख्यतः श्रमिकों का पृष्ठ-पोषक होने की घोषणा करके भी अपने अनुयायियो श्रमिक जीवन के निजी व्यावहारिक अनुभव एवं अनुभव की एकता की नियादं प्राप्त नहीं रख सकता। रिचर्ड बी० ग्रेग ने ठीक ही लिखा है कि यदि समाजवाद मुख्यतः शरीर श्रमिकों का कार्यक्रम है तो उसके अनुयायियो से प्रत्येक का धर्म है कि कुछ न कुछ शरीर श्रम करें—एक प्रतीक की दृष्टि और इसलिए भी कि सर्वनिष्ठ अनुभव द्वारा आचरण एव विश्वास की एकता ा विकास हो"।

गांधीवाद एक वह व्यावहारिक दर्शन है जो कार्य एवं वाणी की एकता पर सर्वाधिक बल देता है, वरन्‌ यह कहना चाहिए कि वह सैद्धान्तिक की अपेक्षा व्यावहारिक अथवा आचार प्रधान ही अधिक है। उसके लिए सर्वोत्तम भाषा कार्य की भाषा है। उसके जो कार्यक्रम हैं उन्ही मे वह प्रकट होता है। किन्तु इसके विपरीत समाजवादो को नित्य के आचरण द्वारा समाजवाद के कार्यक्रम मे सहायक होने की बिल्कुल सुविधा नही है। गांधीवाद अपने अनुयायियो को समाजवाद की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक एवं प्रत्यक्ष रचनात्मक मार्ग तथा साधन प्रदान करता है। समाजवाद या साम्यवाद तो अपनी सफलता के लिए निर्धनों के कष्ट इस सीमा तक पहुचा देना चाहता है, ताकि उनमे एक भीषण प्रतिक्रिया उत्पन्न हो सके। उसके ओजस्वी कार्यक्रम का अंग है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाये तो समाजवाद की नीव कमजोर है और यह मानव जाति का कोई शाश्वत विज्ञान या स्थायी कार्यक्रम नही हो सकता, वरन्‌ एक विशेष अवस्था में, असह्य दुख एव कष्ट पैदा होने वाली आन्दोलित मन की चिढ एवं प्रतिक्रिया का द्योतक है। समाजवाद की सफलता के लिए समाज मे दरिद्रता और शोषण का होना आवश्यक हैं। गांधीवाद एक उच्चतर धरातल पर आधारित दर्शन है, जो प्रत्येक समय और प्रत्येक अवस्था मे व्यवहार्य है और जिसे जीवन की प्रत्येक दशा मे समाज के प्रत्येक कार्यक्षेत्र मे प्रयोग मे लाया जा सकता है। गांधीवाद की इस विशिष्टता का कारण यह है कि जहा समाजवाद या साम्यवाद कुल मिलकर केवल आर्थिक दृष्टिकोण को प्रधानता देता है और उसी के आधार पर समाज का निर्माण करना चाहता है, वहा गांधीवाद आर्थिक

ही नहीं नैतिक और सामाजिक भी अर्थात् सम्पूर्ण मानवीय दृष्टिकोण को लेकर चलता है और उन सबके समन्वयात्मक आधार पर समाज का निर्माण करना चाहता है।

गांधीवाद समाजवाद से इस रूप में भी श्रेष्ठतर एवं व्यापक है कि जहाँ समाजवाद वर्तमान समाज व्यवस्था के दोषों पर केवल एक रोक का कार्य करता है, वहाँ बड़े-बड़े यन्त्रागारों का नाश एवं लघु उद्योगों का निर्माण करके गांधीवाद वर्तमान समाज व्यवस्था के दोषों के स्रोत पर आघात करता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति की समस्या का हल गांधीवाद और समाजवाद दोनों चाहते हैं और दोनों ही उसके नियन्त्रण तथा समाज हित में उसके उपयोग के पक्ष में हैं किन्तु गांधीवाद समस्या के मूल पर आघात करते हुए रोग का निदान करने की अपेक्षा रोग न होने की नीति में अधिक विश्वास रखता है। समाजवाद में बड़े-बड़े कल कारखाने पर और उद्योगों पर राज्य के एकाधिकार की जो नीति बतायी है उसमें सम्पत्ति चाहे व्यक्तियों के हाथों में न रहे, परन्तु सम्पत्ति-जन्य दोष तो उसमें भी होते ही हैं। इस प्रकार समाजवाद बुराइयों का स्रोत तो खुला छोड़ देता है। केवल बाँध देता है। गांधीवाद पूँजीवाद के मूल में प्रहार करता है और पूँजी के उपयुक्त नियन्त्रण तथा वितरण के लिए अपने अनुयायियों पर अस्तेय तथा अपरिग्रह जैसे नैतिक बन्धन लगाता है। ये बन्धन केवल नैतिक मूल्य ही नहीं रखते, इनका आर्थिक एवं सामाजिक मूल्य है। गांधीवाद की नीति और उसकी अर्थनीति सब एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। गांधीवाद तो लोगों के मनों को उच्चाशयी बना कर धन-संग्रह करने की प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करने को प्रयत्नशील है। सच्चा गांधीवादी पूंजीपति हो ही नहीं सकता अथवा जितने ही अनिष्टक कोई गांधीवाद को ग्रहण करेगा, उतना ही उसके हृदय से संग्रह, अनाचार एवं लूट की भावना नष्ट होती जायेगी। इस प्रकार गांधीवाद में उन सब वृत्तियों पर पर्याप्त अंकुश है जिनसे पूँजीवाद का जन्म होता है।

गांधीवाद और समाजवाद की तुलनात्मक विवेचना करते हुए डा० पट्टाभि सीतारमैया ने लिखा है :—यदि समाजवाद का उद्देश्य सबको समान सुविधायें प्रदान करना है तो गांधीवाद का यह उद्देश्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने समय और सुविधाओं का उच्च उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयोग करे। यदि समाजवाद पूंजी कर, भारी अतिरिक्त आयकर, जब्ती और शक्ति द्वारा सम्पत्ति को स्थानाच्युत करता है, तो गांधी जी युगा-युगीन प्राचीन परम्परा का आह्वान करते हैं, जिनसे धनवानों की तुलना में निर्धनता को और धन की तुलना में ज्ञान को महत्व

दिया है। यदि समाजवाद अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राज्य की सहायता लेता है, तो गांधीवाद अपनी सफलता के लिए प्रत्येक नागरिक के अन्तःकरण की उन्नति और संस्कृति के विकास पर विश्वास करता है। समाजवाद के बाहर से लदे हुए परिणाम देखने में शानदार मालूम देते हैं, किन्तु वे वास्तव में अनिश्चित और खतरे से परिपूर्ण होते हैं। गांधीवाद के परिणाम, जो छोटे दिखायी देते हैं, लोगों की सद्भावनाओं के आधार पर सुदृढ़ और गहरी जड़ जमा लेते हैं। समाजवाद को यह दुखद दृश्य देखना पड़ा है कि उसके पुजारी अपने सिद्धान्तों और शक्ति को स्थिर रखने के लिए अधिनायक बन गये। गांधीवाद स्वेच्छापूर्वक स्वार्थ त्याग करने में विश्वास करता है। अधिकांश लोगों के लिए समाजवाद एक वृत्ति है, किन्तु गांधीवाद एक कठोर सत्य है। समाजवाद दूसरों को उपदेश देता है, गांधीवाद प्रत्येक व्यक्ति को उसका कर्तव्य सुझाता है। समाजवाद घृणा और फूट द्वारा मानवता का प्रचार करना चाहता है, गांधीवाद मानव सेवा के लिए घृणा और फूट का त्याग करता है।.... समाजवाद मजदूरी का हिसाब रखता है और प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के लिए श्रम करने को विवश करता है। गांधीवाद विश्व को इस बात की श्रेष्ठता बताता है कि व्यक्तियों के प्रत्येक समूह को परम्परा के अनुसार उस समूह के प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अपने परिवार के लिए काम करना चाहिए। समाजवाद ऐसे समाज में, जहां परिवार के भीतर भी असमानता का प्रचलन है, सम्पत्ति का समान विभाजन करना चाहता है। गांधीवाद हिन्दुओं के उत्तराधिकार विषयक कानूनों से लाभ उठाता है, जिसके अनुसार सभी सन्तान पिता की सम्पत्ति के समान अधिकारी होते हैं। समाजवाद पश्चिम की समाज व्यवस्था के गोलमाल का इलाज हो सकता है, किन्तु गांधीवाद समाज में ऐसे संगठन कर्तव्यों को व्यक्त करता रहता है, जिसकी ऋषियों ने सहस्रों वर्ष पूर्व रचना की थी।

अन्त में सैद्धान्तिक पक्ष को छोड़ कर व्यावहारिक पक्ष पर यदि दृष्टि डाल[illegible] जाय तो गांधीवाद अपने निकट कार्यक्रम में समाजवाद के कार्यक्रम की अनेक बात[illegible] से मिलता जुलता है। जब तक मशीनरी के सम्पूर्ण त्याग का समय न आ[illegible] तब तक गांधीवाद का कार्यक्रम यह रहेगा कि वह व्यय साध्य एवं बड़े यन्त्रागा[illegible] पर राष्ट्र का नियन्त्रण स्थापित करे और उनका संचालन केवल जनहित के विचा[illegible] से करे। ये यन्त्रागार सिलाई की मशीन जैसे छोटे परिवार में चलाये जा सक[illegible] वाले उपयोगी यन्त्र बनायें और उन्हें ग्रामों में पहुंचायें, जिससे कि ग्रामों के उद[illegible] [illegible] और दूसरों पर कम से कम निर्भर रहना पड़े। अभिप्राय यह

कि इस क्रान्तिकाल मे इन यन्त्रागारों का उपयोग कुटीर उद्योगों को नष्ट करने में नही, वरन् बढ़ाने मे हो और बाद मे, जब ग्राम पर्याप्त स्वावलम्बी हो जांय तो बड़े यन्त्रागारों की जो थोड़ी सी आवश्यकता या नियन्त्रण है उसमें भी धीरे-धीरे कमी की जाये। इसका अर्थ यह है कि मशीन को संक्रान्तिकाल के लिए यदि अपनाना ही पड़े तो उसे अपना कर भी प्रकृति जीवन क्षेत्र में धीरे-धीरे उसे हटाने की हो, बढ़ाने की नही, जैसा कि व्यावहारिक समाजवाद में देखा जाता है। स्पष्ट है कि कार्यक्रम के बहुत से अशों में दृष्टिकोण के भिन्न होते हुए भी गाधीवाद समाजवाद के प्रस्तावो से सहमत है परन्तु वह कहेगा कि इतना ही पर्याप्त नही और सम्भवतः इनकी प्राप्ति और रक्षा तब तक सम्भव नही होगी जब तक अन्य सूक्ष्मतर मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों का उपयोग किया जाये और इस दृष्टि से छोटी छोटी एव बहुत करके स्वतन्त्र ग्राम पंचायतें एव संस्थायें विश्व, विशेष कर भारत के लिए, केन्द्रित सरकारी संस्थाओं से कहीं अधिक उपयुक्त सिद्ध हो सकती हैं। गाधीवाद समाजवाद का एक परिष्कृत और परिवर्तित भारतीय सस्करण है।

गांधीवाद और मार्क्सवाद

गाधीवाद और समाजवाद की तुलना मे जो विचार रखे गये हैं, उनमे से अधिकाश गाधीवाद और मार्क्सवाद की तुलना पर क्रियान्वित होते है। सत् और अहिंसा को जीवन के आधारभूत सिद्धान्त मानने के कारण गाधी जी न केवल समाजवाद की ओर वरन् सच्चे और पारिभाषिक अर्थ में मार्क्सवाद अथवा साम्यवाद की ओर भी प्रवृत्त हुए। "यदि सामाजिक समानता को प्राप्त करने का प्रयास तथा राष्ट्रीय धन का अधिक न्यायपूर्ण वितरण कराने की इच्छा, उन्हे एक सच्चा समाजवादी बनाती है, तो उनका एक राज्यहीन समाज में विश्वास, उनका वर्गभेद को दूर करने का प्रयास तथा उनकी यह धारणा कि प्रधानतः अहिंसात्मक राज्य मे, प्रत्येक से उसकी शक्ति के अनुसार लो और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार दो," उन्हे एक साम्यवादी बनाता है। लेकिन जिस प्रकार गाधी जी का समाजवाद विलक्षण है, उसी प्रकार उनका साम्यवाद भी मार्क्स और लेनिन के साम्यवाद से बहुत भिन्न है। इस भेद का कारण उनका सत्य और अहिंसा के साथ घनिष्ठ एवं अभिन्न सम्बन्ध और विश्व के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण मे उनकी गहरी आस्था है।

... और मार्क्सवादियों या साम्यवादियो के उद्देश्यो मे वैसे समानता देती है। निर्धनो और धनिकों के शोषण से बचाने और निर्धनो के लिए

सामाजिक न्याय तथा समानता प्राप्त करने के विचारों में दोनों ही मिलते-जुलते हैं। लेकिन जहां इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए गांधी जी अहिंसा का साधन बताते हैं वहां साम्यवादी हिंसा का प्रयोग करते हैं। दोनों में उद्देश्यों की विषमता को देखकर ही कुछ व्यक्ति प्रायः कहने लगते हैं कि हिंसारहित साम्य-वाद गांधीवाद ही है। यह तुलना गणितशास्त्र के फारमूले के समान नहीं हो सकती क्योंकि बेन्थम के "अधिक से अधिक संख्या के व्यक्तियों को अधिक से अधिक सुख" के सिद्धान्त के समान है। यह सिद्धान्त इतना सरल है कि सत्य नहीं हो सकता। मशरूवाला की गांधी और मार्क्स की भूमिका में आचार्य विनोबा भावे ने कहा है, "गांधी और मार्क्स के तुलनात्मक अध्ययन में संसार चाहे कुछ भी ले या न ले पर अपने स्वयं देश में शिक्षित वर्ग के व्यक्तियों में वह अध्ययन का विषय रहा है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार उन्हें नाप-जोख कर उनकी तुलना करता है। मगर गांधी विचार धारा के साथ आध्यात्मिकता का पुट है, तो साम्य-वाद के साथ वैज्ञानिक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि है। गांधीवाद ने स्वराज्य दिला कर सिद्ध कर दिया है कि वह केवल काल्पनिक और अव्यावहारिक नहीं है। साम्यवादी ने भी पुराने रूढ़िवादी चीन में परिवर्तन लाकर अपनी विशेषता सिद्ध की है। इन्हीं के कारण कुछ लोग दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं में समानता ढूंढ कर उन्हें निकट ला देते हैं और कहते हैं कि हिंसाविहीन साम्यवाद गांधीवाद है। परन्तु यथार्थ यह है कि ये दोनों सिद्धान्त मूल रूप से भिन्न हैं और दोनों में सामंजस्य नहीं हो सकता।" गांधीवाद और मार्क्सवाद के विषय में यहां तक कहा गया है कि वे दोनों परस्पर अत्यन्त विरोधी हैं और इतने भिन्न हैं जितना हरा और लाल रंग, यद्यपि हम जानते हैं कि रंग ज्ञान से हीन अन्धे व्यक्ति के लिए हरा और लाल रंग समान ही होंगे।

वास्तव में "हिंसाविहीन साम्यवाद ही गांधीवाद है" का विचार निश्चित रूप से भ्रामक है। गांधी जी के दर्शन का आधार नैतिक है, जबकि मार्क्स के दर्शन का आधार भौतिक है। गांधीवाद अध्यात्मवाद की महत्ता पर आधारित है, मार्क्सवाद भौतिकवाद पर। गांधीवाद के नीचे धर्म का रचनात्मक आधार है और उस पर गांधी जी का सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन स्थित है। स्वयं गांधी जी के शब्दों में 'मेरे लिए धर्म से रहित राजनीति एक मौत का फन्दा है, क्योंकि वह आत्मा को समाप्त कर डालती है'। लेकिन मार्क्स इतिहास की आर्थिक व्याख्या करते हैं और आन्तरिक तथा बाह्य दोनों ओर से भौतिकवादी हैं। साम्यवादी धर्म को पूंजीपतियों के हाथ का ऐसा शस्त्र मानते हैं जिसके द्वारा

कि इस क्रान्तिकाल में इन यन्त्रागारों का उपयोग कुटीर उद्योगो को नष्ट करने में नही, वरन् बढाने मे हो और बाद में, जब ग्राम पर्याप्त स्वावलम्बी हो जाँय तो बड़े यन्त्रागारों की जो थोडी सी आवश्यकता या नियन्त्रण है उसमें भी धीरे-धीरे कमी की जाये। इसका अर्थ यह है कि मशीन को संक्रान्तिकाल के लिए यदि अपनाना ही पड़े तो उसे अपना कर भी प्रकृति जीवन क्षेत्र मे धीरे-धीरे उसे हटाने की हो, बढाने की नही, जैसा कि व्यावहारिक समाजवाद मे देखा जाता है। स्पष्ट है कि कार्यक्रम के बहुत से अशों में दृष्टिकोण के भिन्न होते हुए भी गाधीवा समाजवाद के प्रस्तावों से सहमत है परन्तु वह कहेगा कि इतना ही पर्याप्त न और सम्भवतः इनकी प्राप्ति और रक्षा तब तक सम्भव नही होगी जब तक अ सूक्ष्मतर मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों का उपयोग किया जाये और इस दृष्टि से छो छोटी एव बहुत करके स्वतन्त्र ग्राम पंचायतें एवं संस्थायें विश्व, विशेष भारत के लिए, केन्द्रित सरकारी सस्थाओं से कहीं अधिक उपयुक्त सिद्ध सकती है। गाधीवाद समाजवाद का एक परिष्कृत और परिवर्तित भार सस्करण है।

गांधीवाद और मार्क्सवाद

गाधीवाद और समाजवाद की तुलना मे जो विचार रखे गये हैं, उन अधिकाश गाधीवाद और मार्क्सवाद की तुलना पर क्रियान्वित होते हैं। सत अहिंसा को जीवन के आधारभूत सिद्धान्त मानने के कारण गाधी जी न समाजवाद की ओर वरन् सच्चे और पारिभाषिक अर्थ मे मार्क्सवाद साम्यवाद की ओर भी प्रवृत्त हुए। "यदि सामाजिक समानता को प्राप्त प्रयास तथा राष्ट्रीय धन का अधिक न्यायपूर्ण वितरण कराने की इच्छा सच्चा समाजवादी बनाती है, तो उनका एक राज्यहीन समाज में वि वर्गभेद को दूर करने का प्रयास तथा उनकी यह धारणा कि प्रधान राज्य मे, प्रत्येक से उसकी शक्ति के अनुसार लो और प्रत्येक श्यकता के अनुसार दो," उन्हे एक साम्यवादी बनाता है। लेवि जी का समाजवाद विलक्षण है, उसी प्रकार उनका लेनिन के साम्यवाद से बहुत भिन्न है। इस भेद का अहिंसा के साथ घनिष्ठ एवं अभिन्न सम्बन्ध और दृष्टिकोण में उनकी गहरी आस्था है।

गांधी ने

दिखायी

धारा का जनक व्यक्ति ही होता है, अत व्यक्ति को अपनी विचारधारा का विकास करने, अपने विवेक को जागृत करने की पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। इससे मना करना और केवल अपनी ही बात को थोपते जाना घोर अन्धविश्वास, हठधर्मी और कट्टरता है। "यह इसी हिंसा वृत्ति का परिणाम है कि मार्क्सवादियों ने पहले शक्ति प्राप्त कर अन्य विचार वालों को सोवियत-संघ तथा अन्य साम्यवादी देशों में समाप्त किया और बाद में उसी हिंसा का प्रयोग आपस में ही एक दूसरे के विरुद्ध होने लगा।" "हमारा ही ढग ठीक है" इस विचार प्रणाली का अन्त कभी सच्चे समाज की स्थापना में नहीं हो सकता। इसका अन्त कटते-घटते सदैव अनियन्त्रित केन्द्रीय सत्ता या हिटलर शाही में होगा। गांधीवाद मार्क्सवाद के विरुद्ध समाज के हित का आदर्श सामने रख कर भी, व्यक्ति को पर्याप्त स्वतन्त्रता देता है। गांधीवाद समाज का हित व्यक्ति को उसका एक पुर्जामात्र बनाने में नहीं मानता, वरन् व्यक्ति और समाज के स्वार्थों को एक कर देने में, दोनों में विवेकयुक्त और चेतना-युक्त सामन्जस्य करने में तथा व्यक्ति की अन्त: साधुता को विकसित करने में मानता है। गांधीवाद विरोधियों को कुचलने में नहीं, वरन् साथ लेकर चलने में और अपनी साधुता से उनका हृदय परिवर्तन कर उन्हें अपना बना लेने में आस्था रखता है। व्यक्ति को श्रेष्ठ बनाकर गांधीवाद समाज को सदैव के लिए श्रेष्ठ बना देना चाहता है। गांधीवाद का आरम्भ बिन्दु व्यक्ति ही है। पहले व्यक्ति को सत्य, अहिंसा, अभय तथा अप्रतिशोध की भावना के कष्ट उठाने के गुणों का अपने अन्दर विकास करना चाहिए और अपने आपको आत्मा के शस्त्र का प्रयोग करने के योग्य बनाना चाहिए। यदि व्यक्ति ऐसा आन्तरिक स्वराज्य प्राप्त कर लेंगे, तो बाहरी स्वराज्य अपने आप आ जायेगा अर्थात् नवीन सामाजिक व्यवस्था का निर्माण अपने आप हो जायेगा। इस प्रकार गांधीवाद और साम्यवाद ये दोनों क्रान्तिकारी विचार धारायें नवीन सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करने के लिए समाज में एक भारी उथल-पुथल उत्पन्न करना चाहती हैं। लेकिन जहां साम्यवादी अपने लक्ष्य को प्राप्त करने की प्रक्रिया ऊपर से आरम्भ करते हैं अर्थात् हिंसा, वर्ग-संघर्ष और शक्ति के बल राजनीतिक सत्ता पर अधिकार स्थापित कर श्रमजीवी अधिनायकवाद के माध्यम से वांछित तत्वों को नष्ट करके अपनी इच्छानुसार आर्थिक व्यवस्था की रचना करना चाहते हैं वहां गांधीवादी प्रक्रिया नीचे की ओर से आरम्भ होती है अर्थात् वह सबसे पहले मनुष्य के हृदय में क्रान्ति लाना चाहती है, उसे आत्मनिर्भर बनाना और उसके चरित्र को उन्नत करना चाहती है। इरशन ने ठीक ही कहा है कि "लाय

ये श्रमिकों को अपने भाग्य में मिले हुए अंश से सन्तुष्ट रखना चाहते हैं। वादी दल के सदस्यों को अनश्वरवाद में आस्था की शपथ लेनी पड़ती है। धर्म का बहिष्कार करते हैं और अन्य लोगों के धार्मिक विश्वास को समाप्त का प्रयत्न करते हैं। मार्क्स पुरातन समय से चली आ रही नैतिकता को पन्थी और दम्भी लोगों के अनुकूल समझता है। स्पष्ट है कि गांधीवाद की और उसका शरीर दोनों धर्म और ईश्वर पर आधारित हैं, जबकि मा आत्मा रूपी तत्व को ठुकराते हुए धर्म को दूर हटाना चाहता है।

गांधीवाद और मार्क्सवाद में एक प्रमुख विभेद यह है कि जहां गांधीवाद और साधन दोनों को पवित्र मानता है, वहां मार्क्सवाद को साध्य की श्रेष्ठता विश्वास करता है, किन्तु साध्य की प्राप्ति के लिये साधनों की पवित्रता में न वह साधनों के सम्बन्ध में तब तक चिन्तित नहीं होता, जब तक कि साध्य की प्र होती रहती है। मार्क्सवाद लक्ष्य अथवा उद्देश्य को प्राप्त करने में लिए हिंसा, कपट, आदि किसी भी साधन को अपना सकता है, जबकि गांधीवाद का सन्दे कि भ्रष्ट साधनों को अपनाने से श्रेष्ठ साध्य भी भ्रष्ट हो जाता है। कोई भी जो नैतिक रूप से गलत है राजनीतिक रूप में ठीक नहीं हो सकती इसमें मार्क्स का विश्वास नहीं।

मार्क्स दर्शन में आर्थिक कारक ही सर्वप्रधान है जो न केवल समाज के रा नीतिक ढांचे वरन् उसके धार्मिक विश्वासों और दर्शन की रूपरेखा भी निर्धा करते हैं। साम्यवादियों की दृष्टि में समाज की संस्कृति उसके आर्थिक जीवन खड़ा किया हुआ एक ऊपरी ढांचा मात्र है। अतः मनुष्य के नैतिक उत्थान क के प्रयास में अपनी शक्ति का व्यय करना मूर्खता है, तथा एक समुचित आर्थि व्यवस्था की स्थापना पर ही अपना सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित करना उचित है। इस कारण मार्क्स के दर्शन में व्यक्ति समाज रूपी यन्त्र का एक पुर्जा मात्र है, जिसकी अपनी कोई स्वतन्त्र इच्छा नहीं है। उसका जो कुछ है, समाज का है और उ किसी अवस्था में अपने लिए समाज का विरोध नहीं करने दिया जा सकता है। लेकि स्वयं मार्क्स ने अपने जिस दर्शन का प्रतिपादन किया है, वह भी तो उसकी व्यक्ति गत विकसित चेतना और ग्रहणशीलता का परिणाम था और उसने भी विचार स्वतन्त्रता को अपनाते हुए अपनी जिस विचार प्रणाली को समाज के लिए हितकर समझा उसे विश्व के समक्ष रखा। यदि मार्क्स को अपना मत प्रतिपादन करने की कहीं स्वतन्त्रता न मिलती, ब्रिटेन में भी उसे मौत के घाट उतार दिया गया होता, तो यह सम्भव है कि विश्व मार्क्स के दर्शन से वंचित रह जाता। किसी भी विचार-

धारा का जनक व्यक्ति ही होता है, अत. व्यक्ति को अपनी विचारधारा का विकास करने, अपने विवेक को जागृत करने की पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। इससे मना करना और केवल अपनी ही बात को थोपते जाना घोर अन्धविश्वास, हठधर्मी और कट्टरता है। "यह इसी हिंसा वृत्ति का परिणाम है कि मार्क्सवादियों ने पहले शक्ति प्राप्त कर अन्य विचार वालो को सोवियत-संघ तथा अन्य साम्यवादी देशो मे समाप्त किया और बाद मे उसी हिंसा का प्रयोग आपस मे ही एक दूसरे के विरुद्ध होने लगा।" "हमारा ही ढग ठीक है" इस विचार प्रणाली का अन्त कभी सच्चे समाज की स्थापना मे नही हो सकता। इसका अन्त कटते-घटते सदैव अनियन्त्रित केन्द्रीय सत्ता या हिटलर शाही मे होगा। गाधीवाद मार्क्सवाद के विरुद्ध समाज के हित का आदर्श सामने रख कर भी, व्यक्ति को पर्याप्त स्वतन्त्रता देता है। गाधीवाद समाज का हित व्यक्ति को उसका एक पुर्जामात्र बनाने मे नही मानता, वरन् व्यक्ति और समाज के स्वार्थों को एक कर देने मे, दोनो मे विवेकयुक्त और चेतनात्मक सामन्जस्य करने मे तथा व्यक्ति की अन्त. साधुता को विकसित करने मे मानता है। गाधीवाद विरोधियो को कुचलने मे नही, वरन् साथ लेकर चलने मे और अपनी साधुता से उनका हृदय परिवर्तन कर उन्हें अपना बना लेने मे आस्था रखता है। व्यक्ति को श्रेष्ठ बनाकर गाधीवाद समाज को सदैव के लिए श्रेष्ठ बना देना चाहता है। गाधीवाद का आरम्भ बिन्दु व्यक्ति ही है। पहले व्यक्ति को सत्य, अहिंसा, अभय तथा अप्रतिशोध की भावना के कष्ट उठाने के गुणों का अपने अन्दर विकास करना चाहिए और अपने आपको आत्मा के शस्त्र का प्रयोग करने के योग्य बनाना चाहिए। यदि व्यक्ति ऐसा आन्तरिक स्वराज्य प्राप्त कर लेंगे, तो बाहरी स्वराज्य अपने आप आ जायगा अर्थात् नवीन सामाजिक व्यवस्था का निर्माण अपने आप हो जायेगा। इस प्रकार गाधीवाद और साम्यवाद ये दोनो क्रान्तिकारी विचार धारायें नवीन सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करने के लिए समाज मे एक भारी उथल-पुथल उत्पन्न करना चाहती है। लेकिन जहा साम्यवादी अपने लक्ष्य को प्राप्त करने की प्रक्रिया ऊपर से आरम्भ करते हैं अर्थात् हिंसा, वर्ग-संघर्ष और शक्ति के बल राजनैतिक सत्ता पर अधिकार स्थापित कर श्रमजीवी अधिनायकवाद के माध्यम से अवांछित तत्वों को नष्ट करके अपनी इच्छानुसार आर्थिक व्यवस्था की रचना करना चाहते है वहा गाधीवादी प्रक्रिया नीचे की ओर से आरम्भ होती है अर्थात् वह सबसे पहले मनुष्य के हृदय मे क्रान्ति लाना चाहती है, उसे आत्मनिर्भर बनाना और उसके चरित्र को उन्नत करना चाहती है। [illegible] ने ठीक ही कहा है कि [illegible]

समाज एवं राजनीति मे क्रान्ति के लिए शोर करते हैं, परन्तु वास्तव में तो मानवीय आत्मा को विद्रोह करना चाहिए"।

दोनो विचारधाराओं मे एक स्पष्ट विभेद यह भी है कि गाधीवादी यो में व्यक्ति का केन्द्रीय स्थान है; वह साध्य है और राज्य उसके विकास का के एक साधन है। इसके विपरीत मार्क्सवाद या साम्यवाद के लिए व्यक्ति स्वयं मे साध्य नही है, वरन् एक साधन और राज्य के आधीन है। गाधीवाद व्यक्तिव होते हुए भी अनियन्त्रित व्यक्तिवाद का समर्थक नही है, प्रत्युत व्यक्ति स्वातन सामाजिक कर्त्तव्य के मध्य सामंजस्य का प्रवर्तक है, जिसका मार्क्सवाद में अभ है। स्वयं गाधी जी ने लिखा है कि "अनियन्त्रित व्यक्तिवाद जगली पशुओं का कान् है। हमने अब व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक सयम के मध्य सामजस्य कर सीख लिया है। समस्त समाज के कल्याण के लिए स्वेच्छापूर्वक कुछ सामाजि नियम और बधन स्वीकार करने मे समाज और व्यक्ति दोनों का हित होता है" तात्पर्य यह है कि सामन्जस्य की प्रतिभूति गाधीवाद मे वर्ग-सघर्ष के लिए को स्थान नही है, जब कि वर्ग सघर्ष का सिद्धान्त मार्क्सवाद या साम्यवाद की आत्म कहा जा सकता है। एक मुख्य भेद दोनों मे यह है कि गाधीवाद के अनुसार समाज मे जो भी वर्ग-संघर्ष विद्यमान है, उसे मिटाया जा सकता है और पूजीपतियो व जनता मे प्रेम, सहयोग व एकता की माला गूथी जा सकती है, लेकिन मार्क्सवाद के अनुसार वर्ग-संघर्ष केवल पूजीपतियो की लाश पर ही समाप्त हो सकता है. इससे पूर्व नही। गाधी जी का ट्रस्टोशिप का सिद्धान्त बड़ अहिसात्मक और हृदय परिवर्तनकारी वग धनीवर्ग मे यह चेतना जागृत करना सम्भव मानता है कि वे अपनी सम्पत्ति को सामाजिक उत्पादन समझें और अपने आपको उसका ट्रस्टी समझते हुए समाज के प्रति अपना कर्त्तव्य एवं उत्तरदायित्व निभायें। सम्पत्ति के अन्यायपूर्ण और अनु-चित वितरण से उत्पन्न होने वाली गम्भीर समस्याओं को सुलझाने का यह एक सफल और क्रान्तिकारी अहिसक उपाय है—ऐसा गाधी जी का पूर्ण विश्वास था। सभी सम्पत्ति को एक ट्रस्ट के रूप मे समझने से मानव का मानव द्वारा शोषण समाप्त हो जायगा और परिणामतः वर्ग-संघर्ष भी मिट जायगा और सामाजिक सहयोग उसका स्थान ले लेगा। मार्क्सवाद मे तो धनिको अथवा समृद्धिशालियों व अभाव-पीड़ितो मे प्रेम व सहयोग हो ही नही सकता। मार्क्स के लिए श्रमजीवी विजय और वर्गविहीन समाज अन्तिम लक्ष्य है। लेकिन इस लक्ष्य की पूर्ति समाज मे समृद्धिशाली वर्ग का विनाश करके ही हो सकता है।

गांधी जी और मार्क्स दोनों ही राज्य को एक व्यक्ति संस्था मानते हैं, इसके दमनकारी प्रभाव व शक्ति का स्वतन्त्रता से आन्तरिक विरोध स्वीकार करते है, किन्तु दोनों में विभेद है कि मार्क्स ने शक्ति का आधार वर्ग में खोजा है और राज्य को शासनकारी वर्ग की एक समिति घोषित कर दिया है, जबकि गांधी जी ने राज्य को इसलिए अलग किया है कि वह हिंसा पर आधारित है। अन्तिम विश्लेषण में दोनों ही अराजकतावादी दार्शनिक प्रतीत होते है और राज्यविहीन समाज की भविष्य में स्थापना होने की आशा रखते हैं, परन्तु गांधी जी एक सच्चे व्यक्तिवादी और व्यावहारिक व्यक्ति होने के कारण अन्त में राज्य को एक आवश्यक बुराई के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, जबकि मार्क्स के विचार में राज्य वर्गों के समाप्त होने पर धीरे-धीरे आप ही समाप्त हो जायेगा, क्योंकि एक शक्ति संस्था के रूप में उसका कोई कार्य नहीं होगा। मार्क्स एक-दलीय राज्य में श्रमजीवी अधिनायकवाद में शक्ति का केन्द्रीकरण चाहता है, जबकि गांधी जी शक्ति को उसके आकर्षणों से विहीन करने के लिए विकेन्द्रीकरण करना चाहते है। पुन गांधी जी एक जनतन्त्रवादी और व्यक्तित्व के बहुमुखी विकास के लिए जनतन्त्र को आवश्यक समझते हैं, जबकि मार्क्स को जनतन्त्र में किंचितमात्र भी आस्था नही है। गांधीवाद लोकतान्त्रिक नेतृत्व का समर्थक है, साम्यवाद अधिनायकवादी नेतृत्व का। गांधीवादी बहुलवादी भी है जबकि साम्यवाद पर बहुलवाद का कोई प्रभाव नहीं है।

अन्त मे, यह कहा जा सकता है कि गांधीवाद तथा मार्क्सवाद के मध्य मौलिक समानतायें उनके जीवन तथा विश्व सम्बन्धी दृष्टिकोणों में हैं। शेष सारे भेद वे चाहे राजनीतिक, धामिक, आर्थिक, अथवा धार्मिक व्यवस्था के विषय में हो, उद्देश्यों, साधनों, या विचारों के सम्बन्ध में हो, इसी मौलिक भेद से उत्पन्न होते हैं। साम्यवाद वर्तमान औद्योगिक सभ्यता द्वारा प्रचलित जीवन के मूल्यों को स्वीकार करता है, किन्तु गांधीवाद वर्तमान सभ्यता और उसके जीवन मूल्यों का सर्वथा तिरस्कार करता है। इस प्रकार गांधीवाद मार्क्सवादी साम्यवाद से उतना ही दूर है, जितना की उत्तरी ध्रुव दक्षिणी ध्रुव में, वरन् वह एक दूसरे से और भी अधिक दूर है क्योंकि जबकि दोनों ध्रुवों को पृथ्वी जोड़ती है, वहां इन दोनों में कोई सामान्य भूमि नहीं है। आचार्य विनोबा भावे के अनुसार, "दोनों दर्शन आमने सामने एक दूसरे को हड़पने के लिए तैयार हैं"। भविष्य में टक्कर गांधीवाद और साम्यवाद में होगी साम्यवाद और पूंजीवाद में नहीं ऐसा विश्वास किया जा सकता है।

ाजिक विचार

गाधी जी के विचार मानव जीवन के विभिन्न पक्षो का विवेचन करते है। ीतिक विचार गाधीवाद के अंग हैं। अतः गांधी जी का दर्शन आध्यात्मिक, ीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक सभी कुछ है। उन्नीसवी तथा बीसवी शताब्दी गभग सभी भारतीय चिन्तको एव महापुरुषो ने जो चिन्तन किया है, वह जीवन भी क्षेत्रो से सम्बन्ध रखता है। भारत की राजनीतिक पराधीनता ने देश के क, सास्कृतिक, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन सभी पर प्रतिकूल प्रभाव डाला इसीलिए स्वातन्त्र्य आन्दोलन के साथ-साथ सभी ने यह अनुभव किया कि के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन मे भी सुधार आवश्यक है, अन्यथा केवल ीतिक स्वतन्त्रता का कोई महत्व नही रहेगा। गाधी जी का विचार था कि ाजिक सुधारो के साथ-साथ राजनीतिक स्वतन्त्रता आन्दोलन भी चलाना ए। गाधी जी की समाज सुधारों को पृष्ठभूमि भारतीय इतिहास के अध्ययन ाधारित है।

भारत मे जब से हिन्दू राज समाप्त हुआ था तभी से समाज की स्थिति ोन्मुख होती चला आ रही थी, मुस्लिम काल मे थोडे ही नाममात्र के शासक थे जिन्होने हिन्दुओं के प्रति सहानुभूति पूर्ण रुख अपनाया। अनेक आक्रान्ताओं ारत की सम्पत्ति को लूटा। अनेक शासको के काल मे हिन्दुओं के ऊपर भारी ाचार भी होते रहे। मुस्लिम शासको का उद्देश्य निरकुश सत्ता बनाये रखना था। कल्याण तथा सामाजिक सुधारो के प्रति उनकी कोई अभिरुचि नही थी। श शासको का उद्देश्य आर्थिक शोषण के लिए अपनी निरकुश सत्ता बनाये ा था। ऐसी संस्कृति के अन्तर्गत जो अमूल्य थे, वे या तो लुप्त हो गये या उनका त रूप समाज मे बढ़ गया। हिन्दू वर्ण-व्यवस्था के विकृत रूप ने छूआ-छूत का हिन्दू समाज में फैला दिया था। धर्मगत भेदभावो ने साम्प्रदायिक फूट पैदा ी थी। अग्रेजो ने जमीदारी प्रथा स्थापित करके अधिकांश जनता को दासता स्थिति मे ला दिया था। ग्रामीण समाज अशिक्षा, दरिद्रता, अन्धविश्वास आदि ्यो का शिकार बन गया था। हिन्दू समाज में बाल विवाह, बहु-विवाह, मद्य ्या आ चुकी थीं। छूआ-छूत, वर्ण-व्यवस्था, साम्प्रदायिकता, जमींदारी प्रथा ने भारतीय जनता के मध्य सामाजिक एव राष्ट्रीय एकता को नष्ट कर दिया इसलिए उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ मे ही अनेक महापुरुषो ने सामाजिक के निमित्त आन्दोलन प्रारम्भ कर दिये थे। गाधी जी ने इस समस्या को गहन

अधिक महत्व दिया और राजनीतिक स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ-साथ इस कार्य को भी चलाया।

वर्ण व्यवस्था पर गांधी जी के विचार

वर्ण व्यवस्था हिन्दू जाति का अपूर्व आविष्कार है और वह वस्तुत केवल हिन्दुओं मे नही, अपितु विश्व के समाज मे किसी न किसी रूप मे व्याप्त है। यद्यपि हिन्दू समाज में वर्ण व्यवस्था के विकृत रूप को अनेक भारतीय चिन्तको ने, विशेष कर महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा अन्य समाजी नेताओं ने, बुरा मान कर उसे समाप्त करना श्रेयस्कर समझा, तथापि गाधी जी ने वर्ण-व्यवस्था को हिन्दू समाज का एक आदर्श तत्व माना है। वे इसे सामाजिक सरचना की वैज्ञानिक व्यवस्था मानते थे। कुछ लोगो का यह विचार था कि वर्ण व्यवस्था का आधार कार्यगत होना चाहिए, न कि जातिगत या जन्मगत। गाधी जी जन्मगत वर्ण व्यवस्था को अधिक उपादेय मानते थे। उनके मत से वशानुक्रम एक शाश्वत नियम है। व्यक्ति अपने पैतृक व्यवसाय को वशागत सस्कारो के आधार पर अधिक उत्तमता से सम्पन्न करता है। यदि इस शाश्वत नियम को कृत्रिम ढग से समाप्त किया जायेगा तो उसके कारण सामाजिक अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी और उसके कारण मनुष्य आध्यात्मिक तथा आचारिक प्रगति नहीं कर सकेगा। इस प्रकार गाधी जी के विचार से वर्ण का अर्थ परम्परा से है। वह वर्ण व्यवस्था के आधार पर ऊँच नीच का भेद भाव करने की धारणा का लोप विरोध करते थे। उनका मत था कि वर्णगत कार्य विभाजन का ऊँच-नीच से कोई सम्बन्ध नहीं है। [illegible] पूजा-पाठ सम्बन्धी कार्य तथा एक भगी का पाखाना साफ करने के कार्य के आधार पर उनके मध्य ऊँच नीच का भेद करना अव्यावहारिक है [illegible] अपने-अपने स्थान पर समान महत्व के है। [illegible] हीन मानना सामाजिक दृष्टि से अवाछनीय है [illegible] दृष्टि से वर्णगत कार्यो के मध्य ऊँच-नीच की धारणा नहीं [illegible] युगो से चले आये हुए अपने विशिष्ट पेशे के कारण उन [illegible] उसमे निपुणता प्राप्त करने की सम्भावना [illegible] अर्थ है कि वर्ण वास्तव मे धर्म है [illegible] [illegible] केवल सेवा के लिए हो सकता है [illegible]

एक कट्टर हिन्दू सदा वर्ण व्यवस्था के [illegible] धर्म के प्रति गौरव और स्वाभिमान [illegible]

त छूआ-छूत की प्रथा का घोर विरोध किया, और जीवन-पर्यन्त इसे नष्ट कर
लगे रहे। गाधी जी को दृढ़ विश्वास था कि छुआ-छूत का भेद-भाव हिन्दू समा
ऊपर तो एक कलंक है ही साथ ही यह राष्ट्र एकता के मार्ग में महान बाधक है
भारतीयो में राष्ट्रीयता की भावना तथा चेतना विकसित होने लगी, तो इ
रने के लिए ब्रिटिश शासको ने सर्वप्रथम मुस्लिम साम्प्रदायिकता को उकसाया
उसका भरसक लाभ उठाया। जब महात्माजी का सविनय अवज्ञा आन्दोलन
तर हुआ तो अंग्रेजो ने हिन्दू समाज के अछूत वर्ग को भी एक पृथक सम्प्रदाय
यत करने के कूटास्त्र का प्रयोग किया। महात्माजी ने इसके विरुद्ध आमरण
शन प्रारम्भ कर दिया और प्राणो की बाजी लगा दी। अन्ततः ब्रिटिश शासन
इस नीति का परित्याग करना पड़ा। यह महात्मा जी की हिन्दू समाज के प्रति
चित सबसे बड़ी सेवा है। तभी से गाधी जी ने अस्पृश्यता निवारण का अभियान
कर दिया। उन्होने यह घोषणा की कि यदि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का अभिन्न
है तो मैं ऐसे हिन्दू धर्म को अपनाना कतई पसन्द नही करूँगा। जब तथाकथित
वर्ग हिन्दू धर्म का ही अभिन्न अंग है तो उस वर्ग के लोगो को हिन्दू मन्दिरो मे
न देना, उन्हें धर्मग्रन्थो के अध्ययन करने से रोकना या धर्म के नियमो के
ार पूजा-पाठ करने के अधिकार से वंचित रखना अन्याय है। गाधी जी ने
वर्ग को हरिजन कहा और निरन्तर उस वर्ग के लोगो को अन्यो के समान
जिक तथा राजनीतिक अधिकार प्रदान कराने का कार्य करते रहे। इस वर्ग
गों को पिछड़ेपन से ऊपर उठाने के निमित्त उन्होने उन्हे अनेक प्रकार की
सुविधायें तथा सरक्षण प्रदान करने के लिए संघर्ष किया। अछूतोद्धार गाधी
सक्रिय जीवन का अभिन्न अंग बन गया। उन्होने सवर्ण हिन्दुओं को परामर्श
कि वे हरिजनो के बच्चो को गोद ले। स्वय भी उन्होने एक अछूत बालिका
द लिया था। यह अछूत वर्ग हिन्दू समाज द्वारा उपेक्षित रहने के कारण आर्थिक,
तिक आदि क्षेत्रो में पिछड़ा हुआ था। अत. ब्रिटिश शासन काल से ही उसके
के निमित्त महात्मा जी के प्रयासो से इस वर्ग के लोगो को अनेक कानूनी
दिये जाने लगे थे। उन्होने कहा था कि अस्पृश्यता के विरुद्ध मेरी लड़ाई
ानव समाज में बसी हुई अशुद्धि के विरुद्ध लड़ाई है। मेरे और अस्पृश्यता
सग्राम है। यदि मुझे जिलाना हो तो अस्पृश्यता को मरना होगा
दि अस्पृश्यता को जिलाना है तो मुझे मरना होगा। भारत के संविधान के
छुआ-छूत को समाप्त करने के साथ-साथ उन्हें संरक्षण प्रदान किया गया है,
तिनिध्यात्मक संस्थाओ मे उनके लिए स्थानो का संरक्षण, शिक्षा संस्थाओ

में उनके प्रवेश, छात्रवृत्ति, शुल्क मुक्ति, पदोन्नति में वरीयता, भूमि आवटन में भूमि प्रदान करना आदि की व्यवस्था की गयी है। इसमें सन्देह नहीं है कि इस सामाजिक विषमता का कलंक शीघ्र ही मिटने की दिशा में अग्रसर है। इसका श्रेय महात्मा गांधी को है। वे ही अस्पृश्यता-राक्षसी से शतश युद्ध क्षेत्रों पर लड़ते हुए और प्रहार करते हुए दिखायी पड़े।

महिला सुधार

भारत में हरिजनों की भांति ही महिलाओं की स्थिति भी दयनीय थी। यह भी एक भारी सामाजिक कलंक था। इसका मूल कारण तथा ऐतिहासिक रहस्य जो भी हो, उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दू समाज की महिलायें दासों की स्थिति से कुछ ही अच्छी स्थिति में मानी जा सकती थी। सती प्रथा को समाप्त करने में राजा राम मोहन राय ने अभूतपूर्व साहस से कार्य किया था, परन्तु बाल-विवाह, बहु-विवाह, विधवाओं की समस्या, पर्दाप्रथा, देवदासी प्रथा आदि का अन्त नहीं हो पाया था। गाधी जी के पूर्व के भारतीय समाज सुधारकों ने भी इन दिशाओं में भी व्यापक प्रयास किये थे परन्तु ये बुराइयां उनके समय तक विद्यमान थीं। गाधी जी ने नारी के मूल में छिपी महती मातृ शक्ति के दर्शन किये। उन्होंने देखा कि नारी त्याग की प्रतिमा है, उसके स्वभाव में ही दान है, प्रेम है, अहिंसा है। अत. अहिंसात्मक जागरण की दिशा में वास्तविक कोई कार्य कर सकना तब तक सम्भव नहीं जब तक मूर्छित नारी शक्ति को उसकी पूर्ण गरिमा तक जागरित न कर दिया जाय। गाधी जी ने इन सबको समाप्त करने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ किये। उन्होंने भारतीय नारी के अन्दर छिपी त्याग वृत्ति और उसकी महती दान परम्परा को गृह की चार-दीवारी के बाहर निकाला और समाज तथा देश के व्यापक हितों में उसका विनियोग किया। उन्हीं के प्रेरणा से शारदा कानून द्वारा बाल-विवाह की प्रथा बन्द की गयी। कालान्तर में देवदासी प्रथा तथा वेश्यावृत्ति को भी कानून द्वारा समाप्त किया गया। बहु-विवाह की प्रथा को स्वतन्त्र भारत की सरकार के कानून द्वारा समाप्त किया है। गाधी जी ने महिला शिक्षा के पक्ष में भी भारी प्रचार किया था। स्वतन्त्र भारत के संविधान ने पुरुषों तथा महिलाओं के समान अधिकारों को मान्य किया है। आज के भारत में महिलाओं के जीवन में भारी सुधार तथा प्रगति हुई है। यह भी गाधी जी के प्रयासों का ही परिणाम है। अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष के उपलक्ष में महिलाओं को काफी सुविधायें प्रदान की गयी हैं और उनकी प्रगति के लिए अनेक रचनात्मक सुधारों की योजना बनायी है, जिनकी प्रेरणा में महात्मा जी के विचार हैं।

साम्प्रदायिकता

भारत मे ब्रिटिश शासकों ने राष्ट्रीय एकता को छिन्न-भिन्न करने के लिए मुस्लिम साम्प्रदायिकतावाद को सर्वोत्तम साधन बनाया था। उन्होने सांविधानिक सुधारों के अन्तर्गत मुसलमानों के लिए पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली लागू करके हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता को समाप्त करने की नीति अपनायी। गाधी जी ने अनुभव किया कि साम्प्रदायिक एकता के बिना राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की सफलता सम्भव नही है। अतः जब से उन्होने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मे भाग लिया, तभी से उन्होने साम्प्रदायिक एकता के लिए प्रयास प्रारम्भ कर दिये। असहयोग आन्दोलन से पूर्व खिलाफत आन्दोलन के अवसर पर उन्हें कुछ सफलता भी मिली, परन्तु शीघ्र ही मुस्लिम साम्प्रदायिकता बढ़ती गयी। गाधी जी एक कट्टर हिन्दू धर्मावलम्बी थे, परन्तु उनके अहिंसावाद ने उन्हें साम्प्रदायिक नही बनाया वे सब धर्मों का आदर करते थे, और धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाते थे। उनका मत था कि विभिन्न धर्म ईश्वर तथा सत्य की प्राप्ति के विभिन्न मार्ग हैं। सभी धर्म सत्य हैं। कोई धर्म दूसरे से श्रेष्ठतर होने का दावा नही रख सकता। राष्ट्रीयता का आधार केवल धर्म नही रख सकता। राष्ट्रीयता का आधार केवल धर्म नही होता। एक राष्ट्र मे विभिन्न धर्मावलम्बी रहते हैं, तो सामाजिक जीवन मे बहुसख्यकों को अल्पसख्यको के हितो का आदर करना चाहिए।

जब भारत में मुस्लिम साम्प्रदायिकता अति उग्र रूप से बढ़ने लगी राजनीतिक स्वार्थों के शिकार कई मुस्लिम नेताओ ने धर्म के आधार पर अपनी पृथक राष्ट्रीयता घोषित करके पृथक पाकिस्तानी राष्ट्र की मांग की, जिसके फलस्वरूप भारी साम्प्रदायिक दगे व रक्तपात हुए। इससे गाधी जी को अत्यन्त ही दुख एवं पीड़ा हुई। वे अन्त तक देश का विभाजन रोकने का प्रयास करते रहे, परन्तु विवश होकर उन्हें पाकिस्तान की मांग माननी पड़ी। विभाजन के पूर्व तथा पश्चात् जो भारी रक्तपात साम्प्रदायिक दगों के कारण हुआ, उसे रोकने के लिए गाधी जी अपने प्राणों की बाजी लगा कर आगे बढ़े। विभाजन के पश्चात् भारत मे करोड़ों मुसलमान बने रहे। उनके संरक्षण की गाधी जी को सबसे अधिक चिन्ता थी। साम्प्रदायिक एकता बनाये रखने के लिए उन्हें अपने प्राणों को भी न्योछावर करना पड़ा। इस प्रकार अछूतोद्धार की भाति ही, साम्प्रदायिक एकता के लिए भी गाधी जी ने अथक प्रयत्न किये। गाधी जी की शिक्षा का ही परिणाम है कि स्वतन्त्र भारत के संविधान मे देश में धर्मनिरपेक्षता की व्यवस्था की है। भारत की धर्म निरपेक्षता की नीति विश्व के अनेक शान्तिप्रिय देशों ने अपनायी है।

गांधीवाद का मूल्यांकन एवं महत्व

गांधीवाद की संक्षिप्त विवेचना करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गांधी जी ने वर्तमान युग के सामने अनेक समाधान रखे हैं। एक व्यापक जीवन दर्शन, द्वितीय साधन साध्य एकता, तृतीय, अभिनव समाज व्यवस्था। गांधी जी के मतानुसार धर्म जीवन का आधार है। सर्वधर्म एकता तथा सत्य अथवा ईश्वर की साधना मानव जीवन का सर्वोपरि प्रयोजन है। व्यवहार में हम इस धारणा को इस रूप में ग्रहण कर सकते हैं कि उच्च मानवीय मूल्यों के अभाव में राजनीति अथवा समाज नीति सार्थक नहीं है। साध्य साधन संगति के द्वारा उन्होंने हमारे आदर्श तथा व्यवहार के मध्य की खाई को पाटने का प्रयत्न किया है। वास्तव में प्रत्येक समाज दर्शन की यह महत्वपूर्ण समस्या है। यह निर्विवाद है कि विकास के साथ-साथ हमारे साधनों को मानवीय होना है और इन साधनों के पीछे आत्म-विकास तथा प्रयोजन की महत्ता अनिवार्य है। गांधीवादी अभिनव समाज व्यवस्था के दो पक्ष हैं :—प्रथम सुधार द्वारा मानव जीवन की सापेक्ष प्रगति और, द्वितीय, रामराज्य का भावी आदर्श। सापेक्ष प्रगति के अन्तर्गत हमें एक सुधारवादी कार्य-क्रम मिलता है। इस कार्यक्रम के प्रमुख लक्षण हैं—दमन तथा उत्पीड़न के विरुद्ध अहिंसा संघर्ष, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, नागरिक स्वतन्त्रताओं की रक्षा, व्यवस्था में जनता का सक्रिय तथा ऐच्छिक सहयोग, पूंजीपतियों तथा सामन्तों का हृदय परि-वर्तन, निर्धनता निवारण, ग्राम सुधार, कुटीर उद्योग, अछूतोद्धार, साम्प्रदायिक एकता आदि। रामराज्य अथवा सर्वोदय अन्तिम आदर्श है। यह आदर्श राज्य विहीन विकेन्द्रीकृत ग्रामपंचायती तथा परिष्कृत मानवतावादी है। प्लेटो, मूर तथा रूसो की भांति गांधी जी के इस आदर्श तथा हमारे जीवन की यथार्थता के मध्य अभी दीर्घ काल का अन्तर है, परन्तु जन-संगठन, शोषण विरोध, स्वावलम्बन, राष्ट्रीयता, स्वतन्त्रता तथा सिद्धान्तों के प्रयोग द्वारा निरन्तर परीक्षित करने का उनका प्रयास सक्रिय तथा सम-सामयिक था।

इस समय शोषक-शोषित, स्वामी-दास, सफेद-काले, अरक्षा तथा शंका, का जो वातावरण है उसका प्रतिकार आवश्यक है। वर्तमान समय में संहार का स्वरूप भयावह हो गया है। आदर्श की प्रतिष्ठा एवं उसकी मूक वंदना पर्याप्त नहीं है। [illegible] वह कर्मठता [illegible] के प्रश्न को [illegible]

अच्छी तरह सुलझाया जायेगा। केन्द्रीयकरण में मानव यंत्रवत् श्रमदास बनता जा रहा है। पूंजी तथा पशु बल, अस्त्रशस्त्र तथा उसके प्रयोग के साधनों के एकाधिकार

से मानव की कुण्ठायें बढ़ती जा रही हैं। इसलिए विकेन्द्रीकरण तथा विघटन के व्यावहारिक पहलू पर विमर्श आवश्यक प्रतीत होता है। परन्तु इस व्यावहारिक पक्ष को क्या रूप दिया जाये, शासन तथा राजनीतिक जीवन में जन-सहयोग की बहुस्तरीय व्यवस्था का कैसे आविर्भाव किया जाये, तदनुकूल सामाजिक तथा बौद्धिक वातावरण का कैसे निर्माण हो और विशेषकर भारत जैसे देश मे राष्ट्रीय एकता तथा स्वतन्त्रता के सन्दर्भ मे सामाजिक, आर्थिक, न्याय और नागरिक स्वतन्त्रताओं को सुरक्षित रखने के लिए किस प्रकार के सांविधानिक और प्रशासकीय स्वरूप को ग्रहण किया जाय ? ये महत्वपूर्ण गुत्थियां हैं। साधनो के विषय मे सभी युगों में बहुत गत्यावरोध रहा है। यह कहना त्रुटिपूर्ण है कि दार्शनिक क्रियाकलाप के क्षेत्र मे साध्य तथा साधन की समीक्षा व्यर्थ है। वह सामाजिक विचारधारा जो सुधार के प्रत्यक्ष तथा सजीव उद्देश्य को सामने रखती है, अन्ततोगत्वा साधन की स्वच्छता पर आधारित होनी चाहिए। सुधार के लिए परिवर्तनशीलता अथवा संयोजन-शीलता आवश्यक है। परिवर्तन से तात्पर्य परिमाणात्मक तथा गुणात्मक दोनों प्रकार के परिवर्तनों से है। जीवन के वास्तविक विकास मे परिवर्तन की इन दो कोटियो के मध्य ज्यामिति की विभाजन रेखा नही है। यह एक सुधार को दूसरे की तुलना मे श्रेष्ठ तथा आधारभूत कहना है। अस्तु साधनों को सक्रिय तथा स्वच्छ होना है। सक्रिय तथा स्वच्छ साधन अनिवार्यतः हिंसक नहीं हैं। सह-अस्तित्व तथा मानवोन्नति पर विश्वास कायरता नहीं है। लोकतन्त्रीय जीवन मे साधन बुद्धि तथा विवेक पर आधारित होने चाहिए। बुद्धिसम्मत साधन वे है जिनके अन्तर्गत कम से कम अनिष्ट तथा अधिक से अधिक लोकहित का उद्देश्य रहता है। वास्तव मे झगड़ा जनतन्त्रीय प्रक्रिया से नही है, झगड़े की जड़ तो जनतन्त्र की आड तथा छाया मे रहने वाले शोषण, विस्तारवाद आक्रामक प्रवृत्ति, रक्तवर्ण श्रेष्ठतावाद आदि से है। अतः जनतन्त्र मे स्वच्छ साधनों की समस्या एकपक्षीय नही है। जिन लोगो के पास सत्ता है उनमे भी विवेक तथा संयोजन की क्षमता होनी चाहिए। यह अन्य प्रकार की व्यवस्थाओं के लिए भी सार्थक है। इतिहास मे इसी लाचारी तथा असंगति ने साधनों को उग्र तथा छिद्र रूप दिया है। अनेकानेक हिंसक तथा क्रान्तिकारी परिवर्तन ऐसे हुए हैं जिनको कदाचित् टाला नही जा सकता था। यदि वे स्थगित अथवा तिरोहित हो जाते तो, कदाचित् हम अनेक सुखद परिस्थितियो से वंचित रहते। परन्तु जहा जनतान्त्रिक जीवन मे चेतना का प्रसार हुआ है, वहा जटिलतायें भी बढ़ती जा रही हैं। इसमे गुणात्मक परिवर्तन की हिंसक व्याख्या तथा प्रवर्तन

पर बल देने से ये जटिलतायें और बढ़ जाती हैं और चेतना भी कुण्ठित होती जाती है। गुणात्मक परिवर्तन अनिवार्यतः हिंसक नहीं है। वह आधारभूत परिवर्तन है। राजनीतिक विचारधारा में यदि मानवीय मूल्यों की सामयिक प्रतिष्ठा आवश्यक है तो गुणात्मक सुधार की भी आधारभूत सुधार अथवा परिवर्तन के रूप में व्याख्या आवश्यक है। आकस्मिक, अप्रत्याशित तथा प्रभुत्वशील जनों द्वारा निर्मित अमानवीय परिस्थितियों के विषय में भविष्यवाणी करना सरल है। ऐसी परिस्थितियाँ कदाचित् स्वयं हिंसक प्रतिरोध को आमन्त्रित करें। स्वयं गाधी जी ने कहा है कि यदि भारत अपने सम्मान की रक्षा करने में कायरता दिखलाता है और असहाय सा होकर अपने अपमान को सहन करता है, तो उससे कहीं अधिक अच्छा होगा अपने सम्मान की रक्षा के लिए शस्त्रों की सहायता लेना। अतः साधन की समस्या एक महाव्रत है। यदि हमें मानवता पर विश्वास नहीं है, तो हमारा प्रयास व्यर्थ की प्रवंचना है। मानव के लिए मानव से बढ़कर लाभदायक और आदरणीय कुछ भी नहीं है। गाधी जी ने समाज की चेतना का नेतृत्व तथा निर्देशन कर्मठतापूर्वक किया है। वह यह मानते हैं कि मानव की अनवरत् प्रतिष्ठा परम दायित्व है। जगत वास्तविक है, वह सारहीन तथा निष्प्रयोजन नहीं है। जीवन स्वर्ण अवसर है, उसे उत्तरोत्तर सुन्दर तथा सुखद बनाया जा सकता है। इस दायित्व से भागना कायरता है। यह सब विचारणीय प्रश्न है और इसके साथ अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है गाधी का चिन्तन। इससे गाधी जी के चिन्तन की शाश्वतता और उपादेयता स्पष्ट होती है।

डा० मानवेन्द्र नाथ राय (सन् 1887 से सन् 1954)

मानवेन्द्र नाथ राय का जन्म 6 फरवरी, सन् 1887 को बगाल के चौबीस परगना नामक जिले के एक ग्राम में हुआ था। बाल्यवस्था में नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य नाम रखने वाले श्री राय अपने छात्र जीवन में ही क्रान्तिकारी विचारों की लहर में बह गये। जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, स्वामी रामतीर्थ आदि मनीषियों के विचारों का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा।

अपनी प्रारम्भिक शिक्षा ग्राम में पूरी करने के उपरान्त श्री राय जिस समय उच्च शिक्षा के लिये कलकत्ता आये, उस समय बगाल में होने वाली क्रान्तिकारी गतिविधियों का उन पर निर्णयात्मक प्रभाव पड़ा। स्वदेशी युग के स्पर्श से वे बच न सके। विपिन चन्द्र पाल, अरविंद घोष, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, वीर सावरकर आदि उग्रवादी पथिकों ने उन्हें बड़ा आकर्षित किया। उग्रवादी और क्रान्तिकारी विचारों से प्रभावित होकर वे 'युगान्तर' दल के सदस्य बन गये। जब भारत के अनिच

राष्ट्रवाद को दबाने के लिए ब्रिटिश शासन ने घोर दमनकारी नीति अपनायी राय का हृदय तिलमिला उठा और उन्होंने क्रान्तिकारी दल से सम्बन्ध स्था कर लिये। उस समय उनकी अवस्था चौदह वर्ष की ही थी। भारत में सश क्रान्ति द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति का स्वप्न देखने वाले यतीन्द्रनाथ मुखर्जी के हाथ बनने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ। एक क्रान्तिकारी के रूप में भारत ब्रिटिश शासन से मुक्त कराने की धुन में पार्टी के लिये मिदनापुर रेलवे स्टेशन डाका मार कर दो लाख रुपये लूट लाये। उन्हें सन् 1910 में 'हावड़ा काण्ड' त सन् 1915 मे राजनीतिक डकैती काण्ड के सन्दर्भ में जेल यात्रा करनी पड़ी।

देश को स्वाधीन कराने की लगन राय को सन् 1914 मे जर्मनी ले गयी वहा से हथियार आदि खरीदकर उन्हें जहाज में लदवा कर उन्होने भारतीय क्रा कारियो के लिए रवाना भी कर दिये। जहाज पकड़ा गया परन्तु राय बच निक इसके बाद भी राय का विदेश प्रवास बहुत लम्बा और बडी ही रोमाचकारी ग विधियो से भरा हुआ था। इस प्रवास काल में राय पर मार्क्सवाद का गहरा प्रभ पडा। सयुक्त राज्य अमेरिका में पहुँचने पर उन्होने कुछ समय तक लाला लाज राय के साथ काम किया। अमेरिका मे उन्हें भारत से निष्कासित व्यक्तियो के स कार्य करने का भी अवसर प्राप्त हुआ। अमेरिका में रहते हुए उन्होने मार्क्सवाद अध्ययन मे तो गहन रुचि दिखायी ही साथ ही साथ प्राकृतिक और सामाजि विषयो को पढ़ने का अवसर भी प्राप्त हुआ। इस समय तक राय अनेक समाजवा विचारको के सम्पर्क मे आ गये थे और उनमे एक दृढ़ समाजवादी के गुण विकसि हुए और उनके विचारो को एक निश्चित दिशा प्राप्त हुई। उन्होने क्रान्ति एक अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक आवश्यकता माना।

जब अमेरिका महायुद्ध मे सम्मिलित हो गया तो वहा भारतीय राष्ट्रवादि को जर्मन एजेण्ट समझा जाने लगा और उनमे से अनेक को गिरफ्तार कर लि गया। राय से भी पुलिस ने पूछताछ की और इसके पहले कि उन्हें गिरफ्तार कि जाता, वे मैक्सिको चले गये। मैक्सिको में उन्होने समाजवादी साथियों को सगठि करने मे सक्रिय रूप मे रुचि ली। उन्ही के प्रभाव से वहा पर साम्यवादी पार्टी स्थापना की। सोवियत-संघ से बाहर संसार के किसी देश मे साम्यवादी पार्टी स्थापना करने वाले यह पहले व्यक्ति थे। मैक्सिको में रह कर डा० राय पार मार्क्स वादी बन गये। इसी समय 'साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय' के एजेण्ट माइकेल बोरोदि के सम्पर्क मे आये और दोनो मे काफी घनिष्ठता भी हो गयी। उन्ही के द्वारा मे डा० राय का सम्पर्क बाल्शेविक आन्दोलन से भी हुआ। लेनिन के निमन्त्रण

डा० राय सोवियत संघ आ गये। वहां पर अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के निर्माता के रूप में कई वर्षों तक काम किया। डा० राय ने लेनिन की प्रथम भेंट में उपनिवेश सम्बन्धी विषयों पर उनको मूल हृदय से चर्चा हुई और स्वयं लेनिन उनसे प्रभावित हुए। लेनिन की डा० राय से प्रथम भेंट का उल्लेख करते हुए कहा था, "मैं तो समझता था एम० एन० राय लम्बी दाढ़ी वाला कोई बूढ़ा व्यक्ति होगा"। सोवियत संघ में डा० राय कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल प्रीसीडियम के सदस्य बनाये गये। इसके पूर्वी विभाग के अध्यक्ष रहे और मास्को की ओरियन्टल यूनिवर्सिटी के निदेशक रहे। सोवियत संघ में रहते हुए ही डा० राय ने 'भारत परिवर्तन की ओर' और 'भारत की समस्या और उसका हल' नामक पुस्तकें लिखी। इन पुस्तकों में उन्होंने गांधीवादी सामाजिक विचारधारा की आलोचना की और गांधीवादी आन्दोलन के स्थान पर जनता द्वारा बल प्रयोग के पक्षधर बने। सन् 1923 में उन्होंने 'असहयोग का एक वर्ष' नामक पुस्तक भी लिखी। इस पुस्तक में महात्मा गांधी जी की प्रशंसा की और उनकी तुलना संत एक्वीनास, बीनरौला ... र फ्रांसिस से की। महात्मा गांधी ने जिस प्रकार जन आन्दोलन को संगठित और ... शील किया, उसकी महत्ता को डा० राय ने स्वीकार किया। इस समय वह ... न में लाल सेना की एक रेजीमेंट के कमाण्डर के रूप में कार्यरत थे। सन् 1926 ... उन्होंने 'भारतीय राजनीति का भविष्य' पुस्तक लिखी जिसमें जनता पार्टी के ... रूप पर प्रकाश डाला गया। उन्होंने अपने द्वारा प्रस्तावित पार्टी का कार्यक्रम भी ... विस्तार समझाया। इस समय तक लेनिन की मृत्यु हो गयी थी और इस समय ... डा० राय के विचारों में नयी जागृति हुई। सन् 1927 में स्टालिन ने डा० राय को चीन भेजा। वह बोरोडिन और एक अन्य कट्टर बोल्शेविक ब्लूचर के साथ उन्हें चीन भी भेजा गया। चीन की उस समय की स्थिति पर डा० राय ने रूसी भाषा में एक विस्तृत रिपोर्ट दी थी जिसे स्टालिन ने प्रचारित नहीं होने दिया। इसकी एक प्रति गुप्त रूप से मास्को से बाहर लायी गयी और अमेरिका में स्थापित एम० एन० राय संग्रहालय में सुरक्षित है। राजनैतिक प्रेक्षकों का कहना है कि इस रिपोर्ट को देखते हुए चीन का समूचा इतिहास ही नये सिरे से लिखना होगा।

डा० राय एक मौलिक चिन्तक और स्वतन्त्र विचारक थे, अतः वे चिन्तन और विचारों के क्षेत्र में किसी का आधिपत्य मानने को तैयार नहीं थे। इसके अनि- ... के समर्थक नहीं थे। ... ाधिकार था, जिसको ... रूसी साम्यवादी दल ने ग्रहण कर लिया था, विरोध किया। उन्होंने स्टालिन को

उग्र-वामपक्षीय विचारधारा की भी आलोचना की। परिणामतः सन् 192
उन्हे कोमिन्टर्न से निकाल दिया गया और वे भारत लौट आये।

भारत में डा० राय ने गुप्त रूप से प्रवेश किया था और बड़े ही रहस्
ढंग से राजनीतिक कार्यों में संलग्न रहे। बम्बई में वह एक डाक्टर के रूप मे
और अपने मित्रों को एक सूत्र में बांधकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को एक
दिशा देने के लिये प्रयत्नशील रहे। बम्बई में उनकी गिरफ्तारी से सारे देश
सनसनी फैल गयी थी। डा० राय पर मुकद्दमा चलाने के लिये इंगलैण्ड से वि
जूरी बुलाये गये। डा० राय ने इस अवसर पर न्यायालय में जो वक्तव्य दि
उसे समस्त संसार के स्वाधीनता आन्दोलनों की महत्वपूर्ण घोषणा माना
सकता है। उनका तर्क था कि यदि किसी देश के नागरिकों की स्वाधीन हो
की आकांक्षा को प्रकट करना अपराध है तो यूरोप के उन सभी विचारको औ
दार्शनिको को भी दंड दिया जाना चाहिये, जिन्होंने मूलभूत आकांक्षा बताया है
परन्तु ब्रिटिश शासन की दृष्टि से वह अपराध था और इस अपराध के लिये
सेशन्स न्यायालय ने उन्हे 13 वर्ष का कठोर कारावास दिया। इस समाचार से
समस्त ससार मे कोलाहल मच गया। अनेक देशों मे प्रदर्शन हुए। यहा तक कि
लन्दन मे ब्रिटिश संसद के सामने भी प्रदर्शन हुए। उच्च न्यायालय ने राय की
सजा घटा कर 6 वर्ष कर दी और उन्होंने 6 वर्ष का कठोर कारावास भुगता।

कारावास से बाहर आकर ड० राय कांग्रेस मे सम्मिलित हो गये। गाधी
जी और सरदार पटेल ड० राय को काग्रेस सगठन मन्त्री बनाना चाहते थे,
लेकिन सैद्धान्तिक मतभेद के कारण डा० राय ने यह स्वीकार नही किया।
उन्होंने गाधीवाद की आलोचना की। उन्हें प्रतिक्रियावादी सामाजिक समन्वय का
सिद्धान्त अव्यावहारिक था। सन् 1937 मे उन्होने 'स्वतन्त्र भारत' नामक साप्ताहिक
पत्र की नीव डाली जिसे आगे चलकर सन् 1949 मे 'रेडिकल ह्यूमेनिस्ट' नाम दिया
गया। इस पत्र के माध्यम से और अपने भाषणो आदि मे डा० राय ने कांग्रेस
के दिवालियेपन की आलोचना की और यह मान्यता प्रकट की कि महात्मा
गांधी के नेतृत्व में काग्रेस चर्खा काटने वालों के एक संघ में परिवर्तित होती जा
रही है। उन्होने अहिंसा की धारणा मे अविश्वास प्रकट किया क्योंकि इससे
लोगों की क्रान्तिकारी भावना मर जाती है।

जून सन् 1939 में डा० राय ने लीग ऑफ रेडिकल कांग्रेसमेन का संगठन
किया। इसी समय डा० राय के सुझाव पर ही कांग्रेस का संगठन मडल इकाई
के रूप में गठित किया गया और फिर सन् 1970 मे] उन्होने भारतीय कांग्रेस के

अध्यक्ष का चुनाव लड़ा, किन्तु मौलाना अबुल कलाम आजाद के हाथों परास्त हुए। इस पराजय के बाद सितम्बर, सन् 1940 में उन्होंने कांग्रेस का परित्याग कर दिया और सन् 1941 में राय ने अपनी नयी राजनीतिक पार्टी 'रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी' का सगठन किया और 'इंडियन फेडरेशन ऑफ लेबर' नामक मजदूर संघ की भी स्थापना की। सन् 1946 में राय ने मार्क्सवादी सिद्धान्तों की रूढ़ियों को छोड़ दिया और नव मानवतावाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इसके बाद राय ने सन् 1948 में अपने दल को भंग कर दिया और अपने सिद्धान्त के प्रचार में जीवन पर्यन्त लगे रहे और 25 जनवरी, सन् 1954 को इस महान् विद्वान् विचारक और राजनीतिक, दार्शनिक तथा बहुमुखी प्रतिभावान का अन्त हो गया। डा० राय को राजनीतिक क्षेत्र में विश्व में कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकता।

भारतीय इतिहास को पुनः लिखा जाये

डा० राय क्रान्तिकारी थे। अतः नये सिद्धान्त में भी उन्होंने क्रान्ति की कल्पना की, परन्तु क्रान्ति से उनका तात्पर्य हिंसा अथवा अराजकता नहीं था। सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति से पूर्व उन्होंने दार्शनिक क्रान्ति को आवश्यक माना। उनकी दृष्टि में संस्कृति एक ही है और वह है मानव संस्कृति। डा० राय ने यह प्रतिपादित किया कि तीन चार शताब्दी पूर्व यूरोप को भी विकास के उसी क्रम से गुजरना पड़ा था जिससे भारत गुजर रहा है। क्रान्तिकाल के जिस अन्तर को पूरा करने में यूरोप को कई शताब्दियाँ लगीं उसे भारत बीस पच्चीस वर्ष में ही पूरा कर सकता है, उसकी प्रगति की मुख्य बाधा ब्रिटिश शासन नहीं रहा। अतः आधुनिक युग लाने में भारत के लिये अब कोई विशेष कठिनाई नहीं है। यूरोप में आधुनिक युग आने से पूर्व वहाँ के लोगों के विचारों में क्रान्ति आयी थी जिसे नव जागरण कहा जाता है। भारतीय जनता के विचारों में भी एक ऐसी ही क्रान्ति आनी चाहिये। राय यह मानते थे कि पश्चिमी विचार धारा के सम्पर्क में आने से 19वीं शताब्दी में भारत में भी नव जागरण की हल्की सी लहर आयी परन्तु इस नवजागरण के प्रवर्तक स्वयं इसकी परिभाषा स्पष्टतः नहीं जानते थे। परिणाम यही हुआ कि अध्यात्मवाद के पुनर्जागरण के प्रवाह में भारत की जनता को अदृश्य शक्ति के प्रवाह में भारत की जनता को अदृश्य शक्ति के प्रभाव से मुक्त करने का यह बौद्धिक आन्दोलन शीघ्र ही समाप्त हो गया। डा० राय नवजागरण के प्रतीक थे। भारत में उन्नीसवीं शताब्दी की नव जागरण की लहर को वह भारत के स्वाधीनता आन्दोलन का आधार बनाना

चाहते थे और इसमें वह मानवीय तत्वों का समावेश चाहते थे। डा० राय अपने मन और अनुभव की सारी शक्ति लगाकर भारत में आधुनिक विचारों का प्रसार चाहते थे। यही नही वह सभी एशियाई देशों में भी नव जागरण का यह प्रकाश देखना चाहते थे।

भारत का इतिहास पुनः लिखा जाये। डा० राय का यह भी विश्वास था कि किसी भी देश में नव जागरण लाने के लिये उसे अपने अतीत पर आलोचनात्मक दृष्टि डालनी चाहिये। यही नही अपने इतिहास को भी इसी दृष्टि से देखना चाहिये। वर्तमान अतीत का ही परिणाम है। अतः वर्तमान की त्रुटियो से दूर करने के लिये हमें अतीत की उन स्थितियों को भी देखना चाहिये जो वर्तमान स्थिति लाने के लिये उत्तरदायी रही हो। भारत की वर्तमान स्थिति का कारण विदेशी शासन को ही माना जाता रहा है। राय के विचार मे यह शत प्रतिशत सही नहीं था। उनका कहना था कि हमें अपने अतीत के इस प्रश्न का उत्तर ढूंढना चाहिये कि भारत पराधीन हो क्यो हुआ? हमारे सामाजिक ढांचे मे कही न कही ऐसे तत्व अवश्य रहे होगे, जिन्होने भारत को बिना आक्रमण के ही पराधीन बना दिया। अतः सामाजिक जीवन की ऐसी त्रुटियो को ही दूर करना होगा।

डा० राय भारत के सर्व साधारण में आधुनिक ज्ञान विज्ञान के प्रसार के लिये प्रयत्नशील तो रहे ही, साथ ही वह भारत का इतिहास नये सिरे से लिखे जाने के पक्ष मे थे। इनका विश्वास था कि हमे अपने अतीत की मान्यताओं का आज के युग के सन्दर्भ में मूल्यांकन करना चाहिये। वास्तव में डा० राय भारत की प्राचीन परम्पराओं और आज की सभ्यता के स्थायी तत्वो मे एक प्रकार का समन्वय चाहते थे।

भौतिकवादी

सभ्यता के प्रारम्भ मे ही दो विचार धारायें एक दूसरे से बराबर टकरा रही है। धर्म और बुद्धिवाद। वैसे तो इन दोनो विचार धाराओ मे मनुष्य को स्वतन्त्र रहने की आकांक्षा निहित है, लेकिन धर्म में आगे चलकर मनुष्य की इस इच्छा को अभिव्यक्त करने की क्षमता नही रही। इस आकांक्षा को रूढ़िवाद ने दबा दिया। आज विज्ञान का युग है। विज्ञान का तात्पर्य केवल रेल, तार, बिजली और टेलीफोन आदि नही है। जीवन के प्रति तर्कसगत और विवेकपूर्ण दृष्टि अपनाने से ही हो सकता है। भारतीय विद्वान और दार्शनिक गीता और उपनिषद् से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। राय का विश्वास है कि भारत के अतीत में भौतिकवादी प्रवृत्ति भी उपस्थित थी। ईसा से पूर्व सातवी और आठवी शताब्दी के प्रारम्भ में भार

में भौतिकवादी विचारक हुए। यह विचारधारा विशेषतः सांख्य और न्याय दर्शन में निहित है। डा० राय के अनुसार भारत के गत एक हजार वर्ष के आध्यात्मिक विकास के कार्य में भी भौतिकवादी और बुद्धिवादि तत्व विद्यमान रहे। डा० राय का कहना है कि बौद्ध धर्म की आन्तरिक असंगतियों और शंकराचार्य के बौद्ध धर्म पर आक्रमण से भौतिकवाद का वह युग लुप्त होता चला गया। भारत में नव जागरण के प्रतिपादक होते हुए भी डा० राय यह मानते थे कि वर्तमान का निर्माण अतीत पर होना चाहिये। अतः अपने भौतिकवादी दर्शन की प्रेरणा पश्चिम से लेने के साथ-साथ वह भारत के अतीत में भी भौतिकवादी विचारों की खोज और शोध में संलग्न रहे। भारत के भौतिकवादी दर्शन में जो कमी थी, उसे भी डा० राय पश्चिम के भौतिकवादी दर्शन के नये-नये तत्वों से पूरा करना चाहते थे। पश्चिमी भौतिकवादी का नया तत्व था मनुष्य का इसी जीवन को अधिक [illegible] बनाना और अपनी इच्छा और आवश्यकतानुसार अपना समाज बनाने की उसकी क्षमता का विकास करना। इस दृष्टि को लेकर डा० राय का मार्क्सवाद [illegible] विश्वास एक विशेष महत्व रखता है क्योंकि भौतिकवाद में डा० राय का विश्वास मार्क्सवाद का ही परिणाम है, परन्तु मार्क्स का भौतिकवाद अपरिष्कृत था जब कि राय ने काफी हद तक निम्नलिखित बातों में इस का परिष्कार किया।

1. डा० राय और मार्क्सवादियों के बीच प्रथम प्रमुख अन्तर इस बात पर है कि मार्क्स के चिन्तन में पायी जाने वाली दो परस्पर विरोधी और असमर्थ [illegible] प्रवृत्तियों में डा० राय का आग्रह एक प्रवृत्ति पर है तो मार्क्सवादियों का दूसरी पर। डा० राय मार्क्स के चिन्तन की उस उदारवादी प्रवृत्ति [illegible] जो मार्क्स को पीड़ित वर्गों का महान हितैषी बना देती है। मार्क्स ने [illegible] और दलित वर्गों के प्रति गहनतम सहानुभूति रखते हुए इस बात की घोर निन्दा की थी कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का शोषण करे। लेकिन साम्यवादियों का [illegible] आग्रह मार्क्सवाद के उस द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर है जो ऐतिहासिक [illegible] और वर्गसंघर्ष के सिद्धान्त पर जोर देता है। डा० राय ने [illegible] ऐतिहासिक प्रक्रिया में व्यक्ति की अवहेलना करना पसन्द नहीं किया। [illegible] बात के प्रति गम्भीर आपत्ति रही कि साम्यवादी [illegible] अहिंसात्मकता रखते हैं। श्री राय के [illegible] उनको सहमत नहीं होने दिया कि व्यक्ति की अवहेलना की [illegible] यह भली भांति समझ लिया था कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद [illegible]

अनिवार्यता पर पूर्ण बल देने का परिणाम और व्यक्ति की भूमिका की उपेक्षा कराने क परिणाम अधिनायकवाद का विकास है। स्वभाविक है कि अपनी इन मान्यताओं के कारण डा० राय सोवियत सघ के साम्यवादी शासन का समर्थन नहीं कर सके और धीरे धीरे साम्यवादी आन्दोलन तथा मार्क्सवाद से अलग हो गये।

2. डा० राय समाजवादियों से इस बात पर भी असहमत रहे कि मार्क्सवाद को एक कट्टरपंथी मत का रूप दिया जाय। श्री राय का मत था कि मार्क्स में सर्वधिक अनुकरणीय और प्रशसनीय बात वैज्ञानिक पद्धति की थी। वैज्ञानिक पद्धति अथवा भावना अपने आप मे कोई कट्टरता नही रखती। लेकिन मार्क्स के अनुयायी अपने गुरू की इस वैज्ञानिक भावना के प्रति निष्ठा रखते हुए मार्क्सवाद को एक कट्टर मत का रूप दे रहे हैं जो अनुचित है। डा० राय ने कहा कि यदि मार्क्सवाद को सकीर्णता और कट्टरता से बचाना है तो उसका सर्वोत्तम उपाय यह है कि उसे लचीला बनाया जाय और परिवर्तित स्थिति के अनुरूप उसमें समय समय पर वाञ्छित सशोधन किये जांय। राय ने यह मान्यता प्रकट की कि मार्क्स में संशोधन करने का अर्थ मार्क्सवाद से दूर होना या हटना नहीं है वरन् उसे रूढ़वादिता के दल-दल मे फंस जाने से बचाना है। मार्क्सवाद को सजीव, सक्रिय, गतिशील और समयानुकूल बनाये रखने के लिये उसके वैज्ञानिक दृष्टिकोण को निरन्तरता प्रदान करनी होगी।

(3) डा० राय ने मार्क्स के द्वन्दात्मक दर्शन का पूरी तरह खन्डन किया। उन्होंने इसे मानव सृजनशीलता के साथ असंगतिबद्ध माना। द्वन्द्वात्मक प्रहार करते हुए उन्होंने अपनी "तर्क स्वच्छन्दता और क्रान्ति" नामक रचना मे लिखा, "द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया ससार को बदलने के लिए उन महानतम क्रान्तिकारियों के लिए भी कोई स्थान नही रहने देती जो कि मार्क्सवादी दर्शन से सुसज्जित हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद एवं समाज के एक क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण के कार्यक्रम के बीच कभी न दूर होने वाला विरोध मार्क्सवाद की एक आधार भूत भ्रांति है।" राय ने मार्क्स के इस विश्वास को भी ठुकरा दिया कि इतिहास उत्पादन के साधनों के विकास से उदित हुई घटनाओं की श्रृंखला है।

(4) डा० राय ने मार्क्स के वर्ग संघर्ष के समाज शास्त्र में भी सन्देह प्रकट किया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि मानव इतिहास में विभिन्न सामाजिक वर्गों का अस्तित्व अवश्य रहा है और साथ ही उनमें खींचातानी भी रही है। किन्तु इनकी यह मान्यता अधिक प्रबल रही है कि सामाजिक खींचातानी और संघर्ष के

नैतिक सामाजिक एकता और बन्धन के तत्व अधिक प्रबल रहे हैं। सामाजिक एकता और बन्धन के इन्हीं तत्वों के कारण समाज अब तक टिका हुआ है।

(5) डा० राय ने मार्क्स की इस धारणा को भी गलत बताया कि मध्यम वर्ग का लोप हो जायगा। उन्होंने कहा कि मध्यम वर्ग का तो उल्टा विकास हुआ है और वैदिक प्रक्रियाओं के विस्तार के साथ मध्यम वर्ग की संख्या बढ़ रही है।

(6) राय ने मार्क्सवाद में एक गम्भीर दोष यह प्रकट किया कि उसमें नैतिक नियम के चलने के लिये कोई स्थान नहीं है। मार्क्सवादी विचार धारा को पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान नहीं करती। मार्क्सवादी दर्शन में व्यक्ति की स्वतन्त्रता केवल इस बात में है कि वह ऐतिहासिक आवश्यकता को समझ ले और स्वयं को उनके समक्ष प्रसन्नतापूर्वक समर्पित करदे। राय ने कहा कि स्वतंत्रता की यह धारणा की दासता की यह धारणा है जिस पर चलने से समाज स्वेच्छापूर्ण दासों का समूह बन जायगा। राय की दृष्टि में मार्क्सवाद का यह भारी दोष है वह समाज के विकास में नैतिक शक्ति की अवहेलना करता है।

(7) डा० राय ने यह भी बताया कि मार्क्सवादी समाजवाद ने जहाँ अपना ान एक स्वतंत्र, न्यायपूर्ण और समानतावादी समाज की स्थापना करना ाषित किया था, वहाँ विपरीत इसके सोवियत संघ तथा अन्य सामाजवादी ाों में एक ऐसी अधिनायकवादी व्यवस्था को जन्म दिया जिसमें व्यक्ति के सुख ार स्वतंत्रता की पूर्णत. उपेक्षा कर दी गयी है और सामाजिक यन्त्र का एक ाध्य, महत्वहीन तथा छोटा सा पुर्जा मात्र बनाकर छोड़ दिया गया है। राय ने यह भी आरोप लगाया कि द्वन्द्ववाद और आर्थिक निर्णयवाद के सम्मिश्रण ने ी इस खतरनाक और घातक सिद्धान्त को विकसित किया है कि वर्ग संघर्ष सब सामाजिक परिवर्तनों का मूल है और हमारा प्रमुख लक्ष्य व कर्तव्य यही होना चाहिये कि वर्ग संघर्ष को अधिकाधिक तीव्र और उग्र बनाया जाय।

मानवतावाद

डा० राय का कहना था कि एक हजार वर्ष से भी अधिक समय से भारत में महत्वपूर्ण रचनात्मक विचारों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। हाल की अवधि में योगी अरविन्द, तिलक, आदि इसके अपवाद अवश्य हैं। अरविन्द के विचार आध्यात्मिक अवश्य थे। डा० राय के अनुसार आध्यात्मिक विचार धर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन अवश्य करते है, दर्शन का नहीं। अतः आध्यात्मिक विचारों को तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। डा० राय का कहना था कि भौतिक-

वाद मानव आत्मा की सहज अभिव्यक्ति है और इस युग का दर्शन मात्र नहीं है। भौतिकवाद का जन्म विज्ञान की अलग अलग शाखाओं में होता है और इसमें विविधता है।

मानवतावादी आन्दोलन बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक में संसार के अन्य देशों में भी फैला है परन्तु डा० राय का नव मानवतावाद विचार ध्येय में अभूत-पूर्व योगदान है और वे जनक के रूप में विख्यात हो गये। संसार के अन्य मानवतावादी विचार धाराओं में धर्म का तत्व है, जब कि डा० राय ने मनुष्य को ही केन्द्र में रखकर भौतिकवाद का प्रतिपादन किया। डा० राय का कहना था कि हमें मनुष्य या ईश्वर इन दोनों में से एक में ही विश्वास करना है, जो मानवतावादी आन्दोलन धर्म से प्रेरणा ग्रहण करता है वह स्वंय असगत है और वह पूर्ण नहीं हो सकता।

डा० राय ने अपने मानवतावाद को मौलिक अथवा नवीन इसलिये कहा क्योंकि वे यह सिद्ध करना चाहते थे कि उनका मानवतावाद पूर्व के और सम-कालीन सभी विचारकों द्वारा प्रतिपादित मानवतावाद से भिन्न है। डा० राय ने यह माना कि मानवतावाद मानव जाति के इतिहास में एक प्राचीन और सम्मानीय परंपरा रही है। पहले भी मानवतावादी हुए थे और आज भी हैं। जहाँ पहले के मानवतावादी मनुष्य को किसी अति मानवीय और अति प्राकृतिक सत्य के अधीन करने की इच्छा की धाराण से नहीं बचा पाते थे, वहाँ आधुनिक मान-वतावादी अपने दर्शन में मनुष्य को वांछित केन्द्रीय स्थान नहीं दे सके हैं। आधुनिक मानवतावादी मनुष्य को राज्य के अधीनस्थ अवश्य नहीं बनाना चाहते, परन्तु मनुष्य उनके दर्शन का केन्द्र बिन्दु नहीं है।

डा० राय ने अपने नव मानवतावादी दर्शन में प्राचीन और आधुनिक सभी मानवतावादियों को पीछे छोड दिया। उन्होंने मनुष्य को एक रहस्य, एक विश्वास का विषय नहीं बनाया और इस मिथ्या धारण का खण्डन किया कि मनुष्य किसी बाह्य, रहस्यमय तथा अति प्राकृतिक सत्ता के अधीन है। उन्होंने मनुष्य को मानवतावाद का केन्द्र बनाया और कहा कि आज जो मनुष्य को समूह का कण मात्र मान बैठे हैं और हमारे राजनीतिक और सामाजिक व्यवहार का उद्देश्य पूरे समूह का कल्याण मात्र है। डा० राय के नवमानवतावाद ने मनुष्य को समाज की ईकाई मानी है और व्यक्ति की मानसिक और भौतिक उन्नति को ही समाज अथवा देश की उन्नति की कसौटी माना है। राय के अनुसार मनुष्य ही मानव जाति का मूल है तथा मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु का मापदन्ड है। पहले कथन से

तात्पर्य यह है कि डा० राय के अनुसार मानव जीवन अपने से पूर्ण है। अतः मनुष्य को किसी बाह्य और अति प्राकृतिक सत्ता का आश्रय नहीं लेना चाहिये। इसी दृष्टि से, जो प्रोटेगोरस की है, डा० राय ने यह विश्वास प्रकट किया कि मानव प्राणी होने के नाते मनुष्य का सम्बन्ध केवल उन्हीं बातों से है जो मानव जीवन का प्रभावित करती है। मनुष्य का मुख्य सम्बन्ध स्वयं मनुष्य से ही है, पर दैवी इच्छा, आत्मा, परमात्मा जैसी रहस्यमय और अति प्राकृतिक वस्तुओं से उसे स्वयं को सम्बन्धित नहीं करना नहीं चाहिये। हम सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र व ग्रह आदि के अध्ययन में रुचि भले ही ले लेकिन इस भावना में न रहें कि उनके प्रकाश की किरणों का हमारे चरित्र पर प्रभाव पड़ता है या उनसे हमारे भावी भाग्य का निर्धारण होता है।

डा० राय का मानवतावादी दर्शन उन व्यक्तियों के लिये है जो इस बात में विश्वास करते है कि मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है और इस ससार को श्रेष्ठतर व सुन्दरतर बना सकता है। राय का मानवतावाद उनके लिये है जो इस ससार को वास्तविकता में विश्वास करते है और यह नही मानते है कि संसार की सृष्टि किसी जादू भरे शब्द द्वारा हुई है।

डा० राय यह मानकर चलते हैं कि मनुष्य में स्वतन्त्र रहने और अपना भला बुरा सोचने समझने की मौलिक क्षमता है। राजनीति का कार्य केवल उस क्षमता का विकास करना है। इसी क्रम को राय वैज्ञानिक राजनीति कहते थे। समस्त परिस्थिति का विश्लेषण कर डा० राय इसी परिणाम पर पहुँचे थे कि हमारे देश में सैद्धान्तिक आधार और समुचित विवेक शक्ति का अभाव है। अत नवमानवतावाद द्वारा उन्होने ऐसे जीवन दर्शन की कल्पना की जिसमे विवेक को विकास का अधिकाधिक अवसर मिले।

डा० राय का कहना था कि सभी सामाजिक दर्शन समाज को समष्टि के रूप मे ही देखते हैं। कोई मानव समाज को धर्म के आधार पर कोई राष्ट्रीयता के आधार पर और कोई आर्थिक आधार पर देखता है। मनुष्य के रूप मे मनुष्य का मूल्यांकन कोई नही करता, जनतंत्र का आधार है व्यक्ति की सार्वभौम सत्ता और यह सार्वभौम सत्ता अभिन्न, अखण्ड और अविभाज्य है।

डा० राय के विश्लेषण के अनुसार आज के युग मे मानव समाज का आपत्तियों मे उलझ जाना स्वाभाविक है। यही आपत्तिग्रस्त मनुष्य आज राजनीति मे प्रतिबिम्बित हुआ है। सभी सामाजिक पार आज राजनीति में हाहाकार हो उठे हैं। मुख्य प्रश्न है तो यह है कि क्या राजनीति को शुद्ध रूप में बुद्धि के

ग्राधार पर खड़ा किया जा सकता है ? डा० राय का प्रयत्न था कि राजनी तथा नीति का परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित किया जाये। इस निष पर ही बुद्धिवादी राजनीति की कसौटी निर्भर है। ग्रनैतिक एवं ग्रशुद्ध साधनो क्रान्ति के ग्रादर्शों का निर्माण करने की रुढ तथा भ्रष्ट परम्परा को समाप्त कर ग्रत्यन्त ग्रावश्यक है। इसी भ्रष्ट परम्परा ने क्रान्ति की शक्तियों, ग्रर्थात् श्र जीवी वर्ग और जनता, को ग्रसहाय ग्रौर निराश बना दिया है। वे ग्रपने प विश्वास खोकर दूसरों पर निर्भर रहने लगे हैं। इस उलझन से उन्हे मुक्त कर के लिये हमे नैतिकता, बुद्धिवाद ग्रौर व्यक्तिवाद के सिद्धान्त को हृदय से स्वीका करना होगा। इसी को द्रुतगामी ग्रौर गतिशील दृष्टिकोण कहा जाता है। डा० राय के ग्रनुसार मनुष्यो मे परस्पर सहयोग की मगल भावन का निर्माण करके ही सामाजिक व्यवस्था सफल हो सकती है। राय का यह भी मत एवं विश्वास था कि वर्ग, राष्ट्र ग्रौर पक्ष ग्रादि मानव निर्मित संगठन हैं। इनके ग्राधार को मानव की तुलना में श्रेष्ठ मानने में मानव का ग्रात्मबल ग्रवरुद्ध होता है। व्यक्ति को समर्थ, सम्पन्न, विकसित एवं प्रगल्भ बनाना ही सामाजिक ग्रौर राजनीतिक संगठनो का उद्देश्य होना चाहिये। जो तत्व ग्रौर विचारधारायें इस चरम उद्देश्य को स्वीकार नही करते, वे वास्तव में मनुष्य के लिये कितने ही प्रकार के ग्रन्य बन्धनों का निर्माण करने के साधन बनते हैं। निरन्तर बन्धन मुक्त होने वाले ग्रात्मनिष्ठ मानव का निर्माण करना ही मानव संस्कृति का सर्वोपरि उद्देश्य है।

मौलिक लोकतन्त्र

डा० राय ने पूजीवादी लोकतन्त्र ग्रौर साम्यवाद दोनों ही में ग्रनास्था प्रकट की क्योंकि उनके ग्रनुसार इनके द्वारा स्वतन्त्रता की समस्या का समाधान नहीं हो सका। वर्तमान सामाजिक ढांचा ऐसा बना हुग्रा है जिसमें व्यक्ति ग्रपने जन्म-सिद्ध ग्रधिकार, ग्रर्थात् स्वतन्त्रता, का समुचित उपयोग नहीं कर पाता। राय ग्रौर उनके साथी मौलिक मानवतावादी एक इस प्रकार की सामाजिक ग्रौर राजनीतिक व्यवस्था के पक्षपाती हैं जिसके ग्रन्तर्गत व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सुर-क्षित रखा जा सके। उनके ग्रनुसार राज्य भी एक ऐसा संगठन है जो स्वतन्त्र ग्रौर शान्तिपूर्ण जीवन के लिये मनुष्य के सहकारी प्रयास द्वारा रचा गया है। यह शक्ति के ऊपर नहीं, व्यक्ति की नैतिक भावना पर ग्राधारित है। लोकतन्त्र का ग्रादर्श सच्चे ग्रर्थों मे तभी प्रभावी हो सकता है जब राज्य एक बाध्यकारक संस्था के रूप मे न रहे ग्रौर इस प्रकार का वातावरण हो कि मनुष्य मानसिक रूप से स्वयं को स्वतन्त्र ग्रनुभव करते हुए स्वतन्त्रता का निर्माण करने में प्रयत्नशील हों।

डा० राय ने उन्नीसवीं शताब्दी के उदारवादी लोकतन्त्र को सच्चा लोकतन्त्र नहीं माना। उनके अनुसार वह एक औपचारिक लोकतन्त्र था जिसके अन्तर्गत अधिकांश मनुष्यों की स्थिति निर्जीव वस्तुओं के समान थी। जनसाधारण का सार्वजनिक विषयों के प्रशासन में कोई भाग न था। वह उत्तरदायित्व चोटी के कुछ मुट्ठीभर व्यक्तियों में केन्द्रित था। राय ने सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना के लिए नैतिक उत्थान पर बल देते हुए राजनीतिक दलों की कार्य पद्धति को ठुकरा दिया। जहाँ विश्व के लगभग सभी राजनीतिज्ञों और राजनीतिक विचारकों की मान्यता है कि लोकतन्त्री व्यवस्था में राजनीतिक दलों का होना अनिवार्य है, वहाँ राय ने और उनके साथी मौलिक मानवतावादियों ने इसके विपरीत मतभेद प्रकट किया। उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि आधुनिक विश्व के नैतिक पतन का एक मूल कारण आज की लोकतन्त्री व्यवस्था में राजनीतिक दलों की कार्य पद्धति है। राजनीतिक दल अपने चुनाव अभियानों द्वारा जनसाधारण को राजनीतिक शिक्षा प्रदान नहीं करते, वरन् राजनीतिक चाल-बाजियाँ और कुशिक्षा सिखाते हैं। राजनीतिक दलों से जनसाधारण में विवेक जागृत नहीं होता, वरन् उनकी उद्दण्ड भावनायें उमड़ती हैं। ये दल जनता को उकसा कर इस प्रकार का वातावरण पैदा करते हैं जिसमें राजनीतिक व आर्थिक समस्याओं पर धैर्यपूर्ण और विवेकपूर्ण विचार नहीं किया जा सकता। दलों का उद्देश्य केवल शासन सत्ता के लिये छीना-झपटी रह गया है। जनता के वास्तविक हितों की कोई चिन्ता नहीं की जाती। अपने स्वार्थ के लिये नैतिकता और न्याय की तिलाञ्जलि दे दी जाती है।

डा० राय ने कहा कि यदि हमें सच्चे लोकतन्त्रवाद की रक्षा करनी है तो उसे दलविहीन बनाना होगा अर्थात् 'दलविहीन लोकतन्त्र' की स्थापना करनी होगी और सार्वजनिक विषयों के प्रशासन में जनसाधारण को अधिकाधिक भाग लेना होगा। इसके लिये डा० राय का कहना था कि स्वायत्तशासी ग्राम गणराज्यों के स्थान पर लोकसमितियों को प्रतिष्ठित करना है।

डा० राय की मान्यता है कि लोक-समितियों अथवा स्थानीय व्यक्तियों की समितियों के विकास से सच्चे और दलविहीन लोकतन्त्र की स्थापना को बल मिलेगा। इनके माध्यम से सार्वजनिक विषयों के प्रबन्ध में सामान्य जनता को संसदीय लोकतन्त्र की अपेक्षा अधिक भाग मिल सकेगा और वर्तमान दलीय व्यवस्था का अन्त किया जा सकेगा। मौलिक मानवतावादियों ने जोर देकर कहा कि दल व्यवस्था राजनीति को भ्रष्टाचारी बनाती है और यदि हमें राजनीति को विशुद्ध बनाना है तो दलीय प्रणाली का अन्त कर देना चाहिये जो प्रत्यक्ष लोक-

तन्त्र मे ही सम्भव है। हम इस विश्व से तभी बढ़ सकते हैं जब अपने मस्तिष्क से हम यह धारणा निकाल दें कि राजनीति का एक मात्र रूप या प्रकार सत्ता प्रधान राजनीति है।

डा० राय ने यह भी कहा कि हमे अपने आप को कुछ समूहों मे सगठित कर लेना चाहिये और तब प्रत्येक समूह को अपने कार्य के लिये कोई क्षेत्र चुन लेना चाहिये। इन समूहों को जनता से किसी दल विशेष के लिये मत की माँग नही करनी चाहिये वरन् इनका उद्देश्य जन साधारण को शिक्षित करना होना चाहिये। यह शिक्षण केवल साक्षरता का शिक्षण नही होगा वरन् ऐसा होगा जो व्यक्तियों मे स्वय सोचने और निर्णय करने की शक्ति का विकास कर सके। राय ने विश्वास प्रकट किया कि इस प्रकार की शिक्षा से एक श्रेष्ठ और नैतिक वातावरण विकसित हो जायेगा। नवीन दृष्टिकोण और वातावरण से सम्पन्न होकर लोग स्वय इस प्रकार की अपनी जन समितियों का निर्णय कर सकेंगे जिन पर स्थानीय विषयों के प्रबन्ध का अधिकाधिक उत्तरदायित्व डाला जा सकेगा। ये लोक समितियाँ राजनीतिक पाठशालाओं का काम करेंगी। इनके द्वारा नागरिकता के समुचित गुणो का प्रशिक्षण मिलेगा और जनता अपने सर्वोच्च अधिकारों के प्रति सही मानों मे जागरूक बन सकेगी। इतना ही नही, ये लोक समितियाँ विभिन्न क्षेत्रो मे उच्चतर स्तरो पर समितियो का निर्माण करेगी और उन पर आवश्यक नियन्त्रण भी रखेंगी। इस प्रकार सच्चे राजनीतिक विकेन्द्रीयकरण का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा। इस स्थिति मे राज्य व्यक्ति और समाज के सम्पूर्ण जीवन पर आच्छादित नही रहेगा वरन् उसका कार्य देश के सामाजिक जीवन मे सामन्जस्य स्थापित करने तक ही सीमित रह जायेगा।

राय ने यह भी बताया कि निर्वाचन के समय ये समितियाँ प्रत्याशी को दलीय आधार पर नही वरन् उसके गुणों के आधार पर मत देंगी। इनका भरसक प्रयास इसी दिशा मे होगा कि विधान मण्डल अथवा स्थानीय विकास मे सर्वोत्तम प्रत्याशी प्रवेश पा सकें। किसी उपर्युक्त प्रत्याशी के मैदान में न होने पर ये समितियाँ अपने ही सदस्यों में से किसी को प्रत्याशी खड़ा कर सकेंगी।

डा० राय ने जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र मे विकेन्द्रीकरण का पक्ष लिया उसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र मे उन्होने विकेन्द्रीकरण का अपना विचार रखा। उन्होंने यह मान्यता प्रकट की कि लोकतन्त्री समाज को आर्थिक समस्याओं के खतरों से बचाये रखना होगा क्योंकि यदि लोक शक्ति आर्थिक समस्याओं के समाधान मे ही लगी रही तो लोकतन्त्र के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकेगी। समाज में शांति,

युग और शुद्ध दर्शन का विकास तभी हो सकता है जब समाज के म
भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये चिन्तित न होना पड़े। यह स्थि
सम्भव है जब राष्ट्रीय उत्पादन और उसके वितरण की समुचित व्यवस्था

डा० राय ने वर्तमान लोकतन्त्र पर प्रहार करते हुए कहा कि इसमे
विषम वितरण पाया जाता है और निर्धनों व धनियों के मध्य भारी
है। इस विषमता को समाप्त करने के लिये एक नियोजित अर्थ व्यव
होना आवश्यक है। किन्तु यह नियोजित अर्थ-व्यवस्था रूसी या अमेरिकी
पर नहीं होगी। यह अर्थ व्यवस्था सच्चे अर्थ मे लोकतन्त्रात्मक होगी
उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर सामाजिक कल्याण को प्रतिष्ठित करना
यह व्यवस्था ऐसी होगी जिसमें सामाजिक अतिरिक्त धन का प्रयोग जनक
कारी और सार्वजनिक सेवा पर किया जायेगा जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, न
व ग्रामीण नियोजन आदि पर। राय ने कहा कि सच्चे लोकतन्त्र मे उ
सहकारिता के आधार पर सगठित किया जाय। सामाजिक धन के उत
वितरण, विनिमय, आदि सभी क्षेत्रो मे विभिन्न प्रकार की सहकारी स
अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेंगी। राजनीतिक और आर्थिक दोनो क्षे
केन्द्रीकरण होने पर ही सच्चा मौलिक तन्त्र अस्तित्व मे आ सकेगा।

राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचार

राय प्रारम्भ मे एक कट्टर मार्क्सवादी रहे और अपने जीवन के स
काल मे मानवतावाद के प्रवर्तक बन गये। इन दोनो ही रूपो मे यह स्वाभ
था कि राष्ट्रवाद के प्रति उन्हे कोई अनुराग न होता। राय ने यह माना कि र
वाद अपनी प्रकृति से प्रतिक्रियावादी है और प्रत्येक समाज व देश को
बचना चाहिये। उन्हे इस बात से बडा क्लेश पहुँचा कि द्वितीय विश्वयुद्ध के स
राष्ट्रवादी भारत ने युद्ध मे मित्र राष्ट्रो की सहायता करने से मना कर दिय
राय का विश्वास था कि द्वितीय विश्वयुद्ध मानव स्वतन्त्रता के भयानक
फासीवाद के विरुद्ध एक मरणान्तक सघर्ष था जिसमे भारत को मित्र राष्ट्रो
ओर से पूरी तरह कूद पडना चाहिये था। राय ने कहा कि ऐसे समय पर देश
राष्ट्रीय सरकार के निर्माण का आग्रह करना अनुचित था। यह समय राजनीति
सौदेबाजी का नही था वरन् सम्पूर्ण विरोध भाव को भूल कर मित्र राष्ट्रो
सहायता करने का था। राय ने आरोप लगाया कि राष्ट्रीय गौरव और सम्म
रक्षा की आड़ मे कांग्रेस राजनीतिक सौदेबाजी पर तुली थी और फासीव
यों को सहायता पहुँचा रही थी। राष्ट्रवाद के विरुद्ध राय की चरम भाव

तब प्रस्फुटित हुई जब उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को एक फासीवादी संस्था तक कह दिया और ब्रिटिश सरकार से अपील की कि वह 'भारत छोड़ो' आन्दोलन को निर्ममतापूर्वक कुचल डाले। ऐसा डा० राय ने इस लिये किया कि वे फासीवाद और नाजीवाद की निर्णायक पराजय के आकांक्षी थे और चाहते थे कि भारत इस दिशा में कदम पीछे न उठाये।

डा० राय ने यह मत प्रकट किया कि राष्ट्रवाद जातीय घृणा पर आधारित होने के कारण हेय है।

निष्कर्ष

नि:सन्देह डा० राय आधुनिक भारत के महान् विचारक और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे जिन्होंने अपनी यशस्वी लेखनी द्वारा अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। उन्होंने लगभग 6,000 पृष्ठों की एक विशद पुस्तक The Philosophical Con equences of Modern Science भी लिखी थी जो अभी अप्रकाशित परन्तु उसको अनेक भागों में विभक्त कर प्रकाशन की योजना है। आधुनिक भारत में ही नहीं वरन् समस्त संसार में सामाजिक व राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उन्हें नवमानवतावाद के प्रतिपादक के रूप में सदैव स्मरण किया जायेगा। पुनः एक ऐसी विभूति के रूप में भी स्मरण किये जाते रहेंगे जिन्होंने व्यक्ति के गौरव और व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर पूरा बल दिया तथा सामाजिक जीवन में नैतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना चाहा। उनका यह विश्वास था कि राजनीतिक जीवन का नैतिककरण लोकतन्त्र को विनाश से बचा सकता है। उनके विचारधारा के अनेक तत्व ऐसे हैं जो जनता के लिये बड़े उपयोगी और मान्य हैं। जैसा कि डा० राय के सम्बन्ध मे अपनी आत्मकथा में जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है "राय अकेले चले और प्रत्येक व्यक्ति ने कही किसी न किसी रूप मे बीच में उनका साथ छोड़ा। जैसा कि हम सब जानते हैं, राय साधारण कोटि के राजनीतिक नेता नहीं थे। अतः अन्य नेताओं की भांति वह लोकप्रियता के भूखे नहीं रहे, सर्वसाधारण की अशिक्षा, उनके पूर्वाग्रहों और पिछड़ेपन, का नारा लगाकर उन्होंने जनता का समर्थन प्राप्त करने का कभी प्रयत्न नहीं किया। वास्तव में देखा जाये तो राय भारत मे सदा ही प्रवाह के विपरीत ही चले। भारत अधिनायकवाद की परम्परा का ही देश रहा है। हम सदा ही अपने से सर्वोपरि किसी न किसी सत्ता के सामने झुकने या अपने आप को उसे सौंप देने के आदी रहे हैं। श्रीराय ने सदा ही यूरोप के नवजागरण और ज्ञान से प्रेरणा ग्रहण की और वह भारत में आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि के जन्मदाता रहे। उनके विचार आज के समय से बहुत

आगे थे। इसलिये राय का कार्य और उनका व्यक्तित्व ऐसे ही महापुरुषों जैसा था जो नये विचारो का प्रतिपादन करने के कारण अपने युग के लोगों का कोपभाजन बनते हैं और समय आने पर लोग फिर उसी मार्ग का अनुसरण करते हैं।"

भारतीय समाजवादी विचारो तथा व्यवहार की आलोचनात्मक समीक्षा

गत पृष्ठों मे हमने आधुनिक भारतीय समाजवादी चिन्तकों में से केवल छ प्रमुख व्यक्तियों के विचारों का संक्षिप्त परिचय दिया है। इनके अतिरिक्त अनेक नेताओं तथा महापुरुषों ने भी यदा-कदा समाजवादी विचार रखे हैं अथवा समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के निमित्त वे कार्यरत रहे हैं। भारत में स्वतन्त्रता के है। पश्चात् अनेक समाजवादी दलो का निर्माण तथा विघटन होता रहा है। इसका प्रमुख कारण है कि कांग्रेस ने भी समय-समय पर अपनी नीतियों मे परिवर्तन किया है। कांग्रेस ने सन् 1955 से समाजवादी ढंग के समाज के निर्माण का उद्देश्य दल के कार्यक्रम मे अपना लिया था। कांग्रेस के प्रमुख नेता स्वर्गीय पंडित जवाहर लाल नेहरू भी किसी समय मार्क्सवाद से अत्यधिक प्रभावित थे और उनके अनेक विचार लोकतान्त्रिक समाजवाद की धारणा से सम्बन्धित रहे थे। उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री स्वर्गीय डा० सम्पूर्णानन्द जी के विचार भी समाजवादी थे। इन्हें उनकी रचना समाजवाद के अन्तर्गत पाया जाता है। अशोक मेहता किसी समय आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण तथा डा० राम मनोहर लोहिया जी के नेतृत्व मे निर्मित कांग्रेस समाजवादी दल तथा प्रजासमाजवादी दल के एक प्रमुख समाजवादी विचारक तथा नेता रहे थे। बाद में कांग्रेस में सम्मिलित हो गये थे। सन् 1969 मे कांग्रेस के विघटन के बाद वे संगठन कांग्रेस के प्रमुखतम नेताओं की पंक्ति के व्यक्ति हैं। उन्होंने लोकतान्त्रिक समाजवाद पर अनेक रचनायें भी प्रस्तुत की हैं। भारतीय साम्यवादी दलों की विचारधारायें भी मार्क्सवाद पर आधारित सोवियत संघ या जनवादी चीनी समाजवादी विचारों तथा कार्यक्रमों के अनुसार विकसित हुई हैं। केरल पश्चिमी बंगाल तथा आन्ध्र प्रदेश मे भी अनेक नामों के क्रान्तिकारी समाजवादी दल [illegible] आये हैं। इस प्रकार आधुनिक भारतीय राजनीतिक विचारधाराओं के [illegible] वर्तमान समय में हम विविध प्रकार के समाजवादी संगठनों, दलों [illegible] विचारधाराओं को देखते हैं। इनमें से प्रत्येक अपने विचारों तथा कार्यक्रमों को वैज्ञानिक समाजवाद पर आधारित होने का दावा करते रहे हैं।

सन् 1969 की कांग्रेस की फूट के पश्चात् शासन सत्ता पर नई कांग्रेस दल का प्रभुत्व बना रहा जिसका नेतृत्व भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के

हाथ में रहा। फूट से पूर्व कांग्रेस दल अपने अनेक वार्षिक अधिवेशनों में समाज-वादी सिद्धान्तों एवं कार्यक्रमों के अपनाने की घोषणा कर चुका था। श्रीमती गांधी के नेतृत्व के कांग्रेस दल ने तब से निरन्तर यही प्रचार जारी रखा है कि कांग्रेस का उद्देश्य लोकतान्त्रिक साधनों के द्वारा देश में समाजवाद की स्थापना करना है। यह दल स्वयं प्रगतिवादी होने का दावा करता है और अन्य कई राजनीतिक दलों की नीतियों तथा कार्यक्रमों का साम्प्रदायिक होने या प्रति-क्रियावादी होने के आधार पर विरोध करता है। साथ ही भारत के कुछ अन्य दल कांग्रेस पार्टी की नीतियों तथा कार्यक्रमो की आलोचना करते हुए उसके लोक-तान्त्रिक या समाजवादी होने के दावे का उपहास करते है और यह आक्षेप करते है कि कांग्रेस की नीतियाँ अधिनायकवादी, पूंजीवादी एवं नौकरशाही प्रवृत्तियों को अपनाती जा रही है। देश में बेरोजगारी, दरिद्रता, प्रशासनिक भ्रष्टाचार, महगाई, मूल्य वृद्धि आदि असामाजिक प्रवृत्तियो को दबाने तथा उनका अन्त करने की दिशा मे शासक काग्रेस दल को कोई सफलता नही मिल पायी, अतएव काग्रेस दल का अपने को समाजवादी तथा प्रगतिवादी घोषित करना निरर्थक है। वाद विवाद तथा तर्क-वितर्क की राजनीति कुछ भी हो, हमें इन दलगत आलोचना तथा प्रत्यालोचनाओं में पड़ने की आवश्यकता नही है कि किस दल की नीतियां समाजवाद के सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक रूप की सही व्याख्या करती हैं। भारत मे भारतीय साम्यवादी तथा मार्क्सवादी साम्यवादी दलों का भी अस्तित्व है, साथ ही कुछ ऐसे भी दल हैं जो क्रान्तिकारी साधनों द्वारा समाजवाद की स्थापना को उपादेय मानते है। इसके विपरीत समाजवाद पर आस्था रखने वाले विकास-वादी समाजवादी दल भी हैं जो वैज्ञानिक संसदीय तथा लोकतान्त्रिक साधनों द्वारा समाजवादी व्यवस्था की स्थापना को भारतीय सन्दर्भ में सर्वाधिक रूप से उपादेय समझते हैं। इसके लिए समाजवादी दलों ने महान् आन्दोलन बनाने और उसे देश के राजनीतिक मानचित्र पर प्रस्तुत करने का श्रेय रहा है।

भारत की वर्तमान राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में देश की समस्याओं का समाधान समाजवादी व्यवस्था के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। भारत मे पूंजीवादी व्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि यहां औद्योगी-करण अभी बहुत पिछड़ी अवस्था में है। देश कृषि प्रधान है, परन्तु कृषि द्वारा उत्पादन भी देश की मांग को पूरा कर सकने में समर्थ नहीं है। स्वतन्त्रता आन्दो-लन की अवधि में ही भारतीय नेताओं के समक्ष भारतीय अर्थव्यवस्था के समग्र नियोजन की समस्यायें आने लग गयी थीं। यद्यपि भारत में साम्यवादी दल तथा

विचारों का आरम्भ सन् 1921 में हो चुका था, तथापि उन्हें बहुत उत्साहजनक लोकप्रियता नहीं मिल पायी है। तथ्य तो यह है कि भारतीय परिस्थितियों तथा परम्पराओं के अन्तर्गत साम्यवाद के फलने-फूलने के लिए उपयुक्त भूमि का सर्वथा अभाव है। सोवियत संघ या जनवादी चीन की सी साम्यवादी क्रान्तियों द्वारा समाजवादी व्यवस्थाएं स्थापित करने का स्वप्न भारत में कभी साकार नहीं हो सकता। यही कारण है कि भारत के साम्यवादी दलों को भी लोकतान्त्रिक, वैधानिक एवं संसदीय साधनों की उपादेयता पर विश्वास रखने के लिए विवश होना पड़ा है।

लोकतान्त्रिक समाजवाद ही ऐसी व्यवस्था है जिसे भारत के समाजवादी विचारकों, नेताओं तथा कार्यकर्ताओं को स्वीकार करना पड़ा है, भले ही विभिन्न विचारों को रखने वाले नेतागण तथा विचारक लोकतान्त्रिक समाजवाद की व्याख्या अपने-अपने ढंग से करते हैं। भारत के संविधान निर्माताओं ने भी "संविधान में" राज्य के नीति निदेशक तत्वों के अध्याय को जोड़ कर यह प्रदर्शित किया था कि उनकी आस्था लोकतान्त्रिक समाजवाद में थी। संविधान में निर्दिष्ट नागरिकों के मूलाधिकारों के स्वरूप तथा उन्हें न्यायिक संरक्षण प्रदान किये जाने की व्यवस्था भारत में उदारवादी लोकतन्त्र की स्थापना को दर्शाती है। साथ ही नीति निदेशक तत्वों को सांविधानिक मान्यता देना और उन्हें देश के शासन में मौलिक सिद्धान्त घोषित करना, भले ही उनके पीछे न्यायिक शक्ति नहीं है, यह प्रदर्शित करना है कि संविधान निर्माता कालान्तर में देश में ऐसी समाजवादी व्यवस्था लाने की कामना करते थे जिसकी, स्थापना लोकतान्त्रिक पद्धति के द्वारा ही सम्भव हो सकती है। अतएव भारत में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना को सांविधानिक मान्यता तो प्राप्त है ही, साथ ही व्यावहारिक दृष्टि से भी भारत की अर्थ व्यवस्था तथा जन-जीवन के स्तर को विकसित करने और उच्च बनाने के निमित्त लोकतान्त्रिक समाजवाद ही एक व्यावहारिक समाधान सिद्ध हो सकता है। चूंकि वर्तमान समय के सबसे प्रमुख एवं सत्तारूढ़ दल ने लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना को अपना प्रमुख उद्देश्य घोषित किया है, अतः शासन की नीतियां प्रारम्भ से ही समाजवादी लक्ष्यों की पूर्ति की दिशा में बढ़ती जा रही हैं। संविधान द्वारा प्रदत्त नागरिकों के सम्पत्ति के अधिकार सम्बन्धी प्रावधानों में सन् 1951 से आज तक अनेक बार संशोधन किये जा चुके हैं जिनका उद्देश्य सम्पत्ति के अधिकार को सामाजिक कल्याण के हित में नियन्त्रित करना रहा है ताकि समाज के भौतिक साधनों का केन्द्रीकरण कुछ कतिपय व्यक्तियों के हाथों

में न हो जाय, प्रत्येक उत्पादन के साधनों का समाजीकरण हो। और अब संविधान से सम्पत्ति के अधिकार को हटाने की है। जमींदारी प्रथा का उन्मू शहरी तथा कृषि भू-सम्पत्ति की अधिकतम सीमा का निर्धारण, प्रमुख बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, भूतपूर्व नरेशों के प्रीवीपर्स तथा विशेषाधिक की समाप्ति भारतीय सिविल सेवा के विशेषाधिकारों की समाप्ति बैंकों राष्ट्रीयकरण, जोत हदबन्दी, न्यूनतम मजदूरी, बन्धु आश्रम, आदि समाजवाद स्थापना की दिशा मे निदेशित है।

समाजवाद की स्थापना, विशेषरूप से लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थाप रातोंरात तो हो नही सकती। साम्यवादी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत भी हिंसात्म क्रान्तियों में, अधिनायकवादी राज्य व्यवस्था एव समाजवाद विरोधी तत्वो कठोरतापूर्वक दमन की नीतियो के होते हुए भी समाजवादी लक्ष्यो की वास्तविक प्राप्ति की दिशा मे पर्याप्त दीर्घ अवधि तक वांछित सफलता नही मिल पायी है। अतः भारत सदृश आर्थिक दृष्टि से पिछड़े तथा निर्धन देश मे लोकतान्त्रिक साधनों द्वारा समाजवादी लक्ष्यो की प्राप्ति में और अधिक लम्बा समय लगना अस्वाभाविक बात नहीं है। जिस देश मे धर्म, जाति, सामाजिक स्थिति, शिक्षा-सम्पत्ति, आदि के आधार पर अनेक प्रकार के वर्गभेद भी विद्यमान हों, वहाँ समाजवादी ढग के वर्ग-विहीन समाज की स्थापना तथा आर्थिक समानता तथा सामाजिक समानता लाने की कल्पना करना कोई सुगम कार्य नही है। अर्थ व्यवस्था का समष्टिकरण, उद्योगों का राष्ट्रीयकरण अथवा व्यापार व्यवसाय का सरकारीकरण भी समाजवादी व्यवस्था लाने के निश्चित साधन नहीं हो सकते। समष्टिवादी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत राज्य समाजवाद की एक बड़ी समस्या यह होती है। समष्टिवादी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत राज्य समाजवाद की एक बड़ी समस्या यह होती है कि इसमें नौकरशाही की प्रवृत्ति बढ़ती है जिसका परिणाम प्रशासनिक भ्रष्टाचार की वृद्धि होता है। प्रशासनिक भ्रष्टाचार से मुनाफाखोरी, चोरबाजारी, जमाखोरी, उत्पादन में अकुशलता, उत्पादित माल के स्तर में गिरावट आदि असामाजिक प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिलता है। वर्तमान समय में भारत की जनता इन्हीं बुराइयों की शिकार बनी हुई है। दैनिक उपभोग की वस्तुओं के मूल्य में अनानुपातिक वृद्धि, निजी क्षेत्र के उत्पादकों में इच्छानुसार लाभ अर्जित करने की प्रवृत्ति तथा सरकारी नियन्त्रण के उपायों में अकुशलता, सरकारी कर्मचारियों तथा श्रमिकों के संगठनों द्वारा आए दिन नाना वेतन वृद्धि तथा अन्य सुविधाओं की मांगों को लेकर हड़तालों का आयोजन करना उत्पादन

भ्रष्टाचार पूंजीवादी, पक्षपात, भ्रष्टाचार आदि की प्रवृत्तियां लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना के मार्ग की सबसे महान् बाधायें हैं। जब तक ऐसी प्रवृत्तियों को समूल नष्ट न कर दिया जाय, तब तक समाजवाद की स्थापना स्वप्नवत् ही रहेगी। समाजवाद की एक आवश्यकता भौतिक उपयोग की वस्तुओं का प्रचुर मात्रा में उत्पादन होता है। भारत में आर्थिक उत्पादन की गति इतनी मन्द है कि उत्पादित वस्तुयें जनता की मांग को पूर्ण करने तक में समर्थ नहीं हो पा रही है। समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत श्रम का सर्वाधिक महत्व होता है। साम्यवादी व्यवस्थायें इस सिद्धान्त को मानती है कि "जो व्यक्ति श्रम नहीं करता उसे खाने का अधिकार नहीं है।" इस धारणा को साकार करने के लिए उन व्यवस्थाओं के अन्तर्गत व्यक्ति को श्रम करने का अधिकार को सुनिश्चित किया जाता है, परन्तु बहुत से भारतीय युवकों में श्रम से बचने की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। यह प्रवृत्ति समाजवाद की उपलब्धि के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। हमारे देश की शिक्षा प्रणाली की कमी भी इस प्रवृत्ति के बढ़ने के लिए उत्तरदायी है। शिक्षितों के मध्य भारी बेरोजगारी हमारे देश की एक प्रमुख समस्या है। शिक्षा संस्थाओं में रचनात्मक, औद्योगिक तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था न होने से शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात् शिक्षित युवकों को रोजगार नहीं मिल पाता। इसी अनिश्चितता के कारण शिक्षा संस्थाओं में अनुशासनहीनता बढ़ रही है और आये दिन छात्रों के आन्दोलन होते रहते हैं जो राजनीति प्रेरित होते हैं। छात्र समाज एवं राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को समझें। समाजवाद की प्राप्ति के निमित्त जब तक बेरोजगारी की समस्या हल नहीं होती, तब तक समाजवाद केवल एक राजनीति प्रेरित नारा ही बना रहेगा। इन सब स्थितियों के प्रकाश में जैसी राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था देश में संचालित हो रही है उसकी आलोचना करने वालों का तर्क है कि यह न तो लोकतन्त्र है और न समाजवाद, इसे लोकतान्त्रिक समाजवाद कहना तो दूर रहा।

देश के शासन या विरोधी दल तथा वर्ग इस संबंध में जो भी तर्क दें यहाँ पर हमारा उद्देश्य उनके गुणागुणों पर जाने का नहीं है। यह तो राजनीति का विषय है। देश में समाजवाद तथा लोकतन्त्र दोनों की सच्ची उपलब्धि के बड़ा साधन हो सकते हैं, उन पर पुनः नये ढंग से चिन्तन करने की आवश्यकता है। समाजवाद एक कार्यक्रम, दर्शन, आन्दोलन तथा व्यवस्था सभी कुछ है, जो किसी विशिष्ट प्रकार की अपरिवर्तनीय बातें नहीं है। इसे इस प्रकार भी व्यक्त कर

सकते हैं कि वह व्यक्ति जो समानता और स्वतन्त्रता तथा इन आदर्शों के अनुरू समाज में परिवर्तन लाने के लिए राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थ का सचेतन और निर्दिष्ट उपयोग करने में विश्वास करता हो, तो वह लोक तान्त्रिक समाजवादी है। यह मानना सही नहीं है कि मार्क्सवाद ही सच्च समाजवाद है, क्योंकि आज दिन समाजवाद के सैकड़ों रूप बन चुके हैं औ विभिन्न देशों में वे विविध रूपों से प्रयुक्त किये जाते रहे हैं। भारत के समाज- वादियों के लिए पुनः भारतीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में चिन्तन करके देश में समाजवाद की स्थापना के निमित्त उसका एक विशुद्ध भारतीय दर्शन प्रस्तुत करना आवश्यक है। आचार्य नरेन्द्र देव, डा० राममनोहर लोहिया तथा जयप्रकाश नारायण, पंडित जवाहर लाल नेहरू तथा महात्मा गांधी जी तथा डा० मानवेन्द्र नाथ राय आदि के विचारों में हम बहुत कुछ अंश में भारतीयता की झलक देखते हैं। देश के राजनीतिक दल समाजवाद की स्थापना के लिए कृत संकल्प है, अतः उसे स्वयं पहले भारतीय सन्दर्भ में समाजवाद का दार्शनिक आधार निर्मित करा कर तदनुसार एक व्यापक कार्यक्रम तैयार करना पड़ेगा। ऐसे कार्यक्रम तथा नीतियों का आधार मात्र राजनीतिक प्रचार नहीं होना चाहिए। उनके अन्तर्गत भारतीय सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक जीवन के विविध पक्षों का व्यापक अध्ययन करके उनकी समस्याओं के हल के ठोस उपाय सम्मिलित हों। किसी विदेशी व्यवस्था का अन्धानुकरण करके देश में समाज- वाद की स्थापना करने का स्वप्न देखना भ्रामक होगा, क्योंकि समाजवादी क्रान्ति के रूप विभिन्न देशों की परिस्थितियों के सन्दर्भ में विविधि प्रकार के होते हैं। केवल नारेबाजी तथा राजनीतिक प्रचारों से समाजवाद नहीं आ सकता और केवल संसदीय साधनों से भी समाजवाद की उपलब्धि नहीं हो सकती। इसके लिए जनमानस में क्रान्ति लाने की आवश्यकता है क्योंकि समाजवाद सम्पूर्ण जनता का मामला है न कि केवल शासक दल का हित। जब तक जनता समाजवाद के सिद्धान्तों, लक्ष्यों तथा कार्यक्रमों के प्रति आस्थावान नहीं हो जावें, तब तक समाजवाद की सफलता सम्भव नहीं है। अतएव समाजवाद को एक जन-आन्दोलन का रूप देने की आवश्यकता है, ताकि जीवन के विविध क्षेत्रों में समाजवादी कार्यक्रमों के कार्यान्वयन में जनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त हो सके।

Suggested Readings

Adler Max : Der Sozialismus und die Intellektuellen

Allemann F. R. : Farewell to Marx. Encounter 14 No. 3 67-69

Alexander Gray : The Socialist Tradition Moses to Lenin

Alfred G. Meyer : Leninism

Andrews C. F. : Mahatma Gandhi's Ideas

Alexander Horace : Social and Political Ideas of Gandhi ji

Bebel August : Woman and Socialism

Bernstein, Eduard : Evolutionary Socialism. A Criticism and Affirmation

Beer Max : The Life and Teaching of Karl Marx

Bodin Louis, B. : Theoretical System of Karl Marx

Borkenau, Franz : World Communism. A History of the Communist International

Braunthal Julius : Geschichte der Internationale

Burns E. : Ideas of Conflict

Burns, E. : What is Marxism ?

Buber Martin : Paths in Utopia

Catlin George : A History of Political Philosophies

Coker : Recent Political Thought

Chalmers Douglas A. : The Social Democratic Party of Germany from Working Class Movement to Modern Political Party

Cole G. D. H. : A History of Socialist Thought 5 Vols

Cole G. D. H. : Meaning of Marxism.

Crossland C. A. R. : The Future of Socialism

Dera Narendra : Socialism and the National Revolution

Dolleans, Eduard and Crozier Michel : Movements owners of Socialistes. Chronological Bibliographie 5 Vols

Durkhim Emile : Socialism and Saint Simon

Eastman M. : Marx, Lenin and the Science of Revolution

Engels, Friedrich : Anti Duhring. Herr Eugen Duhring's Revolution in Science. Socialism. Utopian and Scientific.

Fabian Essays : Fabian Essays in Socialism.
Fanon Frantz : The Wretched of the Earth.
Friedland William H. : African Socialism.
& Rosberg Carl G.
गांधी : समाजवाद और समाजवादी
Gay Peter : The Dilemma of Democratic Socialism.
Geiger Theodor · Die Klassengesellschaftism Schmelztiegel
George Lichthein . Marxism : A History and Critical Study.
Haleog Elie : The Era of Tyrannies : Essays on Socialism and War.
Halpe Manfred : The Politics of Social Change in the Middle East and North Africa.
Hardie, J Keir . From Serfdom to Socialism.
Harris Belle : Growth and the Good Relationship.
Hulse, James W : The Forming of the Communist International
Jabar Kamel : The Arab B'aath Socialist Party.
Jaures Jean L. · Studies in Socialism.
Joel, James : The Second International
Jones : Masters of Political Thought.
Joad . C. E. M. : Introduction of Modern Political Theory.
Kautsky Karl : The Social Revolution.
: The Class Struggle.
Kripalani, J. B · Gandhi and Marx.
Landauer Carl : European Socialism
Le Bon Gustave . Psychology of Socialism.
Lenin, Valadimir : What is to be Done ?
: Imperialism, the highest stage of Capitalism.
: The State and Revolution.
Lerner Abba P : The Economics of Control : Principles of Welfare Economics.
Lichtheim George : Marxism in Modern France.
Laski : Karl Marx
" : Communism
" . Communist Manifesto to Socialist Landmark.
Ludvig Von Misses : Socialism.
Laidler : History of Socialist Thought.

Lowenthal Richard : The Principles of Western Socialism
Lohia Ram Manoher : Gandhi, Marx and Socialism, Wheel o
History, Himalyin Blunders, Indian Frontiers
Luxemberg Rosa : The Russian Revolution Lenism or Marxism
· The Accumulation of Capital
Man Hendrik : Psychology of Socialism
Mc Kenzie R. T : British Political Parties The Distribution o
Power within the Conservative and Labour
Parties
Manuel Frank E . The New World of Saint Simon
The Prophets of Paris
Markham Felix · Introduction to Saint Simon Writings
Moraes Fran : Jawaharlal Nehru
Michael Brecher Nehru A Political Bibliography
Martov Lulei O The State and the Socialist Revolution
Marx Karl · Economic and the Philosophic Manuscripts of 1844
: Selected Essays
: Capital · A Critique of Political Economy 3 Vols
Marx Karl and
Engels Friedrich The German Ideology
. The Communist Manifesto
Critique of the Gothe Programme
Mehta Asoka . Democratic Socialism
: Asian Socialism
Moll, John Stuart Principles of Political Economy
Michels, Robert Political Parties.
Morgan R P The German Social Democrats and the First Inter-
national 1864-1872.
Narayan J. P. : Democratic Socialism
: From Socialism to Servedaya
: Reconstruction of Indian Polity
Pelling Henry : The Origins of the Labour Party
: A Short History of the Labour Party
Petery Gray : The Dilemma of Democratic Social [illegible]
Bernstein's Challenge to Marx
Peckhanov George V : Socialism and the Political [illegible]